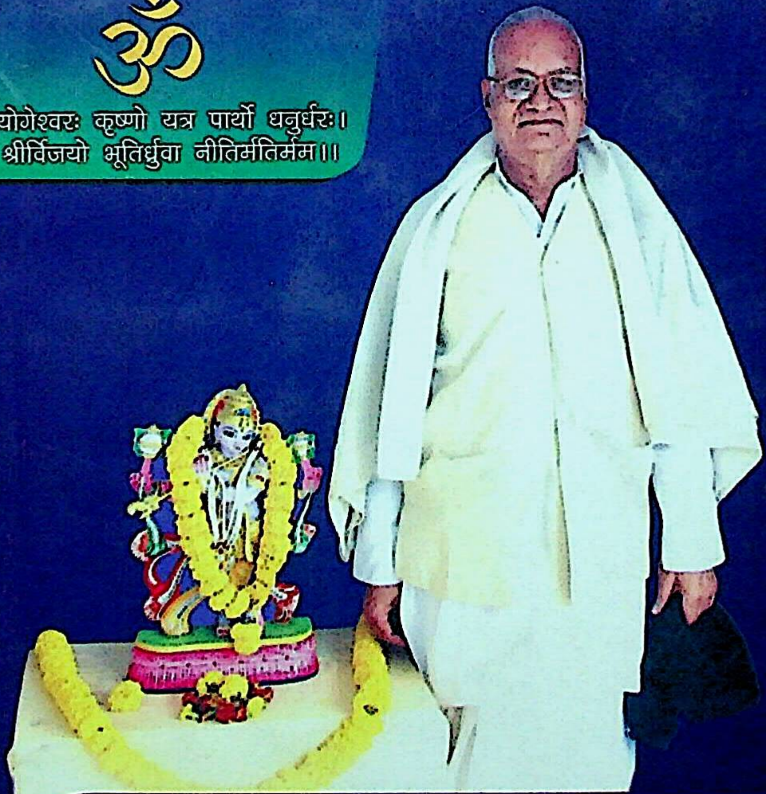
मेरी जीवन यात्रा : एक सुखद संस्मरण

जीवन के विविध विशिष्ट स्मरणीय व्यावहारिक–वैयक्तिक–सामाजिक–धार्मिक–आध्यात्मिक पक्षों का तथा जीवन के परम लक्ष्य का अनुभवगम्य परिचय

ॐ

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।



लेखक तथा सम्पादक
डॉ० वशिष्ठ सिंह
एम० ए०(गणित) पी–एच०डी०

विक्रमसंवत् 2072

यीशवीय सन् 2015

The Journey of My Life : A Happy Reminiscence

An experienced narrative of life's various distinguished memorable, behavioural, personal, social, religious, spiritual, aspects and its noble objectives

मेरी जीवन यात्रा : एक सुखद संस्मरण

व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति स्वप्न ही देखते रहते हैं, कुछ व्यक्ति स्वप्नों को साकार करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु कुछ भाग्यशाली व्यक्ति स्वप्नों को साकार कर भी लेते हैं। मेरी स्थिति इन सभी से बिलकुल भिन्न है क्योंकि मैंने इस प्रकार के कार्य की न तो पहले कभी योजना बनाई थी और न कभी इसका स्वप्न ही देखा था। यह ईश्वर का मेरे ऊपर परम अनुग्रह ही कहा जा सकता है कि उन्होंने मेरी क्रियाशीलता, अभिरुचि और आन्तरिक भावनाओं को लक्ष्य कर मुझे इस कार्य के लिए प्रेरित किया।

मैंने अपने समग्र जीवन को तीन प्रकार का देखा है। तदनुसार तीन वर्गों में अपनी जीवन यात्रा को प्रस्तुत कर सका हूँ। व्यक्तिगत-पारिवारिक- व्यावहारिक एवं सामाजिक-धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन। जीवन में जिन विद्वानों का, साधु-महात्माओं का एवं गुरुजनों का मुझे सान्निध्य मिला, जिनकी शुभकामनाएं एवं आशीर्वाद मिले उन्हें किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। इसी के फल स्वरूप मैं श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के कुछ विषयों को प्रस्तुत कर सका। समाज की ओर मेरा विशेष ध्यान मेरी अपनी प्रवृत्ति का परिचायक है। इसके कारण ही मुझे अनेक ट्रस्ट स्थापित कर सामाजिक विविध कार्यों में योगदान करना पड़ा है। इस प्रकार प्राप्त अभिलेखों, मित्रों के सुझावों तथा अपनी स्मरण-शक्ति के आधार पर मैंने अपनी जीवन यात्रा के लेख को सजाने का समुचित प्रयत्न किया है। मानव स्वभाव-सुलभ दोषों के लिये मैं विद्वानों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

– डॉ० वशिष्ठ सिंह

ॐ

दण्डी स्वामी हरिश्वरानन्द सरस्वती
मुमुक्षु भवन, काशी
के चरणों में
सादर समर्पित

श्रद्धावनत

वशिष्ठ
२८-०१-२०१६ (गणेश-चतुर्थी
जन्मदिन)

मेरी जीवन यात्रा : एक सुखदसंस्मरण

जीवन के विविध विशिष्ट स्मरणीय
व्यावहारिक–वैयक्तिक–सामाजिक–धार्मिक–आध्यात्मिक पक्षों
का तथा जीवन के परम लक्ष्य का अनुभवगम्य परिचय

THE JOURNEY OF MY LIFE : A HAPPY REMINISCENCE

An experienced narrative of life's various distinguished memorable, behavioural, personal, social, religious spiritual, aspects and its noble objectives.

लेखक तथा सम्पादक

डॉ० वशिष्ठ सिंह

एम.ए. (गणित), पी–एच.डी.

एस 8/114 बी, 1-ए प्रशान्तपुरी, वाराणसी

मो0 : 09451271241

Email : bashistha14@gmail.com

विक्रमसंवत्
2072

यीशवीय सन्
2015

प्रकाशक :

आजादी बचाओ आन्दोलन
स्वराज विद्यापीठ परिसर
21-बी, मोती लाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद - 211002
फोन - 0542-2466798, 09235406243

ईमेल - azadi.bachao.andolan@gmail.com

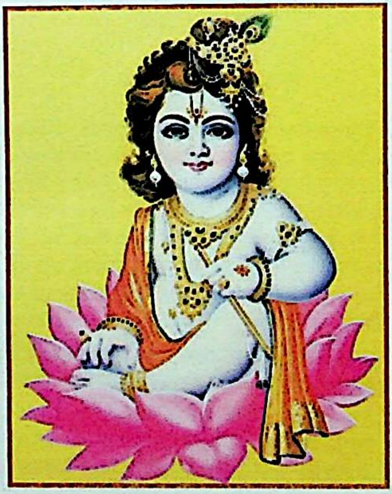
प्रथम संस्करण - 2015

मूल्य -

मुद्रक :

सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी

समर्पण



कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं
रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कङ्कणं प्रोज्ज्वलं
किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे।।

मै अपने परमाराध्य प्रातः स्मरणीय बाल श्रीकृष्ण को अपनी जीवन यात्रा समर्पित कर निश्चिन्तता का अनुभव कर रहा हूँ।

(डॉ०) वशिष्ठ सिंह

कृष्णा–काशीविद्या–स्वाध्याय–सन्देश ट्रस्ट

(स्वाध्यायान्मा प्रमदः तै.उप.शि.व.)



संस्थापक/संरक्षक
ए–सी–1
प्रो0 जानकी प्रसाद द्विवेदी

एस. 19/134,
जदीद बाजार – नदेसर,
वाराणसी – कैन्ट – 221002
मो0 9389809432

सम्मति–पत्र

मानवजीवन में भयमन्दिर शैशव, शक्तिसम्राट् यौवन तथा परापेक्षी वार्धक्य आता–जाता रहता है। शिक्षा, आजीविका, तीर्थयात्रा एवं गृहस्थाश्रम के विविध सम्बन्धों का निर्वाह कर प्रायः व्यक्ति सन्तोष का अनुभव कर लेते हैं, परन्तु ऐसे विरल ही भाग्यशाली पुरुष होते हैं, जो अमृतप्राप्तिपर्यन्त अहर्निश वैयक्तिक–व्यावहारिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक कार्यों को भी निरन्तर करते रहते हैं, जो उनके लिए स्मरणीय तथा दूसरों के लिए चिरस्मरणीय, आदर्श और प्रेरणादायक हो जाते हैं। डॉ0 वशिष्ठ सिंह जी का भी जीवन ऐसी ही विविध विधाओं का एक मर्मस्पर्शी उदाहरण कहा जा सकता है। उन्होंने सुखद संस्मरण के रूप में अपनी जीवनयात्रा के सञ्चित वैभव को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है, उससे यह अनुभव परिपुष्ट होता है कि–

"याद रखने के सब दिन तो होते नहीं, फिर भी जीवन भुलाना नहीं चाहिए।
जन्मदिन हम न भूलें कभी आपका, आपको भी भुलाना नहीं चाहिए।।

प्राच्य भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में श्रीसिंह जी के द्वारा की गयी निश्छल, उदार समाजसेवा, शिक्षाप्रद अध्ययन–अध्यापन, माता–पिता–गुरुजनों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार, कर्तव्यनिर्वाह के प्रति समर्पण, विरोध का सामना करने के लिए अदम्य उत्साह–साहस आदि दूसरों के लिए प्रेरणास्रोत कहे जा सकते हैं। वृन्दावनविहारी बालकृष्ण के प्रति भक्तिसंवलित परम अनुराग, श्रीमद्भगवद्गीता–श्रीमद्भागवतविषयक ज्ञानपिपासा की शान्ति के लिए विद्वानों–साधु–सन्त–महात्माओं का सान्निध्य–सन्देश उनके जीवन की कृतार्थता को सूचित करता है।

ज्ञान के अनुसार सभी कार्य सम्पन्न करना व्यावहारिक जीवन में कठिन होता है। कुछ ज्ञानी तो ज्ञान में ही निमग्न रहते हैं और कर्म करने को हेय मानते हैं, परन्तु जीवन में वे ही परम भाग्यशाली व्यक्ति सफलता–सन्तोष–यश प्राप्त कर पाते हैं, जो ज्ञान–कर्म दोनों का निर्वाह करते हैं। दो पङ्खों के अविकल रहने पर ही जैसे पक्षी आकाश में उड़ने में समर्थ होता है, वैसे ही ज्ञान–कर्म दोनों का आश्रय लेने पर सुगति प्राप्त होती है। विद्वानों का अनुभव यही रहा है–

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणो गतिः।
तथैव ज्ञान कर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः।।

श्रीसिंह जी का भी जीवन ज्ञान–कर्म उभयनिष्ठ कहा जा सकता है। जीवन में पारिवारिक–सामाजिक–संस्थागत अनेक विरोध उपस्थित होते हैं, जिनमें कभी–कभी व्यक्ति 'किंकर्तव्यविमूढ' तथा 'कांदिशीक' होकर चिन्तित, निराश तथा असहाय सा हो जाता है। भाग्य को आश्रय मानकर जीवित रहता है एवं पुरुषार्थ से पराङ्मुख हो जाता है। श्रीसिंह जी के भी जीवन में विरोधों की भरमार रही है, लेकिन वे केवल भाग्य के ही सहारे न रहकर पुरुषार्थ का आश्रय लेकर

आगे बढ़ते रहे हैं। मापकवि के अनुसार विवेकशील विद्वान् व्यक्ति तो भाग्य–पुरुषार्थ दोनों का ही आश्रय लेते हैं। वे न तो केवल भाग्य के सहारे रहते हैं और न ही केवल पुरुषार्थ के। उन्होंने कहा है–

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।। (शि०व०)

स्वस्थ रहने पर तो सभी व्यक्ति पण्डित की तरह व्यवहार करते देखे जाते हैं– "स्वस्थे (स्वस्थः) को वा न पण्डितः'। परन्तु माता–पिता–पुत्र–पत्नी जैसे अत्यन्त आत्मीयजनों का वियोग होने पर तथा दूसरों के द्वारा अनधिकृत रूप में भूमि आदि पर कब्जा जमा लिए जाने के सम्बन्ध में विचलित न होना, आन्तरिक बाह्य–सन्तुलन बनाए रखना ईश्वरीय विधान के प्रति विश्वासभावना को व्यक्त करता है। ऐसे अवसर पर श्रीसिंह जी का यह मानना कि ईश्वर ने मेरे परमहित के लिए ही ऐसी स्थिति पैदा की है, इनके दैवीगुण को सूचित करता है। इससे वे अपने भविष्य को और भी अच्छा होने की संभावना करते रहे हैं।

मैं संस्कृत व्याकरण का नियमित अध्येता रहा हूँ। आवश्यकतानुसार साहित्य, भारतीय दर्शन, बौद्ध दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, पुराण, पालि, प्राकृत, तिब्बती, बँगला, अँग्रेजी आदि का भी अध्ययन–अध्यापन करना पड़ा है, विविध पदों के उत्तरदायित्त्व का निर्वाह किया है, संस्था–पद–विद्या–अधीत विषय की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए संस्कृत–हिन्दी में 60 से भी अधिक श्लोक–कविता–गीत–कीर्तन के रूप में रचनाएँ करनी पड़ी हैं, विविध विषयों के 19 ग्रन्थ लगभग दश हजार पृष्ठों में तथा 250 शोधलेख दो हजार पृष्ठों में प्रकाशित हो चुके हैं– ऐसे बेसहारा, अजनवी, अकिञ्चन व्यक्ति के साथ गणित के विद्वान्, समाजसेवी, अनेक ट्रस्टों के सञ्चालक, 76 वर्ष की अवस्था में भी पर्याप्त सक्रिय रहने वाले, क्षत्रियोचित कार्य करते रहने वाले तथा धार्मिक–आध्यात्मिक कार्यों से भी सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति डॉ०सिंह जी का 15–16 वर्षों से आत्मीय सम्बन्ध का अविच्छिन्नरूप में बने रहना और मेरे सुझाव पर अपनी जीवनयात्रा के सभी पक्षों को लेखबद्ध करके उसे सुसज्जित रूप में प्रस्तुत करना, पूर्व जन्म के किसी प्रबलयोग का ही परिणाम कहा जा सकता है।

श्रीसिंह जी ने जीवन में लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो मार्ग चुना है, उसपर चलकर वे सफल हों, स्वस्थ–नीरोग रहते हुए परिवार–समाज के लिए–आदर्श बनें तथा भारतीय संस्कृति के प्रेरणास्रोत बने रहें, यही मेरी हार्दिक शुभकामना है–

"आपके सौम्य व्यवहार, सद्भाव से,
साधना सिद्धि के गीत गाती रहे।
दूर आत्मीयता की न हो भावना,
नित्य सौभाग्यश्री जय मनाती रहे।।

लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी
[illegible]
श्रवणकृष्ण-सप्तमी, गुरुवार
वाराणसी

आचार्य स्वामी सुरेशानन्द जी
संसद सदस्य
(लोक सभा)

हिन्दूपीठ गोसेवा आश्रम,
मवामद, एटा
फोन : 33

139, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली-110001
फोन : 3792833



सौम्यता, शालीनता की प्रतिमूर्ति

वशिष्ठ सिंह जी

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने साधु-ब्राह्मणों की हृदयगत प्रेरणा से प्रेरित होकर आर्षवाङ्मय के अनुरूप, अपनी वंश परम्परा के पूर्वजों के आदर्शों को जीवन में धारण ही नहीं किया, अपितु अपने दया, दाक्षिण्य व कर्मठता से अनुकरणीय भी बना दिया। आपके निर्मल व पावनकृत्य श्रुतपद्धती में विलुप्त न हों, इसलिये मेरी प्रबलेच्छा थी कि लिपिबद्ध करके इसे स्थायित्व दिया जाय, परन्तु संकोचवशात् मैं व्यक्त नहीं कर पाया। परेश के प्रबल प्रवाह प्रपञ्च में प्रत्यहम् अनेकानेक भावों का प्रादुर्भाव, तिरोभाव होता रहता है, उनमें सर्वकल्याणकारी भावों को परमात्मा कैसे पूर्ण करता है, ऐसा अनुभव आपकी कृति को देखकर हुआ। बाल्यावस्था के कृत्य अध्ययन करते समय बड़े ही सहज व प्रेरणादायी प्रतीत हुए।

द्वितीय खण्ड में युवावस्था में न्याय, धर्म तथा शोषण के विरुद्ध कार्य करने वाले संघठनों को शक्ति प्रदान कर अपने क्षत्रियत्व का परिचय कराना, अपनी वंश परम्परा की रक्तशुद्धि को परिलक्षित कराता है।

तृतीयाध्याय में जो आप त्याग, वैराग्य, ज्ञाननिष्ठा के दिग्दर्शन का श्रीमद्भागवत महापुराण के सर्ग-विसर्ग की ओर इंगित करके आपने सबकुछ परमात्मा से है, परमात्मा में है, को दिखाया है। चतुश्लोकी भागवत व परीक्षित का निर्णय, श्री शुकदेव जी का अन्तिम उपदेश अवस्थानुकूल आपके अद्वय चिन्तन को प्रकट करता है। पुनः गीता का सम्पुट, सामयिक, समत्व को सार्थक ही नहीं सुभाषित करता हुआ सा प्रतीत होता है।

ये आपकी कुशल लेखनी से लिखा ग्रन्थमात्र न होकर ज्ञान-भक्ति की मस्ती का संगम सा जान पड़ता है, जिसने मुझे भी आह्लादित किया है। इसके लिए मैं आपको पुनः-पुनः साधुवाद देता हूँ।

भवदीय
स्वामी सुरेशानन्द

इग्नू जन-जन का विश्वविद्यालय

प्रो० नारायण प्रसाद
प्रोफेसर, अर्थशास्त्र
Prof. Narayan Prasad
Professor of Economics
E [illegible]
P [illegible]
F [illegible]

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

दिनांक: 26.10.2015

मेरी जीवन यात्रा : एक सुखद संस्मरण
नामक आत्मकथा पर शुभकामनायें

बढ़ते हुए तकनीकी विकास एवं वैज्ञानिक विकास के आलोक में बुद्धिजीवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग जिसकी भारतीय, विशेष रूप से हिन्दू संस्कृति में कोई आस्था नहीं है-ऐसा मानता है कि धर्म एवं अध्यात्म अशिक्षित या कम पढ़े-लिखे समुदाय वालों का विषय है। उनके मतानुसार धर्म एवं अध्यात्म केवल धार्मिक मान्यता पर आधारित है, जिसमें तर्क एवं अनुसंधान के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः धर्म एवं अध्यात्म से व्यक्ति मात्र अंधविश्वासी ही बनता है, जिससे जीवन की प्रगति में बाधा आती है।

श्रद्धेय एवं अग्रज गुरु भाई डॉ. वशिष्ठ सिंह जी की शिक्षा-दीक्षा एक ऐसे विषय (गणित) में हुई, जहाँ तर्क के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। अपने पूरे सेवाकाल में आप पूर्ण मनोयोग के साथ स्नातक एवं स्नातकोत्तर छात्रों को गणित विषय पढ़ाते रहे। परन्तु गणित जैसे विषय में उनकी तार्किक क्षमता एवं दक्षता ने उनकी धार्मिक आस्था एवं वेदान्त में रुचि को कमजोर नहीं होने दिया, अपितु और अधिक गहराई प्रदान की। संतों एवं गुरुओं के प्रति उनकी उत्तरोत्तर निष्ठा बढ़ती गई और श्रुति एवं स्मृतिजन्य ज्ञान आपको गहराई से प्रभावित करने लगा। श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत पुराण का ज्ञान धीरे-धीरे कर्म क्षेत्र में प्रवेश कर आपको सामाजिक कार्यों के प्रति प्रेरित करने लगा।

प्रस्तुत आत्मकथा श्रद्धेय डॉ. सिंह साहब की आत्मश्लाघा नहीं है, अपितु उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का एक ऐसा घटनाक्रम है जो बुद्धिजीवियों, छात्रों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं शिक्षकों को निज दायित्वों का निर्वहन करते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय कार्यों के लिए प्रेरणादायी होगा।

परमात्मा आपको दीर्घायु प्रदान करें जिससे आप अपने अध्यात्म मार्ग पर चल कर, समाज एवं राष्ट्र के कार्य करते हुए सभी के लिए प्रेरणास्रोत बने रहें।

शुभकामनाओं के साथ

नारायण प्रसाद
(नारायण प्रसाद)
आचार्य अर्थशास्त्र

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
School of Social Sciences
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
Indira Gandhi National Open University
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली - 110068, भारत | www.ignou.ac.in
Maidan Garhi, New Delhi - 110068, INDIA | www.ignou.ac.in

प्रदीप कुमार बजाज
पूर्व विधायक
न्यासी
श्री काशी विश्वनाथ मंदिर न्यास परिषद्

"[illegible]"
[illegible] (उ० प्र०) भारत
दूरभाष : (कार्यालय) [illegible]
[illegible]
e-mail : [illegible]

२८/१०/२०१५
कार्तिक कृ. ०१



संदेश

डा० वशिष्ठ सिंह जी से मेरा सम्बन्ध अनाथालय, दण्डी संन्यासियों हेतु बने आश्रम तथा शिक्षालयों से अवैध कब्जे से मुक्ति हेतु संघर्ष के समय से रहा है। इसी बीच मैं इनके द्वारा लिखित ग्रंथ पर भी चर्चा करता रहा हूं। इनके द्वारा लिखित विषयों में कर्त्तव्य निष्ठा, सुरा-सेवन से मुक्ति हेतु वैज्ञानिक व धार्मिक तथ्य प्रकट करने, विद्यार्थियों के जीवन को बदलने व आदर्श बनाने में सक्षम छोटे-छोटे वचन, भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा जगाने वाले विचारों से मैं प्रभावित हुआ हूं।

वानप्रस्थाश्रम में जीवन यापन करने वाले लोगों हेतु श्रीमद् भगवद् गीता की अनुभवगम्य व्याख्या बहुत लाभकारी होगी। ऐसा मेरा विचार है। धीरे-धीरे इसके चरम लक्ष्य "शरणागति" की ओर बढ़ते हुए श्रीमद् भागवत के गूढ़ार्थों को समझते हुए भक्ति-प्रेम में डूब जाने के लक्ष्य तक पहुंचने में मदद मिलेगी। ऐसा मेरा दृढ़ विचार है।

इस प्रकार के शैक्षणिक व धार्मिक लोगों का समाजसेवा के प्रति जागृत होना तथा इसमें सहयोग करना बहुत कम देखा जाता है, लेकिन डा० सिंह का जीवन समाजसेवा के लिये भी निरंतर समृद्ध रहा है। इसे हमने अत्यन्त ही निकट से देखा है। ऐसा लगता है कि पूर्व जन्म में भी इस प्रकार के कार्यों में डा० सिंह लिप्त रहे हों। मुझे आशा है कि वे अपने भावी जीवन में इन गतिविधियों को और उच्च शिखर पर ले जाने का प्रयत्न करेंगे। मेरी शुभकामना है कि वे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफल हों तथा समाज के लिये आदर्श बने रहें।

डा० सिंह के दीर्घायु व मंगलमय भविष्य के लिये मेरी शुभकामनाएं।

(प्रदीप कुमार बजाज)

भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA

ऋतुराज गुप्ता (आइ० आर० एस०)
उपायुक्त

पुरुषार्थ एवं आश्रम जैसे शब्दों और उनकी व्याख्या को किताबों मे तो सुना था, परन्तु वर्तमान जीवन शैली में समाज के बीच रह कर, इसको वास्तविक रूप से आत्मसात करने वाले, श्री सिंह जी से मेरी पहली मुलाकात वर्ष 2009 में हुई। मेरा यह अनुभव दिन प्रतिदिन विश्वास में बदलता गया, क्योंकि वर्ष 2009–12 तक मुझे आपके परिवार के साथ आपके आवास में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपने बहुत ही सरल शब्दों में मेरे परिवार को वास्तविक भारतीय संस्कृति, संस्कार एवं परम्परा से अवगत कराया, ये आपका प्यार एवं आशीर्वाद ही था, जो पुनः वाराणसी आने के लिए हम लोगों को प्रेरित किया।

आपने अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य, विशेषकर छोटे बच्चों में संस्कार के ऐसे बीज रोपे हैं, जो निश्चित तौर पर पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ेगा।

मै यह बात अवश्य कहूँगा कि वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम की चर्चा तो बहुत की जाती है, परन्तु आपने पुरुषार्थ एवं आश्रम-व्यवस्था के बीच ऐसा सामञ्जस्य बैठाया है, जो पूर्णरूपेण धर्मग्रन्थों के अनुरूप है।

आपने अपने लेखन में वर्षों के अथक प्रयास द्वारा ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म एवं अनुभव का अतुलयनीय संकलन प्रस्तुत किया है। मैं यह आशा करता हूँ कि, आपका यह सङ्कलन नयी पीढ़ी के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

ऋतुराज गुप्ता

Smt. Promila Jaiswal
IDES
Chief Executive Officer

सत्यमेव जयते

DO No. E8/1/CEO
Cantonment Board, Varanasi
Pin - 221002
Ph.: 0542- 2500212 (F)
2503215 (O)
2509014 (R)
Mob.: +91 9559966668
+91 9453291829

Date: 03/X/15

मैंने आपके जीवन में कठिन अनुशासन को निकट से देखा है। उस परिप्रेक्ष्य में आपने पारिवारिक सदस्यों को संस्कार–संस्कृति–धर्म आदि की जो शिक्षा दी, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस समय 'मेरी जीवनयात्रा : एक सुखद संस्मरण' नामक आपकी पुस्तक के जो अंश मैंने पढ़े, वे बेहद ज्ञान के निष्कर्ष रूप हैं। वे निश्चित ही आने वाली पीढ़ियों को भी आकृष्ट कर उन्हें धर्म–संस्कृति का सन्देश देने में सहायक होंगे। श्रीमद्भागवद्गीता तथा श्री कृष्ण के प्रति मेरी भी अभिरूची रही है। आपने उसके कुछ बिन्दुओं को अपनी लेखनी से ऊर्जा प्रदान की है। वे मावन–मात्र का कल्याण करने में समर्थ हैं।

आपने अपने जीवन के विविध पक्षों पर जो प्रकाश डाला है, यह हम सभी के लिए आदर्श हो सकता है। आप इस प्रकार का लेखन आगे भी जारी रखें, यह मेरी कामना है। आपकी प्रकाशित होने वाली पुस्तक मानव समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगी, समाज का उससे ज्ञान संवर्द्धन होगा, समाज को उचित दिशा–निर्देश प्राप्त होगा – ऐसा मेरा विश्वास है। पुस्तक की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो और आप सुखी रहकर सौ वर्षों का जीवन प्राप्त करें – इसके लिए मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूं।

प्रमिला

प्राक्कथन

मङ्गलाचरण

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
कुन्देन्दुशङ्खदशनं शिशुगोपवेषम्।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं
वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम्।।

मोक्ष देने वाले, कमलकली की तरह विशाल नेत्रों वाले, जिनके दाँत कुन्द पुष्प, चन्द्रमा तथा शङ्ख की तरह शुभ्र वर्ण के हैं, जिनका वेष शिशु गोप का है, जिनके चरणकमलों की वन्दना इन्द्रादि देवगण निरन्तर किया करते हैं, ऐसे वृन्दावन-विहारी वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ।

कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं
रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कङ्कणं प्रोज्ज्वलं
किङ्किणीमञ्जुलं श्यामल तं भजे।।

(अच्युताष्टकस्तोत्र, श्लोक8)

मैं उन मञ्जुलमूर्ति श्रीश्यामसुन्दर कृष्ण को भजता हूँ, जिनका मुख घुँघराली अलकों से सुशोभित है, मस्तक पर मणिमय मुकुट शोभा दे रहा है, कपोलों पर कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं तथा जो उज्ज्वल हार, केयूर (बाजूबन्द) कङ्कण और किङ्किणीकलाप से सुशोभित हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा तथा उनकी प्रेरणा से मुझे अनेक ग्रन्थों के लेखक प्रो0 जानकी प्रसाद द्विवेदी व्याकरणाचार्य, डी0लिट्., पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, पूर्व शब्दविद्या-संकायाध्यक्ष, पूर्व रजिस्ट्रार, अध्यक्ष कातन्त्र पुस्तकालय, दिल्ली का सान्निध्य सन् 2000 में मिला। तबसे मैं प्रायः उनसे कुछ बिन्दुओं पर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाता रहा हूँ। सन् 2012 में एक दिन श्रद्धेय द्विवेदी जी ने मुझसे कहा कि अपनी कीर्ति को चिरस्थायी रखने हेतु आप द्वारा एक ग्रन्थ की रचना होनी चाहिये, चाहे वह ग्रन्थ भले ही लघु कलेवर का हो। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रेरणास्रोत वे ही हैं। मैंने उनसे कहा कि मेरी रुचि तो 'श्रीमद्भगवद्गीता' में बाल्यावस्था से ही रही है, परन्तु इस पर कुछ लिखने का आत्मविश्वास तभी दृढ़ हो पायेगा जब आप मुझे पर्याप्त निर्देशन के साथ, पर्याप्त समय भी दे सकें। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। अतः मैंने सन्त दादूदयाल के पद-

'दादू करता हम नहीं, करता औरे कोय,
करता है, सो करेगा, तूँ जिन करता होय।।'

का स्मरण कर, श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना कर कि 'प्रभु मुझे निमित्त बनाकर तुम्हीं लिखना' लेखन प्रारम्भ किया।

सन् 1995 में कुछ दिन तमिलनाडु में तिरुवन्नामलाई जनपद स्थित महर्षि रमण आश्रम में रहते हुए मैं महर्षि द्वारा 'गीतासार' तथा कुछ अन्य के रूप में छाँटे गये श्लोकों से बहुत प्रभावित था। अतः सम्बद्ध लेख इन श्लोकों तथा कुछ अन्य श्लोकों पर अपने विचार व्यक्त करने तथा चिन्तन-मनन द्वारा चित्तशुद्धि के उद्देश्य से 'गीतासार' पर अपने भाव व्यक्त कर लिखा गया है। हाँ, 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर कुछ लिखने के पूर्व धर्म, योग, बुद्धियोग, मन, कामना, गुह्यतम रहस्य आदि कुछ विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

श्री द्विवेदी जी के आवश्यक सहयोग से, जब पूर्वयोजनानुसार लेखन कार्य पूर्ण होने को था तभी आपने एक दिन कहा कि 'चूँकि आपने व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवन में वहुत संघर्ष किया है तथा आपने सन्तों के सान्निध्य में भी समय बिताया है, अतः आपको अपनी आत्मकथा या जीवन-यात्रा अवश्य लिखनी चाहिये'। उनके इस निर्देश को मैंने भगवान् की प्रेरणा मानकर, जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में निर्देशन प्राप्त कर लिखना प्रारम्भ किया।

वाल्यावस्था में राजा जनक की परम्परावाले पितामह द्वारा प्राप्त संस्कार तथा श्रद्धेय पिताश्री के क्षत्रियोचित गुणों का गहरा प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा है। इसके साथ ही मेरा मानना है कि मेरे किसी जन्म के सञ्चित पुण्य के फलस्वरुप, मुझे वाल्यावस्था में उच्चकोटि के वेदान्ती संन्यासियों, सन्तों के सान्निध्य में रहने तथा उनकी सेवा करने का अवसर मिला, क्योंकि सन्त तुलसीदास जी ने कहा है-

'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं सन्ता।'

ऐसा अवसर भगवान् की कृपा से ही कुछ अन्तराल पर पूरे जीवन में सदैव मिलता रहा। इसे मैं केवल भगवत् कृपा ही मानता हूँ, अपना पुरुषार्थ नहीं। चूँकि सन् 2011 से कृष्ण के वालस्वरूप ने मुझे अत्यधिक आकृष्ट कर लिया था, अतः श्रीकृष्ण का चित्ताकर्षक मुखमण्डल, घुँघराले वाल, माथे पर बँधी सुनहरे कपड़े की पट्टी, उसमें लगाया गया मोर-पिच्छ तथा उनकी विशेष चितवन से आकृष्ट होकर उन्हें गोद में लेने की उत्कण्ठा बढ़ती गयी और इस भाव में वर्षो रहने पर मुझे सहज लगता है कि किसी भी रूप में जब भी उन्हें गोद में लेने की इच्छा से मैं उनकी प्रतीक्षा करता हूँ, तो वे कुछ देर मुझे देखते हैं तथा मेरे भाव से प्रभावित होकर मेरी गोद में तेजी से चले आते हैं। इसलिये मैंने 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण लीलाओं तथा अन्य प्रसङ्गों से जुड़कर आनन्दानुभव किया एवं तदनुसार कुछ विचार व्यक्त किये। जीवन-यात्रा का तीन भागों में संयोजन किया गया है।

प्रथम भाग में व्यावहारिक-व्यक्तिगत जीवन, द्वितीय भाग में सामाजिक जीवन के संघर्ष, समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों से वात-चीत तथा उनके सहयोग आदि की चर्चा है। अन्तिम भाग 'पारमार्थिक गतिविधियाँ' के अन्तर्गत ज्ञानियों, भक्तों, योगियों, सन्तों से सीख तथा उनसे वाको-वाक्यम् के रूप में जिज्ञासा समाधान तथा गुरुतत्त्व, श्रीमद्भगवद्गीता, ॐ की साधना तथा श्रीमद्भागवत् का वर्णन है।

यद्यपि वैराग्यबुद्धि परिपक्व नहीं हुई है, भोगों की स्पृहा शेष है, वासनाओं के त्याग हेतु संघर्ष चल रहा है, मञ्जिल दूर लगती है, भक्ति के फल-प्रेम की झलक ही शायद मिली है, परन्तु इतना अवश्य है कि निष्काम कर्म, धार्मिक कार्यों, पारमार्थिक गतिविधियों तथा विशेषतः लेखन के सन्दर्भ में चिन्तन-मनन से बहुत हद तक चित्तशुद्धि हुई है। कृष्ण के निरन्तर स्मरण से भक्ति के रूप में प्रेम का बीज अङ्कुरित हुआ है, पल्लवित-पुष्पित-फलित होना तो उसकी कृपा से ही सम्भव है, परन्तु लेखन के उद्देश्य की पूर्ति कुछ हद तक सन्तोष प्रदान करती है। यदि व्यावहारिक या सामाजिक जीवन के किसी पक्ष से, किसी को कुछ प्रेरणा मिलेगी, तो प्रसन्नता होगी। इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात होगी यदि श्रीमद्भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत या सन्तों के किसी वचन से भर्तृहरि द्वारा 'वैराग्य शतक' में वर्णित निम्न श्लोकांश

'अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापी-तटे,
क्रीडाकाननकेलि-कौतुक-जुषामायुः-परिक्षीयते।'

(हम पहले अपने मनोरथों के द्वारा एक सुन्दर मन्दिर बनाते हैं, फिर उसके पास एक सुन्दर वावड़ी खोदते हैं और वावड़ी के पास में ही एक क्रीडा-कानन की रचना करते हैं। बस, उस

कल्पना के क्रीडा-कानन में ही कुतूहल करते-करते हमारी सम्पूर्ण आयु क्षीण हो जाती है, अर्थात् मिथ्या कल्पनाओं में ही हमारा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है और जीवन के असली उद्देश्य से हम वञ्चित रह जाते हैं) - के अर्थ पर मनन करते हुए, हम उससे प्रेरणा लेकर अपने जीवन को बदलने का निश्चय कर लेंगे तथा श्रीकृष्ण की किसी शिक्षा से प्रभावित होकर या उनकी रूपमाधुरी-लीला से आकृष्ट होकर, उनके प्रति समर्पित हो जायेंगे तथा अपना जीवन सफल कर लेंगे।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त बुद्धियोग से, जितना उन्होंने मुझे जानने का अधिकारी समझा; क्योंकि उन्हें तो जान वही सकता है जिसे वे जनाना चाहें-

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'
(रामचरितमानस अयो0।26/3)

मुझे निमित्त बनाकर श्रीकृष्ण द्वारा जो लिखवाया गया, उसके 'कारण' होने के कारण इसके फल के अधिकारी भी वे ही हैं, इसलिये निम्न शब्दों में मेरा समर्पण है-

यत् कृतं यत् करिष्यामि यत् करोमि जनार्दन,
तत् त्वयैव कृतं सर्वं त्वमेव फलभुग् भवेः।।

उन महात्माओं, सन्तों, विद्वानों, भक्तों को मैं शत-शत नमन करता हूँ, जिनकी किसी शिक्षा का मेरे ऊपर गहरा असर पड़ा है तथा मैंने उनसे किसी रूप में ज्ञान प्राप्त कर अपनी शङ्काओं का समाधान प्राप्त किया हैं। अन्त में श्रद्धेय प्रो0 जानकी प्रसाद द्विवेदी जी का मैं सदैव आभारी हूँ, जिनके सहयोग के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना-प्रकाशन सम्भव नहीं था। प्रकाशक के प्रति धन्यवाद। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में किसी प्रकार का सहयोग जिन्होंने भी दिया है, उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

लगभग बीस वर्षों तक आजादी बचाओ आन्दोलन में निष्काम कर्म तथा धार्मिक कार्यों को करते हुए, भगवत्कृपा से प्राप्त सन्तों-विद्वानों के सान्निध्य में रहकर सीखते हुए, तथा शास्त्रों-महात्माओं के वचनों के अध्ययन से प्राप्त लाभ के उद्देश्य से एवं मुमुक्षुओं-साधकों के विचार से अन्तःकरण शुद्धि के प्रयोजन से स्वान्तःसुखाय लिखने का विचार हुआ। दूसरे के कल्याण को ध्यान में रखकर ही योगानन्द जी ने 'योगीकथामृत' महात्मा गाँधी ने 'सत्य प्रयोग' लिखा है, ताकि लोगों को प्रेरणा मिले।

प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यावहारिक, सामाजिक तथा पारमार्थिक गतिविधियाँ, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत तथा अन्त में प्रेम-प्रकरण दिया गया है। मेरे व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवन के संघर्षों में जिन लोगों से मुझे किसी प्रकार का सहयोग मिला है, उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। पीठिका में वर्णित अनुक्रमणिका में उद्धृत सभी ग्रन्थों के टीकाकारों, व्याख्याकारों, लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके विचारों से मैंने प्रभावित होकर अपने भावों को व्यक्त किया है।

गुरुजनों का स्नेहभाजन

डॉ0 वशिष्ठ सिंह
(लेखक, प्रकाशक एवं सम्पादक)

विषय-सूची

ॐ तत् सत्

आयु के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में कौस्तुभ जयन्ती का दिनांक 27–01–2015 को आयोजन



आवास : कौस्तुभ जयन्ती आयोजन स्थल



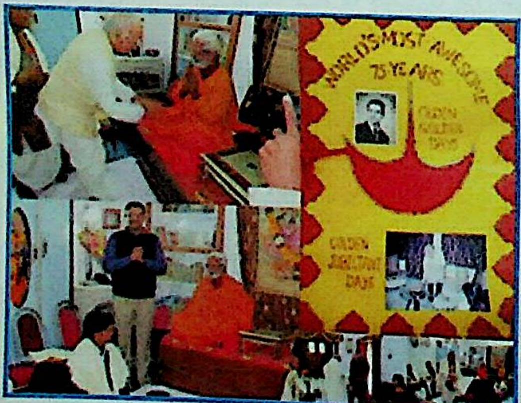
मङ्गलश्लोक–कलशस्थापन



संगीतमय भजन–गायन

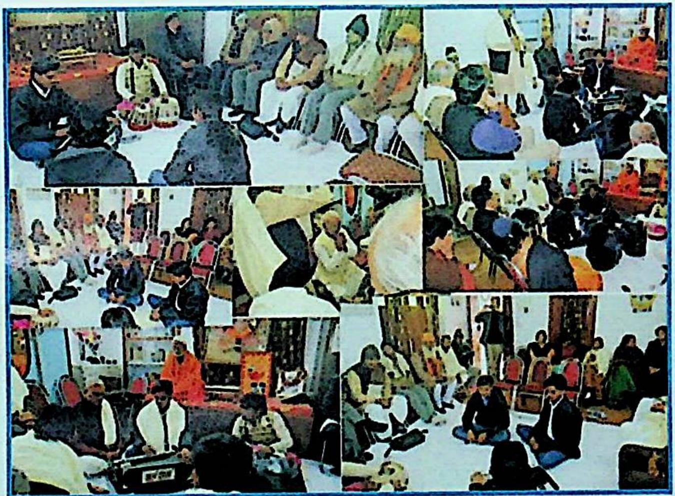
उपस्थित सज्जनों के बीच मैंने निम्न विचार व्यक्त किये –

अपनी आयु के पचहत्तर वर्ष पूर्ण कर संन्यास आश्रम में प्रवेश की बेला में विचार आया कि एक आशीर्वाद गोष्ठी का आयोजन किया जाय, जिसमें मुझसे कई वर्षो से अलग–अलग प्रकार से जुड़े तथा मेरे जीवन को नजदीक से देखने वाले श्रेष्ठ बन्धुओं का आशीर्वाद प्राप्त हो तथा इसमें निवेदन करूँ कि मेरी कमियों को वे स्पष्टतः इङ्गित करें, जिससे मैं अपने आगामी जीवन को और अच्छा बना सकूँ। श्रद्धेय जानकीप्रसाद द्विवेदी जी के परामर्श पर मैंने अपने सभी स्वजनो को भी इस आयोजन के बारे में बताया तथा कहा कि मैं हृदय से आभारी हूँ कि आप सभी श्रेष्ठ स्वजन बन्धु मेरे निवेदन पर इस आशीर्वाद गोष्ठी में भाग लेने आये। आप सभी से मैं निवेदन करता हूँ कि बिना किसी संकोच के मेरी कमियों को बताते हुए अपना आशीर्वाद प्रदान करें। समारोह में श्री टी.एन. सिंह, प्रो0 जानकीप्रसाद द्विवेदी, श्री जगदीश सिंह, श्री विन्ध्याचल सिंह, श्री उदयनारायण सिंह, श्री रामअशीष सिंह तथा स्वामी धर्मनिधि ने भाव भरे विचारों के साथ आशीर्वाद–शुभकामनाएँ प्रदान कीं।

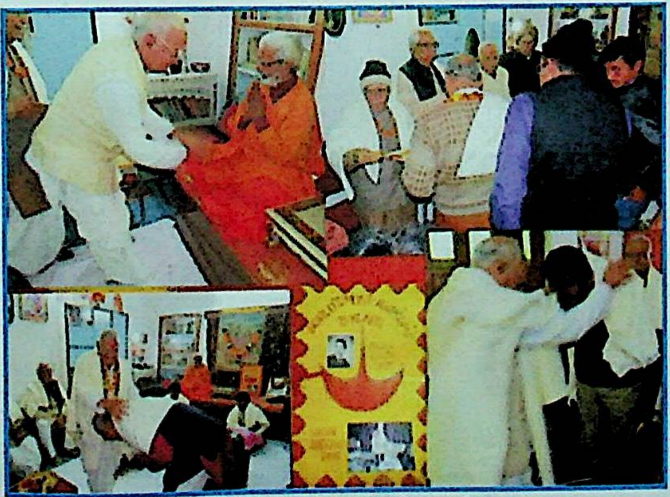


ऊपर बाएँ– स्वामी धर्मनिधि से आशीर्वाद लेते हुए
ऊपर दाएँ– पूरे परिवार के द्वारा प्रदत्त भावोद्गार
नीचे बाएँ– सुप्रभात (पुत्र) द्वारा सबका स्वागत
दाएँ नीचे– प्रदीप (श्रेष्ठ जामाता) मेरा आशीर्वाद लेते हुए
बीच में नीचे– आगन्तुकों का स्वागत करते हुए

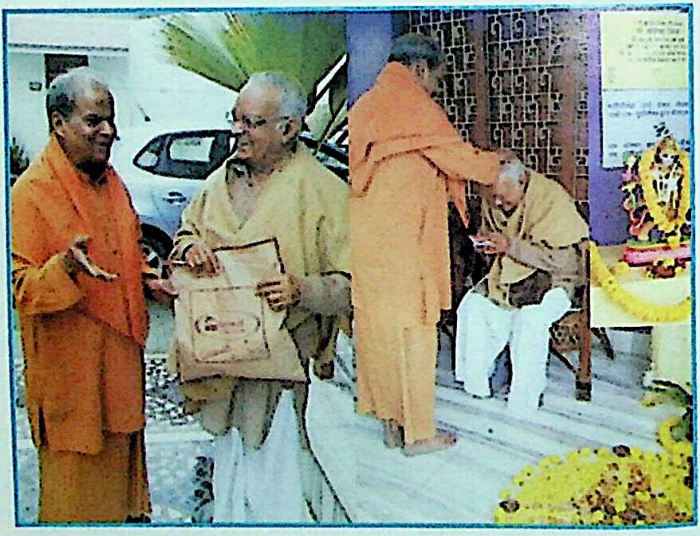
संगीतमय भजन–गायन

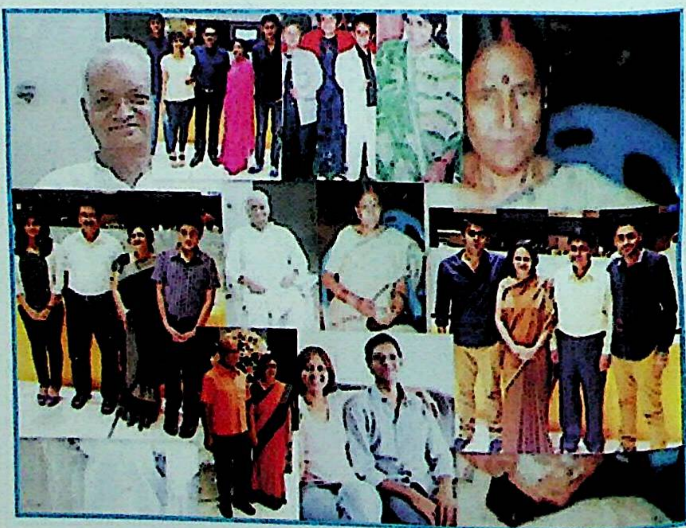


बीच में विनम्र भाव से अपना गावोद्‌गार व्यक्त करते हुए। मेरे चारो ओर बैठे लोग संगीत का आनन्द लेते हुए। ऊपर दाएं– श्री राम अशीश सिंह बोलते हुए



मन्त्रोच्चार के साथ आशीर्वाद समारोह





सन् 2015 में लेखक के सम्पूर्ण परिवार

उपस्थित ज्ञान–अनुभववृद्ध जनों के विचार

प्राचीन छात्र एसो0 के अध्यक्ष श्री टी.एन. सिंह जी के विचार

अपनी आयु के पचहत्तर वर्ष पूर्ण कर संन्यास आश्रम में प्रवेश की बेला में विचार आया कि एक आशीर्वाद गोष्ठी का आयोजन किया जाय, जिसमें मुझसे कई वर्षो से अलग–अलग प्रकार से जुड़े तथा मेरे जीवन को नजदीक से देखने वाले श्रेष्ठ वन्धुओं का आशीर्वाद प्राप्त हो तथा इसमें निवेदन करूँ कि मेरी कमियों को वे स्पष्टतः इङ्गित करें, जिससे मैं अपने आगामी जीवन को और अच्छा वना सकूँ। श्रद्धेय जानकीप्रसाद द्विवेदी जी के परामर्श पर मैंने अपने सभी स्वजनो को भी इस आयोजन के बारे में वताया तथा कहा कि मैं हृदय से आभारी हूँ कि आप सभी श्रेष्ठ स्वजन वन्धु मेरे निवेदन पर इस आशीर्वाद गोष्ठी में भाग लेने आये। आप सभी से मैं निवेदन करता हूँ कि विना किसी संकोच के मेरी कमियों को बताते हुए अपना आशीर्वाद प्रदान करें। समारोह में श्री टी.एन. सिंह, प्रो0 जानकीप्रसाद द्विवेदी, श्री जगदीश सिंह, श्री विन्ध्याचल सिंह, श्री उदयनारायण सिंह, श्री रामअशीष सिंह तथा स्वामी धर्मनिधि ने भाव भरे विचारों के साथ आशीर्वाद–शुभकामनाएँ प्रदान कीं।

उपस्थित श्रद्धेय वन्धुओ,

सन् 2002 के पूर्व मैं डॉ0 वशिष्ठ सिंह को गणित के एक अच्छे अध्यापक के रूप में जानता था। इन्होंने उदय प्रताप कालेज की अनियमितताओं के प्रति प्राचीन छात्र एसोसियेशन को भीष्मपितामह की तरह भूमिका निभाने पर, पत्र लिखकर सक्रिय किया तथा मेरे अन्दर स्थित क्षत्रियोचित गुणों से सम्पन्न व्यक्तियो के लिये, उदय प्रताप कालेज को शक्तिपीठ मानने के दृढ़ भाव को कुरेद दिया। मैं मन–ही–मन कालेज के अन्दर व्याप्त भ्रष्टाचार से तड़प रहा था, परन्तु किंकर्त्तव्यविमूढ था। सरकार द्वारा अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन न करने से खिन्न था, राजर्षि की इच्छा के अनुरूप, उनके द्वारा स्थापित ट्रस्ट की संस्थाओ का प्रवन्धन न होने के प्रति निराश था। राज्य सरकार के कोषाध्यक्ष द्वारा इण्डाउमेन्ट फण्ड पर अर्जित ब्याज के पैसे के दुरुपयोग से आक्रोशित था, परन्तु दीर्घकालीन व्यवस्था के चरमराने की आशा छोड़ चुका था। फिर भी निराश मन से संघर्ष में कूद पड़ा। मैं जैसे–जैसे डा0 साहव के करीव आता गया, इनके दृढ़ निश्चय, उद्देश्य की पूर्ति हेतु किसी स्तर तक शारीरिक कष्ट सहना, सभी स्तर पर पत्र तैयार करना, विरोधी विचार रखने वालों के प्रति प्रेम–पूर्ण सम्बन्ध रखना तथा भगवान् के प्रति दृढ़ विश्वास देखता गया, वैसे–वैसे संघर्ष में आशा वढ़ती गयी और इनके निर्देश पर कुछ भी करने को सदैव तत्पर रहता हूँ, सवको जोड़ता रहता हूँ। अन्त में मैं इनके शतायु होने की कामना तथा भगवान् से प्रार्थना करते हुए इनसे अपेक्षा करता हूँ कि ये यू0पी0 कालेज के संघर्ष को अंजाम तक पहुँचा दें, इसे भ्रष्टाचार से मुक्त करा दें।

पूर्व अभियोजन अधिकारी श्री जगदीश सिंह जी के विचार –

वशिष्ट जी की आयु के पचहत्तर वर्ष पूर्ण होने के इस मङ्गलमय अवसर पर आयोजित समारोह में भाग लेकर वहुत प्रसन्नता हुई। भगवान् से इनके दीर्घायु, स्वस्थ, प्रसन्नता पूर्ण जीवन–यापन करने हेतु इन्हें अपना आशीर्वाद देता हूँ। आपने मेरे पिता की स्मृति में भजन संग्रह के प्रकाशन में सहयोग किया था। मेरे जीवन का जो अनुभव रहा है और आज तक के अध्ययन, चिन्तन, मनन का निचोड़ रहा है, उसे ही मैं आपको आज संदेश के रूप में व्यक्त कर रहा हूँ।

अपनी चौरासी वर्ष की आयु के अनुभव के आधार पर मेरा आपको सन्देश है कि जीवन में परमात्मा की भक्ति ही सार है। सबमें उसी की उपस्थिति का अनुभव करते हुए सेवा कीजिये।

अहङ्कार को गलाते जाइये, इसे शून्य तक ले जाने का प्रयास कीजिये। केवल ईश्वर को अपना सगा-सम्बन्धी, हितैषी मानकर उसी के सहारे प्रसन्न्तापूर्वक जीवन निर्वाह कीजिये, बाकी सब छोड़ते जाइये।

श्री जानकीप्रसाद द्विवेदी, व्याकरणाचार्य, पूर्व रजिस्ट्रार का वक्तव्य–

सन्दर्भः दि॰ २५।४।२०१५ को आवास पर आयोजित लेखकः..................
कौस्तुभजयन्तीसमारोह में श्री जानकी प्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य

तरणिजापुलिने नवपल्लवीपरिषदा सह केलिकुतूहलात् ।
द्रुतविलम्बितचारुविहारिणं हरिमहं हृदयेन सदा वहे ॥१॥

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥२॥

परम सम्माननीय श्रीस्वामी जी, समादरणीय श्रीसिंह साहब, उपस्थित अभिनन्दनीय विद्वद्वृन्द तथा परिवार के सभी मान्य सदस्य।

श्रीसिंह साहब से मेरा परिचय उस समय हुआ, जब वे उदयप्रताप कालिज में मेरे द्वितीय पुत्र चि॰ यशश्चन्द्र द्विवेदी के गणित के अध्यापक थे। आन्तरिक विचारसाम्य तथा धार्मिक– सांस्कृतिक क्रियाकलापों में अभिरुचि होने से वह परिचय निरन्तर बढ़ता गया। इधर सिंह साहब ने जो आत्मकथा लिखी है, उसके अवलोकन का एवं अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का और भी अवसर मिला, उससे उस परिचय में और घनिष्ठता-निकटता स्थापित हुई। सिंह साहब के अध्यापन- अनुसन्धान – अन्वेषण तथा समाजसेवा के कार्य तो अत्यन्त स्मरणीय एवं श्लाघनीय हैं ही, उनका भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप पर जो निश्छल परम प्रेम है, उससे मुझे ऐसा लगता है कि मथुरा- वृन्दावन में यदि कृष्ण के निश्चित निवास की कहीं जानकारी हो जाए, तो सिंह साहब बनारस छोड़कर मथुरा- वृन्दावन चले जाएंगे।

उनके जो उपलेख मुझे पढ़ने को मिले, उनसे मैं यह जान सका कि वे ईश्वर को साक्षी मानकर कार्य करते हैं और फिर बाद में वे ईश्वर को सब कार्य समर्पित कर देते हैं। उन्हें निःस्पृहभाव से समाजसेवा में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है।

मैं इस मङ्गलमय अवसर पर आपके स्वस्थ दीर्घायु रहते हुए शतायु होने की कामना करता हूँ।

मानवजीवन विशेषताओं से भरा होता है, विनाशशील होता है। विनाश और जीवन में जीवन की प्रशंसा की जाती है। [illegible] अनेक दोष नष्ट होते हैं। [illegible] के मुख से [illegible] समाचार सुनकर सीता तथा [illegible] ने यही भाव व्यक्त किया था, उसके अनुसार यह अत्यन्त [illegible] है कि एक कल्याणकारी गाथा लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है। जीवित रहने वाले पुरुष को [illegible] आनन्द आता ही है, चाहे वह सौ वर्षों के बाद ही क्यों न आए —

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥
(वा० रा० ५/३४/६; ६/१२६/२)।

पुत्र को सभी गुणों का [illegible] तथा [illegible] भूमण्डल का अलंकार माना जाता है। यही कारण है कि [illegible] लगा देने वाले को आत्मा ही पुत्र कहा गया है —

[illegible]
तस्मात् [illegible] [illegible] ॥
([illegible])

[illegible] की आयु के [illegible] वर्ष पूरे हो रहे हैं, कल से (२८/७/२०१५) [illegible] वाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। पुत्र का जन्म होने पर जो उत्सव मनाया जाता है, पिता अपने पुत्र को आत्मा के रूप में मानकर उसका अभिनन्दन करता है, शतायु होने का आशीर्वाद देता है। समग्र जीवन को ध्यान में रखकर पिता अपने पुत्र के प्रति किस प्रकार की मङ्गलकामनाएँ करता है और विविध प्रकार के आशीर्वाद देता है — इसी में स्वरचित एक गीत द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूँ —

जन्मदिन गीत

आते हैं सभी और गाते सभी, जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥

१. जन्म होते ही बजती हैं शहनाइयाँ, [illegible] होते [illegible] के, [illegible] के।
[illegible] मिलें [illegible] माता-पिता हो [illegible] में॥
यह [illegible] है न कोई [illegible]।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥१॥

२. [illegible] [illegible], आज [illegible] [illegible]।
[illegible] और [illegible], हो गई यह [illegible]॥
[illegible] भी।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥२॥

३. [illegible] सदा [illegible]।
[illegible] रहें॥
[illegible] और [illegible] भी।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥३॥

४. [illegible] रहें।
दूर [illegible] रहें।
[illegible] भी।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥४॥

५. [illegible] रहें।
[illegible]
[illegible]।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥५॥

६. [illegible] से।
जन्मदिन [illegible] चाहिए॥
[illegible] भी।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥६॥
आते हैं सभी और गाते सभी।
जन्मदिन की हैं खुशियाँ मनाते सभी॥

[illegible]

श्री उदय नरायण सिंह पूर्व प्रधानाचार्य राजकीय क्वीन्स कालेज, वाराणसी के विचार

डा० नागेन्द्र नारायण सिंह एम.ए., पी.एच.डी. प्रवक्ता भारतीय स्नातकोत्तर उदय प्रताप महाविद्यालय वाराणसी को शिक्षा जगत में कौन नहीं जानता। श्री सिंह एक ओर अपने विषय के मर्मज्ञ विद्वान हैं वहीं शिक्षण कला में बहुत ही धनी व लोकप्रिय प्रतिष्ठित रहे हैं। केवल धनोपार्जन और भौतिक ऐश्वर्य की चकाचौंध निर्धारित करने वाली वर्तमान शिक्षा को वे भारतीय चिंतन प्रणाली के अनुरूप नहीं मानते रहे हैं। वे सदैव लोकतान्त्रिक जीवन मूल्यों को अपनाने पर बल देते रहे हैं। शिक्षा के द्वारा ही वे देश की वर्तमान चुनौतियों यथा भ्रष्टाचार, आतंकवाद, पर्यावरण प्रदूषण, राष्ट्रीय सुरक्षा, नारी सम्मान, [illegible] आदि के प्रति सर्व चेतना निर्माण करना चाहते हैं। श्री सिंह उदय प्रताप महाविद्यालय से वर्ष 2002 में अवकाश ग्रहण किये। वर्तमान उदय प्रताप कालेज प्रबन्ध समिति, संस्थापक राजर्षि उदय प्रताप सिंह जू देव के उद्देश्यों एवं सोच के विपरीत कार्य, मनमानी आचरण कर रही है जिसके विरुद्ध श्री नागेन्द्र सिंह अवकाश ग्रहण करने के बाद भी अपने तन मन धन से एक लड़ाई लड़ रहे हैं जो आज वर्तमान समय में एक ऐतिहासिक उदाहरण है। ईश्वर से प्रार्थना है कि जनहित की इस लड़ाई में इन्हें विजय श्री प्राप्त हो साथ ही इन्हें स्वस्थ व दीर्घायु बनाये रखें।

उदयनारायण सिंह
अवकाश प्राप्त प्रधानाचार्य
[illegible] कालेज
वाराणसी

श्री विन्ध्याचल सिंह, पूर्व रीडर, उ0प्र0 कालेज, प्रमुख कार्यकर्ता गायत्री परिवार, वाराणसी के विचार

डा० नागेन्द्र सिंह

डा० सिंह मेरे [illegible] उ० प्र० महाविद्यालय में [illegible] [illegible] आज [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] महाविद्यालय [illegible] [illegible] [illegible] उ० प्र० महाविद्यालय में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वर्षों [illegible]।

[illegible] 2002 में अवकाश [illegible] प्राप्त हुआ।

[illegible] की [illegible] से भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के रूप में [illegible] और देश की [illegible] के विरुद्ध [illegible] हृदय में [illegible] [illegible] आजादी [illegible] [illegible] में एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का सानिध्य और [illegible] मिलता गया। एक [illegible] [illegible] भी [illegible] में आगे बढ़ते गए और जीवन का उद्देश्य -

[illegible] [illegible] राज्यं न स्वर्गं न [illegible]
[illegible] [illegible] तप्तानाम्, प्राणिनाम् [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] से [illegible] को मुक्त कराने में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भारत [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] स्वतंत्र भारत में [illegible] के लिए संघर्ष रत हैं। [illegible] सरकार के नियंत्रण से मुक्त होने का सतत प्रयास [illegible] [illegible] [illegible] राष्ट्रीय [illegible] [illegible] [illegible] आन्दोलन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] राजर्षि उदय प्रताप सिंह के [illegible] [illegible] [illegible] स्थापना के Endowment [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] Endowment fund [illegible] [illegible] [illegible]

धन अनुक्रम में किया। आज भी श्री मैनेजमेन्ट श्री कर्म स्पष्ट के अनुरूप नहीं है। श्री मैनेजमेन्ट को कोई हक नहीं है, बल्कि लोन के इन्डाउमेन्ट फण्ड के ब्याज को पैदा प्रबन्ध सामान्य तल गीता प्रेस दुरुपयोग करे। इसके अतिरिक्त अनेक अलिखित नेताओं के विरोध में आ० वशिष्ठ सिंह कियाशील हैं और इनका प्रेस समिति को भी आवश्यक रूप से बाधित कर प्र० शिक्षा समिति को भंग करने का आदेश पारित करने के लिए विवश करते थे।

सबों की आवश्यकता भी बताती है कि आ० सिंह को जन सहयोग मिलता रहे तो इस प्रकार प्रवेश का प्रकाश अवश्य आयेगा।

मैं स्व आ० वशिष्ठ सिंह जुप. श्री. हस्ताक्षर से अति प्रभावित हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इन्हें दीर्घ आयुष्य प्रदान करें तथा इनकी प्रतिभा निरन्तर विकसित होती रहे। मुझे विश्वास है कि इनके द्वारा रचित "गीता-सुधा" गीता के माध्यम शीघ्र ही प्रकाशित होगी जो देश और समाज को एक नई दिशा प्रदान करेगी।

विन्ध्याचल सिंह
गायत्री परिवार
वाराणसी

श्री रामअशीष सिंह, पूर्व प्रधान प्रगुख वन संरक्षक हिगाचल प्रदेश, के विचार

[illegible]

सबको भगवान् की सन्तान समझकर बिना किसी भेद-भाव, प्रेम कीजिये। सबमें प्रेम बाँटिये। किसी के प्रति निर्मम न हों। कठोर वाणी का प्रयोग किसी के साथ कभी न करें। जितना ही आप दूसरों को सुख देंगे, उतना ही सुख का स्वयं भी अनुभव करेंगे। किसी से कुछ लीजिये मत। यथा-सम्भव दूसरों की सहायता कीजिये। बूढ़े, असहाय लोगों की जिस प्रकार सेवा हो सके, उनको जिस प्रकार सुख पहुँच सके, उसमें अपना तन, मन, धन लगायें। यद्यपि अहङ्कार का नाश करना बड़ा कठिन कार्य है, मैं स्वयं लाख प्रयत्न के बाद भी बार-बार असफल हो जाता हूँ, परन्तु इसको समाप्त करना सबका मूल है। बिना अहङ्कार को नष्ट किये न आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है और न शान्ति ही मिल सकती है। जीवन के परम लक्ष्य- भगवत्-प्राप्ति के सभी मार्गों में भक्ति का रास्ता सबसे सरल है। अतः भगवान् के प्रति भक्ति बढ़ाते जाइये तथा उनके प्रति पूर्ण शरणागत हो जाइये। इसी में शान्ति मिलेगी, जीवन आनन्दपूर्ण होता जायेगा

समारोह के समापन में श्री विन्ध्याचल सिंह जी ने मुझे उपस्थित लोगों के बीच में बैठाकर, वेद के मन्त्रों का सस्वर पाठ किया तथा सभी लोगों ने मेरे ऊपर फूल फेंकते हुए अपनी मङ्गलकामनाएँ प्रकट कीं।

सम्पूर्ण परिवार की ओर से श्री प्रदीप द्वारा भावों का व्यक्तीकरण

आपका क्षितिज बहुत विस्तृत हैं, जिसका सूरज कभी नहीं डूबता। आपने बूँद-बूँद जीवन को जिया है। आपकी आँखें कई बार भले ही भर आई हों, परन्तु मनोबल सदा ऊँचा तथा मन मुस्कुराता रहता है। जीवन के उतार-चढ़ाव को चक्र बनाकर जीना आपसे ही हम सबने सीखा हैं। आपने परिवार की मर्यादा को समय की धूप दी। मर्यादा को नियम चाहिये। नियम ही परिवार को बाँधता है। बड़ों में बड़प्पन व छोटों में आदर-भाव का सृजन आपने ही हमें सिखाया है। छोटे-छोटे बिम्ब कैसे जीवन को महान् बनाते हैं, यह हमने आपके जीवन से सीखा है। अन्त में हम सभी यह कहना चाहते हैं-

गिरना अच्छा लगता हैं हम लोगों को
अपनी अवकात का पता चलता है।
बढ़ते हैं जब हाथ उठाने को, जब पाँव आपके
तब बार-बार हम लोगों को गिरने का मन करता है।
सीख रहे हैं हम लोग अभी भी इन्सान बनने का हुनर
आपकी लम्बी आयु चाहिये क्योंकि
हम सभी लोगो को अभी भी पूरा इन्सान बनना बाकी है।

मेरे विचार, जीवन की गतिविधियों तथा विशेष अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में -

मुझे प्रसन्नता होगी, यदि पुत्रियाँ तथा पुत्र, बहू तथा दामाद, प्रारब्धवश प्राप्त अपने परिवार के प्रत्येक के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह ईमानदारी से तथा अहङ्कार रहित होकर करेंगे तथा परिवार में सबकी प्रसन्नता का ध्यान रक्खेंगे। अपने अहं-भाव को विसर्जित करते जाने तथा त्यागमय जीवन व्यतीत करने से ही मानसिक शान्ति आती है। सृष्टि में सबकी पूर्व वासनाएँ, स्वभाव भिन्न हैं- इसे दृढ़ता से मानकर, सबके साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए रहना, जीवन को सुखी रखने हेतु आवश्यक हैं। उम्र के बढ़ने के साथ शरीर पर अधिक ध्यान देना, इन्द्रियों-मन-बुद्धि में सामञ्जस्य रखना तथा इसका क्षेत्र बढ़ाते हुए प्रकृति तथा अन्त में ईश्वर के साथ प्रत्येक स्तर पर सामञ्जस्य स्थापित करना 'योग' है।

अध्ययन करने वाले अपने सभी प्रिय विद्यार्थियों से अपेक्षा करता हूँ कि वे अपने जीवन में प्रमाद से बचेंगे। जीवन में चरित्र को प्रथम स्थान देंगे। ज्ञानार्जन हेतु कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। मित्र बनाते समय तथा बाद में भी सच्चे मित्र की कसौटी पर उसे कसते रहेंगे। मन की बात न मानकर बुद्धि की बात हमेशा मानेंगे। कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जिससे श्रद्धेय जनों को कष्ट की अनुभूति हो तथा परिवार की मर्यादा पर आँच आये।

गीता की शिक्षा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के मैदान में दी। मन को शान्त रखते हुए, जीवन में प्रस्तुत समस्या को समझने तथा उसे एक प्रश्न की भाँति सर्वोत्तम तरीके से हल करने की कला सीख लेने से जीवन आनन्दपूर्ण रहेगा।

सबके मङ्गलमय भविष्य की कामना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना है कि वे सबके जीवन की लक्ष्य प्राप्ति में सहायता करें। सबको आशीर्वाद।

दिनांक 28-01-2015 को प्रातः स्वामी कृष्णप्रेमानन्द सरस्वती से जिज्ञासात्मक वार्ता तथा आशीर्वाद

28 जनवरी, 2015 को प्रातः 6.00 बजे मेरे गुरु स्वामी कृष्णप्रेमानन्द सरस्वती अपने एक शिष्य तथा मेरे मित्र श्री सुरेन्द्र द्विवेदी अधिवक्ता के साथ मेरे घर, मेरी पूर्व प्रार्थना पर, मेरे संन्यास आश्रम में प्रवेश की वेला में, मुझे अपना आशीर्वाद देने तथा मुझे कृतार्थ करने हेतु मुझ पर कृपा कर पधारे। अन्दर कमरे में बैठने के आग्रह के बाद भी वे बाहर बरामदे में जहाँ मेरे मनोनुकूल मेरे प्यारे कृष्ण विराजमान थे तथा मूर्ति के पार्श्वभाग में एक पोस्टर जिसकी छायाप्रति प्रदर्शित है, चिपका था, रहना पसन्द किये। उन्होंने मुझे मूर्ति के बगल में बैठ जाने का आदेश दिया तथा स्वयं सामने खड़े रहे। बिना कोई मौका दिये उन्होंने प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया-

महात्मा- हाँ, तो तुम्हारी आयु के पचहत्तर वर्ष पूर्ण हो गये। तुम्हारे साथ अभी तक जो धन-सम्पत्ति जुड़ी है, सगे-सम्बन्धियों का विस्तृत परिवार जुड़ा है, अहङ्कार और ममता जुड़ी है, सामाजिक, धार्मिक जिम्मेदारियाँ जुड़ी हैं- यह पूरी फौज लेकर संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर रहे हो ?

उत्तर- स्वामी जी! जहाँ तक धन सम्पत्ति, मकान-जमीन का सम्बन्ध है, वह तो मैंने विधिक रूप से, जो उसके हकदार थे, उन्हें दे दिया है। मेरा उन पर अधिकार समाप्त हो गया है। हाँ, उनकी तरफ से किसी कारण, जिम्मेदारी न सँभालने के कारण, मेरा विचार है कि उनके द्वारा नियुक्त संरक्षक के रूप में कुछ दिन और कार्य करूँ। जहाँ तक मोह-ममता का प्रश्न है, मेरे कृष्ण ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। उस कृपा को याद कर-कर मैं गद्-गद हो जाता हूँ। मार्च 2013 से मेरे पुत्र अपने परिवार सहित मुझसे अलग रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ही वे तथा उनके आश्रित मुझसे बात करते हैं। तीन पुत्रियाँ कभी-कभी दूरभाष पर हाल-चाल पूछ लेती हैं। हाँ, इतना जरूर है कि व्यावहारिक जगत् में पिता-पितामह की भूमिका में, मैं अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहता हूँ और आवश्यकता पड़ने पर यथासम्भव अपेक्षित कार्य सम्पन्न कर देता हूँ, बिना किसी आसक्ति के। इससे भी बड़ी कृपा भगवान् ने मेरा सम्बन्ध जन्मभूमि की सम्पत्ति, स्वजनों से मोह तथा किसी प्रकार के लगाव से मुक्त कराकर की। भगवान् की कृपा कितनी बड़ी कि उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनी तथा एक झटके में सबसे अलग कर दिया। सामाजिक, धार्मिक दायित्व जो मैंने ले रक्खे हैं, उन्हें तो पूरा करना मेरा कर्तव्य है और उन्हें पूरा करने में मुझे कोई सङ्कोच नहीं लगता; क्योंकि वे सभी कर्म मेरे द्वारा चित्तशुद्धि को ध्यान में रखकर किये जाते हैं, न फलाकाङ्क्षा है और न कर्मासक्ति है। कर्त्तापन का भाव जरूर कभी-कभी उफान मारता है, परन्तु भगवान् की कृपा से शीघ्र ही इसके मिथ्यापन का भान हो जाता है और वह भाव तिरोहित हो जाता है।

महात्मा– वशिष्ठ जी, इधर तो एक वर्ष से आप गीता पर कुछ लिख रहे थे, उसकी स्थिति क्या है ?

उत्तर– जी, स्वामी जी! इधर एक साल तो मैंने खूब गीता–दुग्धामृत का पान किया। पी तो रहा था 15–20 वर्षों से, परन्तु छक कर पीने की प्रेरणा और उसमें स्वाद तो श्रीकृष्ण कृपा से इधर ही मिला। इसीलिये (पोस्टर की तरफ इशारा करते हुए) प्रथम श्लोक इसी सम्बन्ध में लिखा है।

महात्मा– तो गीता–सम्बन्धी कार्य पूर्ण हो गया ?वेदान्त में तुम्हारी रुचि पहले से थी और चूँकि उपनिषद्‌रूपी गायों से ही श्रीकृष्ण ने गीता–रूपी दूध को प्राप्त किया है, इसलिये आसानी हुई होगी। उसमें अब क्या शेष रह गया है ?

उत्तर– स्वामी जी! गीता का चिन्तन–मनन करने से सञ्जय द्वारा कहे गये (चित्र में दूसरे श्लोक की तरफ इशारा करके) वचन पर दृढ विश्वास हो गया तथा उसके अनुसार हृदय में कृष्ण की छवि का स्मरण करते हुए, सजग रहकर अपने कर्त्तव्य–कर्मों का निर्वाह करते हुए जीवन जीने लगा।

महात्मा– अच्छा, अब आगे की योजना क्या है ?

उत्तर– स्वामी जी! मेरे वश में है क्या कि योजना बनाऊँ। किसी कर्म के पाँच कारण– शरीररूपी अधिष्ठान, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण की स्थिति, चेष्टा तथा दैव– में अपने अधिकार में तो कुछ भी नहीं। जो कुछ भी व्यक्त या अव्यक्त है, उसका अभिन्न निमित्तोपादान कारण वही है। सब कार्य उसकी वैश्विक योजना के अनुसार सम्पन्न हो रहे हैं। प्रेरणा भी उसी की, सामर्थ्य भी उसी की। हमें तो इस संसार के रङ्गमञ्च पर मुखौटा धारण कर, निमित्तमात्र बनकर, उसकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर, अपने इच्छारूपी अवरोध को न डालकर, अपने हृदयस्थित अन्तर्यामी की प्रेरणा के अनुसार, उसके आदेश का पालन भर करना है। इसे तो उन्होंने अर्जुन के बहाने स्पष्ट कर दिया है–

'मयैवेते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। (गीता 11/33)

स्वामी जी! जब सब कुछ, सृष्टि को ध्यान में रखकर सृष्टिकर्ता की योजनानुसार हो रहा है, तो हमारा कर्त्ता बन जाना, अहङ्कार से भर जाना कितना मूर्खतापूर्ण है। फिर भी आपने पूछा है तो इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि वह जिस कार्य की प्रेरणा देगा, करने की सामर्थ्य देगा तथा जिस स्तर तक कराना चाहेगा, करायेगा। जब चाहेगा बन्द करा देगा। प्रतिदिन का कार्य तो प्रतिदिन उसके द्वारा दी गयी प्रेरणानुसार ही होगा।

स्वामी जी! आज मैं बहुत बड़बड़ाता रहा। गत पैंतीस वर्षों में मैं आपसे केवल जिज्ञासा प्रकट कर सुनता रहता था। आज तो मैं ही प्रवचन कर्त्ता हो गया। क्षमा करेंगे। आज छिहत्तरवें वर्ष में मर्यादा का भी उल्लङ्घन कर गया।

पैरों पर गिरकर डबडबाती आँखों से क्षमाभाव में पड़ा रहा। स्वामी जी ने सिर पर हाथ रख दिया, उठाया, टीका लगाया, आशीर्वाद दिया तथा मुझे कृतार्थ किया। मैंने उनका पूजन किया। उन्होंने कहा– अन्तर्मुखी हो जाइये। स्व–अध्ययन, आत्मनिरीक्षण करते रहिये। एकान्त (एक में ही जिसका अन्त हो) का सेवन कीजिये। गुरु और ईश्वर तो आपके साथ, हर स्थिति में, हर समय हैं ही। ऐसा कहते हुए स्वामी जी ने विदा ली।

व्यावहारिक-वैयक्तिक जीवन

क्षत्रियवंश-परम्परा और उससे मेरे वंश का सम्बन्ध

प्रकृति के तीन गुणों- सत्त्व, रज, तम- का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में उन गुणों के आधार पर ही मानव समाज का चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभाजन किया है। यह बात भगवान् द्वारा कहे गये निम्न श्लोक से स्पष्ट है-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। (गीता 18/41)

जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, सत्त्व गौण होता है तथा तमोगुण बहुत कम मात्रा में होता है, उसे क्षत्रिय कहते हैं। क्षत्रिय-शौर्यवान्, धैर्यवान, उदार, कर्त्तव्यपरायण तथा ईश्वर से डरने वाला होता है। क्षत्रिय जीवन का परम लक्ष्य सत्यनिष्ठ, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध दण्डविधान कर न्याय-विचार की स्थापना, अपने हृदय में धर्म के उन्नत भावों का पोषण कर दूसरों को भी उसमें प्रवृत्त कराना, शरणागतों को शरणदान, दुर्बल शत्रु के प्रति क्षमा एवं दयाभाव, अपने आत्मीय कुटुम्ब या प्रीतिपात्र के द्वारा अन्याय-अधर्म का आचरण किये जाने पर उसके विरुद्ध भी खड़ा होना आदि होता है। क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों में शौर्य, तेज से सम्पन्नता, लक्ष्य के प्रति समर्पण, दक्षता, सम्पन्नता, संघर्ष से पलायन न करना, उदारतापूर्वक दान में प्रवृत्ति, आध्यात्मिक जीवन मूल्यों को व्यवहार में लागू करने की क्षमता आदि हैं। इसे निम्न श्लोक में भगवान् ने व्यक्त किया है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। (गीता 18/43)

ऐसे क्षत्रियवर्ण में मेरा जन्म हुआ, जिसकी वंशपरम्परा का वर्णन नीचे दिया जा रहा है-

जन्म स्थान पलिया नामक ग्राम, शान्तेय (सिंहेल) क्षत्रियवंश के, एक ही स्थान पर बसे, बावन गाँवों में प्रमुख गाँव है। वंश के सम्बन्ध में आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व जन्मे बाबू हींगू (हिङ्गू) सिंह जिनके नाम से पलिया गाँव की ख्याति थी, द्वारा हस्तलिखित निम्न छप्पय, जिसमें उल्लिखित तथ्यों की वाल्मीकीय रामायण द्वारा पुष्टि तथा सरकारी दस्तावेजों द्वारा पुष्टि होती है, में उद्धृत तथ्य है। जनश्रुति परम्परा से ज्ञात तथ्य, भौगोलिक स्थिति, उद्धृत नामों को उजागर करने वाले प्रतीक आदि भी उन तथ्यों में कोई सन्देह की गुञ्जाइश नहीं छोड़ते। छप्पय के पूर्व उन्होंने निम्न प्रार्थना की है-

शिव गनपति रवि राम हरि, बन्दि चरण सिरनाय।
कहत वंश सिंहेल की, धवल चरित जेहि पाय।।

छप्पय

अंग देश यह रोम-पाद नृप पटना शहर निवासी ।
सब विधि कुशल प्रजहि निज राखत श्रीपति केर निवासी।

एक समय तहँ भये अवर्षण जाते दुःख बहु सहेऊ।
देखि दुसह दुःख द्विज विचार एक यतन भूप सन कहेऊ।
मुनि विभाण्ड के तनय शृङ्गी ऋषि तिन कह वेगि बुलाओ।
तिन सो यज्ञ कराय भूप जी सब कह दुःख नसावो।
सुनि उपाय मह भूप हर्षयुत गनिका दीन पठाई ।
जाय विपिन महँ मुनि नीराय तेहि नगर बेगि लै आई।
आवत ही तहँ भयो वृष्टि बहु सब दुःख गयउ नसाई।
भूप हर्ष ते शान्त-सुता सन, दीन्हों ब्याह कराई।
वंश नाम शान्तेय तेहि है सिंहेल अपभ्रंश।
हंसदेव तिन मँह भयो, अब बाढ़ेउ यह वंश।

उपरोक्त की पुष्टि श्रीमद्वाल्मीकि- रामायण आदि काण्ड के नवें सर्ग में वर्णित निम्न तथ्य से होती है। पुत्र के लिये चिन्ताग्रस्त राजा दशरथ से मन्त्री सुमन्त्र ने कहा-

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम्।। 2।।
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति।

ऋषियों ने पुत्रप्राप्ति के लिये इस अश्वमेध रूप उपाय का उपदेश किया है। परन्तु मैंने इतिहास के रूप में कुछ विशेष बात सुनी है। राजन्! पूर्व काल में भगवान् सनत्कुमार ने ऋषियों के निकट एक कथा सुनायी थी। वह आपकी पुत्र प्राप्ति से सम्बन्ध रखने वाली है।

काश्यपस्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः।। 3।।
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति।

उन्होंने कहा था, मुनिवरो! महर्षि काश्यप के विभाण्डक नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र हैं। उनके भी एक पुत्र होगा, जिसकी लोगों में ऋष्यशृङ्ग नाम से प्रसिद्धि होगी।

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान्।।7।।

उसी समय अङ्गदेश में रोमपाद नामक एक बड़े प्रतापी और बलवान् राजा होंगे।.....'

अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःख समन्वितः ।। 9।।

वर्षा बन्द हो जाने से राजा रोमपाद को भी बहुत दुःख होगा। उनके उपाय पूछने पर वेद ब्राह्मण उन्हें इस प्रकार सलाह देंगे-

विभाण्डकसुतं राजन् सर्वोपायैरिहानय।। 12।।
आनाय्य तु महीपाल ऋष्यश्शृङ्ग सुसत्कृतम्।
विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेद पारगम्।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः।। ।।13।।

राजन्! विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृङ्ग वेदों के पारगामी विद्वान् हैं। भूपाल! आप सभी उपायों से उन्हें यहाँ ले आइये। बुलाकर उनका भली-भाँति सत्कार कीजिये। फिर एकाग्रचित्त हो वैदिक विधि के अनुसार उनके साथ अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर दीजिये।

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः।
आनीतोऽवर्षयद् देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते। ।। 18।।

इस प्रकार वेश्याओं की सहायता से अङ्गराज मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग को अपने यहाँ बुलायेंगे। उनके आते ही इन्द्रदेव उस राज्य में वर्षा करेंगे। फिर राजा उन्हें अपनी पुत्री शान्ता को समर्पित कर देंगे।

ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति।
सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ।। 19।।

इस प्रकार ऋष्यशृङ्ग आपके जामाता हुए। वे ही आपके लिये पुत्रों को सुलभ कराने वाले यज्ञकर्म का सम्पादन करेंगे। यह सनत्कुमार की कही हुई बात मैंने आपसे निवेदन की है।

महाभारतकथा– एक बार महाह्रद में उर्वशी अप्सरा को देखकर ऋषि का जो वीर्य स्खलन हुआ, उससे ऋष्यशृङ्ग की उत्पत्ति हुई। उनके एक सींग थी, इसलिये पिता विभाण्डक ने उनका नाम ऋष्यशृङ्ग रखा, जिन्होंने कभी स्त्री को नहीं देखा। सुन्दरी वेश्याकन्या नाव पर आश्रम बताकर लोमपाद के यहाँ उन्हें ले गयी और राजा ने शान्ता का विवाह ऋष्यशृङ्ग से कर दिया।

अन्य साक्ष्य

महाभारतकोश के अनुसार राजा लोमपाद (रोमपाद) की गोद ली हुई पुत्री का नाम शान्ता है। (3/110/26)

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्वा सुतां प्रभुः।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वैः कामैरयुज्यत।। (13/137/25)

हिन्दूधर्मकोश में ऋष्यशृङ्ग को विभाण्डक ऋषि का पुत्र तथा राजा लोम-पाद की पुत्री शान्ता को उनकी पत्नी बताया गया है। शब्दकल्पद्रुमः (खण्ड 1)

ऋष्यस्य मृगस्य शृङ्गमिव शृङ्गमस्य।
मुनिविशेषः स तु विभाण्डकसुतः।
तस्य भार्या लोमपादराजकन्या शान्ता इति रामायणम्।

इयं हि मृगी पुरा देवकन्या आसीत्, शाप-वशान्मृगी जाता। तस्याम् एकः पुत्रः समभवत्, तस्य शिरसि शृङ्गमजायत, तेनास्य ऋष्यशृङ्ग इति नाम समभवत्।

लोमपादः परिपूर्णकामः स्वमित्रस्य दशरथस्य सुतां शान्ताम् ऋष्यशृङ्गाय प्रददौ।

(म0भार0 3/110 अध्याय तथा वा0रा0 बाल काण्ड1/9)

जब विभाण्डक ने देखा कि पूरा साम्राज्य उनके पुत्र का हो गया है, तो क्रोध शान्त हुआ। पुत्र को एक पुत्र प्राप्ति के पश्चात् आश्रम लौटने को कहा। एक पुत्र पैदा होने पर ऋष्यशृङ्ग पिता की आज्ञा के अनुसार आश्रम (जंगल) लौट आये। (महाभारत– अरण्य पर्व, अध्याय 110-112)

पुनः मन्त्री सुमन्त्र ने बुद्धिमान् सनत्कुमार जी द्वारा ऋषियों को सुनायी गयी निम्न बातें कही-

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः।
नाम्ना दशरथो राजा श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः।। 2।।

उन्होंने कहा था- इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के प्रसिद्ध एक परमधार्मिक सत्यप्रतिज्ञ राजा होंगे-

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति।
कन्या चास्य महाभागा शान्ता नाम भविष्यति ।। 3।।

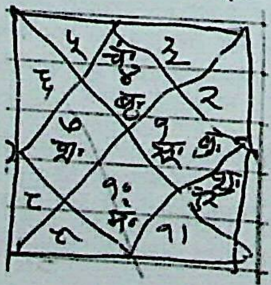
पुत्रस्त्वङ्गस्य राज्ञस्तु रोमपाद इति श्रुतः।
तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः ।। 4।।

अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम्।
आहरेत त्वयाऽऽज्ञप्तः सन्तानार्थं कुलस्य च।। 5।।

उनकी अङ्गराज के साथ मित्रता होगी। अङ्गराज के एक परमसौभाग्यशालिनी कन्या होगी, जिसका नाम होगा 'शान्ता'। अङ्गदेश के राजकुमार का नाम होगा 'रोमपाद'। महायशस्वी राजा दशरथ उनके पास जायेंगे और कहेंगे- धर्मात्मन्! मैं सन्तानहीन हूँ। यदि आप आज्ञा दें, तो शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग मुनि चलकर मेरा यज्ञ करा दें। इससे मुझे पुत्र की प्राप्ति होगी और मेरे वंश की रक्षा हो जायेगी। ऐसा ही हुआ। राजा दशरथ अङ्ग देश के राजा रोमपाद के पास गये। सात-आठ दिन उनके यहाँ रहे तथा शान्ता के साथ अपने जामाता ऋष्यशृङ्ग ऋषि को अयोध्या बुलाने में सफल हुए। उन्हीं के द्वारा किये गये पुत्रेष्टियज्ञ से भाइयों सहित भगवान् राम पृथ्वी पर आये।

यहाँ दैव, ग्रह, नक्षत्रों का योग तथा पुरुषार्थ का मेल दर्शनीय है। जो घटना भविष्य में घटने वाली थी, उसका राजा दशरथ, राजा रोमपाद या ऋष्यशृङ्ग के जन्म के पूर्व सनत्कुमारों ने ऋषियों से वर्णन किया था। राजा दशरथ का पुरुषार्थ राजा रोमपाद के यहाँ जाना, उन्हें प्रार्थना कर शान्ता के साथ ऋषि ऋष्यशृङ्ग को भेजने के लिये तैयार करना, मुनि वशिष्ठ की मदद से यज्ञ-सम्पन्न कराना, रानियों को चरु देना आदि था। यह सब घटनाएँ ऐसे निर्धारित समय पर होनी थीं ताकि भगवान् श्रीराम के अवतीर्ण होने के समय सभी ग्रह-नक्षत्रों का शुभ योग हो।

भगवान् राम का जन्माङ्ग



भगवान् राम के जन्म के समय पाँच ग्रह-सूर्य, मंगल, शनि, गुरु और शुक्र- अपने-अपने उच्च स्थान में विद्यमान थे तथा लग्न में चन्द्रमा के साथ वृहस्पति विराजमान थे। पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है जब दैव अनुकूल होता है। इसी को भगवान् श्रीकृष्ण ने किसी कर्म के हेतु के रूप में पाँच कारणों बताया हैं-

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। (गीता 18/14)

अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (जीव), विविध करण (इन्द्रियादि), विविध पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ तथा दैव-ये कर्म सम्पादन के पाँच कारण हैं।

महाभारत के युद्ध के समय भीष्मपितामह के शरशय्या पर पड़ जाने पर, रात में महावीर कर्ण उनसे मिला। भीष्म ने उससे कहा कि अब भी तुम लोग पाण्डवों से समझौता कर लो, ताकि विनाश रुक जाय। इस पर कर्ण ने आकाश की तरफ देखकर कहा कि आप यह कैसे कह रहे हैं? दो पाप-ग्रह मङ्गल तथा शनि वक्री होकर देख रहे हैं। पृथ्वी को राजकुमारों के रक्त से रञ्जित होना है। यह कैसे रुक सकता है? भगवान् कृष्ण सब जानते थे। उनका अवतार भी 'विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'धर्मसंस्थापनार्थाय' हुआ था, परन्तु फिर भी वे युद्ध रोकने हेतु पुरुषार्थ करने में कोई कमी नहीं छोड़ते। शान्ति दूत बनकर दुर्योधन को समझाने का असफल प्रयास करते हैं। उन्होंने इससे यह दिखाया है कि किसी मनुष्य को पुरुषार्थ करने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिये, परन्तु फल की आशा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि कार्य की सफलता उसके अधिकार में नहीं है।

इस सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के महान् सन्त, विचारक जिनके पास दुनियाँ के लगभग सभी देशों के विद्वान आये तथा जिन्होंने मन को नियन्त्रित करने का एक अत्यन्त सरल उपाय 'मैं कौन हूँ" पर बार-बार विचार करना बताया है, के विचार देखें-" 'The ordainer controls the fate of souls in accordance with their prarabdha karma. Whatever is destined not to happen will not happen try as you may. Whatever is destined to happen will happen do what you may to prevent it. This is certain. The best course, therefore, is to remain silent.

-Maharshi RAMAN

'नियन्ता जीवों के भाग्य को उनके प्रारब्ध कर्म के अनुसार नियन्त्रित करता है। चाहे जितना प्रयास कर लो, जो होने वाला नहीं है वह नहीं घटित होगा। जो घटित होने वाला है, होकर रहेगा, इसे रोकने हेतु चाहे जो प्रयास कर लें। यह निश्चित है। इसलिये सबसे अच्छा मार्ग है शान्त रहना = संयम में रहना।

वंशवृद्धि के सम्बन्ध में उन्हीं बाबू हींगू सिंह द्वारा लिखित एक छप्पय निम्न है-

हंसदेव भूपाल जासु सिरउज रजधानी।
भावदेव तेहि तनय चरित अद्भुत तेहि जानी।
पितु अनुशासन पाइ दिशा उत्तर सो आये।
व्याघ्र खलादिक मारि बाधि सब दुख नसाये।
पुनि सुखी प्रजा सब दुखन से राजनेति नृप तन लसे।
एक पिण्ड ताल के बीच में गढ़करि स्ववश तहाँ बसे।

लघु सुत चाकू तासु ज्येष्ठ बरियासन जानी।
बरियासन को षष्ठ तनय यश गुनि के खानी।

बरियासन देव बहुत बहादुर थे। इनकी घोड़े पर सवार काँसे की मूर्ति बावन गाँवों के मध्य रानीपुर इण्टर कालेज के सामने स्थापित है। उनके छह पुत्रों में एक उद्यान देव, जिनके तीन पुत्रों में एक शीतलदेव, जिनके तीन पुत्रों में एक रामयश राय के सात पुत्रों से बावन गाँव फैला। जीतराय सबसे बड़े थे। उनके दो पुत्रों में एक शोभाराय के दो पुत्रों में एक गुलजार सिंह के तीन पुत्रों में एक जुड़ावन सिंह के तीन पुत्रों में एक हींगू सिंह के दो पुत्र जगरनाथ सिंह एवं मतनू सिंह हुए। जगरनाथ सिंह के पुत्र बेनीमाधव सिंह की पत्नी ने एक सुन्दर तालाब बनवाकर पक्का घाट निर्मित कराया।

मेरे ज्येष्ठ प्रपितामह बाबू हींगू सिंह का आविर्भाव सत्रहवीं सदी के पूर्व दशक में हुआ था। वे क्षत्रियोचित गुणों से सम्पन्न, धार्मिक, शासक के गुणों से सम्पन्न तथा ख्याति लब्ध पुरुष थे। इन्होंने घुड़सवार के रूप में पलिया ग्राम की सीमा का निर्धारण किया था। इसलिये पलिया गाँव को 'हिङ्गू सिंह की पलिया' बोलते थे। उनकी हस्तलिखित रामायण बहुत दिनों तक सुरक्षित थी, जिसमें कुछ कागज पर लिखित दो छप्पय तथा वंशावली का वर्णन था। उनके वंशावली-वर्णन के कारण ही हम वंश-वर्णन करने में समर्थ हो रहे है। उनके दूसरे पुत्र मतनू सिंह के एक पुत्र हरिदत्त सिंह हुए जिनके दो पुत्र विश्वनाथ सिंह एवं वासुदेव सिंह हुए। विश्वनाथ सिंह का देहान्त 1934 ई0 में हुआ।

मातृभूमि के बाह्य साक्ष्य –

भारत देश के हृदय भाग में स्थित उत्तर प्रदेश के मऊ जनपदान्तर्गत मुख्यालय के दक्षिण-पश्चिम दिशा में दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित एक अति प्राचीन 'पलिया' नामक ग्राम है। इसके पश्चिम भाग में लगभग छः हेक्टेयर जमीन में मुख्यतः पलाश के वृक्षों से भरपूर अति सुन्दर जङ्गल है। जब पलाश के वृक्ष लाल फूलों से भर जाते हैं, तो इसकी शोभा दर्शनीय होती है। उसके दक्षिणी भाग में भगवान् शिव जी का सैकड़ों साल पुराना पत्थर की पटिया से निर्मित मन्दिर है। इसके पश्चिमी भाग में वहाँ कभी निवास करने वाले सन्तों की समाधियाँ हैं, जिसे सूरबावा की समाधि के नाम से जाना जाता है। वर्तमान में यहाँ राम दरबार, राधाकृष्ण, माँ दुर्गा जी तथा हनुमान् जी के भी मन्दिर हैं। उक्त पूरी जमीन भगवान् शङ्कर तथा सूरबाबा की समाधि के नाम से सरकारी विभागों के दस्तावेजों में अंकित है, जिसकी देख-रेख 'शिवमन्दिर-ट्रस्ट' द्वारा 1966 से हो रही है। मन्दिरों से सटे एक बहुत बड़ा तालाब है, जिसे 'जादो साव का पोखरा' बोलते हैं। सन् 1904 के भयङ्कर सूखे में जब स्थानीय जनता को क्षुधापूर्ति में कठिनाई हो रही थी, तो इस ग्राम के निवासी सेठ ने घोषणा की कि जब तक सूखे का असर रहेगा, जनता पोखरे की खुदाई का कार्य करती रहे और परिवार के भरण-पोषण-हेतु खाद्य सामग्री सेठ जी के यहाँ से प्राप्त करती रहे। जङ्गल के पानी बहने हेतु पक्की नाली उसी समय की बनी है। इस तालाब के पश्चिम-दक्षिण के कोने पर लगभग 100 मीटर की दूरी पर मेरे पूर्वजों द्वारा निर्मित एक बहुत रमणीक विशाल तालाब है, जिसके चारों भीटे अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित हैं। दोनों तालाबों में सालभर पानी रहता है।

ग्राम के पूर्वी भाग में बहुत पहले एक महान् सन्त रहते थे। वहाँ पर एक मन्दिर है तथा मन्दिर से संलग्न लगभग चार हेक्टेयर जमींन में स्थित जङ्गल है जिसे 'करिया बाबा की कुटी' के नाम से जाना जाता है। इस स्थान पर दर्शनार्थ जाने वाले को दायें तथा बायें दो बड़े तालावों का दर्शन होगा। एक तालाब में समयानुसार कुमुदिनी के फूलों की शोभा अतिसुन्दर प्रतीत होती है। दक्षिण भाग में स्थित डीहबाबा विराजमान हैं, जो पहरेदार के रूप में तत्पर हैं। पूर्वी भाग में सुदेश्वरा कुँवरि ने अपने आवास के पास एक बहुत गहरा तालाब बनवाया था जिसके पक्के घाट की सीढ़ियों पर उनका नाम तथा निर्माणकाल लिखा है। इसमें भी साल भर पानी भरा रहता है। तालाब के किनारे आम, जामुन के वृक्ष तथा भींटे बाँसों से आच्छादित हैं। पास ही आम का एक बाग है। गाँव के उत्तरी भाग में माँ काली का अति प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिर के पश्चिमी व पूर्वी भाग में दो तालाब हैं जो अपने जल से पशुओं एवं पक्षियों की प्यास बुझाकर तथा फलदार वृक्षों से मनुष्यों की सेवा कर रहे हैं। इसी भाग में भृगुबाबा के नाम से एक डिग्री कालेज है।

स्वर्ग से भी अधिक गौरवमयी जन्मभूमि के अन्तःसाक्ष्य

अब गाँव की अन्तःस्थिति का अवलोकन करें- गाँव के ठीक बीच में बहुत बड़ा एक तालाब है जो रत्नसागर के नाम से विख्यात है। इसके पश्चिमी किनारे पर बहुत पुरानी एक कोट है, जो कुछ-कुछ राजाओं के किले की स्थिति का दर्शन कराती है। इसे देखकर विश्वास होता है कि यहाँ पर किसी राजा या बादशाह ने शासक के रूप में कभी अवश्य निवास किया होगा। इससे लगभग 50 मीटर दक्षिण एक धर्मशाला है, जहाँ सभी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्राचीन काल से स्थापित है। इससे लगभग 150 मीटर पूर्व-उत्तर की तरफ दुर्गा जी का मन्दिर है। सन् 1914 के विश्वयुद्ध में अंग्रेजों की मदद करने के लिये 80 सैनिक इस गाँव से गये थे, जिसमें 5 शहीद हो गये थे। इस सम्बन्ध में एक शिलालेख, संगमरमर पर अंकित है जो गाँव के पश्चिमी भाग में स्थित अति प्राचीन प्राइमरी स्कूल की दीवार पर स्थित है। इस स्कूल के सामने, गाँव के पश्चिम एक पक्की सड़क है, जो मऊ-आजमगढ़ तथा मऊ-चिरैयाकोट की सड़कों पर स्थित खुरहट तथा रानीपुर नामक स्थानों को मिलाती है।

सन् 1942 में अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गये संग्राम में गाँव के लोगों ने बहुत बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इन स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों में श्री हरदेव सिंह 'स्वाध्यायी' तथा श्रीहरि का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ने स्वयं अध्ययन किया तथा जहाँ स्वाध्यायी जी ने बिना किसी डिग्री के हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा संगीत में इस तरह महारत हासिल की कि कोई विद्वान् उनके समक्ष टिक नहीं पाता था। वे धारा प्रवाह संस्कृत तथा अंग्रेजी बोलते थे तथा उन्हीं के चाचा लखनऊ के डी.ए.वी.कॉलेज के प्रवक्ता डॉ0 हरिनारायण सिंह उनसे बात करने से कतराते थे। डॉ0 श्री हरि ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक ' विद्रोही ' नामक कविता संग्रह लिखा था, जिस पर अंग्रेज सरकार ने उन्हें गोली मारने का आदेश दिया था। वे सालों अपना नाम, रूप बदलकर दूसरे प्रदेशों में घूमते रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उन्होंने स्वयं अध्ययन कर हिन्दी में पी-एच.डी. किया तथा बम्बई के विलेपार्ले स्थित डिग्री कॉलेज में प्रवक्ता पद से अवकाश ग्रहण किया। वे स्वतन्त्रता सेनानी की पेंशन स्वेच्छा से नहीं लेते थे। इनका देहावसान सन् 2009 में हुआ। इनके पिता रामचरित्तर प्रसाद उच्च कोटि के वैद्य, नाड़ी देखकर ही रोग की जड़ तक पहुँचने वाले, सन्त स्वभाव के आध्यात्मिक पुरुष थे। ऊपर

वर्णित गाँव के धर्मशाला पर संस्कृत के बड़े विद्वान्, अहङ्कार तथा आसक्ति से रहित, क्रोध से कोसों दूर मधुरवाणी में कम बोलने वाले श्री पबारू पण्डित जी थे। रत्नसागर के पश्चिम लगभग 100 मीटर की दूरी पर एक और उच्चकोटि के उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी के विद्वान श्री रामपरीक्षा सिंह थे, जो बंगाल के आसनसोल के सेंट पैट्रिक इंग्लिश स्कूल में अध्यापक तथा एक डिग्री कॉलेज के पार्ट टाइम प्रवक्ता पद से अवकाश ग्रहण कर गाँव में रहते थे। इन्होंने भी अपनी पूरी पढ़ाई प्राइवेट की थी।

उपर्युक्त लगभग 34 जातियों से युक्त घनी बस्ती वाले, बहुत बड़े गाँव पलिया के पश्चिमी छोर पर लम्बी पोखरी के किनारे स्थित मकान में मेरा जन्म बाबू हरिदत्त सिंह के दूसरे पुत्र बाबू वासुदेव सिंह एवं परमसाध्वी सनकेसरा देवी के पुत्र के रूप में संवत् 1996 के माघ महीने की गणेश चतुर्थी, तदनुसार दि0 28-01-1940 को दिन में लगभग तीन बजे हुआ था।

बाल्यावस्था का रोमाञ्चक स्मरण और वर्णन

मेरे जन्म के समय पितामह बाबू हरिदत्त सिंह की ख्याति दूर-दूर तक थी। पास के 7-8 गाँवों में खेती होती थी। परिवार में 25 वर्ष बाद पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। अतः जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाया गया। आस पास के सभी ब्राह्मण परिवारों को वस्त्र आदि दिये गये। पितामह ने मेरे जन्म की खुशी में प्रतिवर्ष कृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव धूम-धाम से मनाने का सङ्कल्प लिया, जो सन् 1940 से अनवरत चला आ रहा है, यद्यपि स्थिति में बहुत बदलाव आया। मुझे अपनी माँ के साथ पालनकर्त्री माँ रजवन्ता कुँवरि तथा दादी प्यारी देवी का भरपूर स्नेह मिला। पितामह का भी ध्यान मेरे में लगा रहता था।

प्रतिदिन शाम को लगभग 15-20 लोग दरवाजे पर आते थे। अपना दुःख-दर्द लोग कहते थे। आध्यात्मिक चर्चायें होती थीं। धार्मिक तथा शिक्षाप्रद कहानियाँ, बाबा तथा कुछ अन्य करीबी लोग मुझे सुनाते हुए खेलाते रहते थे। इस तरह समय बीतता रहा। धर्मशाला के पुजारी परम् श्रद्धेय शखरज पाण्डेय, वैद्य रामचरित्तर प्रसाद, प्रायः आते थे। बाबा की प्रेरणा से मैं सबका चरण-स्पर्श करता। उनके सौम्य व्यवहार, ज्ञानपूर्ण बातें तथा उन सबका स्नेह पाकर मेरा समय बहुत प्रसन्नता में बीतता गया।

जब मैं कक्षा 6-7 में पढ़ रहा था तो उस समय गर्मियों में प्राइमरी पाठशाला में दो संन्यासी आकर रहने लगे। वे 15-20 दिन रहे। पहले स्वामी जी का नाम स्वतन्त्रानन्द था तथा दूसरे आत्मानन्द जी,जो उनके शिष्य थे। वे केवल एक बार भोजन करते थे। पिता जी गाँव के लोगों के साथ सेवा हेतु पहुँचे। प्रतिदिन सायं प्रवचन का कार्यक्रम चलने लगा। स्वामी जी का नियम था कि प्रतिदिन की भिक्षा अलग-अलग घर से होनी चाहिये। मेरे प्रारब्ध वश यह सेवा पिता जी ने मुझे सौंपी। मैं निर्धारित समय पर एक श्रद्धालु के घर से भिक्षा लेकर जाता था तथा उन्हें भिक्षा प्राप्त कराकर लौटता था। अपना अधिकतर समय उनके पास बैठकर सेवा के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए व्यतीत करता। वे मुझसे गीता पढ़ने हेतु कहते। मुझमें गीता-प्रेम की नींव तभी पड़ी। सायं प्रवचन में बड़ी श्रद्धा से अवश्य भाग लेता। यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष चलने लगा। वर्ष में एक बार स्वामीद्वय कहीं से घूमते हुए गाँव पर आ जाते थे। उक्त दोनों संन्यासियों की मेरे ऊपर अमिट छाप पड़ी है।

माता की अनुपस्थिति में पूज्य चाची के द्वारा पालन-पोषण



रजवन्ता कुँवरि

मेरी चाची रजवन्ता कुँवरि लगभग 30 वर्ष की उम्र में विधवा हो गयी थीं। उनकी एक मात्र सन्तान विमला देवी थीं, जिनका विवाह मेरे पितामह ने बहुत सम्पन्न परिवार में, आज की स्थिति में अकल्पनीय स्थिति (बारात में 56 हाथियों की दौड़ हुई थी जिसमें प्रथम आने वाली हाथी को मेरे पितामह ने सिल्क का दुशाला तथा महावत को पाँच रुपये ईनाम दिया था। आठ-नौ वर्ष की उम्र में मैं भी पीछे-पीछे दौड़ा था।) में किया था, अतः चाची उनकी ओर से निश्चिन्त थीं।

पैतृक घर में मेरे जन्म के बाद मेरी माँ ने मुझे यह कहकर चाची की गोद में डाल दिया कि 'बच्चा आपका है'। अतः चाची ने मुझे अपना पुत्र मानकर पाला, स्नेह दिया तथा जब तक जीवित रहीं, मुझे माँ का प्यार देती रहीं। मैं उन्हें 'माई' (सन्तान के द्वारा माँ के सम्बन्ध को व्यक्त करने में भोजपुरी के इस शब्द से सशक्त शब्द शायद ही किसी भाषा में हो) कहकर ही सम्बोधित करता तथा उनसे मिलने पर उनकी गोद में सिर रखकर आनन्द का अनुभव करता था।

जब तक मैं पैतृक गाँव की पाठशाला में प्राइमरी शिक्षा ग्रहण करता रहा, तब तक उनका एक काम यह निश्चित था कि प्रातः दही मथकर मक्खन निकालतीं तथा मुझे हाथ पर देकर खिलातीं। उपलों पर गाढ़े लाल हुए दूध की ऊपरी मोटी परत वे प्रायः खिलातीं। उस समय मेरे पितामह का भी स्नेह मुझे भरपूर मिलता था। जबसे मेरी शिक्षा रानीपुर इण्टर कालेज में कक्षा छह में प्रारम्भ हुई, तब से इण्टर तक की शिक्षा तक प्रातः नौ बजे के पूर्व ताजा भोजन बनाकर खिलाना तथा स्कूल भेजने की पूरी जिम्मेदारी उन्हीं की थी। सायं को करीब पाँच बजे तीन कि0मी0 पैदल चलकर घर आने पर अल्पाहार का प्रबन्ध (प्रायः ताजा दाना तथा दही मिश्रित गुड़ का शरबत) उन्हीं के जिम्मे था।

सम्पत्ति में वे आधी की हकदार थीं, परन्तु कभी भी अपनी एक मात्र सन्तान को कुछ देने की बात नहीं सोचीं। इतना ही नहीं, न चाहते हुए भी मेरे कहने के कारण उन्होंने अपने नाम की जमीन दूसरों को दे दी। मेरी किसी बात को उन्होंने कभी इन्कार नहीं किया।

मेरे पितामह के रहते घर में उनका बहुत सम्मान था। उनके बाद धीरे-धीरे उनका सम्मान कम होता गया। उनके जीवन का अन्तिम समय कष्ट में बीता। जब बीमार पड़ती

थी, तो मेरे पास वाराणसी अवश्य आ जाती थीं। ऐसी अवस्था में पिता जी उन्हें मेरे पास भेज देते थे। 1987 में वे आजमगढ़ अपने भतीजे महेन्द्र सिंह (जिनके सहयोग से पिता जी ने कई तालाबों का जीर्णोद्धार कराया) के घर पर कुछ दिन रहीं तथा मेरे पुत्र सुप्रभात को पंजीकृत वसीयत कर दीं कि मेरे पिता के कारण हम पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित न रह जायँ। जब भी मैं उनकी याद करता हूँ, आँसू बहने लगते हैं।

प्रसङ्गतः विधवा नारी की सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन

मेरी बड़ी माँ, जो मुझको ही अपना सर्वस्व समझती थीं, मेरे साथ रहती परन्तु न तो उनका घर में कोई अधिकार था और न उन्हें पिता जी के सामने बोलने का साहस। पिता जी कभी-कभी उसे भी डाँट देते।

भारतीय समाज में संयुक्त परिवार में दूसरों पर आश्रित, बिना पढ़ी-लिखी विधवा नारी का जीवन प्रायः ऐसा ही होता है। यदि संयोगवश उसका कोई पुत्र हुआ, वह योग्य निकला तथा माँ के ऋण तथा उसके स्नेह को, उसके द्वारा किये गये त्याग, कष्ट को याद रखा तथा विवाह होने पर पत्नी को भी प्रारम्भ में ही अपना दृढ़ निश्चय बता सका कि माँ के प्रति पत्नी की लापरवाही वह बर्दाश्त नहीं कर सकता, किसी भी परिस्थिति में माँ की शिकायत वह नहीं सुन सकता, उसके द्वारा माँ की सेवा में लापरवाही क्षम्य नहीं होगी तथा पत्नी को भी उसकी बात, उसके व्यवहार, उसके द्वारा माँ के प्रति की गयी सेवा आदि से पक्का विश्वास रहे कि पति अपनी बातों पर दृढ़ रहेंगे तथा जीविकोपार्जन के लिये घर से बाहर जाने पर भी माँ, पुत्र के साथ रहे, तब तो माँ का पति-वियोग बहुत हद तक दूर हो जाता है। यदि पुत्र हुआ ही नहीं, होकर भी समर्थ नहीं हुआ, समर्थ होकर भी माँ के प्रति अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गया, चरित्रबल की या अपनी अन्य किसी कमी के कारण पत्नी को ही सर्वोपरि मान लिया, उसकी इच्छा के अनुसार ही चलने लगा, अपना स्वयं का स्वाभिमान नहीं रहा, तब तो संयुक्त परिवार में विधवा नारी का जीवन बहुत कष्टप्रद होता है। दो समय भोजन तथा तन ढकने को वर्ष में न्यूनतम वस्त्र भी दूसरों की दया पर निर्भर करता है।

अविस्मरणीय पितामह के संस्कारों का मेरे ऊपर अमिट प्रभाव



बाबा का स्नेह तथा उनके द्वारा प्रदत्त उच्च संस्कार, उनकी प्रेरणा से प्रायः साधु-सन्तों का घर पर भोजन बनना तथा उनकी सेवा में मेरा तत्पर रहना, उनके अच्छे गुणों की अमिट छाप आदि से मेरा बचपन समृद्ध होता रहा। बाबा मुझे प्रातः-सायं अपने साथ रखते। छावनी पर (घर से लगभग 800 मी0 दूरी पर) वे साथ ले जाते तथा घर लौटते समय साथ लाते। प्रातः भी वे प्रायः शिवमन्दिर, बकरी पर मुझे ले जाते। वहाँ स्थित महात्माओं की समाधियों पर श्रद्धाभाव से प्रणाम करवाते तथा शिवलिङ्ग पर नमन करवाते। इस बीच दो घटनाएं ऐसी हुई, जिन्होंने मेरे ऊपर अमिट छाप छोड़ी।

एक दिन शाम को छावनी पर बैलों वाले घर में वे मेरे साथ गये। कुछ हटाते समय उन्हें बिच्छू ने डङ्क मार दिया। वहाँ के कर्मचारी मारने दौड़े। वे चिल्लाकर मारने से मना किये। एक तरफ दर्द से छटपटा रहे थे, परन्तु दूसरी तरफ सतर्क थे कि कोई मार न दे। अपने सामने चिमटी से पकड़वाकर साथ जाकर तालाब के किनारे स्थित बाँसों के बीच छोड़वाये। दूसरी घटना इस प्रकार है कि वे एक दिन शाम को छावनी से मेरे साथ घर आये। चारपाई उठाया तो एक साँप गोलाकार स्थिति में बैठा था। वे मुझसे बोले कि छोटी-छोटी रोड़ी उसके पास फेंको परन्तु उसे न लगे। वह चला जायेगा। साँप सचमुच घर के पास स्थित तालाब की तरफ चला गया।

बाबा द्वारा प्रदत्त उच्च संस्कार, उनकी प्रेरणा से प्रायः साधु-सन्तों का घर पर भोजन बनाने आदि की सेवा में मेरा तत्पर रहना, उनके अच्छे गुणों की अमिट छाप से बचपन समृद्ध होता रहा। इसका कारण यह भी था कि बाबा मुझे अधिक समय अपने साथ रखते, स्नेह देते, तरह तरह का ख्याल रखते।

मेरे पितामह अपने बड़े पुत्र की युवावस्था में मृत्यु के उपरान्त, अपने छोटे पुत्र (मेरे पिता) को 22-23 वर्ष की उम्र में मालिक बनाकर, घर में राजा जनक की तरह रहते थे। गृहस्थी को सौंपते समय उन्होंने कहा था कि धार्मिक कार्यों हेतु खर्च के बारे में तुम नहीं पूछोगे। बाकी गृहस्थी से मेरा कोई मतलब नहीं है। इसका एक उदाहरण मुझे याद है। जब मैं 7-8 वर्ष का था तो छावनी पर बैलों के रहने, भूसा तथा गुड़ के रखने के कमरों में भीषण आग लगी। पूरा गाँव हजारों की संख्या में आग बुझा रहा था। वे चारपाई पर बैठे थे। खड़े भी नहीं हुए। उन्होंने इतना कहा कि ईश्वर की इच्छा से सब हो रहा है।

साधु-सन्तों की पूरी तत्परता से सेवा, प्रायः धार्मिक आयोजन, रामायण, भागवत कथा आदि सालभर चलते रहते थे। गरीबों के लिये अनाज का भण्डारा, पशुओं के लिये भूसा का भण्डार सदैव खुला रहता था। उनके द्वारा मुहम्मदाबाद कोट पर एक मन्दिर हेतु मुकदमें में पैरवी, गवाही सरकारी दस्तावेज में उल्लिखित है। सन् 1949 में जब सूर्य उत्तरायण थे और अधिमास का महीना था, शुक्ल पक्ष की एकादशी को तुलसी दल पीये हुए, वाराणसी के अस्सीघाट पर गङ्गा स्नान से पवित्र, अस्सी स्थित जगन्नाथ जी के मन्दिर परिसर में मेरे पितामह बाबा हरिदत्त सिंह ने शाम को पूजावस्था में अपना शरीर छोड़ा।

प्रातः स्मरणीय पिताश्री के गुणों का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव



मेरे पिता लगभग 35 वर्षों तक गीता प्रेस से प्रकाशित मासिक पत्रिका- कल्याण के नियमित पाठक थे। उसमें उल्लिखित ज्ञान सम्बन्धी शिक्षाप्रद बातों की चर्चा भी प्रायः करते थे। प्रतिदिन प्रातः लगभग तीन बजे से विस्तर पर लेटे ही वे भगवान् के नामों का उच्चारण, प्रार्थना तथा स्तुतियाँ, स्तोत्र गाते। उनके समय में दरवाजे पर प्रायः साधु, फकीर, जोगी या कहीं से भटकते हुए आये याची भोजन बनाते तथा प्रसाद पाते मिलते थे। परिवार छोटा था परन्तु यह रहस्य बना हुआ था कि यदि वे भोजन करने घर में जा रहे हों और उसी समय दो-चार आदमी आ गये तो वे रुक जाते थे तथा अपने साथ उन्हें भोजन लेने हेतु आमन्त्रित कर देते थे। ऐसा बहुत बार होता था तथा लोगों में चर्चा होती थी कि उनके यहाँ कितने लोगों का भोजन बनता है।

मेरे पिता बहुत दिनों तक बावन गाँव की विरादरी में प्रमुख स्थान रखते थे। जनता इण्टर कालेज रानीपुर, मऊ के प्रबन्धक थे। कालेज परिसर में भव्य शिव-मन्दिर की स्थापना उन्होंने की थी। वे चिन्तित रहते थे कि बावन गाँव की बिरादरी की मर्यादा में कमी नहीं आये। बावन गाँव की विरादरी के कार्यभार से अवकाश ग्रहण करने की बेला में उन्होंने बिरादरी को सम्बोधित करके एक पत्र लिखा था। उसकी कुछ पङ्क्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं -

वासुदेव सिंह
प्रबन्धक

जनता इण्टर कालेज
रानीपुर, [illegible]

पत्रांक: जनता के प्रतिनिधियों तथा भाइयों के प्रति

दिनांक ७-१२-०९

मेरा सन्देश तथा मेरी प्रार्थना

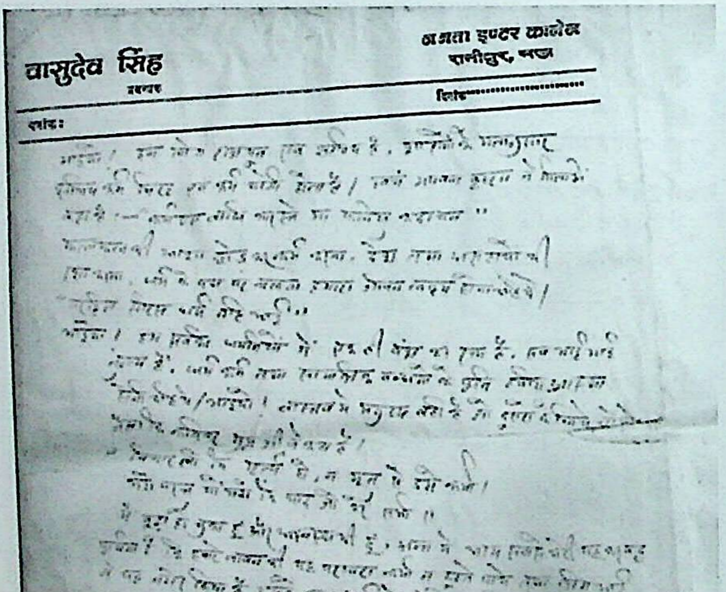
परम तपस्वी तथा लोकप्रसन्न बाबा के चरणों!

आज तक जनता के अभिनन्दन-समारोह का आप सबने गुरु और अभिभावक एवं [illegible] पद दिलाते एक साधारण व्यक्ति को [illegible] पद देते हुये सम्मानित किया है। पर आप सबके मेरे प्रति स्नेह, प्रेम एवं श्रद्धा का [illegible] में आप सबका आभारी तथा कृतज्ञ हूँ। यहां पहुँच कर मैं आप सबका अभिनन्दन [illegible] बिना अभिवादन दिये [illegible] हूँ। जिस कारण इस शुभ अवसर [illegible] उत्कंठित [illegible] हो रहा हूँ। मेरे मन कुछ और हैं बच्चों के [illegible]।

सर्वप्रथम मैं महात्मा जी [illegible] एवं [illegible] परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना एवं [illegible] हूँ। आये दिन पाश्चात्य सभ्यता की [illegible] से [illegible] लहर [illegible] गांव गांव में फैल रही है। आज का [illegible], [illegible], भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद का [illegible] बना रहा है। [illegible] प्राचीन संस्कृति तथा धार्मिक विचार धारा की ओर [illegible] अभाग्यवश जाति पांति तथा [illegible] वाद की [illegible] जिसके कारण चारों ओर अशान्ति है, असंतोष है। [illegible] प्रतिकूल वातावरण में भी हमारे जनता की सांस्कृतिक एवं [illegible] धार्मिक परम्परा अभी जीवित है। जिसका [illegible] होने वाला जनता का [illegible] तथा [illegible] की [illegible] है।

स्वयं भगवान ने भी कहा है "[illegible] [illegible] [illegible] विनाशाय च दुष्कृताम्" [illegible]

हमारी सांस्कृतिक परम्परा [illegible] एसा मेरा विश्वास है।



वासुदेव सिंह

लगभग एक किलोमीटर पैदल चलकर प्रातः छावनी जाना, नित्यकर्म, स्नान के बाद कुछ देर पूजा, तुलसी की कुछ पत्तियाँ चबाना, एक गिलास गाय का दूध, लगभग ग्यारह बजे तक घर पैदल आकर बिना प्याज, सादा भोजन, पुनः पैदल चलकर छावनी, एक घण्टे विश्राम, तत्पश्चात् कुछ देर गीताप्रेस के कल्याण का पाठ, लगभग सात बजे सायं तक पैदल चलकर

प्रतिदिन छावनी से सायं घर आना, कुछ देर कोई पञ्चायत या किसी के द्वारा रामायण वाचन कराकर सुनना। रात में दस बजे के पूर्व सो जाना। इतनी नियमित दिनचर्या। उनके भोजन में 'जौ' (जो अन्न नहीं ओषधि है) की रोटी, अपने खेत में पैदा की गयी सब्जी तथा घर का दूध अवश्य होता था। सादा भोजन, नियमित दिनचर्या, शारीरिक श्रम, ईश्वर के साथ सम्बन्ध का फल यह था कि उन्हें किसी बड़ी बीमारी से चौरासी वर्ष की उम्र पर्यन्त ग्रसित नहीं होना पड़ा।

माँ की मृत्यु के पश्चात् पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। पिता की अन्य व्यस्ततायें भी थीं, अतः मैं उनका स्नेह न पा सका। सन् 1966 में वे पलिया ग्राम के प्रधान थे। बकरी गाँव के प्रधान रामसुमेर सिंह की सहायता से उन्होंने एक ट्रस्ट की स्थापना की, जिसमें पूर्व सांसद उमराव सिंह एक ट्रस्टी थे। ट्रस्ट हेतु आदेश उन्होंने चकबन्दी के डायरेक्टर रामसिंह से प्राप्त किया। उन्होने समाज के हित में अनेक कार्य किये। खुरहट से रानीपुर लगभग 10 किमी० प्रारम्भिक कच्ची सड़क का मार्ग अनेक लोगों से संघर्ष कर बनवाया। मुझे याद है कि वे प्रतिदिन 10-15 मजदूर लेकर इस हेतु निकल जाते थे। क्षेत्र में लगभग 12 तालाबों का जीर्णोद्धार 'भारत सेवक समाज' की मदद से किया। आजमगढ़ जनपद में तत्कालीन कलेक्टर, चकबन्दी अधिकारियों के समक्ष अनशन, प्रार्थना तथा अपनी वाक्पटुता से प्रभावित कर लगभग छः हेक्टेयर जङ्गल शङ्कर भगवान् के नाम सरकारी दस्तावेजों में दर्ज कराया तथा 125 रूपये वार्षिक मालगुजारी भी माफ करा दी।

पितामह का त्रयोदशाह अविस्मरणीय ढंग से मेरे पिता जी द्वारा किया गया। उनके कृपापात्र मङ्गला प्रसाद सिंह, केवल माइक पर बिना किसी भेद-भाव भोजन हेतु सबको आमन्त्रित करते रहे, जहाँ बावन गाँव सिंहेल तथा बयालिस गाँव बिरुवार क्षत्रियों का जमघट था ही।

बकरी ग्राम सभा के प्रधान के चुनाव में हाथ उठाकर मतदान के समय थानेदार द्वारा एक प्रत्याशी के पक्ष में भगदड़ के उद्देश्य से एक असहाय व्यक्ति पर लाठी चलाने पर उनका क्षात्र धर्म जाग उठा। जनता को विरोध में ललकार दिया। थानेदार बेइज्जत हुए, सिपाही भाग खड़े हुए। तहलका मचा। कलेक्टर, एस०पी० आये। वे सामने आये, सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली तथा किसी अन्य पर आँच नहीं आई। तभी अधिकारी द्वय ने बकरी गाँव का नाम 'शेरपुर' रक्खा था।

ग्राम के एक यादव द्वारा किराये के बदमाशों की मदद से अपने ही पट्टीदार के दो नौजवान लड़कों की हत्या करा दी गयी। आप-पास की जनता हजारों की संख्या में एकत्र हुई। इस अत्याचार को कैसे सहा जाय? लोग सोच नहीं पा रहे थे, क्या किया जाय? वे चुप थे। अन्त में क्षेत्र के यादव बन्धुओं ने उनकी राय माँगी। मैं भी उस स्थल (पूर्व स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी वंश बहादुर सिंह के दरवाजे पर) पर उपस्थित था। उन्होंने गम्भीर वाणी में कहा कि-' क्या सभी यादव चूड़ी पहन लिये हैं? अरे! इसका सत्यानाश करके मुझसे बचाने हेतु कहो। कुछ करने के पहले मत पूछो।' मीटिंग समाप्त हो गयी। पूरी भीड़ वहीं से उठी। उसके घर को पस्त कर दिया गया। नामोनिशान मिट गया। तीन-चार एकड़ फसल बरबाद कर दी गयी। वह जेल में गया। डर के मारे निकला ही नहीं। जेल में ही मरा। कुछ दिन

पुलिस का हंगामा रहा, परन्तु वे सब कुछ शान्त करने में सफल हुए। किसी हमलावर का कुछ नहीं हुआ।

मेरे पिता पर गृहस्थी का भार 1934 में उनके बड़े भाई विश्वनाथ सिंह के असामयिक निधन के पश्चात् लगभग 21-22 वर्ष की उम्र में ही पितामह बाबू हरिदत्त सिंह द्वारा घर में रहते हुए सब गृहस्थी-जञ्जाल छोड़ देने के कारण आ पड़ा था। उन्होंने आजीवन बहुत अच्छे ढंग से खेती का कार्य किया।

वे रानीपुर इण्टर कालेज के बहुत दिनों तक प्रबन्धक रहे। उनके कार्यकाल में रानीपुर थाना के थानेदार ने किसी बात पर कॉलेज के प्रवक्ता पारस नाथ सिंह को बेइज्जत किया। वे पिता जी के पास आकर रोये। इसके बाद रानीपुर थाना ही फूँका गया। मेरे पिता की गिरफ्तारी का आदेश था। मऊ के तत्कालीन पुलिस अधीक्षक श्री सुवेश कुमार सिंह मुझसे अच्छी तरह परिचित थे। मैं उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कहा 'डा० साहब! आप के पिता जी के अस्सी साल के उम्र के कारनामें को मैं क्या कहूँ? मैं बहुत तनाव में हूँ। एक तरफ उच्चाधिकारियों का गिरफ्तारी हेतु दबाव, दूसरी तरफ क्षेत्र के सैकड़ों लोग (पूर्व सांसद उमराव सिंह सहित क्षेत्र के प्रतिष्ठित लोग) आकर मुझसे कहते हैं कि यदि वे गिरफ्तार हुए तो कानून व्यवस्था आप नहीं सभाँल पायेंगे। वे केस से बरी हुये। एक दिन भी गिरफ्तार नहीं हुए, यद्यपि उन दिनों घर पर नहीं रहते थे।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित क्षत्रिय के शौर्य, साहस, शासन तथा अन्याय न सहने की प्रवृत्ति, संघर्ष से कभी मुँह न मोड़ने के गुणों के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। क्षत्रिय में रजोगुण की प्रधानता होती है, सत्त्वगुण गौड़ होता है। केवल रजोगुणी व्यक्ति ही क्षत्रिय नहीं होता। अतः उनके ईश्वर-भाव तथा दानादि के बारे में जानना आवश्यक है ताकि हम एक सच्चे क्षत्रिय को उसके गुणों द्वारा जान सकें।

मेरे पिता प्रतिदिन प्रातः श्री दुर्गा सप्तशती के शङ्कराचार्य द्वारा रचित क्षमापन स्तोत्र की निम्न पँक्तियाँ सस्वर बोलते थे-

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो।
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं।
परं जाने मातस्त्वदनुसरं क्लेश हरणम्।। 1 ।।

....

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि! यथायोग्यं तथा कुरु।। 12।।

भावार्थ यह है कि- माँ ! मैं न मन्त्र जानता हूँ, न यन्त्र। मुझे स्तुति का भी ज्ञान नहीं है। न आवाहन का पता है न ध्यान का। स्तोत्र और कथा की भी जानकारी नहीं है। न तो तुम्हारी मुद्रायें जानता हूँ और न मुझे व्याकुल होकर विलाप करना ही आता है। परन्तु एक बात जानता हूँ, केवल तुम्हारे पीछे चलना, जो कि सब क्लेशों को, समस्त दुःख विपत्तियों को हर लेने वाला है।

महादेवि! मेरे समान कोई पातकी नहीं है और तुम्हारे समान दूसरी कोई पापहारिणी नहीं है। ऐसा जानकर जो उचित जान पड़े, वह करो। ।। 12।।

रामचरित मानस में वर्णित रुद्राष्टक की अन्तिम निम्न पंक्तियों को बड़े भाव से कई बार वे कहते थे-

न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोऽहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं।।
जरा जन्म दुःखौघ तातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो।।
(रा0च0मा0उत्तरकाण्ड रुद्राष्टक)

मैं न तो योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे शम्भो! मैं तो सदा सर्वदा आपको ही नमस्कार करता हूँ। हे प्रभो! बुढ़ापा तथा जन्म-मृत्यु के दुःख समूहों से जलते हुए मुझ दुःखी की दुःख से रक्षा कीजिये। हे ईश्वर! हे शम्भो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

भगवान् का सामीप्य, उनकी कृपा पाने में अहङ्कार बहुत बड़ी बाधा है। अपनी कमियों को भगवान् के सामने निवेदित करना तथा उनसे अपने अपराधों हेतु क्षमा माँगना, अहङ्कार को गलाने का सशक्त माध्यम है। प्रतिदिन भावपूर्वक उक्त स्तोत्रों तथा छन्द के गायन करने वाले में अहङ्कार कितना रहेगा ? ऐसा व्यक्ति तो अपने स्वभाव, अपनी वासनाओं के अनुसार अपने स्वधर्म का पालन करेगा, परन्तु उसके द्वारा कृत सत्कर्मों का उसमें अहङ्कार न होने पावे, इसलिये वह अपनी कमियों को भगवान् के सामने प्रकट करेगा तथा उनसे क्षमा प्रार्थना भी करेगा। वे बारह वर्षों तक गाँव के प्राइमरी पाठशाला के मैदान में अनेक मानस मर्मज्ञों को बुलाकर नौ दिन का यज्ञ कराते थे। इस हेतु स्वयं सबके पास जाना, सब तरह सहयोग हेतु प्रार्थना करना तथा सब आवश्यक व्यवस्था करना, उनके व्यस्त कार्यों में एक प्रमुख कार्य था। तत्कालीन मानसवक्ता पं0 दिवाकर शास्त्री अपनी ओजस्वी शैली से लोगों पर अमिट छाप छोड़ते थे, जिसे लोग याद कर आपस में चर्चा करके आनन्द लेते थे।

गीता में भगवान् द्वारा वर्णित क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों में दान भी आता है।

'दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' (गीता18/43)

दान और ईश्वर-भाव क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। यह गुण भी पिताजी में था।

सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसमें दोष न हो। गुण-दोष के मिश्रण से ही सबकी रचना हुई है। पिता जी में भी अनेक अवगुण थे। स्त्री-सौन्दर्य के प्रति आकर्षण अधिक था, जिसके कारण मेरे पितामह को कई बार मानसिक कष्ट झेलना पड़ा। इसी कारण तीसरा विवाह उन्होंने मेरे (उम्र लगभग 11 वर्ष) तथा बड़ी बहन राधिका, छोटी बहन तारा के रहते किया। यही मूल कारण हुआ मेरे जीवन के पग-पग पर कठिनाई झेलने का। और यही अन्त में परिवार से वैराग्य का कारण बना। अन्य अवगुणों का वर्णन न तो मुझे किसी तरह शान्ति देगा और न पाठक या समाज के हित में होगा।

84 वर्ष की उम्र में प्रास्टेट का बढ़ना (जो अधिक उम्र की स्वाभाविक बीमारी मानी जाती है) तथा स्वयं की जिद्द से आपरेशन कराना उनकी मृत्यु का कारण बना।

पिता जी ने चूँकि मुझे पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया था, पूरी सम्पत्ति की वसीयत छोटे भाई कन्हैया को कर दी थी तथा मेरे साथ पिता के कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सके

थे, अतः अन्त समय में इन बातों को याद करके उन्हें बहुत मानसिक कष्ट था। व्यावहारिक जीवन में राग-द्वेष के कारण, अपनी वासनाओं के कारण, काम-क्रोध-लोभ, जिन्हें गीता में नरक के द्वार कहा गया है या किसी अन्य कारण से मनुष्य जब अपने धर्म-कर्तव्य का पालन नहीं कर पाता, मनुष्यत्व की रक्षा नहीं कर पाता और अन्त समय में जब उसका परिवार, सगे-सम्बन्धी, स्वार्थपूर्ति न हो पाने के कारण उसे छोड़ देते हैं, जब उसकी इन्द्रियाँ भी उसका साथ नहीं देतीं, जब उसे दूसरों के सहारे की आवश्यकता होती है, जब वह रोगग्रस्त होकर शारीरिक, मानसिक कष्ट पाता है, जब मृत्यु के लक्षण करीब आते हैं, तो उसे अपने जीवन में किये गये अच्छे बुरे सभी कर्म याद आते हैं। वह बुरे कर्मों को, अपने द्वारा किये गये पापों को, अन्यायपूर्ण ढंग से दूसरे के अधिकार का हनन करके कमाये गये धन को बार-बार याद करता है। उस समय उसके वश में सिवा पश्चात्ताप करने, भगवान् की शरण में जाने, उनसे क्षमा माँगने तथा रोने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। पिता जी को भी अपने न्यायोचित धर्म-कर्तव्य का पालन न करने के कारण दुःखी होना पड़ा था।

शिक्षा तथा सहयोगी गतिविधियाँ

प्रारम्भिक शिक्षा (=बेसिक तथा मिडिल स्तर की)

लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में गाँव की प्राइमरी पाठशाला में पितामह ने पूजा-पाठ कराकर सबको मिठाई बाँटकर मेरे विद्याध्ययन का श्रीगणेश किया। उस समय हमारी पढ़ाई लकड़ी की पट्टी पर गहरी कालिख पोतकर तथा शीशे के दावात से रगड़कर, पटरी को चिकना कर तथा उस पर दुधिया के प्रयोग से नरकट के कलम से लिखाई करके होती थी। विद्यालय में एक-एक अक्षर की लिखावट पर अध्यापक ध्यान देते थे। विद्यालय से घर आने पर उन्हीं अक्षरों का अभ्यास किया जाता था। कक्षा दो-तीन में सुलेख तथा श्रुतिलेख पर बहुत ध्यान दिया जाता था, ताकि शुद्ध हिन्दी लिखने आ जाय। गणित में सौ तक की गिनती तथा बीस तक के पहाड़ा पर अध्यापक का बहुत ध्यान रहता था। विद्यालय से घर आने पर प्रतिदिन लालटेन का शीशा साफ करना तथा उसके प्रकाश में कुछ देर पढ़ना अवश्य होता था। श्रद्धेय लोगों तथा साधु-सन्तों के आ जाने पर पढ़ाई में व्यवधान अवश्य हो जाया करता था। कक्षा चार-पाँच में तत्कालीन अध्यापक श्री तिलकधारी राय कुछ मेधावी विद्यार्थियों को विद्यालय में रात में बुलाते तथा निःशुल्क पढ़ाते थे। वहाँ पर सात-आठ मित्रों के साथ मैं भी पढ़ने जाता था तथा उनके कड़े अनुशासन में रहकर अध्ययन करता था। छोटी सी गलती पर भी वे डण्डे से मारते थे, परन्तु किसी विद्यार्थी का कोई अभिभावक कभी किसी से शिकायत नहीं करता था।

लगभग 10 वर्ष की उम्र में मेरा नाम, घर से तीन किमी० की दूरी पर स्थित जनता इण्टर कालेज रानीपुर में कक्षा छः में कराया गया। कक्षा 6 से 8 तक सामान्य विद्यार्थी के रूप में पढ़ता रहा। बिना जूता तीन किमी० प्रतिदिन पैदल जाना-आना, शाम को लालटेन की रोशनी में पढ़ाई के लिये बैठना, परन्तु बीच-बीच में आगन्तुकों की सेवा हेतु लग जाना-यही दिनचर्या रहती थी। बरसात के दिनों में घर से दो किलोमीटर की दूरी पर नदी (छोटी) में पुल नहीं था अतः पानी में घुसकर, झोला ऊपर उठाये पार करने में दिक्कत होती थी, लेकिन बाल स्वभाव इसका सुख भी लेता था।

कक्षा आठ की परीक्षा के कुछ दिन पूर्व गाँव के ही श्री वंश बहादुर सिंह, जो रानीपुर इण्टर कालेज में उस समय अध्यापक थे, का मार्ग दर्शन मिला। वे पिता जी के कृपा पात्र थे तथा पूर्व पीढ़ी से ही परिवार के करीबी थे। वे बाद में स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी भी घोषित हुए। उनका स्नेह मेरे ऊपर अन्त तक बना रहा। उनके मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप 1954 की कक्षा आठ की परीक्षा में प्रथम स्थान मिला। दस रूपये माहवारी अगले दो वर्षों के लिये स्कालरशिप मिली।

माध्यमिक शिक्षा (=हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट स्तर की)।

कक्षा 9-10 में फीस लगभग पाँच रूपये थी, अतः पढ़ाई पर खर्च नगण्य हो गया था। स्कालरशिप का पैसा मैं पिता जी को दे देता था तथा वे फीस आदि का प्रबन्ध कर देते थे। चूँकि श्री वंशबहादुर सिंह वाणिज्य के अध्यापक थे, अतः मैंने भी उनके प्रभाव में कक्षा दस की परीक्षा वाणिज्य विषय को लेकर प्रथम श्रेणी में पास की। हाईस्कूल के बाद इण्टरमीडिएट में मैं विज्ञान-गणित वर्ग में पढ़ना चाहता था, परन्तु रानीपुर इण्टर कालेज में उस समय विज्ञान की पढ़ाई नहीं होती थी, अतः मेरी प्रार्थना पर पिताश्री ने वेस्ली इण्टर कालेज आजमगढ़ के विज्ञान वर्ग में मुझे प्रवेश दिलाया। परन्तु दुर्भाग्यवश बीस-पच्चीस दिन बाद ही पढ़ाई छुड़ाकर मुझे वे घर ले आये। उसके दो-चार दिन बाद उन्होंने कहा कि रानीपुर पढ़ने जाओ, यदि चाहो तो। रानीपुर तो सोलह रूपये माहवारी की स्कालरशिप के बारे में पता था ही। समस्या यह हुई कि विषय क्या लें। पहले वहाँ हिन्दी, अंग्रेजी के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, संस्कृत, गणित तथा एक दो विषय और भी थे। अतः मेरी पढ़ाई उपर्युक्त पाँच विषयों को लेकर प्रारम्भ हुई। मुझे इस बात की बेहद प्रसन्नता थी कि कम से कम गणित पढ़ने का अवसर मिल गया। गणित के अध्यापक राय साहब अच्छे ढंग से पढ़ाते थे तथा विषय का ज्ञान भी अच्छा था। मैं उनका प्रिय छात्र हो गया। वे व्यक्तिगत ध्यान देने लगे।

मुझे बहुत खुशी हुई जब मेरे मामा श्री रमाशंकर सिंह, जो सुगौली सुगर मिल में साधारण कर्मचारी थे तथा वे वेतन भी वर्ष में छः माह ही पाते थे, ने मेरे लिये एक पुरानी साइकिल का प्रबन्ध कर दिया। मेरा समय बचने लगा तथा पढ़ाई में अधिक समय देने लगा। इण्टरमीडिएट की परीक्षा में दो अङ्कों के कारण मुझे प्रथम श्रेणी न प्राप्त हो सकी।

उच्च शिक्षा (=बी०ए०-एम०ए० स्तर की)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जुलाई 1958 में प्रवेश लिया। शुल्क मुक्ति हेतु मैंने आवेदन किया। साक्षात्कार संस्कृत विभाग के तत्कालीन विभागाध्यक्ष डॉ० बाबूराम सक्सेना (लेखक संस्कृत साहित्य का इतिहास) की अध्यक्षता में हुआ। पूर्ण शुल्क मुक्ति प्राप्त हो गयी। उस समय शुल्क कुल बारह रूपया था। शुल्क मुक्ति का अर्थ था कि शुल्क एक पैसे भी नहीं देना था। अतः कुल अस्सी रूपया माहवार खर्च हेतु पर्याप्त था।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सीनेट हाल के पास अंग्रेजी विभाग में प्रथम पीरियड होता था। 'आर्म्स एण्ड दी मैन' ड्रामा पढ़ाने हेतु कुछ दिन पूर्व नियुक्त श्री अमर सिंह जी तथा पोयट्री पढ़ाने हेतु विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध मशहूर शायर श्री रघुपति सहाय फिराक जी मिले। प्रारम्भ में श्री अमर सिंह जी की अंग्रेजी समझने तथा नोट्स बनाने में बहुत कठिनाई हुई। फिराक साहब की कक्षा बहुत दिलचस्प होती थी, क्योंकि कभी-कभी एक शब्द पर या एक

पंक्ति पर पीरियड बीत जाता। कभी-कभी अंग्रेजी के कवि वर्ड्स वर्थ के कविता की तथा अपने ज्ञान की तारीफ तथा विशेषतः हिन्दी के कवियों तथा तत्कालीन हिन्दी के अध्यापकों डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ0 राम कुमार वर्मा से तुलना में बीत जाता था।

'आर्म्स एण्ड दी मैन' के लेखक बर्नार्ड शॉ बहुत मेधावी लेखक माने जाते हैं। उक्त नाटक में उन्हें अतिरंजन (स्वच्छन्दतावाद) का विरोध करना था। नाटक का प्रारम्भ उसी वातावरण में किया गया, जिसका विरोध करना था। धीरे-धीरे विरोध बढ़ता गया। रानी एलिजावेथ उसे देखने आई थीं। यदि प्रारम्भ में ही उनके अनुकूल साज-सज्जा, स्टेज न होती, तो वे नाटक देखती ही नहीं। नाटक के अन्त तक वे बहुत नाराज हुई और छोड़कर चली गयीं, परन्तु तब तक नाटककार का उद्देश्य पूरा हो चुका था। इस प्रसंग से व्यवहारिक शिक्षा मिलती है कि हमें जिसका विरोध करना है, जिसके प्रतिकूल बातें करनी है, उसका विरोध प्रारम्भ में ही पूर्ण रूप से न करके उसके अनुकूल बातों को प्रारम्भ करके धीरे-धीरे प्रतिकूल बातें लानी चाहिये ताकि वह पूरी बात सुन सके तथा हम अपनी पूरी बात करके अपने उद्देश्य में सफल हो सकें।

दूसरा पीरियड संस्कृत का होता था। गद्य तो डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र (जो बाद में कुलपति हुए) पढ़ाते थे तथा महाकवि कालिदास विरचित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक श्री लक्ष्मीकान्त दीक्षित जी पढ़ाते थे। वे बहुत अच्छे गायक थे। एक बार उन्होंने कहा-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोक चतुष्टयम् ।।

काव्यों में सबसे रम्य नाटक, नाटकों में सबसे रम्य महान् कवि कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक, उसमें सबसे रम्य चौथा अङ्क तथा उसके सबसे रम्य चार श्लोकों में एक और उसको गाने वाला रेडियो कलाकार लक्ष्मीकान्त दीक्षित जैसा गायक। उनके द्वारा अर्थ सहित गाकर सुनाया गया तथा काश्यप-कण्व ऋषि द्वारा कहा गया श्लोक निम्न है-

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।। 8।।

आज शकुन्तला पतिगृह चली जायेगी, इसलिये मेरा हृदय दुःख से भर रहा है। अश्रुधाराओं को बहने से रोकने के कारण मेरा गला रुँध गया है। मेरी दृष्टि चिन्ता के कारण निश्चेष्ट हो गयी है। वन में निवास करने वाले मुझे इस समय (शकुन्तला के प्रति) स्नेह के कारण यह ऐसी विकलता है तो गृहस्थ लोग पहली बार होने वाले पुत्री के वियोग से उत्पन्न दुःखों से क्यों न पीड़ित होते होंगे। अर्थात् वे अवश्य ही अत्यधिक दुःखित होते होंगे।

उन चार महत्त्वपूर्ण श्लोकों में निम्न श्लोक का भी जिक्र करना वे नहीं भूलते थे- (यह श्लोक काश्यप ने शार्ङ्गरव से शकुन्तला को आगे करके उसके विषय में राजा दुष्यन्त से कहने हेतु कहा था-

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया।
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं बधूबन्धुभिः।। 19।।

संयमरूपी धन वाले हम लोगों का अपने ऊँचे कुल का तथा शकुन्तला के तुम्हारे ऊपर किसी भी रूप में बन्धुओं के द्वारा न किये गये उस प्रेम व्यापार को अच्छी तरह विचार करके तुम्हारे द्वारा यह शकुन्तला स्त्रियों में समान गौरव के साथ देखी जानी चाहिये। इसके आगे भाग्य के अधीन है। वह वस्तुतः बधू के भाई-बन्धुओं को नहीं कहना चाहिये।

तीसरा पीरियड गणित का होता था। प्रथम दिन चलन-कलन (कैलकुलस) पढ़ाने श्री बनवारी लाल शर्मा आये। वे खादी की धोती-कुर्ता पहने थे। अपने बहुत सुन्दर हस्त-लेखन तथा समझाने के बहुत प्रभावशाली ढंग से वे पहले दिन ही छा गये। मैं इतना प्रभावित हुआ कि कक्षा के बाद प्रतीक्षा करता रहा और जब वे साइकिल से घर (उस समय डॉ0 बी0एन0 प्रसाद तत्कालीन अध्यक्ष गणित विभाग के घर पर किराये पर रहते थे) जाने लगे तो मैं साथ हो लिया। बात करते हुए पैदल ही हम लोग उनके घर पहुँचे। उन्होंने पुत्रवत स्नेह दिया। विस्तार से परिचय पूछा। किसी भी गणितीय कठिनाई के निराकरण हेतु निःसङ्कोच पूछने को कहा। मैं पैदल ही छात्रावास (के0पी0यू0सी0) आ गया।

छात्रावास तथा विश्वविद्यालय के नये कार्यक्रम के अनुसार बी0ए0 द्वितीय भाग की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। अंग्रेजी में मैक्वेथ ड्रामा कोर्स में था तथा पढ़ाने वाले फिराक साहब के छोटे भाई श्री यदुपति सहाय तथा Top essays for IAS के लेखक, मशहूर चिन्तक श्री ज्योति स्वरूप सक्सेना जी। संस्कृत में वेद पढ़ाने वाले क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय जी तथा गणित में डॉ0 जी0डी0 दीक्षित, जो बाद में स्थायी रूप से न्यूजीलैण्ड में यूनिवर्सिटी ऑफ आकलैण्ड में प्रोफेसर होकर चले गये।

बी0ए0 द्वितीय वर्ष की पढ़ाई के समय संस्कृत में श्री क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय जी द्वारा पढ़ाया गया वेद का अंश तथा अंग्रेजी में श्री यदुपतिसहाय जी द्वारा शेक्सपीयर के मैक्वेथ ड्रामा के गूढ़ रहस्यों सहित व्याख्या बहुत प्रभावशाली होती थी। बी.ए. का परीक्षाफल तो ज्ञात हो गया था, परन्तु इलाहाबाद आने पर प्राप्ताङ्क का पता चला। गणित तथा संस्कृत में अङ्क अच्छे थे परन्तु अंग्रेजी में मेहनत के अनुसार निराशाजनक था। उस समय अंग्रेजी में द्वितीय श्रेणी के अङ्क पाना ही पर्याप्त सन्तोषजनक समझा जाता था। मैं परीक्षा देकर गर्मी की छुट्टियों में घर आया। छुट्टी बीतने पर पुनः इलाहाबाद एम0ए0 में प्रवेश लेने तथा आगे की पढ़ाई करने हेतु आ गया। जैसी उम्मीद थी बी0ए0 में द्वितीय श्रेणी किसी तरह मिली। अंग्रेजी में तो अङ्क बहुत कम मिले।

सन् 1960 की जुलाई में एम0ए0 (गणित) में प्रवेश लिया। एक पेपर पढ़ाने हेतु तत्कालीन विभागाध्यक्ष डॉ0 बी0एन0 प्रसाद के शिष्य, सबसे कम उम्र में डी0एस-सी0 की डिग्री से सम्मानित, बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलने वाले तथा दर्शनशास्त्र के विषयों पर भी समान अधिकार रखने वाले डॉ0 त्रिविक्रम पति मिले। उनकी वक्तृता के कारण विश्वविद्यालय में ख्याति थी। एक पेपर डॉ0 गणेशदत्त दीक्षित पढ़ाते थे। दीक्षित जी भी बहुत सरल स्वभाव के थे। मेरा आना-जाना उनके घर भी हो गया। उनकी माँ का भी स्नेह मुझे मिलने लगा।

मेरे साथ एम०ए०, एम०एस-सी० में प्रवेश लेने वाले मेधावी छात्रों की संख्या कम नहीं थी। अश्विनी कुमार (जो आई०आई०टी० कानपुर में गणित के प्रोफेसर पद से अवकाश ग्रहण किये) प्रारम्भ से ही बहुत बोलने वाले, तेज विद्यार्थी थे। वे डॉ० त्रिविक्रम पति के प्रिय शिष्यों में एक थे। प्रभातकुमार तथा नरेशचन्द्र सक्सेना भौतिकी में एम०एस-सी० करने तथा वहाँ द्वितीय-तृतीय स्थान ग्रहण करने के बाद एम०एस-सी० गणित में प्रवेश लिये थे। वे दोनों बहुत मेधावी थे तथा दोनों भारतीय प्रशासनिक सेवा में बहुत उच्च स्थान पर गये। पुष्पा पँवार अपने बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्नों के कारण जानी जाती थीं। वे बाद में प्रोफेसर होकर कनाडा के किसी विश्वविद्यालय में चली गयीं। इसके अतिरिक्त लगभग 10-15 विद्यार्थी ऐसे थे जो प्रभावित करते थे। गणित में उस समय दो वर्ग था। विद्यार्थियों की संख्या 150 से अधिक थी। कितने घण्टे कोन पढ़ता है? कौन रात में देर तक पढ़ता है? किसका आई०ए०एस० में आना निश्चित है-आदि बातों की चर्चा प्रायः होती रहती थी। मेरा भी समय कम से कम दस घण्टे प्रतिदिन पढ़ने में बीतता ही था। इस तरह एम०ए० प्रथम वर्ष की पढ़ाई बहुत मेहनत से हुई। साल बीता। परीक्षा हुई। प्रथम श्रेणी के अङ्क मिले। विश्वविद्यालय में उस समय प्रथम श्रेणी के अङ्क प्राप्त होना विशेष योग्यता की बात थी।

सन् 1961 में जुलाई-अगस्त में एम०ए०द्वितीय वर्ष की पढ़ाई उसी जोश में प्रारम्भ हुई। श्री बनवारी लाल शर्मा जी बहुत प्रभावशाली ढङ्ग से पढ़ाते थे। दूसरे वर्ग के भी बहुत विद्यार्थी इनकी कक्षा में पढ़ने आते थे। प्यारे मोहन जी 'डिफरेन्सियल इक्वेशन', जिस पर उनका अधिकार था, पढ़ाते थे।

उस समय विश्वविद्यालय में अच्छे विद्यार्थियों में यह प्रायः चर्चा होती थी कि यदि प्रथम श्रेणी प्राप्त होने में सन्देह हो तो परीक्षा छोड़ देना तथा दूसरे वर्ष परीक्षा देकर प्रथम श्रेणी प्राप्त करना अच्छा है। ऐसा मेरे कई साथियों ने किया, जिसमें राम कुमार त्रिपाठी, जिन्होंने हमारे साथ इण्टर की परीक्षा में उत्तर प्रदेश में द्वितीय स्थान प्राप्त किया था तथा महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में दर्शन शास्त्र के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किये, एक थे।

एम०ए० द्वितीय वर्ष की परीक्षा हेतु तैयारी अच्छी थी। बाँदा ग्रुप (बाँदा जिले से सम्बन्धित छात्रों का समूह) के साथियों के चाहने पर भी मैं उनके साथ अधिक समय नहीं बिताता था। परीक्षा में दो पेपर सन्तोषजनक नहीं रहे। विश्वास दृढ़ हो गया कि प्रथम श्रेणी प्राप्त नहीं हो पायेगी। मन में यह भाव हो गया था कि द्वितीय श्रेणी पाकर स्नातक स्तर पर पढ़ाने को भी नहीं मिलेगा। परिणाम यह हुआ कि परीक्षा बीच में ही छोड़ दी।

सन् 1963 के एम०ए० द्वितीय वर्ष की परीक्षा के परिणाम में मैं प्रथमश्रेणी में पास हुआ। कुल तीन प्रथम श्रेणी पाने वालों में मेरा तीसरा स्थान रहा। पढ़ाई के समय अध्यापकों का स्नेह मेरे प्रति भरपूर रहा। श्री बनवारी लाल शर्मा तथा डॉ० गणेशदत्त दीक्षित के घर तो प्रायः जाया करता था।

शोध-कार्य तथा पी-एच०डी० उपाधि

सन् 1977 में डिग्री-प्रोस्टग्रेजुएट कालेजों के अध्यापकों को पी-एच.डी. करने का एक अवसर मिला। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) ने Faculty Improvement Programe (संकायों के स्तरोन्नयन हेतु लागू योजना) के अर्न्तगत सम्पूर्ण सुविधाओं सहित तीन वर्ष का

सवैतनिक अवकाश दिये जाने की घोषणा की। मुझे Modern Algebra आधुनिक बीजगणित में पी-एच.डी. करने की तीव्र इच्छा थी ही। इस हेतु मैं बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रो० अवधेश कुमार तिवारी के सम्पर्क में पहले से ही था। उन्होंने टोरण्टो विश्वविद्यालय, कनाडा से डाक्टरेट की उपाधि ली थी तथा उनके कुछ शोध-पत्र अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में छप चुके थे। अतः प्रयास करने पर कालेज की प्रबन्ध समिति द्वारा 27 जून 1977 से तीन वर्षों हेतु अवकाश Study Leave स्वीकृत हो गया। 27 जून 1977 को मैंने बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के गणित विभाग में शोध-कार्य करना आरम्भ किया। पूरे शोधकाल में अपने आवास से साइकिल द्वारा गणित-विभाग तथा केन्द्रीय पुस्तकालय लगभग तेरह किलोमीटर जाता रहा। मेरे शोध-निर्देशक डॉ० तिवारी भी अपने पूरे सेवाकाल में ईश्वरगंगी मुहल्ले से विभाग, साइकिल से ही जाते रहे।

लगभग एक वर्ष तक गणित विभाग जाता, प्रो० तिवारी जी द्वारा बतायी गयी किताबों तथा शोधपत्रों का अध्ययन करता रहा, परन्तु स्पष्ट कुछ नहीं होता था। कभी-कभी निराशा होती थी कि कैसे कार्य सम्पन्न होगा। गर्मी की छुट्टी में टी.आइ.एफ.आर. (टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फण्डामेन्टल रिसर्च), मुम्बई गया। वहाँ प्रायः छुट्टियों में दो माह तक अध्ययन करने आदि की सुविधा उपलब्ध हो जाती थी। जुलाई 1978 में वापस वाराणसी आकर पेपर्स पढ़ने तथा उनमें प्रश्न ढूँढ़ने की आदत बनी। वहाँ के शैक्षिक वातावरण तथा प्रो० बी.एम. पाण्डेय के निर्देश के अनुसार पढ़ने पर एक दिशा मिलने लगी।कुछ दिन बाद प्रो० तिवारी ने इच्छा व्यक्त की कि मैं विभाग में उनके द्वारा पूर्व निर्धारित विषय पर बोलूँ। इनमें अन्य शोध-छात्र तथा प्रवक्ता भी भाग लेने आते थे। डॉ० पाण्डेय ने तिवारी जी के ही निर्देशन में शोध कार्य सम्पन्न किया था तथा मेरे लिये प्रसन्नता की बात थी कि वे उदय प्रताप कालेज में बी. एस-सी. में मेरे छात्र रह चुके थे। तिवारी जी के ही अन्य शोध-छात्र संन्यासी जी, भारद्वाज, जो बाद में विभाग में प्रवक्ता हो गये, भी भाग लेने आते थे।

सन् 1978 के अगस्त माह से 1979 के मार्च तक शोध-पेपर्स पढ़ने, उनमें नये प्रश्न ढूँढ़ने, अपने मार्ग निर्देशक से शोध कार्य बढ़ाने वाली बातों पर बात करने तथा उनकी राय लेने, विभाग में उनके द्वारा निर्धारित विषयों पर बोलनं तथा पुस्तकालय में सन्दर्भित किताबों को पढ़ते हुए समय बीता। अन्तिम दिनों में Regularity पर R-ware के एक शोध पत्र के कारण एक प्रश्न प्रमुखता से उपस्थित हुआ। डॉ० तिवारी जी ने कहा कि यही प्रश्न आपके शोध का आधार बन जायेगा। परन्तु महीनों तक न मैं उसका हल ढूँढ पाया और न उसका हल किसी सेमिनार में ही निकल पाया। इतना विश्वास था कि इसका हल Direct Limit के ही आधार पर मिल सकता है। सन् 1979 में मैं पुनः टी.आई.एफ.आर. कोलाबा, मुम्बई गया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री रामजी लाल, जो मेरे घनिष्ट हो गये थे, से टी.आई. एफ.आर. में मुलाकात हुई। उन्होंने बहुत विस्तार से कई तरीके से Direct Limit के बारे में बताया। मैं श्री रामजी लाल के निर्देशन के अनुसार कार्य करने में जुटा। एक माह बाद वाराणसी वापस आया परन्तु शीघ्र ही उनके पास जाकर कार्य पूरा कर लिया। अन्तिम रूप देकर थीसिस सन् 1980 में जमा कर दी गयी।

थीसिस जमा होने के पूर्व विभाग में Pre- Ph.D, Viva हुआ। मेरे निर्देशक ने प्रारम्भ में विषय को प्रस्तुत करने हेतु राय देनी चाही। मैंने प्रार्थना की कि मुझे अपने ढंग से प्रस्तुत करने दें। R-ware के Problem से प्रारम्भ करके अपने काम को तीन भागों में बाँटकर बताया कि किस प्रकार modules में Regularity को आधार बनाकर Abelian Categories में Regularity के अच्छे निष्कर्ष पर हम पहुँच सकते हैं। मुझे बहुत सन्तोष हुआ था, जब विभाग के प्रो0 वी.एल.एन. शर्मा जो थोड़े ही दिन बाद विदेश चले गये, ने viva के पश्चात् लोगों के बीच कहा कि 'This is the first viva after a long time, which is upto the mark.' थीसिस पर विदेशी रिपोर्ट भी अच्छी आई तथा छुट्टियाँ समाप्त होने (29 जून, 1980) के पूर्व Ph.D. डिग्री प्राप्त हो गयी। इसके बाद कालेज में कार्यभार ग्रहण कर लिया।

तत्कालीन अध्यापकों का व्यवहार

उस समय प्राइमरी के अध्यापकों का वेतन बहुत कम था। परन्तु उन्हें अपने दायित्व पालन तथा कर्त्तव्य के प्रति इतनी निष्ठा थी कि वे दिन में तो ईमानदारी से पढ़ाते ही थे, रात में भी वे अच्छे विद्यार्थियों को स्कूल में बुलाते थे। उनके साथ सोते थे तथा लालटेन की रोशनी में पढ़ाते थे। इस हेतु उन्हें एक पैसा नहीं मिलता था। विद्यार्थियों को उनके कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था। छोटी-सी गलती पर भी वे सजा देते थे। बच्चों के अभिभावक उनके द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर अपने बच्चे की शिकायत कभी नहीं करते थे, बल्कि वे प्रसन्न होते थे। ऐसे अध्यापकों में एक बाबू तिलकधारी राय का बच्चों के प्रति समर्पण, मेहनत से रात में भी पढ़ाना तथा आवश्यकतानुसार कड़ी सजा देना तत्कालीन मेरे किसी सहपाठी को नहीं भूलेगा। यही कारण है कि हमारी पीढ़ी के किसी व्यक्ति को चाहे वह जितने उच्च पद पर पहुँच गया हो, प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के सामने पड़ने पर श्रद्धा से नतमस्तक होना ही पड़ता है। इसका कारण है उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा।

मेरे बी.ए. के अध्ययनकाल में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष श्री एस0सी0देव, जो अपनी एम0ए0 की परीक्षा में अधिकतम अङ्क प्राप्त किये थे, परन्तु श्रेणी तृतीय थी, विद्वत्ता के लिये मशहूर थे, प्रतिदिन लगभग तीन घण्टे पढ़ाते थे। सेवा से निवृत्ति होने पर सीनेट हाल के सामने उनका भव्य विदाई समारोह आयोजित हुआ था, जिसमें तत्कालीन कुलपति रज्जन साहब उपस्थित थे। समारोह का सञ्चालन, सबसे कम उम्र में डी0एस-सी0 की उपाधि से सुशोभित विश्वविद्यालय के गणित विभाग के प्रो0 त्रिविक्रम पति ने किया था। मैंने उस समारोह में भाग लिया था। डॉ0 पति ने वहाँ की स्थिति का Coordinate axes के माध्यम से देव साहब को केन्द्र मानकर इतना रोचक वर्णन किया था कि उपस्थित समुदाय प्रसन्नता से झूम उठा तथा देर तक तालियाँ बजती रहीं।

देव साहब ने विदाई भाषण में कहा था कि पिछले छत्तीस वर्षों (उनका सेवा काल) में शायद ही कोई ऐसा दिन बीता होगा, जब मैंने छह घण्टे से कम अध्ययन किया होगा। इस वर्ष मैंने अपनी लाइब्रेरी का एक भाग एक लाख रुपये में बेचा है। ऐसे अध्यापकों की पढ़ने-पढ़ाने में रुचि तथा कर्त्तव्य-निष्ठ्य के प्रति श्रद्धा भाव से सिर झुक जाता है।

उदय प्रताप कालेज में मेरी नियुक्ति के समय गणित विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष श्री रघुराज सिंह एक आदर्श अध्यापक थे। दो वर्षीय बी0एस-सी0 के कुल छह पेपर के लगभग

प्रत्येक प्रश्न की जानकारी उन्हें थी तथा वे बिना आलस्य किसी विद्यार्थी के पूछने पर बताने हेतु तैयार हो जाते थे। उनमें दूसरी विशेषता यह थी कि चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण बात पर विभाग में चर्चा हो रही हो, घण्टा बजते ही सब कुछ छोड़कर वे चाक-डस्टर लेकर कक्षा की ओर चल देते थे। समय की पावन्दी तो मैंने पहले से ही अपने आदर्श अध्यापक प्रो० बनवारी लाल शर्मा से सीख ली थी फिर भी श्री रघुराज सिंह के उपर्युक्त दोनों गुणों का असर मेरे ऊपर रहा।

छात्रावास-जीवन : दिनचर्या, भोजनविधि तथा छात्रों से प्राप्त सहयोग

छात्रावास में 15 दिन बहुत मुश्किल से गुजरे। गाँव से पहली बार बाहर गया था। घर की आसक्ति थी। छात्रावास में परिचय 'इन्ट्रोडक्शन नाइट' के नाम पर रात में काफी देर तक तथा दिन में भी बिना निर्धारित समय कभी भी सीनियर्स बुला लेते तथा अनेक प्रश्न पूछते, इस हद तक कि रोने की स्थिति पैदा हो जाती थी। हाँ! कुछ अच्छाइयाँ छिपी थीं। जैसे प्रतिदिन समाचारपत्र पढ़ने की आदत डालने के सम्बन्ध में, प्रतियोगिताओं के प्रति जागरूक करने के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने से तथा अपना लक्ष्य निर्धारित करने के सम्बन्ध में बार-बार बात होने से अपना स्तर ऊँचा होता गया। छात्रावास में छात्रों के दो वर्ग थे। पूर्वांञ्चल के विद्यार्थी अधिक संख्या में थे। दूसरे वर्ग में 13-14 विद्यार्थी बाँदा तथा आस-पास के जिले के थे। मेरा झुकाव बाँदा वाले विद्यार्थियों की तरफ अधिक हुआ। उनका स्नेह भी मिला। बाद में पूर्वांञ्चल के विद्यार्थियों के नेता श्री वी०पी० तिवारी जो 7-8 वर्ष से कोई कोर्स में दाखिला लेकर छात्रावास में रह रहे थे, ने भी अपनी ओर खींचने का प्रयास किया, परन्तु मैं तथा मेरे साथी श्री उमानाथ पाण्डेय, छात्रावास के निवासकाल में उसी समूह के होकर रह गये। मैं, श्री पाण्डेय तथा चित्रकूट (खोह गाँव) के निवासी श्री रामप्रताप मिश्र घनिष्ठ दोस्त हो गये।

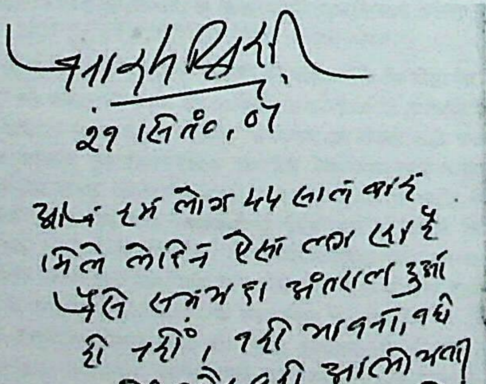
31 जुलाई को रात्रि में परिचयसमारोह विधिवत् हुआ। नये विद्यार्थियों को मिठाई खिलाई गयी। स्नेह तथा शिक्षायें दी गयीं। सब शिकायतें दूर हो गयीं। इसके बाद समय से ताजा तथा सुस्वादु भोजन (30 रूपये माहवार में दो सब्जी, देहरादून-चावल के साथ मेस में जमीन पर बैठकर महाराज द्वारा गर्म-गर्म रोटी का स्वाद) नाश्ते हेतु लगभग 56 पैसे किलो दूध (छात्रावास में ही गायों से प्राप्त) आदि। कक्षा के बाद का समय अधिकतर लाइब्रेरी में बीतने लगा। तीनों विषयों में उच्च कोटि के अध्यापकों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति, मामा के खर्चे से पढ़ाई की व्यवस्था का भार, प्रवेश दिलाने वाले उच्च कोटि के व्यक्तित्व सम्पन्न श्रीहरि का निर्देशन मुझे अधिक परिश्रम करने हेतु प्रेरणा का स्रोत बना। उस समय श्रीहरि छात्रावास के समीप डॉ० शर्मा, जो गोरखपुर में दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष थे, के परिवार के साथ रहते थे। कभी-कभी शर्मा जी से भी मुलाकात होती तथा उनके गम्भीर व्यक्तित्त्व की गहरी छाप पड़ती। वे प्रायः किताबों से घिरे, पढ़ते हुए मिलते थे।

यद्यपि पत्नी से मेरा कोई सम्पर्क नहीं था, वे मायके अपने माता-पिता के साथ रहती थीं तथापि एक मानसिक बोझ मेरे ऊपर यह था कि घर से कोई सहारा नही हैं, पत्नी का भार मुझे ही उठाना है। अतः मेहनत करके कोई नौकरी करना आवश्यक है। यह मानसिक दवाव भी अपना पूरा समय पढ़ाई-हेतु देने में मदद करता रहा। इस मानसिक दवाव में मैंने

रेलवे के स्टेशन मास्टर हेतु परीक्षा दी। अन्तिम चुनाव भी हो गया परन्तु मित्रों की राय पर नौकरी में नहीं गया। छात्रावास में सभी व्यवस्था ठीक थी। शाम को छात्रावास में ही वालीबाल खेलता था। सायं लगभग 9 बजे सो जाता था तथा प्रातः काल तीन बजे जग जाता था। उसी समय नित्य क्रिया, स्नान आदि के बाद लगभग चार बजे पढ़ने बैठ जाता था। लगभग नौ बजे तक तो पढ़ता ही था। छुट्टी के दिन ग्यारह बज जाते थे। शाम को कक्षा से लौट कर लाइब्रेरी, तीन-चार घण्टे बाद छात्रावास वापसी।

दूसरे साल छात्रावास में कुछ नये विद्यार्थी आये, जिनमें जनार्दनप्रसाद द्विवेदी जो वर्तमान में कांग्रेस के मुख्य प्रवक्ता तथा राज्यसभा सदस्य हैं, भी एक थे। वे बाँदा जिले के निवासी थे, अतः हमारे ग्रुप के सदस्य होने तथा व्यवहार कुशल होने के नाते मेरे बहुत प्रिय रहे। वे मुझे भैया कहते थे। एक बार छात्रावास के एक कार्यक्रम में मुख्य अतिथि फिराक साहब थे। उन्हें बुलाने हेतु 'द्विवेदी' मेरे कहने पर गये तथा उन्हें रिक्शे पर बैठाकर साथ लिवा लाये थे। बाँदा के ही श्री विनय कुमार मिश्र, जो श्री जनेश्वर मिश्र (जो समाजवादी पार्टी के नेता थे) के बहुत करीबी मित्र थे, छात्रावास में ही रहते थे। उनके कारण प्रायः छात्रावास में शाम को हमारे ग्रुप में राजनीति पर चर्चा होती थी। दिल्ली के भाजपा नेता श्री मदन लाल खुराना भी उस समय छात्र नेता के रूप में इलाहाबाद में मशहूर हो गए थे। विनय कुमार, नई दिल्ली में प्रवक्ता हुए तथा बाद में मजदूर यूनियन के नेता। अल्पायु में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उन्हीं के माध्यम से डॉ0 जनार्दनप्रसाद भी दिल्ली गये। दोनों हिन्दी के प्रवक्ता थे।

जर्नादन प्रसाद द्विवेदी का हस्तलिखित नोट नीचे दिया गया है जिससे सम्बन्ध की गहराई प्रकट होती है।


21 सितं०, 07

आज हम लोग 44 साल बाद मिले लेकिन ऐसा लगा कि जैसे लगभग 4। अंतराल हुआ ही नहीं, वही भावना, वही आत्मीयता बातें और वही आलोचना मन को असाधारण संतोष है।

21/9

शिक्षा में उपस्थित व्यवधान तथा दूसरों से प्राप्त सहयोग की सार्थकता

धीरे-धीरे माता जी का प्रभाव पिता जी पर बढ़ता गया। यह बात मेरे अनुभव में आने लगी थी। जिस दिन किसी बात पर माता जी हमसे या बड़ी बहिन से नाराज होती थीं, उसी दिन या दूसरे दिन हम लोगों को डाँट खानी पड़ती थी। डाँट का आभास पहले से ही हो जाया करता था।

1956 में हाई स्कूल पास करने के बाद मेरी पढ़ाई की समस्या पैदा हुई, क्योंकि इण्टर कालेज रानीपुर में विज्ञान का विषय नहीं पढ़ाया जाता था और मैं गणित के साथ विज्ञान लेकर ही पढ़ना चाहता था। उस समय प्रथम श्रेणी पाना भी महत्त्व की बात थी। अतः मेरी प्रार्थना तथा श्री बंश बहादुर सिंह की प्रेरणा से पिता जी ने आजमगढ़ जिले के ख्यातिलब्ध वेस्ली इण्टर कालेज, आजमगढ़ में मेरा प्रवेश करा दिया। उसी कॉलेज के छात्रावास में रहने की भी व्यवस्था करा दी। इतना ही नहीं उस कॉलेज के गणित के प्रवक्ता 'गुप्ता जी' से बात करके उनके घर पर पढ़ने हेतु भी तय कर दिया। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था, क्योंकि उम्मीद से अधिक सब कुछ मिल गया था। 10-15 दिन पढ़ाने के पश्चात् पिता जी के मिलने पर गुप्ता जी ने यह कह कर उन्हें आश्वस्त किया कि छःमाही परीक्षा तक उसे मैं कक्षा में प्रथम स्थान दिला दूँगा। वे मुझे घर के बच्चे की तरह मानने भी लगे, नाश्ता भी देने लगे। मैं विद्यालय तथा उनके घर पर खूब मन से पढ़ने लगा।

प्रवेश प्राप्त करने के लगभग 25-26 दिन बाद पिता जी अपने एक मित्र के साथ मेरे छात्रावास के कमरे में पहुँचे। उन्होंने कहा कि सब सामान समेटो, तुम्हें यहाँ नहीं पढ़ना है। अभी घर चलना है। अपने संस्कार, उनकी ख्याति तथा रुतबा के आगे मैं सिवा रोने के कुछ कर नहीं सकता था। कारण भी पूछने का साहस नहीं था। सामान रोते-रोते बाँधा गया तथा रोते ही सामान सहित घर आ गया। चूँकि हाईस्कूल की परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी तथा सोलह रुपया माहवार स्कालरशिप मिलना निश्चित हुआ था इसलिये चार-पाँच दिन बाद पिता जी ने कहा कि यदि चाहते हो तो इण्टर में रानीपुर पढ़ो। उस समय फीस भी रुपये कुछ पैसे थी।मेरी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। मैं पूरे मन से पढ़ने लगा। परन्तु यह कार्यक्रम अधिक दिन तक निर्वाध गति से न चल सका।

नवम्बर में पिता जी ने मेरे विवाह की चर्चा प्रारम्भ कर दी। मैं पढ़ाई में तल्लीन था। कभी सोच भी नहीं सकता था कि 18 वर्ष से भी कम उम्र के अल्पायु-पुत्र, जो पढ़ाई के लिये समर्पित है तथा पढ़ने में अच्छा है, के विवाह की बात की जायेगी। मार्च आते-आते पिता जी ने विवाह पक्का कर दिया। मैंने अपने होने वाले श्वसुर तथा साले से मना किया कि ऐसा मत करें नहीं तो आप लोगों को पश्चात्ताप करना पड़ेगा। चूँकि मेरी होने वाली पत्नी कम पढ़ी लिखी साधारण लड़की थी तथा बड़ी सम्पत्ति पर मैं अकेला लड़का था, अतः स्वार्थ में उन्होंने मेरी बात अनसुनी कर दी।

मेरी स्थिति तो यह थी कि पिता जी के सामने चारपाई पर बैठने में भी डर-संकोच होता था। उनकी बातों का उत्तर तो मैं उनके जीवनकाल में कभी नहीं दे पाता था, सिवा रोने के । जब वे गाली देते, कसमें खाते एवं जोर-जोर से बोलते, तो पैर छूकर हट जाता था। मात्र 17 वर्ष की उम्र में, पूर्ण रूप से किस तरह कुछ बोल पाता? विवाह के प्रसङ्ग पर

मैंने पिता जी को 7–8 चिट्ठी लिखी, उनसे अनेक प्रकार से विनती की। तत्कालीन बुद्धि के अनुसार अनेक तर्क दिये, परन्तु उन्हें मेरे पर दया नहीं आई। मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की तथा विवाह का निर्णय हो गया। मेरे दिमाग में एक ही बात बैठ गयी कि माता जी के कहने पर सब हो रहा है। वे चाहती हैं कि विवाह हो जाने पर मैं पढ़ नही पाऊँगा। नौकरी में बाहर नहीं जा पाऊँगा। पत्नी घर पर सेवा करेगी। पिता जी भी अपने करीबी लोगों से कहने लगे कि खेती बड़ी है। अतः घर पर रहकर इसका खेती करना अच्छा होगा। 18 जून 1957 को विवाह सम्पन्न हो गया।

जैसा मैंने कहा था, पत्नी से मेरी देखा–देखी वर्षों नहीं हुई। उसके पिता, भाई, माँ बहुत दुःखी रहने लगे। पत्नी भी रोते हुए समय बिताने लगीं। इसकी प्रतिक्रिया माता–पिता द्वारा होना स्वाभाविक थी। किसी बहाने डाँट खाना, रोना, स्वयं चुप होकर ईश्वर की प्रेरणा से पढ़ाई करते रहना, समाज के लोगों द्वारा अनेक प्रकार से समझाने आदि के बीच समय बीतता गया। इण्टर की परीक्षा मैंने बहुत मानसिक दबाव में दी।

पिता जी ने इण्टर के बाद पढ़ाने हेतु इनकार कर दिया। अतः मैंने, पिता जी को पढ़ाने हेतु स्वीकृति के लिये एक दिन शाम को डॉ0 श्रीहरि, श्री राम परीक्षा सिंह, जिनकी चर्चा प्रारम्भ में हो चुकी है तथा अपने मामा श्री रमाशंकर सिंह को एकत्रित किया। बहुत बातें हुई, परन्तु पिता जी पढ़ाई हेतु तैयार नहीं हुए। मामा ने सबके सामने श्रीहरि से कहा कि आप इलाहाबाद पढ़ाते है। वशिष्ठ का प्रवेश इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में करा दें। मैं खर्च दे रहा हूँ तथा पढ़ाऊँगा। श्री राम परीक्षा सिंह ने चलते समय कहा कि प्रधान जी! आपके बच्चे की पढ़ाई पैसे के कारण नहीं रुकेगी। यह जितना पढ़ेगा, मैं खर्च दूँगा। मामा के पैसे से मेरा नाम इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में डॉ0 श्रीहरि ने कराया। के0पी0यू0सी0 छात्रावास में रहने की व्यवस्था हो गयी। गणित, अंग्रेजी तथा संस्कश्त विषय मिले। तीन–चार माह बाद पिता जी ने खर्च देना प्रारम्भ कर दिया।

स्नातकोत्तर की पढ़ाई पूरी करने हेतु, इलाहाबाद आने के पूर्व पिता जी किसी बात को लेकर मुझसे नाराज हो गये तथा उन्होंने पढ़ाई का खर्च देने से मना कर दिया। खर्च हेतु मैंने श्री रामपरीक्षा सिंह, जिन्होंने बी0ए0प्रथम भाग की पढ़ाई प्रारम्भ होने के पूर्व खर्च देने का आश्वासन दिया था, को पत्र लिखा। उन्होंने बारह सौ रुपये पोस्ट द्वारा मुझे भेज दिया। मैं इलाहाबाद में अपने पुराने छात्रावास में रहने लगा तथा पढ़ाई भी प्रारम्भ हो गयी। संयोगवश मेरे घनिष्ठ मित्र श्री राम प्रताप मिश्र, जिनके बारे में मैं पूर्व में लिख चुका हूँ, रेलवे सुरक्षा बल (आर0पी0एफ0) में उपनिरीक्षक के पद पर नियुक्त हो गये तथा उन्हें एक वर्ष की ट्रेनिंग हेतु लखनऊ बुलाया गया। एक माह बीतने पर उन्हें एक सौ दस रुपये प्राप्त हुए। वे ट्रेनिंग की वर्दी में ही मेरे पास छात्रावास आये तथा मुझे साठ रुपये देते हुए बोले कि प्रतिमाह मैं तुम्हें साठ रुपये दूँगा, शेष पचास रुपये में मेरा काम चल जायेगा। उन्होंने अपने इस वायदे को पूरे वर्ष निभाया। उनके इस रुपये तथा श्री राम परीक्षा सिंह के पैसे से मेरी पढ़ाई तथा अन्य आवश्यक कार्य पूरे हो सके।

स्मरणीय मित्रता, मित्रों के उदार विचार तथा उनके सुझाव।

छात्रावास में बी०ए० द्वितीय वर्ष तक एक कमरे में दो छात्र रहते थे। द्वितीय वर्ष मेरे कमरे में बाँदा जनपद के चित्रकूट के पास खोह गाँव के निवासी राम प्रताप मिश्रा साथ रहते थे। वे सादा जीवन वाले सरल स्वभाव के विद्यार्थी थे। पढ़ने में भी द्वितीय श्रेणी के स्तर वाले थे। उनके पिता श्री युगल किशोर मिश्र जी उस समय चित्रकूट के पास कर्वी के इण्टर कॉलेज में प्रवक्ता थे तथा कवि हृदय थे। राम प्रताप से मेरी गहरी मित्रता हो गयी थी। हम लोगों की दोस्ती छात्रावास में चर्चा का विषय थी। राम प्रताप मिश्रा गोरखपुर एन०ई० रेलवे के रेलवे सुरक्षा बल के ट्रेनिंग सेन्टर के प्रधानाचार्य के पद से अवकाश ग्रहण कर अपने गाँव में पत्नी के साथ रहते हुए बहुत ही सादगीपूर्ण जीवन बिताते हैं। श्री उमानाथ पाण्डेय, वाराणसी के लेखा विभाग में वरिष्ठ निरीक्षक के पद से अवकाश ग्रहण कर जौनपुर जनपद के वेंहणा गाँव के अपने पैतृक आवास पर रहते हैं। इसी गाँव के भूतपूर्व निवासी तथा मुम्बई के उद्योगपति मेजर एस०एन०सिंह ने लड़कियों की शिक्षा के उद्देश्य से नर्सरी से पोस्टग्रेजुएट तक की शिक्षा हेतु एक कॉलेज खोला था। श्री उमानाथ जी सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् इसी कॉलेज के प्रवन्धक के रूप में विना किसी लाभ, निःस्वार्थ, पूरे मनोयोग से सेवा कर रहे हैं। यही दोनों मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। प्रारम्भिक घनिष्ट मित्रता का भाव, एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य, सम्बन्धों में ताजगी, एक दूसरे के लिए कुछ भी कर देने को सदा तत्पर, गुणों से परिपूर्ण हमारी मित्रता रही है।

प्रसिद्ध लेखक वेकन के कथन कि-"यदि हमारा कोई सच्चा मित्र न हो तो जगत् निर्जन वन के समान प्रतीत होगा।" के अनुसार जीवन में सच्चे मित्र का होना तो आवश्यक है, परन्तु मित्र बनाते समय यह स्मरणीय है कि- 'मित्र बनाना सरल है, मैत्री निभाना दुष्कर है। चित्तों की अस्थिरता के कारण अल्पमतभेद होने पर भी मित्रता टूट जाती है।' इसलिये हमें मित्रता करते समय सजग रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में महान दार्शनिक सुकरात की बात ध्यान देने योग्य है कि- 'मित्रता करने में धैर्य से काम लो, किन्तु मित्रता कर लेने पर उसे अचल तथा दृढ़ होकर निबाहो।' सच्चे मित्र के तीन लक्षण अश्वघोष ने बताये हैं। बुद्धचरित में भी ऐसा ही कहा गया है। ये लक्षण हैं-अहित से रोकना, हित में लगाना और विपत्ति में साथ न छोड़ना।

जैन धर्म में प्रार्थना की गयी है-

क्षमा मैं चाहता सबसे, मैं भी करूँ सबको क्षमा।
मैत्री मेरी सभी से हो, किसी से बैर हो नहीं।।

बौद्ध धर्म की शिक्षा है-

जीतो अक्रोध से क्रोध, साधुत्व से असाधु को
कञ्जूसी दान से जीतो, सत्य से झूठवादी को।
वैर से न कदापि भी, मिटते वैर हैं नहीं
मैत्री ही से मिटे वैर, यही धर्म सनातन ।।

सच्चे मित्र का व्यवहार, एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा-मनोभाव आदि कैसा होना चाहिये इसे भगवान् श्रीकृष्ण-सुदामा तथा भगवान् राम-सुग्रीव की मित्रता पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायेगा।

परम दीन-हीन, फटे कपड़ों में कई घरों से एकत्र चूड़ा की पोटली लिये जब बचपन के सखा सुदामा द्वारकाधीश परम् ऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्ण से मिलते हैं, तो उनकी दशा का दर्शन करें-

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः।। (श्रीमद्भागवत 10/80/19)

शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं- 'परमानन्द स्वरुप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मण देवता के अङ्ग स्पर्श से अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमल के समान नेत्रों से प्रेम के आँसू बरसने लगे।'

भगवान् ने सुदामा को खाली हाथ विदा किया। ऐसी अवस्था में अपने मित्र के सम्बन्ध में सुदामा के विचार देखें- सुदामा धन न पाकर कृष्ण के प्रति उपकार के भाव से अभिभूत होकर कहते हैं-

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्।। (श्रीमद्भावगत 10/81/20)

अर्थात् फिर भी परम् दयालु श्रीकृष्ण ने यह सोचकर मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिलकुल मतवाला न हो जाय और मुझे भूल न बैठे।

इसी तरह भगवान् राम और सुग्रीव की जब मित्रता हुई तो सुग्रीव ने कहा-

त्वं वयस्योऽसि ह्यद्यो मे ह्येकं दुःखं सुखं च नौ।।
सुग्रीवो राघवं वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत्।।

(बा0रा0किष्कि0का0 पञ्चमसर्ग17)

सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी से प्रसन्नतापूर्वक कहा- आप मेरे प्रिय मित्र है। आज से हम दोनों का दुःख और सुख एक है।' मित्र सुग्रीव को उनके बड़े भाई बालि के कारण दुःखी देखकर भगवान् श्रीराम ने उससे कहा-

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे। ।।25।।
वालिनं तं बधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्।।

अर्थात् महाकपे! मुझे मालूम है कि मित्र उपकार रुपी फल देने वाला होता है। मैं तुम्हारी पत्नी का अपहरण करने वाले बाली का वध कर दूँगा।

जीवन में सच्चे मित्र का बहुत महत्त्व है। सच्चा मित्र अपने मित्र का अहित नहीं होने देता। उसे ऐसे कार्यों को करने की प्रेरणा देता है, जिससे उसका हित हो। मित्र की कठिनाई के समय में दृढ़तापूर्वक उसके साथ खड़ा हो जाता है। अच्छा मित्र अपने मित्र की चापलूसी कभी नहीं करता। उसके आत्मविश्वास को कमजोर करने वाले विचार कभी नहीं रखता, बल्कि आत्मविश्वास को दृढ़ करने हेतु प्रयत्नशील रहता है। अच्छा मित्र अपने मित्र के सुख-दुःख में सदा साझीदार रहता है। अच्छे मित्र के कारण उसके मित्र के जीवन में बहुत परिवर्तन सम्भव है और कभी-कभी तो उसके कारण जीवन ही पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। परन्तु यदि मित्र ऐसा मिला जिसका संस्कार ठीक नहीं है, वह किसी नशे का शिकार है, उसका साथ अच्छे लोगों से नहीं है, जिसे अपने पैसे, रूप आदि का अहङ्कार है, जिसका चरित्र

ठीक नहीं है, जिसके मन में माता-पिता, गुरुजन के प्रति अपेक्षित आदर-भाव नहीं है, शास्त्र पर श्रद्धा नहीं है, मनुष्यत्व से रहित है तथा अपने जीवन की दिशा बदलने हेतु तत्पर नहीं है, तो प्रबल सम्भावना रहती है कि वह अपने सम्पर्क में आने वाले मित्र को भी कुमार्ग में ले जायेगा। कम-से-कम उसकी प्रगति में बाधक अवश्य हो जायेगा।

दाम्पत्य जीवन में सरलता और जटिलता के कारण उच्चावच परिस्थितियों का सामना करना

पत्नी का प्रारम्भिक लगभग दो वर्ष का समय घोर मानसिक कष्ट में बीता। मेरे घर पर बन्द कमरे में रहना, परिवार की सेवा करते हुए समय बिताना, परन्तु किसी से एक शब्द प्रेम का न सुनना। इससे भी कष्टदायक- वर्तमान या भविष्य में मुझसे बात-चीत की उम्मीद का न होना, मायके जाने पर वहाँ स्वयं के साथ सभी सम्बन्धियों को मानसिक कष्ट में रखना।

मेरे श्वसुर दुःखी मन से अपनी लड़की को अपने घर लिवा ले गये। मुझसे बात करने का साहस उन्होंने नहीं किया। मेरे अध्यापक वंश बहादुर सिंह, जो पिता जी के बहुत ही करीबी थे, में इतना साहस नहीं था कि वे कड़ाई से पिता से कुछ कह सकें। वे मुझसे पत्नी से सम्बन्ध रखने हेतु दबाव दे रहे थे, मैं मान नहीं रहा था। उनकी कमजोरी थी कि मेरी पत्नी उनकी पत्नी की रिश्तेदार थी तथा वे मेरी पत्नी को सान्त्वना देने घर आती थीं।

ग्रीष्मावकाश में घर पर श्री वंश बहादुर सिंह तथा उनकी पत्नी दोनों मेरे पीछे पड़े तथा कहने लगे कि मुझे अपनी पत्नी से सम्बन्ध बनाना चाहिये। वे मेरी पत्नी तथा उसके परिवार के दुःखी होने की बात कहकर मुझे अनेक प्रकार से समझाने लगे। चूँकि उनका मेरे ऊपर एहसान बहुत था तथा उनकी पत्नी भी मुझे स्नेह देती थीं, इसलिये मैं इनकार नहीं कर पाया। उन्होंने पत्नी को उनके मायके से लिवा लाने हेतु दबाव दिया तथा मुझसे स्वीकृति ले ली। उन्होंने तिथि निर्धारित की, वहाँ समाचार दिया, तथा मुझे भेज दिया। वहाँ पत्नी तथा उनके माता-पिता, भाई डॉ0 बच्चा लाल सिंह तथा परिवार के अन्य सदस्य बहुत प्रसन्नता का अनुभव किये। मैं पत्नी को लिवा आया। घर में मिट्टी की मोटी दीवाल वाले तथा खिड़की रहित कमरे थे। वहींपर एक कमरे में वे रहने लगीं। उनके पिता जी उनसे मिलने आये तथा एक आदमी अपने साथ ले आये, जिसने कई दिन रहकर कमरे को कुछ ठीक किया। जुलाई में मैं इलाहाबाद पढ़ने चला गया। वे अगस्त तक रहीं। इसके बाद उनके पिता जी लिवा ले गये।

भगवान् की अनेक शक्तियों में काम एक शक्ति है। 'धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि', उन्होंने कहा है। इस भाव को सृष्टि का क्रम चलते रहने हेतु बनाया गया है। पशु-पक्षियों में तो एक निश्चित समय पर ही इस भाव का उदय होता है ताकि सृष्टि का क्रम बढ़ता रहे, परन्तु अधिकतर मनुष्य अपने को मात्र निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति न मानकर, आनन्द की झलक प्राप्त करने हेतु, अपनी इच्छा पूर्ति करते रहते हैं। इस भाव के कारण समाज में बुराइयाँ न फैलें, लोग अपने पर संयम रख सकें, एक नियम में बँधकर इच्छापूर्ति भी करते रहें, इस हेतु विवाह का प्रचलन किया गया। कुछ उच्चकोटि के व्यक्ति अपने पर संयम रख पाने में सफल होते हैं तथा बिना विवाह भी परमात्मा से प्रीति जोड़कर या किसी आदर्श की पूर्ति में गहरी आस्था के कारण संयमित जीवन बिताने में सफल हो जाते हैं।

पत्नी से सम्बन्ध हो जाना मेरी पढ़ाई में बाधक बना। अपने विद्यार्थी जीवन के कर्तव्य, लक्ष्य के प्रति ईमानदार नहीं रह पाया तथा पूरे वर्ष, जबकि बी0ए0 अन्तिम वर्ष (उस समय दो वर्ष की ही अवधि थी), की पढ़ाई और गम्भीरता से करनी चाहिये थी, पत्नी के पास उनके मायके जाता रहा। जाने पर आने-जाने के खर्च से कुछ अधिक ही मिल जाता था। इसलिये आर्थिक कठिनाई नहीं होती थी। पढ़ाई पर कम ध्यान तथा समय देने के कारण बी0ए0 में द्वितीय श्रेणी किसी तरह प्राप्त कर सका। जब कभी शैक्षिक अभिलेख प्रस्तुत करने या लिखने का अवसर आता है, तो इसकी मानसिक यातना तथा पश्चात्ताप अवश्य होता है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रम का महत्त्व है तथा ब्रह्मचर्य का पालन विद्यार्थी के लिये तो आवश्यक है ही। इसका कड़ाई से पालन न करने के कारण ऐसा अहित हो जाता है, जिसकी भरपाई सम्भव नहीं होती।

लगातार तीन पुत्रियों की माँ बनने पर पत्नी कभी-कभी चिन्ता व्यक्त करती थीं। वे कहती थीं कि घर से कोई मदद मिलने की उम्मीद नहीं है। वेतन बहुत कम है। किसी तरह हम लोग गृहस्थी चला भी लें, तो इनका विवाह कैसे होगा? इन चिन्ताओं से बड़ी एक चिन्ता हम दोनों को थी कि पुत्र नहीं है। यद्यपि समाज में बहुत भाग्यशाली ही पुत्र से सुख पाते हैं।

यदि पुत्र योग्य निकला तो अपनी पत्नी-बच्चों को लेकर माता-पिता को छोड़कर अपनी जिन्दगी अलग ढङ्ग से जीता है। इस परिस्थिति हेतु कई बातें जिम्मेदार होती हैं-जैसे मनोनुकूल जीवन-यापन, माता-पिता के उपदेशों तथा अनुशासन को न पसन्द करना, नौकरी-व्यवसाय से उत्पन्न परिस्थितियाँ तथा किसी कारण पत्नी की इच्छा के विपरीत कुछ भी बोलने, करने का साहस न जुटा पाना आदि। यदि पुत्र योग्य नहीं हो पाया तथा वह माता-पिता की आय-सम्पत्ति पर ही निर्भर है तथा स्वेच्छाचारी है, तो वह उनके साथ रहता है तथा उनकी अशान्ति का कारण बन जाता है। तब वे घुट-घुट कर मरते रहते हैं। पुत्रमोह के कारण वे उसे छोड़ भी नहीं पाते तथा उनमें यह सामर्थ्य रहती नहीं कि वे उसे अपने अनुसार चला सकें। ऐसे लोग भाग्यशाली लोगों की कोटि में आते हैं जिनके, पुत्र तथा उसकी पत्नी में, उनके प्रति आदर भाव रहता हो तथा वे यह समझते हुए उनकी सेवा करते हों कि उनका जीवन उन्हीं के सहारे-आशीर्वाद पर टिका है।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य में एक रोचक कथा आती है। धन-सम्पत्ति से युक्त एक विद्वान् ब्राह्मण आत्मदेव पुत्रप्राप्ति न होने के कारण आत्महत्या पर उतारू थे। वहाँ उपस्थित एक संन्यासी ने उनसे पुत्र से सुख न प्राप्त होने की बात बताई, परन्तु उसकी जिद्द के कारण पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से एक फल उसे पत्नी को खिलाने हेतु दिया। उसकी पत्नी फल नहीं खाई तथा छलपूर्वक अपनी बहिन के पुत्र धुंधकारी को अपना पुत्र मान लिया। बड़ा होने पर तथा उसके द्वारा घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट किये जाने पर आत्मदेव बहुत दुःखी रहने लगे। फूट-फूट कर रोते हुए वे कहते है-

बन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः। (भा0मा0 4/71)

इससे तो इसकी माँ का बाँझ रहना ही अच्छा था, कुपुत्र तो बड़ा ही दुःखदायक होता है।

प्रायः पुत्रियों का लगाव अपने माता-पिता से अधिक रहता है। उनकी गम्भीर बीमारी या उनके किसी तरह के कष्ट को सुनकर वे अपनी गृहस्थी के व्यस्त जीवन में भी समय निकालकर उनके पास सेवार्थ आ जाती हैं। निःस्वार्थ सेवा करती हैं। उनके कारण उन्हें मानसिक कष्ट प्रायः नहीं होता। उनके कारण उनके माता-पिता को मानसिक कष्ट तो तभी होता है जब किसी कारण वे दुःखी रहती है और वे कुछ कर नहीं पाते। इन सब परिस्थितियों के प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी भारतीय मानसिकता पुत्र के बिना प्रायः सन्तुष्ट नहीं होती। प्रबुद्ध वर्ग में यह विचार धीरे-धीरे बदल रहा है।

जुलाई वर्ष 1973 में पत्नी को मायके से बुलाया। गाँव के दो व्यक्ति-श्री कल्पनाथ सिंह तथा श्री सत्यदेव सिंह पिताजी के बहुत करीबी थे। मैं उनसे अपनी आर्थिक स्थिति बताया करता था। उन लोगों ने 1974 में पिता जी को वर्ष में लगभग सोलह क्विंटल राशन देने हेतु राजी किया। इन दोनों ने स्वयं उक्त राशन तौलकर एक कोठरी में बन्द कर मुझे सौंपा। पिताजी से मैंने प्रार्थना की कि गाँव के कुछ मजदूर लेकर, उस राशन में से खर्च हेतु राशन लेकर वाराणसी आ जायँ, ताकि वर्तमान आवास वाले स्थान पर मकान की नींव रखी जा सके। एक बार में मकान बनाना मेरी कल्पना के बाहर था। पिताजी मेरी प्रार्थना पर सात मजदूरों को लेकर आये। उस समय उनके बस से आने में कुल उनचास रूपये खर्च हुए थे। मैंने यह पैसा दे दिया। साथ में मेरे पट्टीदार श्री दशरथ सिंह, जिनका अन्तिम समय तक मुझ पर अत्यन्त स्नेह था, भी आये। पिता जी दो दिन बाद चले गये, परन्तु दशरथ सिंह तब तक रुके रहे, जब तक नींव नहीं भर गयी। काम बन्द हो गया।

सन् 1975 में कुछ पैसों का प्रबन्ध कालेज से कर्ज लेकर तथा पत्नी की माँ से उधार लेकर किया। नगर निगम में नक्शा पास होने हेतु जमा किया, परन्तु सुविधा शुल्क न देने के कारण नक्शा पास नहीं हुआ। एक निश्चित अवधि बीत जाने पर दो कमरे तथा किचेन बाथरूम बनाकर दिसम्बर 1975 से रहने लगा।

पत्नी का मेरे जीवन में बहुत सहयोग रहा है। एम0ए0 की पढ़ाई की समस्या आने पर उन्होने अपने गहने मुझे सौंप दिये तथा कहा कि बन्धक रखकर पढ़िये, बाद में देखा जायेगा। मकान-निर्माण के प्रारम्भ में वे अपनी माँ के पास गयीं तथा उनसे पाँच हजार रूपये उधार लाकर मुझे दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा कि मेरे मामा से बात हो गई है, मेरे ननिहाल जाकर शीशम के पटरे ले आइये। मैं जाकर ट्रेन से ले आया, जिनका उपयोग मकान में हुआ है। पालनकर्त्री माँ के कहने पर मैं शीशम का एक पेड़ टुकड़ो में घर से ले आया। इसके भी पटरों का प्रयोग मकान में हुआ है। बहुत दिनों तक मकान के अर्द्ध-निर्मित भाग में गोबर से लिपाई करती रहीं। इससे भी बड़ा सहयोग यह रहा है कि परिस्थिति चाहे जो रही हो, परन्तु मेरे किसी बड़े निर्णय का विरोध उन्होंने उग्र होकर कभी नहीं किया तथा अपनी बात कहकर हमेशा के लिए शान्त हो जाती थीं। बहुत मेहनत तथा कर्ज लेकर किये गये प्रारम्भिक व्यापार, जो गृहस्थी चलाने में बहुत मददगार हो गया था, को पिता की आज्ञा पर जब मैने छोड़ा तो उन्होंने कहा कि ठीक है, आपका भी पिता के प्रति कर्त्तव्य है। तात्कालिक परिस्थितियों में उनका ऐसा त्याग-भाव बहुत बड़ा था।

प्रतिवर्ष ग्रीष्मकालीन छुट्टियों में जब विद्यालय बन्द रहता था, मैं पत्नी को उनके मायके भेज दिया करता था। इससे दो माह का वेतन बच जाता था। जब वे जुलाई-अगस्त में आती थीं तो उनके द्वारा लायी गयी खाद्य सामग्री से गृहस्थी में कुछ मदद मिल जाती थी।

सन् 1978 में हम लोगों ने स्वामी कृष्ण प्रेमानन्द सरस्वती जी से दीक्षा ली। वे अपने जीवन काल में उन्हें बडी श्रद्धा से भोजन बनाकर मुझसे भेजवाती थीं। सन् 1990 के आस-पास एक बार मई-जून के महीने में हम लोग 15 दिन ऋषिकेश रहे। कथाएँ सुनते हुए समय बिताया, परन्तु लौटते समय लगभग चार-पाँच हजार रुपये के सामान सहित अटैची चलती ट्रेन में हम लोगों के सामने चोर लेकर उतर गये। इस हानि को वे बहुत दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर पायीं। मुझे इस बात का कष्ट था कि पंद्रह दिनों के प्रवचनों के नोट्स भी चले गये थे।

मेरी छोटी बहिन सन्ध्या को उन्होंने एक वर्ष साथ रखकर कक्षा नौ में पढ़ाया तथा यथासम्भव स्नेह दिया, परन्तु अन्त में दुर्व्यव्यवहार के आक्षेप पर वे बहुत दुःखी हुई तथा इसके बाद हमने निर्णय किया कि भविष्य में किसी बच्चे को साथ रखकर नहीं पढ़ायेंगे।

सन् 1991-92 से पत्नी का स्वास्थ्य खराब रहने लगा। तीसरी पुत्री के विवाह हेतु भी मैं जागरूक हो गया था। पत्नी का गुर्दा बहुत तेजी से खराब होता जा रहा था। मैं उन्हें लेकर परेशान रहता। सभी पैथी के यथासम्भव इलाज कराता रहा। एलोपैथी से निराश होकर उन्हें आयुर्वेदिक अस्पताल नडियाद (गुजरात) में भर्ती कराकर लगभग एक माह तक रहा। बीच-बीच में कुछ सुधार हो जाता था। अन्त में जून 1997 के प्रथम सप्ताह में डायलसिस की तैयारी की गयी, परन्तु 12 जून 1997 को पूरे परिवार के बीच उन्होंने अन्तिम श्वास ली।

सकारात्मक सोच -

पत्नी के वियोग की समस्या से पार पाने हेतु मैंने इस प्रकार सोचना प्रारम्भ किया। अन्तिम समय में उन्हें बहुत शारीरिक, मानसिक कष्ट था। डायलसिस में और कष्ट होता, अतः मुझे अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर उनके कष्ट से मुक्ति की बात पर प्रसन्न होना चाहिए। दूसरी बात, वे अपने पुत्रियों-पुत्र के विवाहादि देख चुकी थीं। तीसरी बात मैंने सोची कि भगवान् की कृपा मुझपर हुई है। वे अपनी ओर मुझे पूर्णतया आकर्षित करना चाहते हैं। उन्होंने कहा ही है कि जब मैं किसी पर कृपा करता हूँ, तो पहले उसका धन हर लेता हूँ। तत्पश्चात् प्रियजनों से विछोह।

भगवान् श्रीराम को उनकी विमाता के कारण, अयोध्या का राज्य मिलने के स्थान पर उन्हें चौदह वर्ष वनवास हेतु जाना पड़ा। परन्तु विपरीत परिस्थिति में अच्छाई देखने का उदाहरण ध्यान देने योग्य है। जब भारद्वाज आश्रम (प्रयाग) में मुनियों ने इस सम्बन्ध में कारण पूछा तो वे कहते हैं- 'मुनिवर! मुझे बन का राज्य मिला है। इसमें पिता की आज्ञा का पालन हुआ, माता जी की आज्ञा का पालन हुआ, छोटा भाई भरत को राजा बनने का अवसर मिला ओर इससे भी बड़ा लाभ यह हुआ कि आप सब-मुनियों के दर्शन का सौभाग्य मिला।

भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन प्रारम्भ से अन्त तक संघर्षपूर्ण रहा। या तो वे अपने लिये संघर्ष किये या अपनों के लिये। जन्म कारागार में हुआ, पैदा होते ही मथुरा से गोकुल ले जाये गये। बचपन में अनेक राक्षसों का उनपर हमला हुआ। कालिय नाग से संघर्ष हुआ। उनके मामा, मथुरा के राजा कंस द्वारा उनको मारने के अनेक उपाय किये गये। उन्होंने सबका मुकाबला किया। अपने अत्याचारी मामा को ही उन्हें मारना पड़ा। कंस के श्वसुर जरासन्ध, कालनेमि के कारण मथुरा छोड़कर द्वारका के पास समुद्र में अपने लोगों हेतु नगरी बसानी पड़ी। जिनके साथ विवाह हुआ उन्हें पत्नी रूप में पाने हेतु भी उन्हें संघर्ष करना पडा। सत्य, न्याय के रास्ते पर चलने वाले पाण्डवों की रक्षा हेतु महाभारत का युद्ध भी परोक्ष रूप से उन्होंने लड़ा। अन्त में धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी द्वारा उन्हें शाप दिया गया। उनके सामने ही उनके स्वजन आपस में लड़कर प्राण त्याग दिये। अन्त में पैर के तलवे में बहेलिये के बाण लगने से उन्हें शरीर छोड़ना पड़ा-इतनी सारी विपत्तियाँ, इतना संघर्ष, परन्तु उन्होंने अपनी मुस्कुराहट कभी नहीं छोड़ी। सदा मुस्कुराते रहे। उनके जीवन से हमें सीख मिलती है कि चाहे जितनी कठिनाइयाँ जीवन में आवें, हमें अपना धैर्य कभी नहीं खोना चाहिये। उपस्थित समस्या के समाधान हेतु पूरे सङ्कल्प, पूरे सामर्थ्य से प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु अपने जीवन में शोक की स्थिति नहीं आने देनी चाहिये।

शास्त्रों की सीख है कि प्रतिकूल परिस्थिति को अपनी सोच से सुखदायी बना लेना चाहिये। दुःख का संयोग होने पर उसके वियोग का उपाय निकाल लेना 'योग' हैं। इस सम्बन्ध में एक कहानी शिक्षाप्रद है-

एक सन्त ध्यान में थे। एक आसुरी-सम्पत्ति-सम्पन्न पुरुष ने उनसे समय पूछा। वे उत्तर न दे सके। वह क्रोधित हो गया तथा उन्हें एक डण्डा और पाँच घूँसा मारा। वे सन्त नाचने लगे। उपस्थित लोगों ने ऐसी परिस्थिति में उनकी प्रसन्नता का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि भगवान् की कितनी कृपा है कि जिस समय इसने समय पूछा उस समय एक बजकर पाँच मिनट हुआ था, जिसपर इसने एक डण्डा पाँच घूँसा मारा। यदि दस मिनट पूर्व इसने समय पूछा होता तो यह मुझे बारह डण्डा तथा पचपन घूँसा मारता।

सन्तानें (वंश), उनका नामकरण, शिक्षा-दीक्षा तथा विवाहादि संस्कार

सन् 1960 के नवम्बर में प्रथम पुत्र पंकज का जन्म बलिया शहर (उ0प्र0) के सरकारी अस्पताल में उसके नाना के संरक्षण में हुआ।

तीन मार्च 1962 को पैतृक आवास पर पुत्री का जन्म हुआ। इसका नाम नीलम रखा गया।

सोलह अक्टूबर 1966 को दूसरी पुत्री सुचन्दा (रिमी) का जन्म सरकारी अस्पताल कबीरचौरा, वाराणसी में हुआ।

तीस अगस्त 1969 को तीसरी पुत्री शुभ्रा (रीतू) का जन्म सरकारी अस्पताल कबीरचौरा में हुआ।

24 सितम्बर, 1970 को बेनियाबाग के सरकारी अस्पताल में हम लोगों को द्वितीय पुत्र की प्राप्ति हुई, जिसका नाम सुप्रभात रखा गया।

बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से नीलम एवं सुचन्दा का प्रवेश उदय प्रताप कालेज परिसर स्थित रानी मुरार कुमारी बालिका विद्यालय में तथा शुभ्रा एवं सुप्रभात का प्रशान्तपुरी स्थित 'बाल निकेतन' जूनियर हाईस्कूल में कराया।

नीलम ने हाई स्कूल, रानी मुरार कुमारी बालिका विद्यालय तथा इण्टर राजकीय बालिका इण्टर कालेज, वाराणसी से किया। बी0एस-सी0 तथा एम0एस-सी0 (रसायन शास्त्र, प्रथम श्रेणी) उदय प्रताप कालेज से किया।

सुचन्दा तथा शुभ्रा ने हाई स्कूल तथा इण्टर, राजकीय बालिका इण्टर कालेज, वाराणसी से पास किया।

सुचन्दा ने बी0ए0, उदय प्रताप कालेज तथा एम0ए0 (समाज शास्त्र, द्वितीय श्रेणी) काशी विद्यापीठ से किया। शुभ्रा ने बी0एस-सी0 तथा एम0एस-सी0 (जन्तुविज्ञान, प्रथम श्रेणी) उदय प्रताप कालेज, वाराणसी से किया।

सुप्रभात ने हाईस्कूल तथा इण्टर राजकीय क्वींस इण्टर कालेज से पास किया। इसके बाद मोती लाल नेहरु इन्जिनियरिंग कालेज, इलाहाबाद से बी0टेक्0 करने के बाद प्रौद्यौगिकी संस्थान बी0एच0यू0 से एम0टेक्0 की पढ़ाई की, परन्तु डिग्री प्राप्ति के पूर्व उत्तर प्रदेश के सिंचाई विभाग में सहायक अभियन्ता के पद पर नियुक्त हो गये।

नीलम का विवाह सन् 1980 में श्री प्रदीप कुमार सिंह (प्रान्तीय सिविल सेवा) से हुआ।



भारतीय संस्कृति के अनुसार मेरे आवास पर नीलम का विवाह

सुचन्दा का विवाह सन् 1988 में श्री योगेश सिंह, (भारतीय वन सेवा) से हुआ। शुभ्रा का विवाह सन् 1995 में डॉ0 प्रद्युम्न कुमार सिंह वैज्ञानिक, (राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ) से हुआ।

सुप्रभात का विवाह सन् 1996 में सीमा, पुत्री श्री प्रेम प्रकाश सिंह से हुआ, परन्तु उसकी सन् 1999 में असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण द्वितीय विवाह पूनम पुत्री डा0 के0 के0 सिंह, बाँसी, बस्ती से हुआ।

नीलम के विवाह में कोई परेशानी नहीं हुई। प्रदीप के पिता श्री युगल किशोर सिंह माध्यमिक शिक्षा में संयुक्त निदेशक थे। वे ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने कुछ भी लेने से इन्कार किया।

योगेश के पिता श्री अमलदार सिंह, सिंचाई विभाग में अधिशासी अभियन्ता थे तथा वे शौकीन व्यक्ति थे। विवाह में उन्होंने मुझसे अधिक खर्च किया। उन्होंने मेरे परिवार की मर्यादा को अधिक महत्त्व दिया।

प्रद्युम्न के पिता श्री जगदीश सिंह बहुत सरल व्यक्तित्व के व्यक्ति हैं तथा भारत संचार निगम लिमिटेड से अवकाश ग्रहण कर सन् 2014 से अपने चाचा की सेवा हेतु सपत्नीक अपने पैतृक गॉव में रहते हैं। इन्होंने भी शुभ्रा के विवाह हेतु कोई शर्त नहीं रखी। यद्यपि इस विवाह के तय होने के पूर्व, पैसे के कारण कई जगह विवाह तय होने में व्यवधान पड़ गया था।

सुप्रभात के किसी विवाह में कोई कठिनाई नहीं हुई।

भारतीय संस्कृति तथा वर्तमान शिक्षा की दशा एवं दिशा –

महँगे इंग्लिश स्कूल में मेरे किसी सन्तान को प्रवेश नहीं मिला। मुझे आज तक मेरे पुत्र-पुत्रियाँ कोसते हैं कि मैंने उन्हें अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में नहीं पढ़ाया, जिससे आज के प्रगतिशील समाज में वे इस कमी के कारण झेंपते हैं।

अपने पुत्रियों तथा पुत्र की प्रारम्भिक शिक्षा के समय मेरे अन्दर यह दृढ़ विचार था कि भारतीय संस्कृति की संस्कार निर्मित करने वाली परम्परा, दिक्-काल के अनुसार वस्त्र धारण करने, बड़ों के समक्ष नतमस्तक होकर श्रद्धाभाव में प्रणाम करने, माता-पिता-आचार्य के पैर छूने, कहीं-कहीं विना कुछ बोले विनम्रता प्रदर्शित कर आभार व्यक्त कर देने आदि के स्थान पर गुलामी की प्रतीक, प्रचण्ड गर्मी में भी टाई बाँधने, शरीर के अंङ्गों से सटे मोटे कपड़े पहनने, मातृभाषा का स्वाभिमान भूलकर दूसरे की भाषा बोलकर गौरव का अनुभव करने वाले विचारों को पल्लवित-पुष्पित करने वाले स्कूलों, कान्वेन्ट स्कूलों तथा उनकी नकल कर उनके ढर्रे पर चलने वाले विद्यालयों में बच्चों को नहीं पढ़ाना है।

प्रायः ऐसे स्कूलों के विद्यार्थियों को श्रद्धा-स्नेह-प्रेम में अन्तर नहीं मालूम पड़ता। इन शब्दों का शाब्दिक अर्थ यदि वे जानते भी हैं, तो भी उसके अनुभव का अवसर उन्हें नहीं मिलता। वे तो केवल गुडमार्निंग-गुडइवनिंग जानते हैं तथा इनका प्रयोग वे सभी उम्र के स्त्री-पुरुष के साथ करते हैं। अलग होते समय वे गुड-बाई बोलते हैं और उनके द्वारा व्यवहार में बोले गये शब्द केवल बैखरी वाँणी में होते हैं। बैखरी वाणी बोलते समय ही व्यक्त होती है। उनका लगाव मध्यमा वाणी (अनाहत चक्र में स्थित सूक्ष्मवाणी जिसमें अर्थसहित शब्द स्पष्ट होते हैं तथा जहाँ चिन्तन-मनन होता है) से भी नहीं होता। पश्यन्ती (सूक्ष्मतर) तथा परावाणी (सूक्ष्मतम वाणी, जो अव्यक्त है तथा जिसे 'शब्दब्रह्म' कहते हैं), के बारे में वे जानने की कोशिश भी नहीं करते। वास्तव में परावाणी ही, मन के कारण प्राणवायु के संयोग से कण्ठ-तालु आदि स्थानों में टकराती हुई बैखरी वाणी का रूप धारण करती है।

इस शिक्षा का प्रभाव समाज में स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। अपने स्वजनों, माता-पिता से दूरी बढ़ती जा रही है। गला-काट प्रतिस्पर्धा में ऐसी शिक्षा प्राप्त बच्चे, मानसिक अशान्ति में, तनाव में, निराशा में, विषाद में जी रहे हैं। समाज का सौहार्द, प्रेम-व्यवहार, इस्लाम धर्म का मूल भाई-चारा, बौद्धधर्म की करुणा, ईसाई धर्म की सेवा, सनातन धर्म का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव, जैन धर्म की अहिंसा- सब भावों का लोप हो रहा है। स्वार्थ बढ़ रहा है। परिवार की परिभाषा में स्त्री-पुरुष, छोटे बच्चे ही रह गये हैं। पति-पत्नी में भी एक दूसरे के प्रति त्याग-विश्वास का अभाव है। परिणाम यह है कि ऐसे परिवार में कर्ज लेकर मकान, गाड़ी, भौतिक विलासिता की सामग्री तो उनके पास है, परन्तु 'शान्ति', जो जीवन का लक्ष्य है, नहीं है। आज जब मैं अपने इन तथाकथित पिछड़े बच्चों तथा उनके अंग्रेजी माध्यम से नामी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के जीवन को साक्षीभाव से, सूक्ष्म दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे अपने तात्कालिक निर्णय पर सन्तोष होता है। मेरे बच्चों तथा बचपन में उनके साथ समय बिताये रिश्तेदारों के बच्चों के आपसी प्रेम, एक दूसरे के प्रति त्याग-भाव को देखकर हर्षित होता हूँ। मेरे बच्चे भी किसी कारण अपने बच्चों को आदर्श परिस्थिति में नहीं ढाल पाये या यूँ कहें-वर्तमान माहौल से वे भी लाचार हो गये।

व्यावहारिक जटिलता या विषमता के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति -

राष्ट्र तथा प्रदेशस्तरीय प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में भाग लेने के उद्देश्य से मैं अक्टूबर 1963 तक छात्रावास में रहा। परन्तु श्री रामप्रताप मिश्र के पैसे तथा दो बच्चों के साथ पत्नी के मायके में रहने की चिन्ता सताती रहती थी, अतः घर आ गया। जनता इण्टर कॉलेज रानीपुर, मऊ में गणित प्रवक्ता की जगह खाली थी। अतः पिता जी ने मुझसे कहा कि रानीपुर में अध्यापन कार्य करो। चूँकि वे ही उस कॉलेज के प्रबन्धक थे तथा उस समय प्रबन्धक का बहुत अधिकार हुआ करता था, अतः और कोई बाधा नहीं थी। दिसम्बर में मैंने पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। पत्नी को घर बुला लिया। परन्तु लगभग दो माह तक निर्णय नहीं कर पाया कि क्या करूँ। मन-बुद्धि के बीच संघर्ष चलता रहा।

इस तरह का अन्तर्द्वन्द्व तो मनुष्य के सामने प्रायः उपस्थित होता है कि वह मन की बात माने या बुद्धि की, भावनाओं के अनुसार कार्य करे या बुद्धि के अनुसार; मन-बुद्धि में किसको ऊपर रखे, प्रेय की तरफ जाय या श्रेय की तरफ, अपने सम्बन्धों को महत्त्व दे या कर्त्तव्यों को। इसी अन्तर्द्वन्द्व में अर्जुन भी फँसे थे। उनका मन कहता था कि अपने पितामह, गुरु तथा सगे-सम्बन्धियों की हत्या करना पाप है तथा बुद्धि कहती थी कि उन्हें धर्म की स्थापना हेतु, बड़े उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अन्यायपूर्ण ढंग से हड़पे गये उनके अधिकार को छीनने वालों के विरुद्ध क्षात्र-धर्म के पालन हेतु युद्ध करना चाहिये। इसी अन्तर्द्वन्द्व को मिटाने तथा उन्हें उनके कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ करने हेतु भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया। इस उपदेश के फलस्वरूप जो अर्जुन युद्ध लड़ने से इनकार कर चुके थे तथा अपना गाण्डीव फेंक चुके थे- वही अन्त में कहते हैं कि-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। (गीता 18/73)

हे अच्युत! आपके कृपा-प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अब मैं संशयरहित हो गया हूँ और मैं आपके वचन का पालन करूँगा।

शास्त्र कहते हैं कि चूँकि मन से श्रेष्ठ बुद्धि है अतः अन्तर्द्वन्द्व होने पर बुद्धि की बात माननी चाहिये। इस बात की महत्ता कठोपनिषद् निम्न शब्दों में व्यक्त करता है-

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।। (कठोपनिषद्1/3/9)

जो मनुष्य बुद्धिरूप सारथि से सम्पन्न हो-जिसकी बुद्धि विवेकशील हो तथा जिसका मन इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता हो, वह मनुष्य मार्ग को पार कर लेता है और परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

मेरा मन भी स्त्री-बच्चों के प्रेम-स्नेह के पाश में बँधकर, घर पर रहकर इण्टर कॉलेज की नौकरी करते हुए जीवनयापन करने हेतु कह रहा था तथा दूसरी ओर बुद्धि कहती थी कि मेरी योग्यता के अनुसार जैसी मुझसे मित्रों तथा समाज की अपेक्षा है, उसे पूरा करूँ। मन में यह भी भय दृढ़ था कि माता जी से पत्नी का सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण नहीं रहेगा। पिता जी की भी लाचारी है। अतः घर में तनावपूर्ण वातावरण बना रहेगा। इसी प्रकार की मानसिक स्थिति में दिसम्बर के अन्त में रानीपुर में पढ़ाने का निश्चय किया परन्तु यह कार्यक्रम अधिक दिन न चल सका। वेतन की चिन्ता छोड़कर मैं 25 जनवरी को कलकत्ता चला गया। वहाँ छब्बीस जनवरी 1964 को गाँव के ही मेरे बचपन के सहपाठी विश्वनाथ सिंह, जो रेलवे में चालक के पद से अवकाश प्राप्त कर वर्तमान में मुगलसराय, चन्दौली जनपद में रहते हैं, के छोटे भाई हरिनाथ सिंह जो उस समय लाजपत हिन्दी हायर सेकेण्डरी स्कूल, खिदिरपुर में अध्यापक थे, से मिलने उनके स्कूल में पहुँचा। उन्होंने मेरा परिचय विस्तार से स्कूल के प्रधानाचार्य श्री रामयश सिंह तथा साथ ही बैठे प्रबन्धक महोदय से कराया। उनके यहाँ गणित-प्रवक्ता का स्थान उस समय रिक्त था। उन्होंने मेरी योग्यता का आदर कर ग्रेड में विशेष बढ़ोत्तरी कर उसी समय नियुक्ति पत्र देने का प्रस्ताव किया। मैंने भी यह सोचकर स्वीकार कर लिया कि कुछ दिन रहकर पूर्व कर्ज से मुक्ति पा जाऊँ तथा कुछ पैसा एकत्र कर इलाहाबाद प्रतियोगिता हेतु चला जाऊँ।

कलकत्ता प्रवास, जीविका प्राप्ति के सम्बन्ध में -

कलकत्ता में 'लाजपत हिन्दी हायर सेकेन्डरी स्कूल', खिदिरपुर, जिसमें मेरी नियुक्ति हुई थी, में अध्यापकों के बीच प्रेमपूर्ण वातावरण था। विद्यालय में ही पाँच-छः अध्यापकों का मेस चलता था। मैं भी उसी में खाने लगा। चूँकि वे मांसाहारी थे, अतः हफ्ते में दो-तीन दिन रसनेन्द्रिय की तृप्ति करना उनके लिये सुखकर था। मेरे लिये यह अनुकूल नहीं था, क्योंकि इसके पूर्व मैंने कभी इस तरह का भोजन किया नहीं था। मेरे घर में प्याज-लहसुन से भी परहेज था। धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक क्षुधा-तृप्ति को ध्यान में रखकर खाने लगा और फिर आदत बन गयी। यद्यपि उसके प्रति आकर्षण कभी नहीं हुआ। ट्यूशन पढ़ने वालों की भीड़ थी। अतः घर पर ही अच्छी व्यवस्था कर ली। पाँच कमरों का किराये का मकान लिया। दो-तीन माह बाद ही पिता जी ने कहा कि परिवार अपने साथ रखो। अतः पत्नी को ले आया तथा प्रथम पुत्र पंकज को पढ़ने हेतु नाम लिखा दिया।

एक दिन कलकत्ता के प्रसिद्ध ग्रैण्ड होटल में गाँव के मूल निवासी, चाय के बहुत बड़े निर्यातकर्ता तथा मेरे पिता के घनिष्ठ मित्र श्री सरयू प्रसाद सिंह ने मुझे बुलाया तथा उनके घर के पारस सिंह के विवाहोपरान्त 'कलकत्ता-पंजाब क्लब' में होने वाली पार्टी में भाग लेने हेतु कहा। निर्धारित तिथि को मैं शामिल हुआ। उसमें बहुत से लक्ष्मीवान्, समाज के प्रभावशाली, बड़े व्यापारी तथा उच्चाधिकारी भाग लिये थे। इस तरह की पार्टी का मेरा प्रथम अनुभव था। वहाँ अनेक तरह के मांसाहारी व्यंजन परोसे जाने लगे तथा उसके साथ विभिन्न प्रकार की शराब। मैंने बिना कुछ खाये शराब की एक घूँट पी। उसका स्वाद मुझे इतना खराब लगा कि गिलास हाथ से गिर गयी। वहाँ की हालत देखकर सिंह साहब मेरे पास आये, बात की तथा वेटर्स को फलों का जूस देने हेतु निर्देश दिया। मैं पार्टी में तब तक बैठा रहा जब तक खाना नहीं मिला तथा लोगों के हाव-भाव, उनकी बातचीत, उनके प्रसन्न होने के तरीके तथा अन्त में उनके लड़खड़ाते पैर और लड़खड़ाती जुबान तथा खाने के पूर्व ही कुछ लोगों को उठाकर ले जाने की स्थिति देखता रहा। अन्त में खाना खाकर घर चला आया।

उच्चवर्ग में शराब पीने की आदत का मुख्य कारण झूठी शान दिखाना, कुसंगति, घनिष्ठता बढ़ाने का एक माध्यम समझना, मित्रों के साथ मौज-मस्ती, साथियों द्वारा मद्यपान हेतु प्रेरित किया जाना, चिन्ता-तनाव-कुण्ठा-एकाकीपन दूर करने का उपाय समझना आदि है। एक बार किसी कारण जब आदत पड़ जाती है तब पीने की मात्रा अधिक होती जाती है, अन्तराल कम होता जाता है तथा इसके बाद व्यक्ति चाहकर भी छोड़ नही पाता। यह आती है प्याले में, परन्तु जब अपना स्थान बोतल में बना लेती है तो व्यक्ति को प्रेयसी की भाँति अपने पाश में बाँध लेती है। जीवन में प्रवेश करने पर यह सम्बन्धों पर कुठाराघात कर देती है। व्यक्ति सम्बन्धों की शुचिता को कायम नहीं रख पाता। मानसिक विक्षिप्तता तो आ ही जाती है। आर्थिक रूप से जर्जर कर देती है। अपने शास्त्र विहित कर्म, कर्त्तव्यों का पालन व्यक्ति नहीं कर पाता। व्यावहारिक जीवन दुःखी हो जाता है। परिवार में पत्नी तथा बच्चों का भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अनेक तरह की व्याधियाँ जन्म लेती है। प्रतिरोधक क्षमता धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है, मानसिक दुर्बलता, स्मृतिनाश होता है। परिवार में कलह आम बात हो जाती है, पैसे की बर्बादी के कारण जमीन-मकान-सम्पत्ति बिक जाते हैं, कभी-कभी व्यक्ति दिवालिया हो जाता है। समाज में प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है, नशे की अवस्था में गाड़ी चलाने से दुर्घटनाएं होती है, मन की शान्ति समाप्त हो जाती है। इस नशे की कमजोरी के कारण व्यक्ति को अनेक न करने योग्य समझौते करने पड़ते हैं। कभी-कभी माता-पिता से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।

एक बड़े उद्देश्य से, अमृत प्राप्ति को लेकर विरोधी शक्तियाँ देव तथा असुर समुद्रमन्थन किये। फलस्वरूप दोनों को अमृत मिलना चाहिये था परन्तु अमृत प्राप्ति के पूर्व वारुणी (शराब) निकली जिसे देवताओं ने ग्रहण नहीं किया परन्तु असुरों ने खूब छक कर पिया, जिससे वे अर्धविक्षिप्त हो गये। वे शरीर से लड़खड़ाने लगे, मन में पूर्ण चेतना नहीं रही। असुरों द्वारा अमृत प्राप्ति न होने का प्रमुख कारण वारुणी सेवन था। भगवान् के मोहिनी रूप को देखकर वारुणी के नशे में वे सब कुछ भूल गये। भगवान् द्वारा देवताओं को अमृत पिलाने को भी राहु के अतिरिक्त अन्य कोई समझ न सका। चूँकि राहु सूर्य (बुद्धि के देवता) तथा चन्द्र (मन के देवता) के बीच में बैठा था इसलिये वह विक्षिप्त नहीं हुआ, जिससे

असलियत को प्रकट कर सका। भगवान् द्वारा प्रहार के कारण राहु-केतु के रूप में उसके दो भाग हो गये।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो अत्यधिक मात्रा में सेवन करने पर, अल्कोहल की मात्रा 0.3 प्रतिशत से अधिक होने पर पीने वाले की वाणी, गति, चिन्तन में लड़खड़ाहट, 0.5 प्रतिशत होने पर शारीरिक तथा स्नायु-सम्बन्धी सन्तुलन का विगड़ना तथा बेहोशी की स्थिति तक पहुँचना, सिर दर्द, चक्कर का होना आदि होता है। यह अवसाद की स्थिति में ले जाने का भी एक कारण है।

बहुत से राज्य आय-प्राप्ति के लोभ के कारण इस पर नियन्त्रण नहीं कर पा रहे, जो राज्यों के पतनोन्मुख होने का प्रमुख कारण है। जितनी इससे आय हो रही है उससे कहीं अधिक इसके कारण होने वाली कैंसर जैसी बीमारियों के उपचार पर खर्च हो रहा है। भगवान् बुद्ध की उक्ति है -

'जिस राज्य में सुरा देवी आदर प्राप्त करेगी, वह राज्य कालवेदी पर नष्ट हो जायेगा।'

बाइबिल में कहा गया है-' तू यह जान ले कि मद्यपान नहीं करेगा, तो इस प्रकार परम पिता परमात्मा के गुणों को अपने में अवतरित करेगा।'

हजरत मुहम्मद साहव ने कहा है- 'अल्लाह ने लानत फरमाई है शराव पर, पीने और पिलाने वाले पर, बेचने और खरीदने वाले पर और किसी प्रकार सहयोग देने वाले पर'।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के इस सम्बन्ध में विचार हैं- 'यदि मुझे एक घण्टे के लिये भारत का डिक्टेटर बना दिया जाय तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराब की दूकानों को बिना मुआवजा दिये वन्द करा दिया जाये।'

सन् 1965 के मई-जून तक, मैंने अपने मित्र रामप्रताप मिश्र को सामग्री के रूप में इतना दे दिया था कि मुझे सन्तुष्टि मिल गयी थी। यद्यपि उनके तथा उनके परिवार हेतु मैं अब भी देता हुआ अपने को ऋणी मानता हूँ; क्योंकि जिस समय उन्होंने मदद की, उसे भूल कर मैं कृतघ्नी ही रहूँगा। इतना पैसा भी अपने पास हो गया था, जिससे इलाहाबाद रहकर प्रतियोगिताओं में भाग ले सकूँ। अतः विद्यालय से एक वर्ष की छुट्टी लेकर, अपने स्थान पर इलाहाबाद में मेरे साथ एम0ए0 करने वाले मनियर, बलिया के निवासी श्री हरेराम सिंह की एक वर्ष नियुक्ति कराकर, सामान सहित अपना घर उन्हें तथा हरिनाथ सिंह को सौंपकर जून में परिवार लेकर घर गया।

अकल्पित घटना के रूप में मर्मवेधी पुत्र-शोक तथा उदय प्रताप कालेज, वाराणसी में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति से प्रसन्नता का अनुभव।

जुलाई 1965 में इलाहाबाद आकर अपने पुराने छात्रावास में रहने की व्यवस्था की तथा रहने हेतु 'ला' विधि कक्षा में प्रवेश लिया। प्रतियोगिताओं को उद्‌देश्य में रखकर पूरे मन से पढ़ाई प्रारम्भ की। भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा प्रान्तीय सेवा हेतु इलाहाबाद विश्वविद्यालय में माहौल बहुत अच्छा था। परन्तु हम प्रायः भूल जाते हैं कि किसी कार्य के सफल होने में हमारी भागीदारी पाँच कारणों में अधिकतम चार- अधिष्ठान (शरीर), करण (इन्द्रियाँ), संकल्प तथा प्रयत्न में ही हो सकती है। पाँचवा प्रमुख कारण दैव-देवताओं की कृपा पर हमारा

अधिकार नहीं। संसार के रंगमंच पर ईश्वर द्वारा निर्धारित कार्य को करने हेतु हम बाध्य हैं। यह बात श्रीमद्भागवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा अर्जुन के माध्यम से व्यक्त की गयी है-

'मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।' (गीता 11/34)

ये सब शूरवीर मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए है। सव्यसाचिन् (अर्जुन)! तू केवल निमित्त मात्र बन।

एक माह से कम समय ही बीता था कि मेरा प्रारब्ध फलित हुआ। बड़े पुत्र पंकज को, जब वह गर्मी के कारण अपने पट्टीदार के दरवाजे पर सो रहा था, बहुत तेज बुखार हुआ तथा कुछ ही घण्टे में वह कालकवलित हो गया। यह आघात उसकी माँ के लिये हृदय विदारक था ही, मैं भी सहन करने में असमर्थ था। सोच नहीं पाता था कि क्या करूँ। ऐसी परिस्थिति में प्रतियोगिता में भाग लेना, इलाहाबाद में रहना मेरे लिये अत्यन्त कठिन था। इसी बीच उदय प्रताप कालेज, वाराणसी में प्रवक्ता पद हेतु विज्ञापन निकला। मैंने भी तदनुसार फार्म भरकर भेज दिया। इसके पूर्व मैंने कालेज देखा नहीं था। साक्षात्कार करीब होने पर मैं एक दिन गाजीपुर में रह रहे श्री रामकेर सिंह (मूल निवासी कैथी, वाराणसी) के पास गया। वे बोर्ड आफ रेवेन्यू इलाहाबाद में न्यायाधीश के पद से अवकाश ग्रहण किये थे। उन्होंने मेरी प्रार्थना पर डा0 राजनाथ सिंह, तत्कालीन प्राचार्य को एक पत्र लिख तो दिया, परन्तु मैं पत्र पढ़कर पश्चात्ताप करने लगा। उन्होंने लिखा था-'यदि इससे योग्य कोई न मिले तो इसे रख लिया जाय'। वे बहुत ईमानदार-कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। जब वे अवकाश ग्रहण करने वाले थे, तो मेरे पिता जी ने एक केस के सम्बन्ध में उनसे सिफारिश की थी। जिस दिन उस केस की तारीख थी, उस दिन उन्होंने छुट्टी ले ली थी। इस केस को मैं जानता था, फिर भी स्वार्थ ने मुझे प्रेरित कर उनके पास भेजा। स्वार्थ-भाव हटाकर, शान्त चित्त से सोचने पर ऐसे लोगों के प्रति श्रद्धा बहुत बढ़ जाती है।

साक्षात्कार के समय सभी प्रतियोगियों से श्री परमानन्द सिंह, जो बाद में प्रधानाचार्य उदय प्रताप इण्टर कालेज हुए, ने बात की तथा मुझसे प्रभावित होकर जोर-जोर से कहने लगे कि नियुक्ति इसी की होगी, यद्यपि इण्टर कालेज के तत्कालीन अध्यापक भी मेरे साथ प्रतियोगी थे। अन्ततः ग्यारह अक्टूबर 1965 को मैंने प्रवक्ता पद पर कार्यभार ग्रहण कर लिया।

सेवाकार्य में उत्तरदायित्व का यथोचित निर्वाह -

कॉलेज में अपने पूरे सेवाकाल में मैंने लाभ का पद कभी स्वीकार नहीं किया, परन्तु निःस्वार्थ सेवा का अवसर पाकर प्रसन्नता का अनुभव करता तथा पूरी ईमानदारी, सतर्कता से कार्य करने में आनन्द का अनुभव करता था। सन् 1992 में गणित-विभागाध्यक्ष का कार्य सँभालने का मौका मिला। किसी के द्वारा कार्य के प्रति लापरवाही करने पर लिखित स्पष्टीकरण माँगना, प्राचार्य को रिपोर्ट करना, विद्यार्थियों के प्रवेश नियमावली का कड़ाई से पालन करना स्वभाव में था। सन् 2000 के अन्त में मुझे विज्ञान-संकायाध्यक्ष पद की जिम्मेदारी निभाने का अवसर मिला। पद ग्रहण के बाद पूर्व संकायाध्यक्षों की एक मीटिंग मैंने बुलाई तथा उनके अनुभवों के आधार पर आगे की कार्यवाही की रूपरेखा तैयार की। सेवा

से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व तक संकाय के विभागों के स्तरोन्नयन हेतु मैंने ईमानदारी से अपेक्षित कर्त्तव्य का पालन किया।

सहयोगी अन्य कार्य –

उदय प्रताप कालेज में नियुक्ति के बाद श्री परमानन्द सिंह ने मुझसे अपनी पुत्री शशि के विवाह के बारे में बात की। मैंने उसके विवाह करने में मदद की। इस उपलक्ष्य में उन्होंने मेरे नाम जमीन, जिस पर मेरा मकान है, की रजिस्ट्री मेरी नियुक्ति के एक माह के अन्दर उधार करा दी। बाद में पिता जी ने दो हजार पाँच सौ रुपये दिये। यह पैसा तीन हजार छः सौ रुपये जमीन विक्री से प्राप्त पैसे में से मेरे आग्रह पर मिला था।

सन् 1966 के प्रारम्भ में कॉलेज के पास किराये का मकान लेकर परिवार ले आया। चूँकि कलकत्ता में मेरी आय कालेज के वेतन (दो सौ चालिस रुपया प्रतिमाह) से बहुत अधिक थी, अतः अपनी आय बढ़ाने हेतु मैंने जन्मभूमि पर कुछ दूकानें बनवाकर किराये पर दी। साथ ही गोरखपुर से ट्रक में भूसा (पशुओं का चारा) मँगाकर बेचने का कार्य किया। सन् 1966 के अन्तिम महीनों में मैंने घर पर अपने मित्र राम प्रताप मिश्र से दश हजार रुपया उधार लेकर एक कमरा बनवाया तथा तेल पेरने की मशीन लगाकर, दो व्यक्तियों को चलाने का जिम्मा सौंपा। देख-रेख मैं करता रहा। इससे आय ठीक हुई तथा कर्ज देकर भी परिवार ठीक से चलने लगा।

इसी समय पिता जी ने गाँव पर एक हजार छः सौ रुपये की जमीन बेचकर अस्सी नदी के किनारे डेढ़ विस्वा जमीन जगन्नाथ मन्दिर, अस्सी के पुजारी चन्द्रशेखर जी के कहने पर लिया। यह जमीन वर्ष में कई माह पानी में डूबी रहती थी तथा आवास हेतु उपयुक्त नहीं थी, परन्तु उन्होंने मुझसे कहा कि यह जमीन 'केदार खण्ड' के क्षेत्र में आती है, जो शास्त्रों के अनुसार 'मोक्षदायक' है। अतः मृत्यु-काल में मैं यहीं तुम्हारे साथ रहूँगा। बाद में उनका विचार बदल गया।

सन् 1965-66 में जो आटा-तेल आदि का व्यापार मैंने प्रारम्भ किया था वह बहुत सन्तोषजनक ढंग से चल रहा था। सन् 1970 में द्वितीय पुत्रके पैदा हो जाने के कारण पिता जी का पुत्रमोह बढ़ता जा रहा था। विमाता के स्वभाव में घमण्ड, बात में तीखापन आना स्वाभाविक था। सन् 1971 के प्रारम्भ में पिता जी ने मुझसे कहा कि तुम मेरे पुत्र हो। मेरे लिये पाकेट खर्च की व्यवस्था करो। मैंने कहा कि बाजार में जो दूकानें बनी हैं उसका कियाया आप ले लिया करें, आज से मैं छोड़ रहा हूँ। उन्होंने कहा कि नहीं, वह नहीं लूँगा। जो मशीनें तुमने लगाई हैं, जो व्यापार चल रहा है उसकी आय मुझे छोड़ दो। मशीन तथा व्यापार को करने वाले किशोरी तथा रामानन्द सम्पूर्ण आय मुझे दिया करेंगे। बिना कुछ सोचे मैंने कहा कि आज से सबके मालिक आप। किशोरी-रामानन्द को बुलाकर मैंने सब बातें बता दीं। इसके बाद मेरा सम्बन्ध उस व्यापार से टूट गया। यह व्यापार उतार-चढ़ाव के साथ पच्चीस वर्ष के करीब चला परन्तु मैंने कभी दखल नहीं दिया और न उसके बारे में पिता जी से पूछा ही।

दिसम्बर 1975 में बिना नक्शा पास हुए बने मकानों पर विधिक कार्यवाही होने लगी। एक इंसपेक्टर ने सुविधा शुल्क की माँग की जिसे मैंने सिद्धान्ततः इनकार कर दिया। उन्होंने रिपोर्ट लगा दी तथा मेरा मकान भी गिरने वाले मकानों की श्रेणी में आ गया। उस समय एक बहुत ईमानदार नगर निगम के इंजीनियर मेहता साहब (पूरा नाम याद नहीं) डी.आई. जी. कालोनी के सरकारी आवास में रहते थे। उनकी ईमानदारी से प्रभावित होकर मैं कभी-कभी उनसे मिलने जाता था। उनसे पूरी स्थिति बताई। वे रात में मेरे आवास पर आये, देखा तथा ईमानदारी से मदद की। निर्धारित दर से तावान लगवाकर उन्होंने नक्शा पास करवा दिया।

बी.एस-सी. कक्षाओ में Modern Algebra (आधुनिक बीजगणित) का पाठ्यक्रम प्रथम बार लागू होने पर विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर Elements of Alegbra नामक किताब लिखी गयी, जो सिंहेल पब्लिकेशन्स द्वारा सन् 1983 में प्रकाशित हुई।

Topics in Algebra and Trigonometry नाम से आधुनिक बीजगणित के विषयों पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए एक पुस्तक सन् 1987 में रजंन प्रकाशन, जौनपुर द्वारा प्रकाशित हुई। इसमें डॉ0 कन्हैया सिंह, रीडर, तिलकधारी कालेज जौनपुर, सहलेखक थे।

बी.एस-सी. कक्षाओं हेतु एक Calculus चलन-कलन की किताब लिखी गई, जिसे शालिनी प्रकाशन मेरठ ने सन् 1989 में छापी थी।

बी.एस-सी. के छात्रो हेतु सम्पूर्ण पाठ्य क्रम के अनुसार Algebra and Trigonometry बीजगणित तथा त्रिकोणमिति लिखी गई, जिसे सन् 1993 में शालिनी प्रकाशन मेरठ ने छापा था।

अन्याय को सहन न कर पाने की मानसिकता के कारण एक अवसर पर वीरता का प्रदर्शन

जून 1968 में मैंने गाँव के बाजार में एक छोटी जमीन पर हाता बनवाने के उद्देश्य से कुछ ईंट गिरवाई। उस जमीन को प्रभुटण्डा मौजा के जगतनारायन सिंह, जो उस समय सरकारी अमीन (मालगुजारी वसूल करने वाले) थे, के पूर्वजों ने मेरे पितामह को दे दिया था। मेरे कब्जे में ही वह चली आ रही थी। इसके पूर्व उन्होंने कभी अपना हक नहीं बताया था। उन्होंने अपनी ताकत का प्रदर्शन करते हुए काम रोक दिया। मैंने स्वीकार किया तथा आगामी दशहरे की छुट्टियों में बनवाने का समय निर्धारित कर उनसे कहा कि अपनी पूरी सामर्थ्य से आकर निर्धारित तिथि को रोकियेगा।

पिता जी की मर्यादा, समाज के हर-तरह के लोगों से उनके सम्बन्ध का लाभ लेकर, अपने परिश्रम-पैसे के बल पर लगभग तीन सौ व्यक्तियों को एकत्रित किया। मेरे ऊपर प्राणघाती हमला जगतनरायन सिंह के पुत्र द्वारा किया गया। मेरी तरफ से लोगों ने भीषण प्रतिवाद किया। किसी तरह मैं प्रार्थना कर, गोली चलने तथा कई लोगों के मरने-मारने को रोक पाया। मेरे पट्टीदार बाबू रामसुमेर सिंह, जो मेरे पितामह के साथ हमेशा सेवा में रहते थे तथा जिन्होंने उनके शरीर छोड़ने के समय भी उनकी सेवा की थी, को उक्त जमीन के बारे में निर्णय करने हेतु जगतनारायन सिंह ने कहा। मैं नहीं जानता था कि उनसे गत रात

में कुछ बात हो गयी है। वैसे भी वे परिवार के इतने करीबी थे कि उनकी बात का इन्कार नहीं किया जा सकता था। उनके कई बहादुर भतीजे मेरी तरफ से जान देने हेतु उतारू थे। उनके बड़े भतीजे रामचन्दर सिंह ने ही थोड़ी देर पूर्व मेरी जान बचाई थी। फैसले में एक कोठरी की जमीन उन्होंने जगतनारायन सिंह को दे दी। शेष पर मैंने ऊँची चहारदीवारी बनाकर गेट लगवाया। यद्यपि बाद में कूटनीतिक चाल चलकर, जगतनरायन सिंह द्वारा बनवाई गयी कोठरी को, मैंने रामसुमेर सिंह के भतीजों द्वारा ही उनके स्वयं के पक्ष में कब्जा करवा दिया तथा कोठरी की लागत दो हजार सात सौ रुपये उनके द्वारा जगतनरायन सिंह को दिलवा दिया। उक्त हाते में मैंने कोयले की दूकान खुलवा दी तथा दूसरे के जिम्मे कर दिया। इसे वीरता का प्रदर्शन न कह कर, इसका कारण अहङ्कार को भी माना जा सकता हैं।

वास्तव में देखें तो हमारे दुःखों का मूल कारण अहङ्कार है। जब हम सुषुप्त्यावस्था में होते हैं, तो मन आत्मतत्त्व में विलीन रहता है। मन नहीं रहता, तो संसार भी हमारे लिये नहीं रहता। मन आत्मस्वरूप में रहने वाली एक अद्‌भुत शक्ति है। आत्मस्वरूप से मन के बाहर निकलने पर ही जगत् की प्रतीति होती है। आत्मा और जगत् एक साथ नहीं दिखाई दे सकते। मन ही सूक्ष्मशरीर, जीव, अहंवृत्ति कहलाता है। जागृतावस्था में आते ही व्यवहार के लिये, इसके प्रमाणस्वरूप बीच में एक अन्य का उदय हो जाता है, सत् का तो जन्म होता नहीं और देह तो जड है, कुछ करता नही। बीच में पैदा होने वाले इसी 'अन्य' को अहंकृति, ग्रन्थि, विवन्ध, सूक्ष्मशरीर, चेत या जीव कहते है। इस बात को महर्षि रमण, जिनकी साधना में समस्त साधनाओं का समन्वय है, ने इस प्रकार कहा है-

देहो न जानाति सतो न जन्म,
देह-प्रमाणोऽन्य उदेति मध्ये।
अहंकृतिग्रन्थि विवन्ध-सूक्ष्म,
शरीर-चेतो भव जीवनामा।।

अध्यापन : अपने को आदर्श अध्यापक बनाने हेतु प्रयास

सन् 1967 तक गणित की अन्य शाखाओं, चलन-कलन (कैलकुलस) तथा गति-विज्ञान (डायनामिक्स) को गहराई से समझने तथा उन्हें रोचक ढङ्ग से पढ़ाने के ढङ्ग सीखने के साथ आधुनिक बीजगणित पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। कक्षा में विद्यार्थियों के प्रश्न पूछने हेतु उत्साहित करने तथा उन्हें संतुष्ट करने में आनन्द लेने लगा। एक बात और- प्रायः कक्षा में विद्यार्थियों के व्यावहारिक जीवन से जुड़ी (एक-दो मिनट में) ऐसी बात बताने की कोशिश करता, जिससे वे अपने जीवन को सँवार सकें। सफल एवं सुखी जीवन जी सकें। बतायी गयी बातों में कुछ निम्न हैं।

कक्षा के सभी विद्यार्थियों से सद्‌व्यवहार, प्रेम-पूर्ण बात चीत करना, परन्तु मित्र बहुत सोच समझकर, परखकर ही बनाना। प्रायः गलत साथ के होने के कारण नशे की आदत हो जाती है, जो बाद में दुःखदायी हो जाती है। अतः सतर्क रहना। हमेशा ध्यान रखना कि तुम्हारे किसी वाणी, व्यवहार से माता-पिता को कष्ट न हो जाय, अपने जीवन में उनके द्वारा किये गये त्याग को कभी न भूलना। जीवन में किसी उच्चकोटि के व्यक्ति को अपना आदर्श बना लेना तथा उसके गुणों को धारण करने का सतत प्रयास करना। दूसरों से श्रेष्ठ बनने का,

आगे निकलने हेतु प्रयास तो करना, परन्तु ईर्ष्याभाव, द्वेष आदि से मुक्त होकर। रात में सोने से पूर्व अपने द्वारा किये गये कार्यों पर एक दृष्टि डालना। जिससे तुम कुछ सीखना चाहते हो, उसे अपनी मीठी वाणी, विनम्रता के भाव, सेवाभाव से प्रसन्न करने का प्रयत्न करना ताकि वह तुम पर प्रसन्न हो जाय और उसे तुमको ज्ञान देने का मन कर जाय।

गुरु से सीखने की शर्त है- तबतक प्रश्न पूछना, जबतक सन्तुष्टि न हो जाय। बार-बार प्रश्न पूछने के पूर्व सेवाभाव का होना तथा बाद में विनम्रता-कृतज्ञता का भाव रखना आवश्यक है। एक सन्त ने मरते समय अपने शिष्यों को अपने दाँत रहित मुँह को खोलकर दिखाया तथा कहा कि दाँत कड़े थे, उनमें अकड़पन था, इसलिये वे मुलायम तथा लचीली जिह्वा के बाद आये तथा पहले चले गये। जब तुम्हें किसी कारण किसी पर क्रोध आ जाय, तो अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के पूर्व थोड़ा समय दे दो।

गणित के विकास, फलतः विज्ञान के विकास में शून्य का बहुत महत्त्व है। इसके बिना आधुनिक गणित का विकास सम्भव नहीं था और यह भारत वर्ष की (भास्कराचार्य द्वारा) विश्व को देन है। भारत में लिपिक के पद पर कार्यरत महान् गणितज्ञ रामानुजम् के संख्या-सिद्धान्त के कुछ प्रश्नों से प्रभावित होकर कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर हार्डी को उन्हें इंग्लैण्ड बुलाने हेतु बाध्य किया तथा उनके असामयिक मृत्यु के समय तक उनसे जुड़े रहे। रामानुजम् के गणितीय उच्च स्तर तथा उनकी उपलब्धियों के बारे में कभी-कभी बता देना, लड़कियों को आत्मबल, साहस बढ़ाने तथा जीवन में संघर्ष करने हेतु गार्गी, मैत्रेयी, सावित्री आदि के उदाहरण दे देना, सङ्कल्पशक्ति, आत्मबल, एकाग्रता बढ़ाने के उपायों पर कभी-कभी चर्चा करना, मन तथा बुद्धि, प्रेय तथा श्रेय या भावनाओं तथा विचारों (विवेक) के चुनाव के अवसर पर बुद्धि को क्यों महत्त्व देना आदि, बतायी गयी कुछ बातें हैं। इनमें कुछ और हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है।

मनुष्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात, उसके उत्तम चरित्र से सम्बन्धित है। चरित्र निर्माण पर सभी धर्म जोर देते हैं। चरित्र निर्माण होता है भावनाओं, विचारों तथा तदनुसार कर्मों के करने से। जितना ही किसी व्यक्ति की भावनाएं उच्च स्तर की होंगी अर्थात् उसका हृदय पक्ष विकसित होगा तथा उसके विचार जितने उच्च स्तर के होंगे, उतने ही उच्च स्तर के कर्म उसके द्वारा सम्पन्न होंगे।

जाग्रत विद्यार्थी बनो। इन्द्रियों का उनके विषयों से संसर्ग होते समय जागरूक रहो। सोचो कि जो तुम देख रहे हो, सुन रहे हो, खा रहे हो, वह उचित है? तुम्हारे शरीर, मन, बुद्धि के विकास में सहायक होगा? वेद ज्ञान के भण्डार है। संसार का कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो वेदों में नहीं। संस्कृत भाषा में विद् धातु से वेद बनता है। 'विद्' का प्रयोग विद्यमान होने, जानने तथा लाभ के अर्थ में किया जाता है। इससे सृष्टिकर्ता के सदा अस्तित्व में रहने, ज्ञान तथा आनन्द-तत्त्व का बोध हो जाता है। अर्थात् वेद में सृष्टिकर्ता से सम्बन्धित सभी बातें हैं।

अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ रहते हुए भी 'श्रीमद्भगवद्गीता' का ज्ञान तब तक नहीं पा सके, जब तक उन्होंने यह नहीं कहा कि-

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता 2/7)

मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये। मैं आपकी शरण में हूँ। अर्थात् यदि तुम किसी से कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो नम्र बनो, उससे इस हेतु प्रार्थना करो।

भारत के भास्कराचार्य ने यदि शून्य की खोज न की होती तो आधुनिक बीजगणित (माडर्न अलजेब्रा), कम्प्यूटर के मूल और इस कारण कम्प्यूटर तथा अन्य बहुत सी विज्ञान की शाखाओं का विकास सम्भव नहीं हुआ होता।

परब्रह्म परमेश्वर को जानने हेतु जो शिक्षा मनुष्य को मुण्डकोपनिषद में दी गयी है, वह प्रत्येक विद्यार्थी पर, तुममें से प्रत्येक पर लागू है। वह शिक्षा है–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। (मुण्डक उपनि0 2/12)

जिज्ञासु को वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर अर्थात् श्रद्धापूर्वक ऐसे गुरु के पास जाना चाहिये, जो विषय को ठीक से जानते हों और परमात्मा में स्थित हों। अर्थात् विषय को पूर्णतया आत्मसात कर लिये हों।

दक्षिण भारत के कुम्भकोणम् में जन्मे'रामानुजम्' को संख्याओं का जितना अच्छा ज्ञान था उतना अच्छा ज्ञान आज तक किसी को नहीं हुआ। वे प्रत्येक संख्या को गुणों सहित जानते थे। उनकी अन्तिम बेला में उनसे मिलने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो0 हार्डी ने अपने टैक्सी का अङ्क 1729 बताया, तो उनका उत्तर था। मात्र यही एक ऐसा अङ्क है जिसे दो अंको के घन के जोड़ के रूप में दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$1729 = (12)^3 + (1)^3 = (10)^3 + (9)^3$$

आधुनिक बीजगणित का कोर्स धीरे-धीरे प्रतिवर्ष बढ़ता गया तथा प्रारम्भिक विषय इण्टरमीडिएट कक्षाओं में आ गये। बाद में इसे बी0एस-सी0 में पढ़ाना और जिम्मेदारी का काम होता गया, क्योंकि अधिकतर विद्यालयों में बीजगणित का वह भाग पढ़ाया ही नहीं जाता था। उन अध्यापकों के लिये नये सिरे से पढ़कर, समझकर पढ़ाना मेहनत का कार्य था। इसके बढ़ते महत्त्व ने मुझे इस विषय को और समझने तथा विद्यार्थियों की शङ्काओं का सम्यक् समाधान करने हेतु प्रेरित किया। बाद में बी0एस-सी का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो जाने पर तथा सन् 1970 में एम0एस-सी0 की कक्षाओं के प्रारम्भ हो जाने पर मैं सभी कुछ-ऐसे विषय पढ़ाने लगा, जिसमें मैंने कुछ भी अपने अध्ययन काल में नहीं पढ़ा था।

कर्त्तव्यनिष्ठा का स्वाभाविक रूप में निर्वाह

मोहग्रस्त अर्जुन के बहाने हम सबको कर्त्तव्य पालन के लिये ही भगवान् ने गीता का ज्ञान दिया। जब हम किंकर्तव्यविमूढ होते हैं, तो हमारी समस्या, हमारे व्यक्तित्व की समस्या, सामाजिक-शारीरिक-प्राणिक-बौद्धिक तथा मानसिक स्तर से उत्पन्न होती है। इसलिये हमारा कर्त्तव्य मानवीय समाज के प्रति है, अपने स्वयं के प्रति है, प्रकृति के प्रति है, प्राणी-मात्र के प्रति है तथा उस ईश्वर के प्रति है जिससे यह संसार उद्भूत है, जिसमें स्थित है तथा जिसमें इसका विलय होता है। स्वयं तथा परिवार के प्रति हमारा कर्त्तव्य तो है ही। जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, उस समाज के अनेक कर्ज हमारे ऊपर रहते हैं, क्योंकि किसी का अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं है। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम जो कर्म अपने स्वभाव के

अनुसार चुनें या किसी परिस्थितिवश हमें जो करने पड़ें, उन्हें हम ईमानदारी पूर्वक, पूरी निष्ठा से करें। कर्म को भगवान् की पूजा, मानव मात्र की सेवा समझ कर करें। यही हमारा धर्म है। यदि हम अपने कर्त्तव्य का पालन ईमानदारी से नहीं करते तो हमारे द्वारा किये जाने वाले कार्यो का कोई महत्त्व नहीं।

सन् 1966 के प्रारम्भ में कॉलेज के पास किराये का मकान लेकर परिवार ले आया। इस कार्य को करते हुए यह ध्यान अवश्य रहता था कि पढ़ाई के कार्य में किसी तरह की बाधा नहीं आनी चाहिये। पारिवारिक संस्कार, पूर्व जन्मों की वासनाओं तथा ईश्वर कृपा से कर्त्तव्यनिष्ठा मेरे अन्दर सदैव रही है, ऐसा मेरा दृढ़ विचार है। किसी कार्य को करने में पूरी शारीरिक शक्ति तथा सम्पूर्ण मन लगा देने पर ही सन्तोष होता है। पूर्ण सन्तुष्टि मुझे तभी मिलती है जब मैं पूरी तरह आश्वस्त हो जाता हूँ कि इससे अधिक या इससे अधिक अच्छे ढंग से, मैं इसे नहीं कर सकता था। उस समय बी0एस–सी0 प्रथम भाग के कोर्स में 'माडर्न अलजेब्रा'–आधुनिक बीजगणित का प्रारम्भ हुआ। संस्कार से प्राप्त कर्त्तव्यनिष्ठा, समय की पावन्दी तथा विषय का गहरे ज्ञान के साथ अच्छे अध्यापक हेतु एक ही बात शेष बचती है कि वह विषय को किस तरह विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करे। किस तरह नये–नये उदाहरणों की मदद से विषय को रोचक बना दे ताकि विद्यार्थी उसकी कक्षा में, उसके पढ़ाने के समय तथा उसके द्वारा दिये गये ज्ञान के प्रति उत्सुक रहें, अध्यापक के प्रति उसके हृदय में कृतज्ञता का भाव पैदा हो जाय। ऐसी स्थिति में अध्यापक को पढ़ाने में इतना आनन्द आता है कि वह भी पढ़ाने के समय की प्रतीक्षा करता है। उसके पढ़ाये हुए विद्यार्थी ऐसे अध्यापक को कभी नहीं भूलते तथा दीर्घ अन्तराल के बाद कभी मिलने पर चाहे वे जिस उच्च स्तर पर हों, श्रद्धा से स्वभावतः झुक जाते हैं, पैर–स्पर्श करते हैं। इसके विपरीत जो अध्यापक, विषय–ज्ञान की कमी के कारण, मेहनत करके अपेक्षित ज्ञान अर्जित न करने के कारण या विषय को ठीक से प्रस्तुत न करने के कारण अच्छे, आदर्श, श्रद्धेय अध्यापक नहीं बन पाते–उनके लिये अध्यापन कार्य भार हो जाता है। वे किसी तरह समय बिताते हैं। उन्हें देखकर विद्यार्थी मुँह फेर लेते हैं।

किसी का भौतिक शरीर माता–पिता की देन होता है। शास्त्र के अनुसार बीज का महत्त्व अधिक होता है। यद्यपि पृथ्वी में खाद्य पदार्थ पैदा होते हैं, परन्तु यदि बीज ठीक न हो तो पृथ्वी कुछ नहीं कर सकती। परन्तु माता बहुत दिनों तक बीज को धारण करती है, उसका सम्बर्धन करती है, उसकी हर प्रकार से रक्षा करती है। उसके लिये अनेक कष्ट उठाती है, अतः शास्त्रों ने 'मातृदेवो भव' के बाद 'पितृदेवो भव' की आज्ञा दी है। जिसके कारण कोई व्यक्ति संसार में आया, जिसके लिये माता ने अनेक कष्ट सहे, रात–रात भर जागती रही, ठीक से सो नहीं पाई, जिसकी गन्दगी को उसने गन्दगी नहीं माना तथा पिता ने उसके पालन करने में अनेक कठिनाइयाँ सहीं, उसको योग्य मानव बनाने हेतु अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ भी करने हेतु तत्पर रहा, उसके अनेक गलत कार्यों को उसने क्षमा किया– वह (ऐसा व्यक्ति) यदि माता–पिता को भूल जाय, अपने व्यवहार, अपनी वाणी से उन्हें कष्ट पहुँचावे, उनकी अन्तिम अवस्था में, उनकी रुग्णावस्था में, उनको छोड़ दे, तो वह मनुष्य कहलाने लायक नहीं। यदि मनुष्य अपने कर्त्तव्य, धर्म का पालन नहीं करता तो उसका जीवन पशुवत् है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वचन है–

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

सन् 1971 के मई-जून माह में पिता जी ने मेरे मामा श्री रमाशंकर सिंह, जिन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरा दाखिला कराकर कई माह तक खर्च दिया था, को बुलाया तथा उनके सामने कहा कि मेरे ऊपर लगभग पाँच हजार रूपये का कर्ज है। मुझे इसके कारण नींद नहीं आती। चाहे जैसे हो इसे देने का प्रबन्ध करो। साथ ही उन्होंने कहा कि खेती-बारी तुम कराओ। घर के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करो। मुझसे कोई मतलब नहीं रहेगा। मैंने पूरे जीवन कभी उनकी किसी बात का निरादर नहीं किया। कभी उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। कभी कड़े शब्दों में उत्तर नहीं दिया। उनकी इस इच्छा की पूर्ति तथा उन्हें कर्ज की चिन्ता से मुक्त करने के उद्देश्य से गाँव के श्री मंगला सिंह, जो उस समय गोदौलिया गिरजाघर चौराहे पर कपड़े की दूकान कर रहे थे (वर्तमान में उनके लड़के अरविन्द उस दूकान में बिजली की दूकान कर रहे हैं) से दस हजार रूपये उधार लिये। पिता जी को कर्जमुक्त किया तथा घर की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ लागत लगाकर अच्छे ढंग से धान की खेती की। सोचा कि इस फसल से कर्ज चुका दूँगा। फसल बहुत अच्छी हुई थी। नवम्बर 1971 में पिता जी ने मुझे बुलाकर कहा कि जब तक मैं जिन्दा हूँ तब तक तुम मालिक कैसे रहोगे? अतः तुमसे खेती से कोई सरोकार नहीं है। मैं फसल कटवाऊँगा। मैंने इतना ही कहा 'ठीक है'।

उस समय वेतन बहुत कम था। चार बच्चों के साथ परिवार के पालन की जिम्मेदारी थी। व्यापार की आय थोड़े ही दिन पूर्व मैंने उन्हें सौंप दी थी। किसी को वचन देकर बदल जाना मेरे संस्कार में नहीं था। अपने पितामह श्रद्धेय हरिदत्त सिंह की अमिट छाप मेरे ऊपर थी। संस्कार भी उन्हीं से मिले थे। ऐसी परिस्थिति में कर्ज कैसे चुकाऊँगा? यह चिन्ता सताने लगी। पत्नी भी चिन्तित रहती थीं। पत्नी ने कहा कि पिता जी आपसे नाराज हैं। मुझे बच्चों को लेकर पिता जी के पास जाने दीजिये। मैं चार-पाँच दिन रहकर उनकी सेवा करूँगी। माता जी को भी सेवा से प्रसन्न करूँगी। तब अपनी आर्थिक कठिनाई उन्हें बताकर उनसे खाने का राशन तथा आर्थिक सहायता माँगूगी। आर्थिक दबाव के कारण मैंने उन्हें भेज दिया। उन्होंने वैसा ही किया। आने के दिन उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति बताकर राशन माँगा। पिता जी बहुत नाराज हो गये तथा उनके द्वारा कटुवचन सुनकर वे वापस आ गयीं। अब तो कहीं आशा नहीं बची थी। चिन्ताग्रस्त रहते हुये चार-पाँच माह का समय बीता।

इसके बाद बच्चों की शिक्षा पर ध्यान रखते हुए यथाशक्ति ईमानदारी से पूरे मन से अपने निर्धारित कर्तव्य को पूरा करने में लगा रहा। इस बात का मुझे बहुत सन्तोष रहता है कि कोई भी काम, घर-गृहस्थी सम्बन्धी, मकान बनाने सम्बन्धी या आय बढ़ाने हेतु कोई अन्य कार्य मैंने कभी अपने मूल दायित्व (कर्तव्य) पढ़ाने में कमी करके नहीं किया है। हाँ, इस कारण मेहनत दस-बारह घण्टे करनी पड़ती थी।

पैतृक सम्पत्ति तथा पिता की प्रतिकूल गतिविधियों के कारण उनसे मतभेद

गर्मी की छुट्टी बिताने घर आया। पत्नी घर पर ही थीं। एम०ए० की परीक्षा छोड़ने पर पिता जी का दुःखी होना स्वाभाविक था। चूँकि मैं उनका एक मात्र पुत्र था, अतः पुत्र के प्रति

आसक्ति, स्नेह का भाव भी उनमें कभी-कभी दिखाई देता था, परन्तु वे लाचार थे। होता वही था जैसा माता जी चाहती थीं। सास-बहू में सम्बन्ध अच्छे नहीं रहते थे। उसकी प्रतिक्रिया पिता जी किसी बहाने मुझसे व्यक्त करते थे। कुछ ही दिन बाद मैंने पत्नी से मायके जाने को कहा। उनके पिता जी आकर लिवा ले गये। पिता जी छोटी-छोटी बात पर भी खेत बेंच दिया करते थे। मुझे बहुत खराब लगता था, परन्तु साहस नहीं होता था कि विरोध करूँ।

चूँकि पिता जी प्रतिवर्ष कुछ जमींन बेच दिया करते थे, अतः मैं चिन्तित रहता था कि किस प्रकार इसे रोकूँ। उस समय जमींन की सीलिंग की चर्चा कभी-कभी हुआ करती थी। इसी को आधार बनाकर मैं पिता जी से कहने लगा कि किसी प्रकार जमींन का बटवारा हो जाय। मेरे नाम कुछ जमींन कर दें। वे अपनी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं चाहते थे। इसलिये कहते थे कि ऐसा सम्भव नहीं है। मेरे बहुत जिद्द करने पर वे मुझे लिवाकर आजमगढ़ दीवानी कचहरी के प्रख्यात वकील बाबू कालिका सिंह के पास गये। वे उनसे पहले ही बात कर चुके थे अतः उन्होंने भी कह दिया कि सम्भव नहीं है। इसके बाद मैं अपने एक सहयोगी श्री बसन्त सिंह के माध्यम से उनके करीबी कलकत्ता हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध अधिवक्ता तिवारी जी (पूरा नाम याद नहीं) से मिला तथा अपनी परिस्थिति बताई। उन्होंने एक प्रारूप बनाकर दिया तथा आजमगढ़ के वकील को देने हेतु कहा। दिसम्बर 1969 में पिता जी से प्रार्थना कर किसी तरह पुनः बाबू कालिका सिंह के पास पिता जी के साथ गया। मैंने तिवारी जी के ड्राफ्ट को दिखाया तथा उनके द्वारा निर्देशित की जाने वाली अग्रिम कार्यवाही के बारे में बताया। वे इनकार नहीं कर सके। उन्होंने प्रार्थना पत्र तैयार किया तथा मुंसफ मुहम्मदाबाद, जिला आजमगढ़ के न्यायालय में दाखिल किया। इसकी बाद संख्या 79 सन् 70 थी। इसमें दिनांक 12-02-1970 को श्रीमती रजवन्ता कुँवरि विधवा स्व0 विश्वनाथ सिंह (पिता जी के बड़े भाई) श्री वासुदेव सिंह पुत्र श्री हरिदत्त सिंह तथा स्वयं मेरे (वशिष्ठ सिंह पुत्र श्री वासुदेव सिंह) के बीच सुलहनामे के आधार पर फैसला हुआ। इस फैसले के अनुसार मुझे सम्पूर्ण अचल सम्पत्ति में एक तिहाई जमीन प्राप्त हो गयी।

मुम्बई-प्रवास : जीवन को गतिशील बनाने तथा ज्ञानार्जन के उद्देश्य से

कर्ज के कारण चिन्ताग्रस्त रहते हुए चार-पाँच माह का समय बीता। लगभग उसी समय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मुम्बई विश्वविद्यालय के गणित विभाग में एक वर्ष अध्ययन करने हेतु प्रार्थना पत्र माँगे गये। मैंने भी आवश्यक औपचारिकतायें पूरी की। इस हेतु कालेज प्रबन्धन को एक वर्ष का अवैतनिक अवकाश देना था तथा एक बाण्ड भरना था कि वापस आने पर वेतन की बढ़ोत्तरी सहित सभी सुविधायें प्रदान की जायेंगी। तत्कालीन प्राचार्य डॉ0 राजनाथ सिंह ने पूर्ण सहयोग किया। चुनाव का आधार दो राष्ट्रीय स्तर के गणितज्ञों द्वारा प्रार्थी के बारे में दिया गया प्रमाण पत्र था। मेरा चुनाव उत्तर प्रदेश से, प्रो0 बनवारी लाल शर्मा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के द्वारा मेरे बारे में दिये गये प्रमाण पत्र के कारण हो गया। यह जानकारी टी.आई.एफ.आर. (टाटा इन्स्टिट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च) जो भारत में भौतिकी तथा गणित में मूलभूत खोज के लिये विश्वविख्यात है, के प्रो0 रंगाचारी तथा प्रो0 राघवन् ने तीन चार माह बाद मेरे पूछने पर दी थी।

मैंने एक वर्ष हेतु पत्नी को मायके भेज दिया तथा सोलह जून 1972 को अन्य चुने गये साथियों के साथ मुम्बई विश्वविद्यालय के कलीना, शान्ताक्रुज शाखा में कार्य आरम्भ किया। चर्चगेट स्टेशन के पास मुम्बई विश्वविद्यालय के छात्रावास में हम लोगों के रहने की व्यवस्था की गयी। लायला कालेज चेन्नई के एम0के0 आर शकीर तथा केरल (कॉलेज का नाम याद नहीं है) के अबूबकर मेरे साथ एक कमरे में सहयोगी हुए। सहयोगियों के चुनने में मेरी भी सहभागिता थी, क्योंकि मेरी प्रवृत्ति आरम्भ से दूसरे क्षेत्र, प्रान्त के रहने वालों के साथ रहने तथा उनसे कुछ सीखने की रही है। सप्ताह में एक दिन विश्वविद्यालय के गणितविभाग में हमें पूर्व निर्धारित विषय पर व्याख्यान देना होता था। इसमें विभाग के कुछ अध्यापक तथा टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेन्टल रिसर्च के प्रो0 रंगाचारी तथा प्रो0 राघवन, जो इस प्रोग्राम के संचालक थे, भाग लेते थे। हम लोगों का अधिक समय उक्त इंस्टीट्यूट के सुसज्जित पुस्तकालय में बीतता था। किसी विषय पर बात करने या अपनी समस्या का निदान करने हेतु किसी प्रोफेसर के कमरे में बेहिचक जा सकते थे। वे मित्रवत् बात करते तथा अपने कमरे में लगे ग्लासबोर्ड पर अच्छी तरह विषय को समझाते। वहाँ नाश्ता-खाना हेतु कई कैन्टीन थी। उनमें भी किसी प्रोफेसर से बड़ी आसानी से बात की जा सकती थी। नाश्ता-खाना पौष्टिक तथा अविश्वसनीय कम दाम पर उपलब्ध था। संस्थान से सम्बद्ध व्यक्तियों हेतु चर्चगेट तक निःशुल्क बसें बहुत कम अन्तराल पर चलती रहती थीं। अतः छात्रावास से आने-जाने में कोई दिक्कत नहीं थी। विश्वविद्यालय जाने हेतु चर्चगेट से शान्ताक्रुज के लिये लोकल ट्रेन प्रति दो-तीन मिनट पर उपलब्ध थी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय का छात्रजीवन, छात्रावास-क्लासरूम-पुस्तकालय तक सीमित था। कलकत्ता का लगभग डेढ़ वर्ष का जीवन घर, विद्यालय, ट्यूशन तक सीमित था। वाराणसी में जीवन, उदय प्रताप कालेज में अध्यापन, स्वयं के द्वारा पढ़ाये जाने वाले विषय तथा घर गृहस्थी के प्रबन्धन तक सीमित था। पहली बार गृहस्थी की चिन्ताओं से मुक्त होकर विद्वत्ता, सादगी, नम्रता आदि गुणों से युक्त विषय के मूर्धन्य विद्वानों के बीच व्याख्यान देने तथा उनके व्यवहार से अनेक गुणों को धारण करने का मौका मिला। पहली बार दूसरे प्रदेशों के रहने वाले, दूसरी मातृभाषा वाले, खान-पान में भिन्न रुचि रखने वाले, बिलकुल अलग स्वभाव रखने वाले सहयोगियों के साथ रहने, उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए प्रसन्न रहने का मौका मिला। पहली बार गणित में उच्चस्तर के शोध को जानने, उच्चस्तर की किताबें पढ़ने, बहुत सुसज्जित, समृद्ध, पुस्तकालय में आठ-दश घण्टे पढ़ने-बिताने का अवसर मिला। पहली बार चौपाटी के पास त्रिवेणी बिल्डिंग में रहने वाले एक मात्र उत्तर भारतीय, कटलरी मार्केट मुम्बादेवी में नकली जवाहरात के थोक विक्रेता, हमारे गाँव के श्री मंगला सिंह के बहनोई श्री सभाजीत सिंह तथा गाँव के थोक चाय के निर्यातकर्ता श्री एस0पी0सिंह, जो बाम्बे फुटबाल क्लब के कोषाध्यक्ष सन् 1962-63 के आस-पास रह चुके थे, के साथ निकट सम्पर्क के कारण बहुत बड़े लक्ष्मी के कृपापात्रों से मिलने तथा मुम्बई की आधुनिकतम जीवन शैली में रहने वालों के साथ समय बिताने तथा उनसे कुछ सीखने का मौका मिला। इन्हीं श्री सभाजीत सिंह ने मेरे परिवार को एक माह अपने यहाँ रखकर मेरी बड़ी पुत्री नीलम के कान का आपरेशन बाम्बे हास्पिटल में अपने मित्र डॉ0 मेहता से कराया था।

मनुष्य की योनि, कर्म-योनि है। यह संसार धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र है। कर्म करने की महत्ता को ईशावास्योपनिषद् निम्न शब्दों में व्यक्त करता है-

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशोपनिषद्-2)

इस जगत् में कर्मो को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये। जीवन एक दिक्-काल में प्रारम्भ होता है तथा इसकी यात्रा एक निश्चित बिन्दु तक चलती है। विवेकशील पुरुष जीवन की इस ईश्वर प्रदत्त अवधि का सदुपयोग करता है तथा कृतार्थता का अनुभव करता है। वास्तव में यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य की आयु कितनी है, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि उसकी उपलब्धि क्या है तथा लोक कल्याण हेतु उसने क्या किया है? अन्य योनियों में कुछ योग्यतायें स्वभावतः आ जाती हैं, जैसे गाय का बछड़ा बहुत शीघ्र पानी में तैरने लगता है। परन्तु मनुष्य को सब कुछ सीखना पड़ता है। विवेक, जो अन्य किसी प्राणी में नहीं होता, की प्रधानता के कारण मनुष्य में यह सामर्थ्य होती है कि वह धर्म को आध ।ार बनाकर, शास्त्र विहित कर्मो को, अपने स्वभाव के अनुसार, अपने स्वधर्म का पालन करते हुऐ, तथा निषिद्ध कर्मो का त्याग करते हुए निरन्तर प्रयत्नशील रहकर देवता के स्तर तक पहुँच जाय। यह भी सम्भव है कि वह आसुरी सम्पत्तियों-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि के वशीभूत होकर निपिद्ध कर्मो को करता हुआ असुर के स्तर पर स्वयं को स्थापित कर ले। जितना ही किसी व्यक्ति को विभिन्न व्यक्तियों से मिलने, उनके साथ व्यवहार करने, विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने का मौका मिलता है उतना ही सम्भावना है कि उसमें अनुभव अधिक होगा। उसकी उदारता, अच्छाई, सामाजिक स्तर, मान-प्रतिष्ठा आदि उसकी मेहनत, उसके सोचने के ढंग, उसके सम्पर्क में आये व्यक्तियों के स्तर पर निर्भर करती है। समाज में प्रायः देखा जाता है कि किसी सुविधा सम्पन्न विलासी जीवन जीने वाले की सन्तान अयोग्य तथा निर्धन-किसान-मजदूर-चायवाले की सन्तान योग्य हो जाती है।

नये अनेक प्रकार के बौद्धिक ज्ञान के साथ व्यावहारिक शिक्षा मिलती रही। फ्लोराफाउन्टेन के पास फुटपाथ पर बहुत अच्छी पुरानी कितावों की दूकानें लगती थीं। कभी-कभी वहाँ जाता तथा अच्छी कितावें मिल जातीं। वहीं Benjamin Franklin की एक किताब Better sight without glasses मिली थी, जिसके अनुसार आठ एक्सरसाइज- चार गर्दन तथा चार आँख की- करने पर मेरी आँख का चश्मा उतर गया था।

कुछ दिनों वाद चर्चगेट के मैदान में शाम को आचार्य रजनीश (ओशो) का गीता पर प्रवचन प्रारम्भ हुआ। उस समय वे बड़े चर्चित, विवादास्पद परन्तु महान् विचारक, विद्वान् तथा महान् तार्किक व्यक्ति के रुप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बड़ी संख्या में विदेशी स्त्री-पुरुष उनके प्रशंसक थे तथा वे प्रवचन के अन्त में 'जय रजनीशा'' का वार-बार तेज आवाज करते हुए नाचते थे। मैंने भी अवरह दिनों तक उसमें भाग लिया। प्रारम्भ में श्रोताओं द्वारा विगत दिवस पूछे गये प्रश्नों का उत्तर भी वे देते थे। मुझमें उस समय गीताज्ञान को आत्मसात् करने की योग्यता विल्कुल नहीं थी, यद्यपि वातें अच्छी लगती थीं। परन्तु उसमें भाग लेने से व्यावहारिक लाभ हुआ। उनके प्रवचन स्थल के सामने ही कुछ दूरी पर उनके कुछ विरोधी उनके विरुद्ध नारेवाजी तथा प्रदर्शन करते थे। उन पर इसका कोई असर नहीं पड़ता था। दो-एक वार कभी-कभी वोल देते कि संसार में प्रत्येक जगह द्वन्द्व है। दिन के साथ रात,

प्रकाश (ज्ञान) के साथ अन्धकार (अज्ञान), सुख के साथ दुःख आदि लगे हैं। उन्हें अपना काम करने दीजिये। आप अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ते रहिये। अपने आस-पास की झाड़ियों, काँटो से बचते हुये आगे बढ़ते रहें, कभी रुकें नहीं। इस बात का असर मेरे ऊपर गहराई से पड़ा।

दूसरी बात-उन्होंने वर्तमान में जीने की कला सीखने पर जोर दिया। इस हेतु उन्होंने बताया कि एकान्त में बैठकर, जीवन की किसी सुखद घटना, बिताये हुये सुखद क्षण की यादकर खूब प्रसन्नता का अनुभव कीजिये। अधिकतम समय तक आह्लादित रहने का अभ्यास कीजिये। यह अभ्यास आप ट्रेन-बस में यात्रा करते समय या अन्य किसी समय कर सकते हैं। इसका अभ्यास मैंने रात में भोजन के उपरान्त समुद्र की ओर मुँह कर घण्टों बैठकर किया। वास्तव में या तो हम भूत की किसी बात को याद कर दुःखी होते हैं और अपना समय व्यर्थ गवाँ देते हैं या भविष्य के कल्पना-जगत् में विचरण करते रहते हैं।

योग वाशिष्ठ में आया है-

भविष्यन्नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषन्तु हसन्नेवातिवर्तते।।

भविष्य का अनुसंधान नहीं, बीते की चिन्ता नहीं। हमारा तो वर्तमान निमेष हाथ में बीतता हैं और हँसते-खेलते हुए बीतता हैं।

सच्चाई यह है कि भूत का अस्तित्व ही नहीं, अतः सोचना व्यर्थ है और भविष्य हमारे वश में नहीं। एक मिनट बाद होने वाली घटना का हमको पता नहीं। भविष्य का कार्यक्रम एक बार निर्धारित करके पूरी क्षमता से वर्तमान का उपयोग करना चाहिये तथा फल विश्व की सञ्चालिका शक्ति पर छोड़ देना चाहिये।

तीसरी बात- प्रवचन के अन्त में जोर-जोर से चिल्लाते हुए कीर्तन करना तथा मस्ती में झूम जाना। उनका कहना था कि नाचते समय आप इतने तन्मय हो जायें कि स्वयं को भूल जायें। चैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ इसी स्थिति में होकर कीर्तन करते थे। इससे किसी काम में मन को पूर्णता से समर्पित करने की कला आती है। मन एकाग्र होता है। समाधि की स्थिति तक हम पहुँच सकते हैं।

'संसार' की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा-

संसार का अर्थ है- आकाङ्क्षा, तृष्णा, वासना, कुछ होने की चाह। भीतर फैली हुई वासनाओं का जाल। जो मैं हूँ, उससे अन्यथा होने की आकाङ्क्षा संसार है। सुख को आगे रखने की प्रक्रिया का नाम संसार है।

जिस क्षण तुम जैसे हो, वैसे ही परम तृप्त, जैसे हो वैसे ही गद-गद्- उसी क्षण संसार मिट गया। संसार का मिटना और परमात्मा का होना, दो चीजें नहीं हैं। संसार गया, परमात्मा आ गया। संसार का अर्थ है : सुख को खोजने वाला मन। परमात्मा का अर्थ है: जो है, जैसा है उसकी स्वीकृति।

वर्तमान में होना संसार से बाहर होना है। भविष्य मे होना संसार में होना है।

मेरे जीवन में गहरी छाप डालने वाली एक और धार्मिक-आध्यात्मिक घटना दिसम्बर-जनवरी माह में घटी। चर्चगेट के मैदान में ही 'अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ' ISKCON का एक कार्यक्रम आयोजित हुआ। प्रातःकाल तीन बजे के बाद ही कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता था। मैं भी प्रातः तीन-चार बजे वहाँ जाकर भाग लेने लगा। इस संघ के संस्थापक स्वामी प्रभुपाद जी लगभग सत्तर वर्ष की आयु में अपने सद्गुरु के आदेश पर प्रथम बार भारतीय संस्कृति एवं धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से विदेश गये। इसके बाद इन्होंने अनेक बार अनेक देशों की यात्रा की तथा उक्त संघ की स्थापना करके अपनी वाक्क्षमता का प्रदर्शन करते हुए भगवान् कृष्ण के प्रति, भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के प्रति, विदेशियों को इस प्रकार आकर्षित किया कि सैकड़ों की संख्या में श्रीकृष्ण के मन्दिर अनेक देशों में स्थापित हुए तथा संसार के अनेक समृद्ध व्यक्तियों ने अपना घर छोड़कर इस संस्था का प्रचार-प्रसार तथा-

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

इस महामन्त्र का चालिस-पैंतालिस माला तक जप करने लगे। अपना विलासिता का जीवन छोड़कर प्रातः तीन बजे ठण्डे पानी से स्नान, प्याज-लहसुन रहित शाकाहारी भोजन पंक्ति में प्रसाद स्वरूप लेकर, जमींन पर बैठकर करने लगे। आज भारत तथा अनेक देशों में इस संस्था द्वारा स्थापित श्रीकृष्ण के मन्दिर, अतिथि गृह आदि हैं तथा यह संस्था जरूरत मन्द लोगों की अनेक प्रकार से सेवा कर रही है।

इसी संस्था के कार्यक्रम में भाग लेने मैं भी प्रातः तीन-चार बजे पहुँचने लगा। प्रथम दिन गेट के अन्दर प्रवेश करते ही कुछ विदेशियों से सामना हुआ, जो गेरुआ वस्त्र में, माथे पर वैष्णव भक्तों द्वारा लगाये जाने वाले टीका लगाये, हाथ में ताँबा-पीतल का पात्र लिये Donate please (कृपया दान दीजिये), कहते हुये लोगों के सामने जाते थे। मैंने कई ऐसे लोगों से बात की। उन लोगों का कहना था कि इस कृष्ण भावनाभावित अन्तर्राष्ट्रीय संघ में प्रवेश पाने के पूर्व कुछ शर्तें रखी जाती हैं, जिसमें एक प्रमुख शर्त यह है कि एक निश्चित अवधि तक लोगों के सामने जाकर माँगना पड़ेगा। ब्रह्म-मुहूर्त में ठण्डे पानी से स्नान करना, शुद्ध शाकाहारी (बिना प्याज-लहसुन) भोजन करना, यथाशक्ति महामन्त्र का जप करना, गीता पढ़ना तथा सुनना आदि अन्य शर्तें हैं। उन लोगों ने यह भी बताया कि इस संघ में आने तथा गुरु जी (स्वामी प्रभुपाद) से सम्बन्ध होने के पूर्व हम लोगों को अपने धन का, पद का, मान-प्रतिष्ठा का, ज्ञान का, अपने सम्बन्धों का बहुत अहङ्कार था। इस भिक्षाटन के माध्यम से जो अपने लिये नहीं, बल्कि लोक कल्याण में लगी एक संस्था के लिये है-हमारा अहङ्कार धीरे-धीरे क्षीण हो रहा है।

इसका प्रत्यक्ष अनुभव करने, इनके साथ एक दिन समय बिताने का मौका सन् 1996 में, कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर, वृन्दावन प्रवास के समय आया, जब वृन्दावन में 'इसकान' मन्दिर से संलग्न अन्तर्राष्ट्रीय विश्रामालय में रहकर विदेशियों का, प्रातः तीन बजे ठण्डे जल से स्नान, प्रातः गीता पाठ तथा श्रवण, पूरी तन्मयता से कीर्तन तथा पंक्ति में बैठकर सात्त्विक भोजन जमीन पर बैठकर ग्रहण करते देखा, तथा शेष समय में उनके द्वारा महामन्त्र

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।'

का यथा संभव जप करते हुए पाया। एक जर्मन से निम्न वार्ता हुई।

Q- Are you permanent member of this organization?

A- Yes.

Q- Why did you join this? Are you satisfied here?

A- I am fully satisfied here. Before joining this 'Krishna-Bhavanamrit-Sangh' in spite of having every material comforts, there was no peace in my life. We enjoy chanting names of Lord and try to do JAPA of Mahamantra as many times as possible.

Q- How many Malas you are able to complete per day?

A- Approximately fortyseven or fortyeight Malas of JAPA, I am performing everyday.

I thanked him and with smile we said 'Good-bye'-[May God be with you] to each other.

अहंता के उदित होने पर ही सबका उदय तथा उसके विलीन होने पर सब कुछ विलीन हो जाता है। जीवन का अहंभाव ही सभी अनर्थों की जड़ है। स्वरुप के प्रकाशित होने के लिये किसी उपाय (भक्ति, ज्ञान, कर्म, योग मार्ग) से अहंभाव का नाश होना आवश्यक है। उसका नाश होना ही मोक्ष की स्थिति है। हमारा हित बहुत हद तक हमारी विनम्रता (अहंवृत्ति रहित भाव) पर निर्भर करता है। इसीलिये सभी प्रकार के साधक अपने-अपने ढंग से अपने अहङ्कार के नाश करने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के वचन हैं-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।। (गीता-3/27)

सभी कर्म प्रकृति के गुणों -सत्त्व, रज, तम-द्वारा किये जाते हैं। अहङ्कार के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को कर्त्ता मान लेता है। अतः ज्ञानी सदा इस विचार से ओत-प्रोत रहता है कि 'मैं' कुछ नहीं करता, गुण ही गुण में बरत रहे हैं। भक्ति मार्ग का साधक सबको ईश्वर का ही स्वरूप समझता है। ईश्वर के अतिरिक्त उसकी दृष्टि में अन्य कुछ है ही नहीं। कर्मयोगी अपने कर्म से उसकी पूजा करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है। महर्षि रमण के अनुसार अहंकारिता तथा ममता एक दूसरे के आश्रय में टिके रहते हैं। इसलिये एक का नाश दूसरे के नाश का कारण बन जाता है। मन-वाक् से अगोचर ऐसी दशा प्राप्त करने के लिये अहंकार को निकालना ज्ञानमार्ग है और ममता को मार भगाना भक्तिमार्ग है। किसी उपाय से अहंकार तथा ममता का नाश करने का नाम ही मुक्ति है।

कर्मयोगी, आसक्ति तथा फलाशा का त्याग करके निरन्तर कर्म में इस भाव से लगा रहता है कि हमें शरीर से संसार की सेवा करनी है तथा किये गये कार्यों को ईश्वर को समर्पित कर देना है। ईश्वरार्पित बुद्धि से कर्म करने पर अहङ्कार शेष नहीं रहता।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (गीता 18/46)

उस (ईश्वर) की स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

अहंवृत्ति के उदय होने पर जब हम शरीर से तादात्म्य कर लेते हैं, तो अपने को कर्त्ता मानकर अहङ्कार के भाव से भर जाते हैं, जबकि हम भूल जाते हैं कि किसी कार्य के सम्पन्न होने में पाँच कारण होते हैं, जैसा गीता में बताया गया है।

अहंकृति-मन के इतना महत्त्वपूर्ण होने के कारण ISKCON 'अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृतसंघ' ने नये साधकों हेतु भिक्षाटन की शर्त रखी है।

मुम्बई में मेरा मिलना गाँव के प्रो0 श्री हरि जो विलेपार्ले (मुम्बई) कालेज में प्रवक्ता थे तथा हिन्दी की अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में उनके लेख छपते थे, से होता था। कभी-कभी मैं भी उनके आवास, मलाड (पश्चिम) पर जाता था तथा वे भी कभी-कभी मुझे होटल ले जाकर ज्ञान-प्रद बातें बताते, शिष्टाचार सिखाते तथा राष्ट्रप्रेम की वार्तें करते। वे बताते कि उन्हें जब उनके कवितासंग्रह 'विद्रोही' पर स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान अंग्रेजों ने गोली मारने का आदेश दिया था, वे किस तरह कहाँ-कहाँ छिपकर रहे तथा पंडित दोलमणि आदि अनेक नामों से लिखते रहे। उनका शरीर वर्ष 2009 में मुम्बई में ही छूटा। वे स्वतन्त्रतासंग्रामसेनानी की पेंशन बहुत दिनों तक यह कहकर नहीं लेते थे कि देश की सेवा के बदले कैसे कुछ लें? यद्यपि जीवन के अन्तिम दिनों में आर्थिक दबाव तथा घर की परिस्थिति के कारण उन्होंने पेंशन स्वीकार कर ली थी। उनकी मेरे पितामह बाबा हरिदत्त सिंह के प्रति असीम श्रद्धा थी, उनके संरक्षण में पलने के कारण मेरे ऊपर उनका बहुत स्नेह था। उनकी एक इच्छा को मैं पूरा नहीं कर पाया, जिसका मुझे आज दुःख है। यद्यपि उनके नाम पर 'बाबा हरिदत्त सत्सङ्ग कक्ष' बनवा दिया परन्तु दैव ने उस कार्य को अधूरा छोड़कर मुझे दूसरी परिस्थिति में जीने हेतु बाध्य कर दिया। समय के अन्तराल ने मुझे दुःखदायी परिस्थिति में अच्छाई खोजने का रास्ता प्रशस्त किया। 'श्रीहरि' की हार्दिक इच्छा थी तथा उन्होंने मुझसे 'बाबा हरिदत्त ज्ञान-विज्ञान केन्द्र' की स्थापना पैतृक आवास पर करने की राय दी थी तथा अपनी किताबों का संकलन इस हेतु देने की इच्छा व्यक्त की थी।

मई 1973 में अपने पूरे वर्ष के वेतन की बचत से, मैंने श्री मङ्गला सिंह के कथनानुसार उनकी गोदौलिया, वाराणसी स्थित दूकान के लिए कपड़े खरीदे ताकि उनसे 1971 में लिये गये कर्ज का कुछ भाग अदा कर सकूँ। जून में विश्वविद्यालय से अवमुक्त होकर वाराणसी आकर कालेज में अपना कार्यभार ग्रहण कर लिया।

विपरीत परिस्थितियों के उपस्थित होने पर समय का महत्त्व स्वीकार करना

समय की पाबन्दी से सम्बन्धित अपने साथ घटी एक घटना का उल्लेख करना मैं उचित समझता हूँ। एक बार जुलाई-अगस्त के माह में मैंने स्वामी कृष्णप्रेमानन्द जी से 'ध्यान' लगाने की विधि सीखने की जिज्ञासा प्रकट की। उन्होंने दूसरे दिन अपराह्न तीन बजे अपने पुराने आश्रम पर बुलाया। दूसरे दिन मैं उनके आश्रम जाने हेतु लगभग 2.30 बजे ही पोर्टिको में आ गया, परन्तु तेज बारिस होने के कारण कुछ देर से निकल पाया। बहुत तेज स्कूटर चलाते हुए उनके दरवाजे पर 3.10 बजे पहुँचा तथा दरवाजा पीटने लगा। मैं थक गया परन्तु उन्होंने दरवाजा नहीं खोला। कोई आवाज भी नहीं। मैं दूसरे दिन शाम को उनसे मिला तथा बताया कि स्वामी जी, मैं दरवाजा पीटता रह गया, आपने दरवाजा खोला नहीं। तबीयत तो ठीक थी। स्वामी जी ने कहा कि तुम आये थे? कितने बजे आये थे? मैंने कहा कि

स्वामी जी मैं 3.10 बजे आपके दरवाजे पर पहुँच गया था। उन्होंने कहा कि मैंने 3.00 बजे बुलाया था, 3.10 बजे नहीं। इस घटना ने समय के महत्व के सम्बन्ध में मेरे पूर्व के दृढ़ विचार को और पक्का कर दिया था।

सन् 1991 में मैं ऋषिकेश गया। परमार्थ निकेतन में दस-बारह दिन रहा। वहाँ प्रातः पाँच बचे से सभागार में प्रार्थना तथा उच्चकोटि के विद्वान्, आश्रम निवासी श्री असङ्गानन्द जी का प्रवचन होता था। दो दिन मैंने उस प्रार्थना सभा में भाग लिया। तीसरे दिन गीता भवन-3 में भारत के प्रसिद्ध सन्त श्री रामसुखदास जी का प्रवचन सुनने प्रातः पाँच बचे गया। प्रातः पाँच बने से उनके प्रवचन का समय था, परन्तु ठीक पाँच बने गेट बन्द हो जाता था। गेट वन्द होते ही मैं वहाँ पहुँचा था। चिल्लाता रहा परन्तु गेट बन्द हो गया। मैं अन्दर नहीं जा पाया। बाहर बैठकर प्रवचन सुना। इसके बाद प्रतिदिन समय से पहुँच जाता था। हजारों की संख्या में साधु-सन्त-साधक-जिज्ञासु-गृहस्थ वहाँ उपस्थित रहते थे। उनका प्रवचन गीता के किसी श्लोक या उसके किसी अंश पर होता था।

अन्तर्राष्ट्रीय गणित परिषद के आठ वर्ष अध्यक्ष रहे मेरे परम श्रद्धेय शिक्षक प्रो0 बनवारी लाल शर्मा ने एक बार तीन मिनट देर से आने के कारण चालीस विद्यार्थियों से क्षमा माँगी थी। एक वार मैं दस मिनट देर से पहुँचने के कारण ध्यान की कक्षा से वञ्चित रह गया था। अतः पढ़ाने के लिये मेरे द्वारा बुलायी गयी अतिरिक्त कक्षाओं में भी प्रातः सात वजे का अर्थ, सात वजकर एक मिनट नहीं होता था, बल्कि सात बजे होता था।

सम्पत्ति से मुँह मोड़ना तथा पुरुषार्थ का अवलम्बन करना -

सन् 1981 के जनवरी-फरवरी में घर जाने पर पता चला कि पिता जी ने दूसरे कुछ लोगों से मेरे नाम की जमींन पर पैसा लिया है। मैंने पिता जी से पूछा कि- 'आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? जिनसे आप पैसा ले रहे हैं, उन्हें मैं जमींन नहीं लिखूँगा, तो आपकी वदनामी होगी। उन्होंने कहा कि तुम अपने हिस्से की जमीन लेकर खेती करो, मुझसे मतलब नहीं रहेगा। साथ ही क्रोध में व्यङ्ग्यात्मक तथा तीखे शब्द भी कहे। मैं बिना कुछ बोले, पैर छूकर वाराणसी चला आया। दूसरे दिन स्वामी जी (स्वामी कृष्णाप्रेमानन्द सरस्वती जिनसे हमने दीक्षा ले ली थी) के पास गया तथा पूरी घटना का वर्णन करके उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की। मैंने कहा कि मुझे दो लड़कियों का विवाह अभी करना है। गत वर्ष एक लड़की का विवाह हुआ है, उसका भी कर्ज अभी देना है। पिता जी मुझे मेरे हिस्से की जमींन देने को तैयार हैं। यदि उनसे लेकर दूसरों को भी खेती करने हेतु दे दूँ तो मुझे अच्छी आर्थिक मदद मिल जायेगी। इस सम्बन्ध में मैं आपसे अनुमति चाहता हूँ। स्वामी जी ने शान्तिपूर्वक मेरी बातें सुनीं तथा कहा कि आपने मुझे गुरू बनाया है। मान लीजिये कि वह सम्पत्ति आपको प्राप्त हो गयी। उन्होंने अपना दायाँ हाथ सामने करके कहा कि अब प्राप्त सम्पत्ति मुझे गुरु समझकर दे दीजिये। उसे अब भूल जाइये। भगवान् से अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए प्रार्थना कीजिये तथा आय बढ़ाने हेतु कुछ उपाय कीजिये। विश्वास रखिये, वे सब प्रबन्ध कर देंगे। अपनी तरफ से प्रयास में कोई कोर-कसर मत उठा रखियेगा। रोते हुए मैंने आशुतोष भगवान् से यह कहते हुए प्रार्थना की कि- 'इंजीनियरिंग, मेडिकल की प्रतियोगिताओं हेतु मैं कोचिंग कक्षाओं के संचालन की व्यवस्था करना चाहता हूँ। इसमें इतना दीजिए कि

पुत्रियों के विवाह के खर्च का प्रबन्ध हो जाय तथा एक पुत्र की कुछ व्यवस्था हो जाय। इसके बाद इस कार्य को मैं छोड़ दूँगा।

मेरे घर के पास एम0 चेलैय्या, जो वाई0एम0सी0ए0 के उस समय अध्यक्ष थे, किराये पर रहते थे। उनका इण्डस्ट्रियल इस्टेट रामनगर में फर्निचर का कारखाना था। मेरे मकान के एक कमरे में उनका कार्यालय भी था। मैंने उनसे वाई0एम0सी0ए0 के खाली स्थान में कोचिंग कक्षाएं चलाने का प्रस्ताव रखा। उदय प्रताप कालेज के प्राध्यापक जे0ए0 नैथन साहब उसके उपाध्यक्ष थे। उनकी बोर्ड-मीटिंग में प्रस्ताव इस शर्त के साथ पास हुआ कि सब कुछ प्रबन्ध हमको करना है। वाई0एम0सी0ए0 खर्च करने की स्थिति में नहीं है।

इसके बाद कोचिंग प्रारम्भ हुई। 'वाई.एम.सी.ए. एजुकेशनल सेन्टर' की ख्याति खूब बढ़ी, उस समय मात्र दो कोचिंग- कृष्णा कोचिंग तथा बनारस इन्स्टीट्यूट ही वाराणसी में अच्छी कोचिंग थीं। थोड़े ही दिनों में एजुकेशनल सेण्टर ने इतनी ख्याति अर्जित कर ली कि अन्य कोचिंग के विद्यार्थी उसे छोड़कर आने लगे तथा प्रबुद्ध अभिभावक अपने अभिभावित को यहाँ प्रवेश दिलाकर सन्तोष का अनुभव करने लगे। बिहार के भी अच्छी संख्या में विद्यार्थी पढ़ने लगे।

जौनपुर जिले के तत्कालीन जिला न्यायाधीश एक दिन मेरे घर आये तथा उन्होंने अपने पुत्र की स्थिति का वर्णन करके मुझे अपने पुत्र को आदर्श विद्यार्थी बनाने हेतु सौंपा। उक्त न्यायाधीश महोदय, वाराणसी के ही रहने वाले थे। नाम देना आवश्यक नहीं समझता। कोचिंग में पढ़ने वाली लड़कियों के अभिभावक अपनी पुत्री को इस कोचिंग में प्रवेश दिलाकर उसकी तरफ से निश्चिन्त रहते थे।

प्रारम्भ में देहरादून के रहने वाले दो विद्यार्थी-शालीन शर्मा तथा आशीष धींगरा मुझे मिले। दोनों के पिता उस समय पी.डब्ल्यू.डी. में इंजिनियर थे तथा नये-नये वाराणसी आये थे। शालीन शर्मा तो बहुत मेधावी तथा अनेक गुणों से सम्पन्न था। उसे मैं आज भी याद करता हूँ। प्रथम वर्ष में इन दोनों विद्यार्थियों को लेकर तीस में नौ विद्यार्थी आई.आई.टी. रुड़की में चुन लिये गये।



सन् 2015 में लेखक के सम्पूर्ण परिवार का परिचय (बायें से दायें)

अनय कुमार विद्यार्थी कक्षा 11, अक्षिता विद्यार्थी बी0ए0, सुप्रभात सिंह (पुत्र) अधिशासी अभियन्ता, पूनम-पालनकर्त्री माँ, प्रभव कुमार विद्यार्थी कक्षा 11, स्व0 सीमा, जन्मदात्री माँ, स्व0 आशा देवी पत्नी वशिष्ठ सिंह

तृषा विद्यार्थी बी0एस-सी0, डॉ0 प्रद्युम्न कुमार सिंह वैज्ञानिक एन0बी0आर0आई0 लखनऊ, शुभ्रा (पुत्री), ईशान विद्यार्थी

बीच में वशिष्ठ-स्व0 आशा

सुयोग विद्यार्थी- के0आई0एम0,शिकागो-यू0एस0ए0, सुचन्दा (पुत्री), योगेश सिंह मुख्य वन संरक्षक, चेन्नई, सलिल विद्यार्थी इन्जी0

प्रदीप कुमार सिंह पूर्व संयुक्त रजिस्ट्रार, नीलम (पुत्री), स्वप्निल वाइस प्रेसिडेण्ट सिटी बैंक, कार्तिकेय पी0ओ0 स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

अपरिग्रह

महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग में यम प्रथम अङ्ग है। इसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह-बातें हैं। इन्हें सभी धर्म मानते व कहते हैं। व्यावहारिक जीवन में जैसा देखा, सुना वैसा मन, वाणी से व्यक्त करना तथा तदनुसार कार्य करना सत्य है। मन, वचन, कर्म में सामञ्जस्य रखकर जीवनयापन सत्य का जीवन है। भूत, वर्तमान, भविष्य में एक सा रहने वाला सत्य पारमार्थिक सत्य तथा अज्ञानावस्था में सत्य की प्रतीति, प्रातिभासिक सत्य के अन्तर्गत आती है।

मन-वचन-कर्म से किसी को तथा स्वयं को भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। मन, वचन, कर्म से इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण, वीर्य की रक्षा तथा प्रभु का चिन्तन, ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आता है। इसमें काम विकार का सर्वथा अभाव, जितेन्द्रिय रहना है। परिश्रम तथा ईमानदारी से ही कमाई का उपभोग तथा मन, वाणी, शरीर से किसी के हक को न लेना। अस्तेय के अन्तर्गत आता है।

किसी भी भोग सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना-चाहे वह शब्द-स्पर्शादि किसी से सम्बन्धित हो-अपरिग्रह कहलाता है। चारों ओर से संग्रह का प्रयास परिग्रह है। न्यूनतम आवश्यक वस्तुओं से सन्तुष्ट होकर जीना अपरिग्रह है। अपरिग्रह से लोभ, जिसे श्रीकृष्ण ने नरक का द्वार बताया है, से मुक्ति मिलती है। ममता की गाँठ ढीली होती है। अच्छे कार्यों के लिये तथा ईश्वर हेतु अधिक समय मिलता है। शक्ति की बचत होती है। कम से कम में गुजारा शारीरिक तप है।

जो कुछ स्वतः प्राप्त है या पुरुषार्थ से प्राप्त है, उसका स्वामी न बनकर, न्यासी के रूप में अपने को समझना तथा उस अर्जित सम्पत्ति का समाज, राष्ट्र के हित में उपयोग करते हुए यदि जीवनयापन किया जाय, तो परिग्रह के दोष से बचना सरल है और सम्पत्ति का रहना तब लाभकारी हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह भावना बनी रहनी चाहिए कि जो कुछ मेरे पास है या प्रारब्धवश पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ है, हो रहा है, वह सब समाज के लिये, ऐसे लोगों के लिये है, जिसकी उन्हें जरुरत है। इसी विचार को रखकर अर्जित सम्पत्ति का सदुपयोग होता रहे। इस भावना से अहङ्कार भी नहीं उत्पन्न होने पाता।

भोग्य पदार्थों के आवश्यकता से अधिक प्राप्त होने पर कई दोष स्वभावतः आ जाते हैं। अर्जन करने में समस्याएं, प्राप्त होने पर उसके रक्षण की समस्या, प्राप्त सम्पत्ति के नष्ट होने की चिन्ता, उसकी आसक्ति के कारण अनेक दोष तथा उसमें किसी प्रकार का व्यवधान आ जाने पर हिंसा के भाव का आ जाना आदि दोष सम्पत्ति रहने पर रहते ही हैं। यदि आवश्यकता से अधिक नहीं है, तो उपर्युक्त दोषों से मुक्ति स्वाभाविक ही रहेगी। इन दोषों से मुक्ति तब भी रहेगी, यदि ट्रस्टी बनकर हम प्राप्त का उपयोग करते रहें। यदि जरूरतमन्द को अन्न, वस्त्र, जल तथा बीमार को दवा देने के रूप में उपयोग करते रहें, तो सम्पत्ति के दोष से मुक्त हो सकते हैं।

भारतीयसंस्कृति – वैदिकीसंस्कृति, जिसमें तीन बातें ब्रह्मात्म-भाव, सर्वात्म-भाव तथा कर्त्तव्यनिष्ठा प्रमुख होती हैं, में त्याग और तपस्या का महत्त्व बहुत अधिक है। किसी की श्रेष्ठता, उसके दर्शन-विचार के आधार पर होती है, उसके धन, ऐश्वर्य के कारण नहीं। समाज में सबसे आदरणीय ऐसे लोग होते हैं, जिनका जीवन एकदम सादा, आवश्यकताएं न्यूनतम तथा विचार उच्चकोटि के होते हैं। ऐसे लोग अपनी जीवन-शैली तथा उच्च कोटि के लोकहितकारी विचारों के कारण चिरस्मरणीय होते हैं। ऐसे लोग बड़े से बड़े प्रलोभन में नहीं आते। किसी के द्वारा कुछ दिये जाने पर भी स्वीकार नहीं करते। रामकृष्ण परमहंस को दक्षिणेश्वर के व्यवस्थापक, मथुरा जी रू 50000/- देकर आर्थिक रूप से निश्चिन्त करना चाहते थे, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। 'सबका मालिक एक' कहने वाले साँईं, कूएं का जल, सूखी रोटी से अपना जीवन निर्वाह करते थे, परन्तु विचार उच्च कोटि के थे।

कभी-कभी ऐसे उच्च कोटि का आदर्श रखने वाले, त्याग-तपस्या के मार्ग पर चलकर प्रसन्न रहने वाले लोगों के प्रति, श्रद्धा रखने वाले लोग उनके आदर्शों का ध्यान न रखकर, ऐसी चीजें करने लगते हैं, जो उनके दर्शन के एकदम विपरीत होती हैं। ऐसे सन्तों की सोने की मूर्ति बनवाना, सोने के महल में उनके रहने की व्यवस्था करना- क्या उनके प्रति-उनके आदर्शों के प्रति अनादर भाव नहीं है?यदि ऐसे लोग आज जीवित होते, तो यह सब देखकर उन्हें कष्ट नहीं होता? क्या नई पीढ़ी, जो उनके विचारों से पूरी तरह परिचित नहीं है, ऐसा नहीं सोच सकती कि ये सन्त बहुत धनाढ्य रहे होंगे, सोने के महल में रहते रहे होंगे यह विचारणीय विषय है।

दूसरी श्रेणी के ऐसे उच्चकोटि के लोग होते हैं, जो बाह्यजीवन में बहुत समृद्धशाली होते हैं, सारी सुविधाएं उन्हें उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनका आन्तरिक जीवन त्याग-तपस्या से पूर्ण रहता है। वे सम्पत्ति को भगवान् की सम्पत्ति मानते हैं तथा इसका उपयोग वे समाज के लोगों हेतु करते हैं, अपने सुख सुविधा हेतु नहीं। इनमें कुछ तो ऐसे भी होते हैं, जो अपना व्यक्तिगत खर्च, अपनी मेहनत की कमाई से करते हैं। भारतीय संस्कृति में राजा जनक जैसे अनेक राजा हुए हैं, जो राजा होते हुए अपने को जनता का सेवक समझे, राज्य की सम्पत्ति को उन्होंने अपना नहीं समझा।वे जनकल्याण के बारे में ही सोचते तथा कार्य करते रहे। ऐसे लोग सोचते हैं कि भगवान् ने कृपा कर, मुझे सब कुछ देकर सेवा हेतु निमित्त बनाया है।

तीसरी श्रेणी ऐसे लोगों की है, जिनकी वाक्शैली या कुछ गुणों को देखकर साधारण लोग उनसे श्रद्धावश जुड़ते हैं। धीरे-धीरे उनके पास धन सम्पत्ति आने लगती है। ख्याति बढ़ जाने पर धनाढ्य-सम्पन्न-प्रभावशाली लोग जुड़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनमें भेद-दृष्टि आ जाती है। उनके पास सम्पन्न प्रभावशाली लोगों का महत्त्व बढ़ जाता है। सम्पत्ति उनके पास बहुत हो जाती है। साधारण लोगों की पूछ नहीं रह जाती है। ऐसे लोग आये थे, निवृत्ति मार्ग अपनाकर, घरबार छोड़कर त्याग-तपस्या पूर्ण जीवन बिताने के लिये, परन्तु जब उनके पास विलासिता की सारी सामग्री हो जाती है, किसी भौतिक सुविधा की कमी नहीं रह जाती है, तो वे अपने निर्धारित उद्देश्य को भूल जाते हैं।

ऐसी स्थिति में वे भटक जाते हैं, साधना छूट जाती है। सम्पत्ति की रक्षा के लिये उनके पास हथियारों से लैस सेवक होते हैं और श्रद्धा का लाभ उठाकर ये ऐसे कृत्य करने लग

जाते हैं, जिससे भारतीय संस्कृति बदनाम होने लगती है। ऐसे कथित महात्माओं पर मुकदमें चलने लगते हैं। वे जेल की सजा काटते हैं तथा उन्हें ऐसे कृत्य करने पड़ते है, जो किसी गृहस्थ के लिये भी शोभा नहीं देता। ऐसी स्थिति में बहुत दयनीय दशा उनके शिष्यों-भक्तों की हो जाती है कि वे किसी से यह भी नहीं कह पाते कि वे किसके शिष्य हैं। इसके बाद वे अपनी साधना के मार्ग को भी तय नहीं कर पाते।

अपनी उम्र के संन्यासाश्रम में प्रवेश के लगभग एक वर्ष पहले मैं विचार करने लगा कि मुझे इस प्रकार व्यवस्था कर देनी है कि मुझे अपना कहने लायक कुछ न रहे। जब तक कोई कार्यभार ग्रहण नहीं कर ले तथा जीवन रहे, तब तक अनासक्त होकर न्यासी के रूप में, अपने को निमित्त मानकर कार्य करता रहूँगा, परन्तु उपभोग केवल आवश्यक-आवश्यकता का ही रहेगा।

***

सामाजिक जीवन को उपयोगी, आदर्श तथा गतिशील बनाने के उद्देश्य से किये गये संघर्ष

आजादी बचाओ आन्दोलन तथा मानव-शृङ्खला -

5 जून 1989 को सम्पूर्ण क्रान्ति दिवस मनाने के उद्देश्य से बुद्धिजीवियों, समाज कर्मियों तथा युवाओं की गोष्ठी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के गाँधी विचार एवं शांति अध्ययन संस्थान (गाँधी भवन) में 'लोक स्वराज अभियान' का आरम्भ हुआ, जो 1991 में सेवाग्राम आश्रम वर्धा में हुए राष्ट्रीय सम्मेलन में 'आजादी बचाओ आन्दोलन' में रूपान्तरित हो गया। इस सम्मेलन में देश की परिस्थितियों को बदलने हेतु जेपी आन्दोलन तथा अनेक लोगों द्वारा समाज परिवर्तन हेतु हुए प्रयासों के बाद भी देश के हालात के खराब होने के मूल कारण में 'बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ और देश के धन का बाहर ले जाना' माना गया।

सन् 1993 में डा0 डेविड सी0 कार्टन की पुस्तक 'When Corporations Rule the World' में बहुराष्ट्रीय उपनिवेशवाद (Corporate Colonialism) का गहन अध्ययन किया गया था तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कुकृत्यों के बारे में कुछ समूह अध्ययन-लेखन कर रहे थे। परन्तु इनके विरुद्ध सीधा आन्दोलन आजादी बचाओ आन्दोलन ने ही प्रारम्भ किया था।

अक्टूबर 2002 में एक दिन आजादी बचाओ आन्दोलन के संस्थापक डॉ0 शर्मा मेरे घर वाराणसी आये। रात में मेरे साथ रहे। उन्होंने कहा कि पेप्सी-कोक के विरोध में दिल्ली को घेरते हुए जिस मानवशृङ्खला की चर्चा तुमसे मैंने फोन पर की थी, उसकी तिथि 29 फरवरी 2003 को दिन में बारह से एक बजे तय की गयी है। यह अब तक की सबसे बड़ी, बारह सौ किमी0 लम्बी होगी। इसके पक्ष में अनेक बातें बताई तथा मेरा हाथ पकड़कर कहा कि तुम्हें इनकार नहीं करना है। तुम्हें मथुरा-अलीगढ़-बुलन्दशहर-मेरठ-बागपत जनपद में बनने वाली मानव शृङ्खला की जिम्मेदारी लेनी है। लगभग चार माह का समय लगेगा। तुम्हारे लिए एक जीप का प्रबन्ध आन्दोलन करेगा। तुम्हारी मदद हेतु 06, राजीव नगर, पटना के स्वेच्छा से अवकाश ग्रहण करने वाले श्री गोरेलाल मनीषी, पूर्व कार्यपालक अभियन्ता रहेंगे। जानते हो, आन्दोलन में अर्थाभाव रहता है। सिद्धान्त को हम लोग छोड़ नहीं सकते। अतः जीप में ईंधन तथा अपने खाने-पीने की व्यवस्था तुम्हें करनी पड़ेगी। मुझे बोलने का मौका उन्होंने नहीं दिया। मुझसे 'हाँ' करा लिया। यह भी कह दिया कि तुम एक बार 'हाँ' कह दिये, तो मैं पूरी तरह आश्वस्त हो गया। दूसरे दिन यह कहकर चले गये कि नवम्बर के प्रथम सप्ताह में एक बार पूरे क्षेत्र को देखो, समस्याएं समझो तथा अपने रहने-खाने की व्यवस्था करके आओ।

उनके जाने के बाद दो-तीन दिन तक मैं सोचता रहा कि कैसे एक 'अन्तर्राष्ट्रीय गणित परिषद' के आठ वर्ष तक अध्यक्ष रहे, बिना विशेष साधन सम्पन्न, कभी-कभी आन्दोलन द्वारा प्रायोजित संघर्ष में अपनी पूरी पेंशन खर्च करने के कारण दो-चार सौ रुपये भी पत्नी, सहयोगियों से लेने वाले शर्मा जी का आत्मविश्वास, उत्साह कितना है कि ऐसी परिस्थितियों में भी कार्य की सफलता में उन्हें तनिक सन्देह नहीं है।

वास्तव में किसी कार्य के सम्पन्न होने में सबसे बड़ा कारक उत्साह और आत्मविश्वास होता है। यदि कार्य सबके हित को ध्यान में रखकर, स्वार्थरहित होकर किया जाता है, तो इसे पूर्ण करने में ईश्वर मदद करता है। मैं अपनी सामर्थ्य, साधन की कमी आने वाली कठिनाईयों से अधिक महत्त्व इस बात पर देने लगा कि इसमें समाज के हर वर्ग के लोगों से मिलने, उनसे सीखने का मौका मिलेगा। सैकड़ों स्कूल के विद्यार्थियों से 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' की अच्छी बातों को बताने का मौका मिलेगा, अनेक तरह की कठिनाइयों के निराकरण की युक्ति ढूँढ़ने का मौका मिलेगा और सबसे बड़ा व्यक्तिगत लाभ होगा- निष्काम-निःस्वार्थ कर्म करने से चित्त-शुद्धि होगी। परिवार की मोह-ममता भी कम होगी।

बुलन्दशहर तथा मेरठ के गाँधी आश्रम, हमारी बातों से सन्तुष्ट होकर, निःशुल्क रहने तथा अपने मेस में भोजन देने हेतु सहर्ष तैयार हो गये। बागपत में अवकाश प्राप्त तथा सेवाकाल में ईमानदारी तथा कर्त्तव्यनिष्ठा के लिये ख्यातिप्राप्त पुलिस उपाधीक्षक श्री महावीर सिंह ग्राम फैजपुर, निनाना, बागपत, जो गाँव के पैतृक आवास पर सपत्नीक रह रहे थे, बे बड़ी प्रसन्नता से अपने घर रुकने हेतु आमन्त्रित किया। उनके साथ वैदिक इण्टर कालेज के प्रधानाचार्य ने आरम्भ से अन्त तक सक्रिय सहयोग दिया। अलीगढ़ में स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी मेरे शिक्षक श्री वंशबहादुर सिंह का आवास हमारे लिये हर-तरह से उपयोगी रहा। मथुरा में कृष्ण जन्मभूमि स्थित अन्तर्राष्ट्रीय गेस्ट हाउस का एक कमरा। इसी यात्रा में मानव शृङ्खला के पास के स्कूल-कॉलेज, गाँव-शहर के लोगों से सहयोग लेने हेतु नक्शा बना। मनीषी जी अनुभवी, काम के प्रति समर्पित, उद्देश्य की पूर्ति हेतु किसी स्तर तक त्याग करने के लिये तैयार थे। एक हफ्ते पूरी परिस्थिति की जानकारी कर, प्रबुद्ध लोगों से सहयोग का आश्वासन प्राप्त कर, आत्मविश्वास दृढ़ कर, उत्साह से भरे हम लोग पुनः शीघ्र आकर कार्य प्रारम्भ करने की बात तय कर लौट आये।

दूसरी बार जाने पर बुलन्दशहर के गाँधी आश्रम में रहकर, विद्यालयों में प्रधानाचार्य, अध्यापकों से सामूहिक बात कर उन्हें सहयोग हेतु तैयार करना, आवश्यकतानुसार विद्यार्थियों की प्रार्थना सभा में विद्यार्थियों को पूरी बात समझाकर उत्साह से भाग लेने हेतु प्रेरणा देना, क्षेत्र के प्रबुद्ध प्रभावशाली लोगों से सहयोग लेना, उन्हें लेकर अन्य लोगों से मिलना, प्रति किलोमीटर लगभग एक हजार विद्यार्थियों-किसानों-व्यापारियों का आकलन कर नक्शा तैयार करते जाना, कभी-कभी शर्मा जी तथा उनके अन्य साथियों को बुलाकर विशिष्ट जनों को प्रभावित करने तथा समस्याओं का निराकरण करते जाना- इस तरह कार्यक्रम चलता रहा। मथुरा में सन्तों, महन्तों से सहयोग हेतु प्रार्थना कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का कार्यक्रम चलता रहा।

इस यात्रा में विशेषतः खुर्जा, बुलन्दशहर, अलीगढ़ तथा मेरठ में कार्य हुआ। जीप में तेल की समस्या नहीं होती। राष्ट्रवादी सोच वाले ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो राष्ट्र के हित में किये जाने वाले कामों में हर तरह का सहयोग देने में प्रसन्नता का अनुभव न करते हों।

अन्तिम दिनों में ठण्डक तथा कुहरा के कारण लगभग बीस दिन विद्यालय बन्द हो गये। अतः कार्य में रुकावट आई। डॉ० विष्णु प्रकाश श्रीवास्तव, अध्यक्ष गणित विभाग, डीन विज्ञान संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय के आवास 8/5 रूपनगर दिल्ली-7 पर होने वाली समीक्षा बैठक में मैंने निर्धारित तिथि को टलने का आग्रह किया, परन्तु प्रयास बढ़ाकर निर्धारित तिथि को

ही सम्पन्न करने की सहमति बनी। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कारण हुए खुर्जा का पाटरी उद्योग तथा बुलन्दशहर के पास चीनी उद्योग का विस्तश्त विवरण, जो मैं तैयार कर रहा था, पूरा न हो सका।

भारतीय संस्कृति में 'मातृदेवो भव', 'पितृ देवो भव' के बाद 'अतिथि देवो भव' की महत्ता पर बल दिया गया है। भारतीय संस्कृति में कोई व्यक्ति, अतिथि को सम्मान देने, उसकी आव-भगत करने में अपने को गौरवान्वित महसूस करता है। अतिथि के आते ही सर्वप्रथम परिचय पूछने के पूर्व जल दिया जाता है। उसके बाद ही आवश्यकतानुसार अन्य प्रबन्ध किये जाते हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ प्रचार माध्यमों का प्रयोग कर ऐसी धारणा लोगों के दिमाग में बैठाने का निरन्तर सफल प्रयास कर रही हैं कि बोतलबन्द पानी ही उनके लिये सुरक्षित है। यह कार्य भारतीय संस्कृति की इस उच्च परम्परा को तोड़ रही है। बारह से बीस रूपये प्रति बोतल खरीद कर इस परम्परा का निर्वाह, अतिथि का स्वागत कितने लोग कर पायेंगे? यह गम्भीरता से विचार करने का विषय है।

महर्षि अरविन्द के साथ बहुत दिन रहने वाली,आश्रम की सञ्चालिका तथा पाण्डिचेरी के पास बहुत बड़े वीरान क्षेत्र को हरे-भरे जङ्गलों में परिवर्तित करने वाली, आस-पास के लोगों को रोजगार का अवसर प्रदान करने वाली 'दी मदर'- माता जी ने एक घटना का जिक्र किया है। उसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। यह उल्लेख बहुत से प्रश्नों का उत्तर दे देगा। माता जी ने लिखा है-

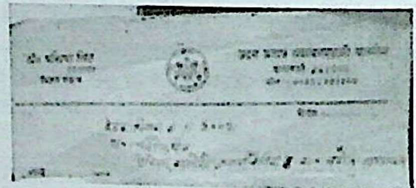
एक बार पाण्डिचेरी में भयङ्कर बीमारी (प्लेग) का प्रकोप हुआ। पाण्डिचेरी तथा उसके आस-पास के लोग मरने लगे। मैं (माता) एक गाँव की स्थिति देखने गयी। गाँव में प्रवेश के पूर्व घुटने भर पानी वाला एक नाला था, जिसमें होकर ही गाँव में जाना सम्भव था। नाले का पानी गन्दा कीचड़ से युक्त था। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब पता चला कि वह एक मात्र ऐसा गाँव है जिसमें बीमारी का कोई प्रभाव नहीं है। मैं उसका कारण खोजने लगी। पूछा कि गाँव के लोगों के पानी का स्रोत क्या है? मालूम हुआ कि एक मात्र वही नाला जिससे होकर मैं गाँव में गयी थी।

पाञ्चभौतिक शरीर की संरचना ऐसी है कि मनुष्य अपनी प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाकर किसी विपरीत परिस्थिति का मुकाबला करने योग्य बना सकता है। एक तरफ ऐसे योगी मिलते हैं, जो गोमुख जैसे स्थान पर नङ्गे बदन रहकर, आलू खाकर मस्त रहते हैं तथा दूसरी तरफ विलासितापूर्ण जीवन जीने वाले, तामसिक खाद्य-पदार्थ लेकर कमरे के अन्दर भौतिक साधनों से निवास स्थान को गरमकर, मोटी रजाई ओढ़कर, ठण्डक का अनुभव करते हैं।

'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' (योग वाशिष्ठ 5/18/61)

प्रसिद्ध ही है। इसका अनुभव मुझे 29 फरवरी 2003 को मानव शृङ्खला की निर्धारित तिथि के समय हुआ। मथुरा से गिरिराज पर्वत के रास्ते पर लगभग दो किमी० का स्थान ऐसा था, जिसके पास विद्यालय-बस्ती नहीं थी। इस समस्या को मैंने शर्मा जी तथा आन्दोलन के साथियों से बताया था। तीन दिन पूर्व - 26 फरवरी को मैं अलीगढ़ में था। शर्मा जी ने फोन कर बताया कि तुम सबकुछ छोड़कर मथुरा पहुँचो। भारत के कई स्थानों से लोग, दो

हजार की संख्या में, 28 फरवरी की शाम तक मथुरा पहुँचेंगे। उनके रहने खाने की व्यवस्था तुम्हें करनी है। लक्ष्मीनारायण नाईक, पूर्व सांसद निवाड़ी टीकमगढ़ म0प्र0, भी तुम्हारी मदद हेतु तुम्हारे साथ रहेंगे। मैं मनीषी जी के साथ मथुरा पहुँचा तथा मथुरा-वृन्दावन-गिरिराज परिक्रमा मार्ग स्थित सभी सन्तों से समस्याओं को बताकर उनसे आश्रम में सुविधानुसार लोगों को ठहरने का प्रबन्ध करने का अनुरोध किया। पचास से लेकर पाँच सौ तक की संख्या में लोगों के ठहरने-खाने हेतु सन्तों ने स्वीकृति दे दी तथा असम्भव प्रतीत होने वाला कार्य सकुशल सम्पन्न हुआ। बड़ौत में हुई एक ऐसी मीटिंग का नीचे जिक्र है।



'आजादी बचाओ आन्दोलन' के राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य के रूप में जिम्मेदारी का निर्वाह।

आजादी बचाओ आन्दोलन की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में मैंने पैम्फ्लेट्स निकालने, 'डण्कन ड्राफ्ट' तथा समय-समय पर अन्य सामाजिक मुद्दों के विरोध में सामूहिक हस्ताक्षर कराकर पत्र भेजने आदि में मदद की। दूसरे चरण में किसानों को लामबन्द करने तथा विकास के, उद्योग केन्द्रित कार्पोरेट मॉडल तोड़कर कृषि केन्द्रित लोक शक्ति मॉडल स्थापित करने में मदद की।

सन् 2001 में आन्दोलन के राष्ट्रीय सम्मेलन, जौनपुर में भाग लिया, जिसमें बहुराष्ट्रीय उपनिवेशवाद के प्रतीक पेप्सी-कोक को निशाना बनाने का निर्णय हुआ। इसी निर्णय के अनुसार पेप्सी-कोक के विरुद्ध, इलाहाबाद-जौनपुर-वाराणसी-इलाहाबाद के बीच तीन सौ किमी0 लम्बी मानव-श्रृङ्खला दि0 01 फरवरी 2001 को आयोजित हुई। आन्दोलन की स्थापना के समय से ही जुड़े रहने के कारण वाराणसी शहर तथा आस-पास की जिम्मेदारी मुझे सौंपी गयी। इस हेतु कालेज के पचास तेज-तर्रार विद्यार्थियों को मैंने तैयार किया। लगभग 36 विद्यालयों की प्रार्थना सभाओं में पेप्सी-कोक के सेवन से होने वाली हानि, देश की अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव आदि की विस्तृत जानकारी दी गयी। प्रभावशाली नारों जैसे- 'दूध-दही के देश में पेप्सी-कोला नहीं चलेगा' की मदद से उत्साह भरा गया। परिणाम बहुत उत्साहजनक रहा। तीन सौ किमी की मानव श्रृङ्खला में, वाराणसी की मानव श्रृङ्खला सबसे अच्छी मानी गयी। सेण्ट मेरीज स्कूल, कैन्ट, भारतीय शिक्षा मन्दिर, सिस्टर ग्रेसी के नेतृत्व में सेण्ट जोसफ इण्टर कालेज, शिवपुर तथा सेण्ट जान्स स्कूल मढ़ौली आदि का योगदान प्रशंसनीय रहा।

कुरुक्षेत्र सम्मेलन में हमारी राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने ऐसे समाज की स्थापना हेतु कार्य करने का निर्णय लिया, जिसमें हर व्यक्ति को ईमान की रोटी और इज्जत की जिन्दगी मयस्सर हो सके। यह सम्मेलन स्वामी सहजानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल- अंग्रेजी माध्यम

के इण्टर स्तर तक के विद्यालय- में सम्पन्न हुआ था। यहाँ तीन दिन रहा। आवासीय छात्रों का प्रातः स्नान, यज्ञ-कार्यक्रम में भागीदारी, घुड़सवारी आदि के साथ विद्यालय के अध्यापकों द्वारा निःशुल्क पढ़ना तथा आदर्श प्रधानाचार्य डॉ0 देवव्रत शास्त्री, वर्तमान में राज्यपाल, हिमांचल प्रेदेश की शिक्षाप्रद बातें बहुत प्रभावशाली थीं।

दि0 10-11-12 अक्टूबर 2003 को आजादी बचाओ आन्दोलन का राष्ट्रीय सम्मेलन काशी विद्यापीठ वाराणसी, में आयोजित हुआ।इसकी जिम्मेदारी मैंने तथा डॉ0 राम प्रकाश द्विवेदी, निदेशक, गॉधी अध्ययन पीठ ने ली थी। इस सम्मेलन की तैयारी हेतु दि0 16 सितम्बर 2003 को एक बैठक गाँधी अध्ययन पीठ में मैंने आयोजित की थी, जिसकी अध्यक्षता पद्मश्री रघुनाथ सिंह गहलौत ने की थी। इसी मीटिंग में सम्मेलन की पूरी रूप-रेखा तैयार हुई थी। इसमें विद्यापीठ के प्रो0 परमानन्द सिंह अध्यक्ष, इतिहास विभाग तथा कुछ अन्य प्राध्यापकों ने भोजन आदि की व्यवस्था में मदद की थी। आन्दोलन में सम्पूर्ण भारत से आये लगभग तीन हजार कार्यकर्ताओं के आवास की व्यवस्था सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के शताब्दी भवन में तथा भारतीय शिक्षा मन्दिर इंगलिशिया लाइन के कमरों में निःशुल्क की गई थी। इस व्यवस्था में प्रो0 शोभनाथ त्रिपाठी तथा तत्कालीन प्राक्टर, विश्वविद्यालय के इंजिनियर तथा भारतीय शिक्षा मन्दिर के तत्कालीन प्रधानाचार्य डॉ0 त्रिभुवन सिंह का हम तथा आन्दोलन सदैव आभारी हैं।

'जाग्रत-विद्यार्थी-समाज'- उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

अठारह सितम्बर 2001 को कॉलेज के प्राचार्य डॉ0 वी0वी0 सिंह ने प्रातः मुझे अपने आवास पर बुलाया तथा 28 सितम्बर को छात्र-यूनियन का चुनाव सम्पन्न कराने हेतु कहा। मैंने कहा कि यह सत्र मेरे सेवा काल का अन्तिम सत्र है। पिछले वर्ष चुनाव में कुछ गड़बड़ी भी हुई थी। यदि कुछ गड़बड़ हो जायेगा, तो मेरे ऊपर यह कलङ्क लगेगा तथा यह मेरे लिये अच्छा नहीं होगा। अतः किसी दूसरे को जिम्मेदारी दीजिये। उन्होंने कहा कि मैंने कई लोगों से बात की है। सभी आपको जिम्मेदारी देने को कह रहे हैं। शायद कुछ दिन पहले आयोजित सफल 'मानव-शृङ्खला' में कॉलेज के कुछ विद्यार्थियों की भागीदारी का प्रभाव रहा हो। अतः उन्होंने आग्रह किया कि मैं ही यह कार्य सम्पन्न करूँ। मैंने स्वीकार कर लिया।

उसी दिन कॉलेज की कक्षाओं में जाकर चुनाव के बारे में बताया। मैंने कहा कि इस बार चुनाव बिना पुलिस की सहायता से होगा। इस हेतु जो विद्यार्थी मेरे निर्देशन में काम करने को उत्सुक हों, एक आदर्श प्रस्तुत करने में भागीदार बनना चाहते हों, मेरे द्वारा प्रस्तावित 'आदर्श विद्यार्थी संघटन' के सदस्य बनना चाहते हों, वे कल तक अपना नाम संकायाध्यक्ष कार्यालय में दे दें। दो दिनों में लगभग छः सौ विद्यार्थियों ने नाम दिया। उसके दो-तीन दिन बाद मैंने विभिन्न पदों पर नामाङ्कन करने वाले कुल चौंसठ छात्र-छात्राओं को बुलाया। शास्त्रों का उदाहरण देकर अनेक तरह से समझाया। अपनी तरफ से नाश्ता कराया तथा निम्न बातों का पालन करने हेतु उनकी स्वीकृति लिया।

1- आपस में सभी प्रेम से मिलेंगे, अपनी बात कक्षाओं में कहेंगे, परन्तु किसी स्तर पर कटुता का भाव नहीं आने देंगे।

2- पोस्टर, बैनर, गेट-निर्माण आदि पर कोई खर्च नहीं करेगा।

3- विद्यालय के बाहर की किसी संस्था का कोई विद्यार्थी सहयोग हेतु नहीं बुलाया जायेगा।

4- कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जिसमें पुलिस की आवश्यकता पड़े।

सभी विद्यार्थी बड़े आदरपूर्वक आशीर्वाद लेकर गये। आदर्श विद्यार्थी संघठन के विद्यार्थियों से अपेक्षा की गयी कि वे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर, दिनांक 28 को पंक्ति में खड़े रहकर सबका स्वागत करेंगे। प्रयास करते रहेंगे कि उक्त नियमों का पालन सभी प्रत्याशी कर रहे हैं। परिस्थितियों के प्रति जागरूक रहेंगे तथा अपना मत समय समाप्त होने के कुछ पूर्व वे एक साथ देंगे। तत्कालीन पुलिस अधीक्षक से मैंने निवेदन किया कि हमें पुलिस की आवश्यकता बिलकुल नहीं हैं। मेरे आग्रह पर वे इस बात पर तैयार हुए कि पिछले वर्ष से बहुत कम पुलिस रहेगी। मतदान के समय पुलिस की मदद नहीं ली गयी तथा दूसरे दिन समाचार पत्रों में समाचार निकला कि पुलिस आराम करती रही तथा चुनाव शान्तिपूर्ण सम्पन्न हुआ।

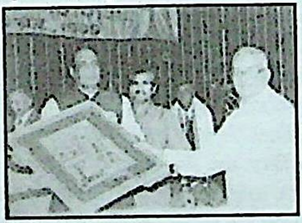
विद्यार्थियों का मन परिपक्व नहीं होता। यदि हम अपने सद्भाव तथा सदाचार से उन्हें प्रभावित करने में समर्थ हों, उनके प्रति स्नेह-पूर्ण हों, मित्रवत उनकी कठिनाइयों को सुनने तथा हल करने के प्रति तत्पर हों, उनके अन्दर स्वयं को उनके शुभेच्छु होने का विश्वास दृढ़ करने में सक्षम हों, तो विद्यार्थी अपने ऐसे अध्यापक की हर बात का पालन कर प्रसन्न होता है।

25 नवम्बर को प्रतिवर्ष कॉलेज का स्थापना दिवस मनाया जाता है। उस वर्ष तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री राजनाथ सिंह, मुख्य अतिथि के रूप में आने वाले थे। प्राचार्य ने चुनाव कार्य देखकर मुझसे कहा कि पच्चीस नवम्बर का कार्यक्रम आप को ही कराना है। खर्च जो लगे परन्तु व्यवस्था सर्वोत्तम हो। राजर्षि सभागार में माइक की आवाज गूँजती है- इस समस्या के निराकरण हेतु कुछ करने की भी बात कही।

इस सम्बन्ध में चुनाव के समय स्थापित आदर्श विद्यार्थी संगठन को बहुद्देशीय बनाकर विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण, उनके अन्दर छिपी प्रतिभाओं-गुणों के विकास, उनको व्यक्तिगत, सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक करने आदि बातों को ध्यान में रखकर एक नियमावली बनायी गयी। सदस्यता ग्रहण करने की शर्त रखकर एक फार्म भरवाया गया। इसमें लगभग दो सौ पचास छात्राएं तथा सात सौ पचास छात्रों ने गहरी रुचि ली। संघठन का नाम परिवर्तित कर इसका नाम 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' रखा गया।

राजर्षि सभागार को अपनी कला-कृतियों से सजाने का काम विशेष रूप से छात्राओं ने किया। सभागार में प्रतिध्वनि के कारण गूँजती आवाज की समस्या से निबटने हेतु स्टेज की दोनों तरफ सभामध्य में दीवारों पर, थर्माकोल पर अच्छे सन्देश देने वाले चित्रों को उकेर कर लगाने का निश्चय किया गया। इस कार्य को सम्पन्न किया बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के कला संकाय के आठ-दस छात्रों ने। सभागार में लगी चाँदनी तथा जमीन पर बिछी दरी ने भी प्रतिध्वनि को रोकने में मदद की। 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' की छात्र-छात्राएं कई टोलियों में बँटकर कार्यक्रम को भव्य रूप देने तथा इसे ऐतिहासिक बनाने में लगे थे। निर्णय हुआ कि कार्यक्रम में भाग लेने हेतु आने वाले प्रत्येक अतिथि, प्राचीन छात्र, गुरुजन के हाथ में, मन को प्रसन्न कर देने वाले ज्ञानपूर्ण कथन, विद्यार्थियों द्वारा समर्पित किये जायेंगे। इसके पूर्व

आगन्तुकों का स्वागत विद्यार्थी टीका लगाकर करेंगे तथा चरण-स्पर्श करेंगे। मुख्यमन्त्री तथा विशिष्ट अतिथियों का स्वागत, भारतीय संस्कृति का पालन करते हुए साड़ी पहनी हुई पाँच छात्राएं, प्रज्वलित दीप से आरती उतार कर तथा टीका लगाकर करेंगी। प्राचीन समृद्ध भारतीय संस्कृति तथा आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न स्थिति में सामञ्जस्य स्थापित करने के उद्देश्य से राजर्षि पब्लिक स्कूल के छोटे-छोटे विद्यार्थी स्टेज के कार्यक्रम में आगे थे तथा उक्त पाँच छात्राएं उनके आधार स्वरुप होकर उनकी मदद कर रही थीं। 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' के विद्यार्थियों की प्रशंसा श्री कमल नारायन सिंह पूर्व मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय तथा अध्यक्ष उदय प्रताप शिक्षा समिति ने भी स्टेज से किया। मैंने 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' की ओर से एक स्मृति चिह्न मुख्य अतिथि को भेंट किया।



मुख्यमन्त्री को स्मृति चिह्न देते हुए

सन् 2002 के प्रारम्भ में उत्तर-प्रदेश विश्व विद्यालय- महाविद्यालय की सांस्कृतिक तथा खेल-कूद प्रतियोगिता होनी थी। कालेज के प्राचार्य डॉ० बी० बी० सिंह ने मुझसे कहा कि शिक्षामन्त्री ओमप्रकाश सिंह उक्त प्रतियोगिता का आयोजन हमारे कालेज में चाहते हैं। इस हेतु उन्होंने हम दोनों को अपने आवास पर बुलाया है। उनके आवास पर जाने पर मन्त्री जी ने कहा कि जाग्रत विद्यार्थी समाज के विद्यार्थियों के सहयोग से उक्त आयोजन आप के कॉलेज में किया जाय- ऐसा मैं चाहता हूँ। हम लोग सहर्ष तैयार हो गये तथा पूरी तैयारी होने लगी। बिना किसी व्यवधान के दिन में खेल-कूद तथा रात में सांस्कृतिक प्रतियोगितायें सम्पन्न हुईं।



मन्त्री जी, कुलपति के साथ विचार करते हुए लेखक
दायें से मन्त्री श्री ओमप्रकाश सिंह, कुलपति श्री नरेश चन्द्र गौतम, श्री चेत नारायण सिंह वर्तमान शिक्षक विधायक, डॉ० वशिष्ठ सिंह

'जाग्रत विद्यार्थी समाज' की राष्ट्रीय गतिविधियाँ

जाग्रत विद्यार्थी समाज द्वारा उदय प्रताप कालेज में बिना पुलिस की सहायता से चुनाव सम्पन्न कराने, 25 नवम्बर के संस्थापन समारोह के अनूठे ढंग से सम्पन्न कराने आदि के सम्बन्ध में 'आजादी बचाओं आन्दोलन' के संस्थापक प्रो० बनवारी लाल शर्मा ने मुझसे इसकी गतिविधियों के सम्बन्ध में जानकारी ली तथा उन्होंने आन्दोलन के कुछ साथियों सहित इन विद्यार्थियों से मिलना चाहा। एक दिन 'समाज' के लगभग एक हजार विद्यार्थियों ने राजर्षि सभागार में शर्मा जी एवं आन्दोलन के अन्य साथी श्रीरामधीरज जी, श्री मनोज त्यागी आदि का खूब उत्साह से स्वागत किया। कुछ विद्यार्थियों ने अपने विचार रखे तथा शर्मा जी ने उपयोगी अनेक बातों को बताकर उनका उत्साह-वर्धन किया। इसके पूर्व भी एम०एस-सी० द्वितीय वर्ष की मौखिक परीक्षा हेतु, बाह्य परीक्षक के रूप में तथा बी०एच०यू० के गणित विभाग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में व्याख्यान देने के समय वे 'गणित की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता' विषय पर व्याखान देने विद्यालय आ चुके थे। शर्मा जी ने मुझे आजादी बचाओ आन्दोलन, इलाहाबाद के कार्यालय में एक निर्धारित तिथि को बुलाया, जिसमें आन्दोलन के प्रमुख साथी उपस्थित थे। जाग्रत विद्यार्थी समाज की स्थापना तथा इसकी गतिविधियों पर विस्तार से चर्चा के बाद तय किया गया कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व, विद्यालय के स्वस्थ परिसर एवं वातावरण तथा समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में युवा शक्ति द्वारा रचनात्मक भूमिका अदा कर सकने के उद्देश्य से आन्दोलन जाग्रत विद्यार्थी समाज को अपनी एक इकाई मान ले तथा इसे राष्ट्र के सभी विद्यालयों में, इसकी एक इकाई स्थापित की जाय। इस कार्यक्रम के 'राष्ट्रीय संयोजक' पद की जिम्मेदारी मुझे दी गयी। जाग्रत विद्यार्थी समाज के निम्न उद्देश्य रखे गये-

- अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना
- विद्यालय परिसर के भौतिक रूप से स्वस्थ और सुन्दर रख-रखाव में विद्यार्थियों की भागीदारी सुनिश्चित करना
- छात्र-छात्राओं के बीच भाई-बहन के व्यवहार की प्रतिष्ठा करना
- समाज एवं राष्ट्र के प्रति कर्तव्य बोध जागृत करना
- भारतीय जीवन मूल्यों में निष्ठा जागृत करना

समाज के मुख्य कार्यक्रम

- विशेषज्ञों द्वारा योगासन के प्रशिक्षण हेतु तथा विद्यालय परिसर में खेल-कूद की यथासम्भव व्यवस्था करना
- विद्यालय परिसर की सफाई तथा दैनिक सेवाओं- शौचालय, पीने के पानी के स्थान आदि के समुचित रख-रखाव में मदद करना
- भारतीय संस्कृति के मूल्यों के प्रति चेतना जगाने के लिये व्याख्यान माला का आयोजन करना
- विद्यालय और समाज में उल्लेखनीय योगदान करने वाले विद्यार्थियों, शिक्षकों, प्रधानाचार्यों तथा प्रबन्धकों को सम्मानित करना

समाज की कार्यप्रणाली

- विद्यालय में समाज की इकाईगठित की जायेगी
- विद्यालय इकाई की एक संचालन समिति होगी। इसके सदस्य आम सहमति से एक संयोजक तथा एक सह-संयोजक का चयन करेंगे
- विद्यालय के कुछ शिक्षक, शिक्षक-अविभावक के रूप में समिति के सदस्य होंगे, जो छात्रों के मार्गदर्शक के रूप में कार्य करेंगे
- विद्यालय के प्रवन्धक तथा प्राचार्य समिति के संरक्षक होंगे
- विद्यालय के वे विद्यार्थी समाज के सदस्य होंगे, जो इसकी सदस्यता की शर्तों को सहर्ष स्वीकार करेंगे

सदस्यता की प्रमुख शर्तें-

- कठोर परिश्रम तथा समय का सदुप्रयोग करते हुए अध्ययन करना तथा समाज में अपनी एक पहचान बनाने हेतु प्रयत्न करना
- किसी भी प्रकार के नशे के सेवन से स्वयं बचना तथा दूसरों को यथा सम्भव इससे रोकने हेतु प्रयास करना
- विद्यालय को परिवार मानकर सबके साथ यथोचित व्यवहार करना
- अपने देश की बनी हुई चीजों के इस्तेमाल करने हेतु वचन बद्ध होना

जाग्रत विद्यार्थी समाज की स्थापना, इसकी नियमावली, सदस्यता हेतु आवश्यक शर्तें आदि के सम्बन्ध में विद्यालयों को पत्र भेजे गये तथा आन्दोलन की पाक्षिक बुलेटिन 'साथियों की चिट्ठी' आदि द्वारा समाज के उद्देश्य तथा कार्यक्रम की जानकारी दी गयी। आन्दोलन के सदस्य विद्यालय की प्रार्थना सभाओं में जाकर समाज की स्थापना के बारे में बताते तथा प्रायः इसकी एक इकाई विद्यालय में गठित हो जाती। मेरे पास अनेक राज्यों के विद्यार्थियों के पत्र आये तथा उन्होंने अनेक जानकारियाँ चाहीं। एक दिन मुझे बहुत प्रसन्नता हुई जब म०प्र० के बेतुल के एक विद्यालय के एक छात्र ने पत्र लिखकर मुझे सूचना दी कि हमारे विद्यालय के प्रार्थना सभा में प्रधानाचार्य ने आपका पत्र पढ़ा, जिसका प्रभाव इतना पड़ा कि विद्यार्थियों ने नशे का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार इसकी गतिविधियाँ, आजादी बचाओ आन्दोलन की एक इकाई के रूप में, चल रही हैं।

उदय प्रताप कालेज के अविधिक प्रबन्धन के विरुद्ध संघर्ष

उदय प्रताप कालेत की सेवा से निवश्त होने के पश्चात् कालेज की कुछ अनियमितताओं, धन के दुरुपयोग, शैक्षिक वातावरण आदि के सम्बन्ध में बात करने के लिये मैंने एक पत्र वर्तमान प्रवन्ध समिति के अध्यक्ष, पूर्वमुख्य न्यायाधीश श्री के० ऐन० सिंह को लिखा। 14 अगस्त 2002 को उनका लिखा एक पत्र मिला-

'In case you want to see me earlier , you may come to Noida at my residence.'

मैं उनके आवास पर मिला तथा दो घण्टे लम्बी चर्चा हुई। अन्त में उन्होंने कहा 'I am very much obliged to you Dr. Singh.' मैं जानता नहीं था। मैं पूरी बातों की जॉच कराऊँगा तथा

तदनुसार कार्यवाही करूँगा, परन्तु मैं जज रहा हूँ, इसलिये इन बातों को लिखकर एक प्रतिवेदन के रूप में भेजें।

वाराणसी वापस आने पर पच्चीस लोगों के हस्ताक्षर से, नौ पृष्ठों का एक प्रतिवेदन भेजा गया, जिसमें अनेक बातें थी। एक बिन्दु के रूप में उसमें लिखा था 'We almost quote frequently the radish purchase and use of Khatnahi [wooden chappal]. Most of us what we are today, entirely due to the mercy of our great Founder. A penny saved is a penny gained. Unfortunately we see that Rs. 80000 approx. is being spent on holding one meeting of committee of management.'

यद्यपि अध्यक्ष महोदय तथा तत्कालीन सचिव श्री लाल जी सिंह ने स्वीकार किया कि पत्रक में लिखी सभी बातें पूर्ण रूप से सही हैं, परन्तु कार्रवाई करने का आश्वासन मिलने के पश्चात् भी कुछ नहीं हुआ।

आर०एस०एम०टी० के नाम पर जमीन खरीद-प्रकरण

19/20 मई 2007 शनिवार/रविवार को उदय प्रताप शिक्षा समिति की मीटिंग हुई। उसके एजेण्डा नं० 16 पर हुए निर्णय के कुछ बिन्दुओं को ध्यान से देखें।

'माननीय अध्यक्ष महोदय ने सभी सदस्यों को भूमि क्रय करने सम्बन्धित सम्पूर्ण विवरण, जिसमें क्रय की जाने वाली भूमि व नक्शा, क्षेत्रफल, स्थिति आदि का स्पष्ट उल्लेख था, से अवगत कराया। शिक्षा समिति ने यह निर्णय लिया कि प्रस्तावित जमीन रु० 46,800/ प्रति बिस्वा की दर से क्रय कर लिया जाय।

जमीन खरीदने के लिए धन आर०एस०एम०टी०, शिक्षा समिति के सम्बन्धित संस्थाओं से प्राप्त किया जाय। यदि इसके लिए धन कम होता है, तो भारतीय स्टेट बैंक से रु० चार करोड़ ऋण लेने के लिए सचिव एवं सयुक्त सचिव आवश्यक कार्यवाही करेंगे।

इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न, जिनमें कुछ प्रश्न माननीय सदस्यों से भी पत्र के माध्यम से पूछे गए थे, विचारणीय हैं।

(1) उक्त जमीन प्रस्ताव के दिन के पूर्व, समिति के किसी सदस्य ने नहीं देखा था। किसी को वहाँ बाबतपुर-निवाह ग्राम जमीन की बिक्री दर का कोई पता नहीं था।

(2) कुल जमीन की खरीद गोरखपुर के एक व्यक्ति श्री संजय जायसवाल के माध्यम से होनी थी।

(3) कुल 38 एकड़ जमीन में लगभग आधा में रास्ता, तालाब तथा ग्राम समाज की जमीन थी।

(4) ग्रामीणों द्वारा जिलाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत प्रार्थना पत्र में जमीन की दर 5-7 हजार रु० बिस्वा दर्शायी गई थी।

(5) प्रस्ताव के अनुसार यदि जमीन खरीद में कुछ पैसा शिक्षा समिति का लगना था तो क्या उक्त जमीन की या उस पर निर्मित भवन की मालिक शिक्षा समिति नहीं होती?

(6) शिक्षा समिति में सदस्यता शुल्क भी नहीं है और न किसी सदस्य ने शिक्षा समिति में कभी किसी प्रकार का पैसा/सम्पत्ति जमा किया/कराया है तो, क्या शिक्षा समिति का पूरा पैसा ट्रस्ट की संस्थाओं का पैसा नहीं है?

(7) इलाहाबाद बैंक, उदय प्रताप कालेज परिसर के खाता सं० 1003, जो हीवेट क्षत्रिया स्कूल के नाम है ट्रस्ट का खाता है तथा इस खाते को शिक्षा समिति प्रस्ताव द्वारा अपना खाता कहती है। उसमें राजर्षि तथा उनकी पत्नी रानी मुरार कुमारी द्वारा 1908 से 1922 तक जमा Endowment Fund से प्रतिवर्ष प्राप्त होने वाली ब्याज राशि, जो ट्रस्ट के उक्त खाते में जमा की जाती है तथा सोसायटी के सचिव द्वारा अवैध तरीके से निकाली जाती है, की मालिक शिक्षा समिति है?

(8) क्या स्टेट बैंक से रु० चार करोड़ का कर्ज जिस जमीन/ सम्पत्ति को बन्धक रखकर लिया जाना था, वह राजर्षि द्वारा 10 फरवरी 1910 को जारी अधिसूचना संख्या 121/xv-161 के खण्ड (3) में उल्लिखित 'that they be not mortgaged, exchanged, sold or in any other way alienated.' का उल्लंघन नहीं है?

रजिस्ट्री की तारीख सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में तय हुई। 40 लाख रु० का अग्रिम चेक देने हेतु बन गया। भगवत् कृपा से चेक प्राप्ति के एक दिन पूर्व संजय जायसवाल की होण्डा सिटी गाड़ी भोजूबीर में खराब हो गई तथा रात में बन नहीं पाई। उक्त जमीन से भली-भाँति परिचित एक व्यक्ति ने शाम लगभग 7 बजे पूरे विवरण से मुझे तथा श्री त्रिलोक नाथ सिंह को अवगत कराया। रात में हम लोग उस वकील से भी सम्पर्क किए जो उस जमीन तथा ग्रामीणों से परिचित थे। उन्होने मदद का आश्वासन दिया। इस जमीन की बिक्री तत्कालीन कार्यरत श्री जनार्दन सिंह JE के माध्यम से होनी थी। मैं प्रातः श्री जनार्दन सिंह के घर गया। उन्होंने बताया कि मैं ही संजय जायसवाल को लेकर अध्यक्ष महोदय के घर नोएडा गया था, जहाँ सौदा तय हुआ। मैंने श्री जनार्दन सिंह से अनेक तरह की बातें कीं तथा सौदा 15-20 दिन टलने का आग्रह किया। ऐसा न होने पर समाचार पत्र द्वारा प्रचारित करने की भी बात मैंने रखी। मैं आभारी हूँ कि उन्होंने दूसरे दिन चेक न देने तथा सौदे को 15-20 दिन टलने का वायदा किया तथा वायदा निभाया। मैंने पूरी बात कुँवर रनजीत सिंह से बताई इस सौदे के रद होने का श्री कुँवर रनजीत सिंह तथा उनके वकील श्री उमाशंकर सिंह को विशेष श्रेय जाता है। अन्य सभी सहयोगी राजर्षि के आशीर्वाद के अधिकारी हैं तथा उन सबकी सत्य के प्रति निष्ठा तथा विद्यालय से लगाव प्रकट होता है।

होटल रमदा में दस्तावेजों का गहन अध्ययन पूरा हुआ। उक्त 15-20 दिन के समय का पूरा सदुपयोग हुआ। उक्त प्रस्ताव का अध्ययन करने, प्रस्तावित क्रय की जाने वाली भूमि का पूरा रिकार्ड देखने, ग्रामीणों से सम्पर्क करने तथा उनके द्वारा जिलाधिकारी को दिए गए प्रार्थना पत्र की जानकारी होने पर, ग्रामीणोंके प्रार्थना पत्र के साथ, राजर्षि की नतिनी के पोते, राजकोट निवासी कुँवर रनजीत सिंह, उनकी दादी, हाई कोर्ट के वकील श्री उमाशंकर सिंह तथा मैं, दि० 07 अक्टूबर 2007 को समय लेकर तत्कालीन जिलाधिकारी श्रीमती वीना से उनके आवास पर मिले। प्रार्थना पत्र पर कुँवर रनजीत सिंह ने राजर्षि के उत्तराधिकारी के रुप में हस्ताक्षर किया था। दस्तावेज देखने पर जिलाधिकारी ने पिण्ड्रा के सब-रजिस्ट्रार को निम्न आज्ञा दी।

'Sub-registrar! इनमें ये ensure कर लें कि ग्राम सभा की जमीनों का बैनामा न हो। जिस समय व्यक्ति बैनामा हेतु आता है तो inform करें। जिलाधिकारी ने यह भी कहा कि

यदि बैनामा के लिए कोई आता है, तो गिरफ्तार करा देंगे। निर्धारित तारीख पर कोई रजिस्ट्री कराने नहीं गया।

दि0 08-10-2007 को प्रातः 11 बजे कुँवर रनजीत सिंह तथा लेखक जिलाधिकारी की आज्ञा की प्रतिलिपि लेकर, पिण्ड्रा तहसील के सब-रजिस्ट्रार से मिले। सब-रजिस्ट्रार पूरी बात से परिचित थे। उन्होंने कहा-

'कालेज को क्या हो गया है कि अपना पैसा गोबर में फेंक रहा है। पहली बात जमीन की बिक्री दर 6-7 हजार रु0 बिस्वा से अधिक नहीं है। दूसरी बात संजय जायसवाल से ग्रामीणों ने जो रजिस्टर्ड एग्रीमेण्ट किया था, उसमें 11-12 लोग एग्रीमेण्ट तोड़ चुके हैं। तीसरी बात उसमें लगभग आधी जमीन ग्राम-समाज की है।' उन्होंने यह भी बताया कि संजय जमीन बिकवाने के लिए मेरे पास दौड़ रहा है। अपना मोबाइल नं0 देकर उन्होंने वायदा किया कि जब बैनामा के लिए कोई आता है तो, जिलाधिकारी के अतिरिक्त हम लोगों को भी वे सूचित कर देंगे।

जिलाधिकारी के आदेश की बात जंगल में आग की तरह फैल गई और बैनामा हेतु कोई नहीं गया। इस तरह कालेज कई गुना अधिक मूल्य देकर मात्र आधी जमीन पाने का हकदार होता, एग्रीमेण्ट तोड़ने वाले ग्रामीणों से लम्बी अवधि तक मुकदमा लड़ता तथा स्टेट बैंक का रु0 4.00 करोड़ का कर्जदार होता। सबसे महत्वपूर्ण बात- कि जमीन की मालिक उदय प्रताप शिक्षा समिति होती; क्योंकि समिति के सचिव तथा संयुक्त सचिव प्रस्ताव के अनुसार एकमात्र अधिकारी होते।

बन्धुओ! राजर्षि के मानस पुत्रो! सत्य के प्रति निष्ठा रखने वालो! राजर्षि की ट्रस्ट की संस्थाओ में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखकर तिलमिला जाने वालो! आप ने सुना होगा कुछ लोगों को कहते-सुनते कि विद्यालय के हित के लिए हम लोग जमीन खरीदना चाहते थे। कुछ लोगों ने नहीं खरीदने दिया। जरा सोचें, किसी द्वारा किसी की सही जमीन की रजिस्ट्री कोई रोक/रोकवा सकता है? लोगों की कल्पनाओं, विचारों के बारे में निर्णय हम आप पर छोड़ते हैं- निष्पक्ष होकर, स्वार्थ से हटकर जरा सोचिए तो। प्राचीन छात्र ऐसोसिएशन ने इसे खूब प्रचारित किया था।

दिनांक 13-6-2003 को उदय प्रताप कॉलेज की वर्तमान प्रबन्ध समिति की मीटिंग यात्रिक होटल इलाहाबाद में हुई। उस मीटिंग में दो निर्णय प्राध्यापकों को उद्वेलित करने वाले थे। सेवा से अवकाश ग्रहण करने की तिथि से सत्रह दिन पूर्व तत्कालीन प्राचार्य का निलम्बन तथा इण्टर कालेज के प्रधानाचार्य को प्रवन्ध समिति का संयुक्त सचिव नियुक्त कर देना। परिणामस्वरुप जुलाई में प्राध्यापकों ने लम्बी हड़ताल की, पढ़ाई-लिखाई बन्द। अध्यापक संघ ने सभी सम्बन्धित अधिकारियों को अनेक पत्र भेजे। इन पत्रों की दो बातों ने मुझे भी बहुत प्रभावित किया।

1- उदय प्रताप कॉलेज की स्थापना, पूर्त विन्यास अधिनियम 1890 के अन्तर्गत राजर्षि उदय प्रताप सिंह द्वारा सन् 1908 में 10.5 लाख के इण्डाउमेन्ट फण्ड, 51.5 एकड़ जमीन खरीद कर, उस पर भवन-निर्माण कर, सम्पूर्ण सम्पत्ति उत्तर प्रदेश सरकार के कोषाध्यक्ष में

निहित कर, उत्तर प्रदेश सरकार को, अधिसूचनाओं की शर्तों का पालन करते हुए प्रबन्धन का अधिकार दिया गया था। अतः इसके संचालन की पूरी जिम्मेदारी राज्य सरकार की है।

2- जमींन खरीदने के नाम पर सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट-1860 के अन्तर्गत स्थापित उदय प्रताप शिक्षा समिति की 10-11नवम्बर 2001 की मीटिंग का निम्न प्रस्ताव-

'परिसर का सम्पूर्ण क्षेत्र एवं भूमि उदय प्रताप शिक्षा समिति के ही स्वामित्व में होना चाहिए। इसमें यदि कोई विधिक विसंगतियाँ या कठिनाइयाँ हैं, तो शीघ्रातिशीघ्र उनका निवारण कर लिया जाय।'

उक्त दोनों बातों को जानकर निम्न प्रश्न मेरे दिमाग में बार-बार उठने लगे-

1- क्या पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 के अन्तर्गत स्थापित संस्था का प्रबन्धन, उस अधिनियम के रहते, दूसरे अधिनियम में स्थापित समिति द्वारा मान्य हो सकता है?

2- यदि समाज के हित में अपना सर्वस्व दान कर कोई भी कार्य करता है और कुछ दिन बाद उसकी किसी इच्छा का पालन नहीं होता, दूसरे लोग उसकी सम्पत्ति पर अपना पूर्ण स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं, तो समाज के लिए अच्छा कार्य करने वाले हतोत्साहित नहीं होंगे?

3- जिस राजर्षि के कारण मेरी जीविका चली, उनके प्रति मैं अपना ऋण किस प्रकार अदा करूँ?

उदय प्रताप कालेज के संस्थापक की इच्छा तथा पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 के अन्तर्गत राज्य सरकार द्वारा जारी की गयी प्रबन्धन योजना, वेस्टिंग आर्डर आदि अनेक अधिसूचनाओं के अनुसार स्थापित न्यास 'उदय प्रताप कालेज एण्ड हीवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेन्ट ट्रस्ट' तथा इसकी संस्थाओं के प्रबन्धन हेतु राज्य सरकार को 'शिक्षक-संघ' उदय प्रताप (स्वायत्तशासी) कालेज ने अनेक प्रतिवेदन दिया था। इसके साथ इस संघर्ष में 'प्राचीन छात्र एसोसिएशन' उदय प्रताप कॉलेज तथा 'अभिभावक एसोसिएशन' उदय प्रताप कॉलेज भी शामिल हो गया। वर्ष 2003 में प्रारम्भ हुआ यह संघर्ष 2015 में भी चल ही रहा है। इस पूरे संघर्ष का इतिहास अलग से दिया गया है।

संक्षेप में राजर्षि द्वारा जारी कराई गई अधिसूचनाओं की मुख्य बातें निम्न थी।

वेस्टिंग आर्डर- अधिसूचना सं0 1139/XV-181 दि0 14.12.1908

- इण्डाउमेण्ट तथा संस्था का प्रबन्ध स्थानिक सरकार के अधीन रहेगा जिसकी मदद हेतु सरकार द्वारा नामित एक प्रबन्ध समिति रहेगी।
- ट्रस्ट की इण्डाउमेण्ट राशि उ0प्र0 सरकार के कोषाध्यक्ष में निम्न शर्तों के अधीन निहित रहेगी।
- इण्डाउमेण्ट राशि से प्राप्त ब्याज की राशि केवल स्कूल के रख-रखाव, स्कालरशिप देने हेतु रहेगी तथा सब खर्च के बाद जो राशि बचेगी वह एकत्रित होती रहेगी। समय-समय पर एकत्रित राशि कोषाध्यक्ष धर्मादा सब्दान के पास ट्रस्ट फण्ड में जमा की जायेगी तथा वह मूल ट्रस्ट राशि में जुड़ जायेगी।

प्रबन्धन योजना–

- वाराणसी के कमिश्नर तथा जिला विद्यालय निरीक्षक इस ट्रस्ट का संचालन करेंगे।
- कोषाध्यक्ष धर्मादा सब्दान ट्रस्ट की आय को जिला विद्यालय निरीक्षक को देंगे, जो ट्रस्ट के नाम से स्टेट बैंक के खाते में रखेंगे तथा खर्च हेतु निकालेंगे।
- कमिश्नर, कलेक्टर, जिला विद्यालय निरीक्षक तथा सिविल सर्जन प्रबन्ध समिति के पदेन सदस्य होंगे। भिनगा राज का एक प्रतिनिधि एक सदस्य होगा तथा इसके अतिरिक्त 11 विभिन्न जनपदों के क्षत्रिय सदस्य होंगे।
- जिला विद्यालय निरीक्षक आय–व्यय का लेखा–जोखा रखेंगे।

लैण्ड एण्ड बिल्डिंग के सम्बन्ध में 10.02.1910 की अधिसूचना की मुख्य शर्तें निम्न हैं-

- प्रबन्धन योजना में नामित समिति तथा स्थानिक सरकार के नियंत्रण में लैण्ड एण्ड बिल्डिंग्स होंगी जिनका प्रयोग ट्रस्ट तथा स्कूल हेतु होगा।
- जमीन तथा बिल्डिंग, न तो बंधक रखा जा सकता है, न बेचा जा सकता है, न बदला जा सकता है और न अन्य किसी प्रकार हस्तान्तरित किया जा सकता है।

1953 में कुप्रबन्धन की शिकायत पर राज्य सरकार ने नई अधिसूचना जारी कर प्रबन्धन योजना को वदल दिया तथा डिप्टी डायरेक्टर शिक्षा को इसके नियंत्रण तथा प्रबन्धन का सम्पूर्ण अधिकार दे दिया। यह योजना दि0 26-07-1960 तक चली।

27 जुलाई 1960 को सरकार ने एक नई प्रबन्धन योजना की अधिसूचना जारी की जो मूलतः एक वर्ष हेतु लागू थी तथा जिसका कार्यकाल पुनः अधिसूचना द्वारा दि0 26-07-1964 तक के लिये बढ़ा दिया गया। इस प्रबन्धन योजना के खण्ड 7-8 में निम्न बातें हैं।

(7) धर्मादा सब्दान के कोषाध्यक्ष ट्रस्ट का पैसा नामित समिति के सचिव को देंगे।

(8) सभी धनराशि जो सचिव या उक्त प्रबन्ध समिति प्राप्त करेगी, उरो ट्रस्ट के नाम से स्टेट बैंक में जमा करेगी तथा ट्रस्ट के सचिव चेक द्वारा खर्च करेंगे।

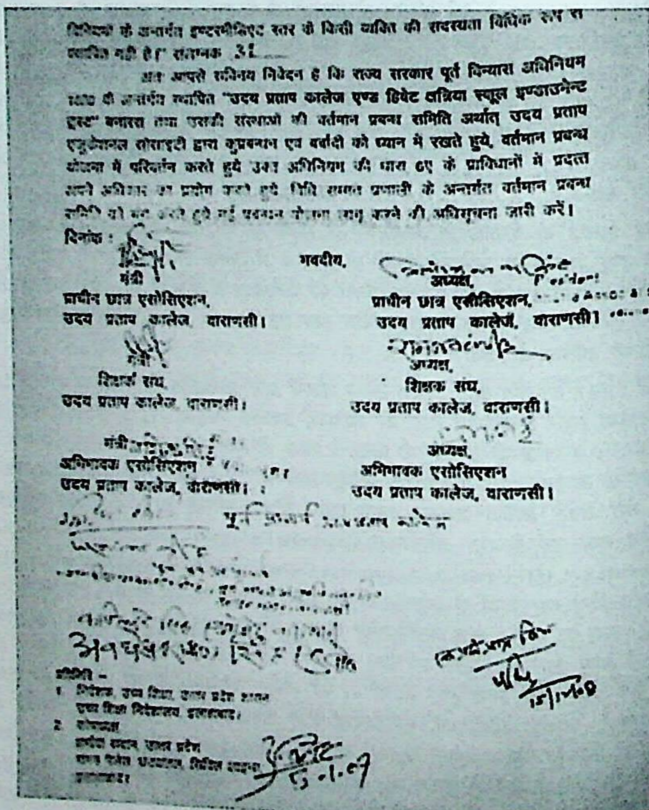
नामित समिति का कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व दि0 20-02-1964 को राज्य सरकार के अनुसचिव के एक पत्र का आधार लेकर जमीन खरीदने के नाम पर उदय प्रताप शिक्षा समिति नामक एक समिति का पंजीकरण कराया गया। इसके पश्चात् सरकार द्वारा कोई नई प्रबन्धन योजना की अधिसूचना न होने का लाभ उठा कर उक्त समिति, जो अवैध, अक्षम तथा अनधिकृत है, ट्रस्ट तथा उसके सभी संस्थाओं का नियंत्रण तथा प्रबन्धन तब से कर रही हैं। एच0के0 स्कूल (हीवेट क्षत्रिया स्कूल) का खाता जो ट्रस्ट का मूल खाता सं 1003 है, को उसने अपना बना लिया। यहाँ तक कि कोषाध्यक्ष द्वारा प्रतिभूतियों पर ब्याज, जो ट्रस्ट के सचिव के नाम देय बैंक ड्राफ्ट द्वारा प्राप्त होता है, उसे समिति के उक्त खाते में जमा कर समिति के हित में खर्च किया जाता है। प्रारम्भ में चूँकि समिति के अध्यक्ष राज्य सरकार के मन्त्री हुआ करते थे तथा आर्थिक दुरुपयोग का कोई उदाहरण नहीं मिलता था, अतः समाज का ध्यान इसकी अनियमितताओं पर नहीं गया। सन् 1990 के बाद धीरे-धीरे, जबसे समिति के सदस्य बहुत दूर-दूर के हो गये, जो विद्यालय के न तो प्राचीन छात्र थे और न तो विद्यालय से इनका कोई लगाव था, तबसे अनेक विधिविरुद्ध निर्णय होने लगे।

दि0 13 जून 2003 की मीटिंग के निर्णयों के विरुद्ध डिग्री कालेज के अध्यापकों ने जबर्दस्त आन्दोलन खड़ा किया। 41 दिनों तक धरना, प्रदर्शन, नारेबाजी होती रही, पठन-पाठन ठप्प रहा। विद्यालय की गरिमा तार-तार होती रही, परन्तु अध्यापकों की मुख्य माँग कि 'डिग्री कालेज के अध्यापकों एवं प्राचार्य के वेतन-बिल की संस्तुति इण्टर के प्रधानाचार्य न करें, बल्कि समिति के सचिव करें', नहीं मानी गई। हड़ताल असफल हो गई। इसके साथ अनेक अनियमितताएँ और हुई, जो मेरे लिये भी असह्य था। अतः मैं संघर्ष में पूरी तरह लिप्त हो गया।

सन् 2003 के शिक्षकों के आन्दोलन के समय कालेज की अनियमितताओं, भ्रष्टाचार, आर्थिक तथा प्रशासनिक अनियमितताओं के सम्बन्ध में अनेक जानकारी होती गयी। मैं भी सभी पेपर एकत्रित करता गया। समय-समय पर पैम्प्लेट्स के रूप में नौ पत्रक छपवाए तथा समाचार पत्रों के साथ उनका वितरण प्राचीन छात्र ऐसोसिएशन तथा अभिभावक ऐसोसिएशन उदय प्रताप कॉलेज ने किया।

वर्ष 2007 का मेरा बहुत अधिक समय राजर्षि द्वारा संस्थापित 'उदय प्रताप कालेज एण्ड हीवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेण्ट ट्रस्ट' की स्थापना, प्रबन्धन योजना, 51.5 एकड़ जमीन तथा प्रारम्भिक 10.5 लाख के इण्डाउमेण्ट फण्ड, 1908 से लेकर 1961 तक समय-समय पर उक्त ट्रस्ट के सम्बन्ध में जारी विभिन्न अधिसूचनाओं को प्राप्त करने तथा उनके अयध्यन में बीता। मेरी सबसे अधिक समस्या उदय प्रताप शिक्षा समिति द्वारा किये गए कुकृत्यों, कुप्रवन्धन तथा पूर्त विन्यास अधिनियम Charitable Endowment Act-1890 , University Act, Intermediate Act, U G C rules for Autonomous Colleges and Society Registration Act- 1860 के विपरीत किये गए कार्यों के प्रमाण एकत्रित करने की थी। प्रारम्भ में मेरे पास कोई पेपर नहीं था। इस हेतु प्रावीन छात्र एसोसिएशन के हाल में कई मीटिंग हुई होंगी, जिनमें अच्छी संख्या में लोग आते थे। इसके अतिरिक्त श्री त्रिलोकनाथ सिंह के आवास पर लगभग 15 मीटिंग हुई होंगी। कुछ अन्य गुप्त स्थानों पर भी मीटिंग की गई। मैं उन सभी अभिभावकों, प्राचीन छात्रों, कार्यरत अध्यापकों, पूर्व प्राचार्य तथा अवकाश प्राप्त करने वाले शिक्षकों का आभारी हूँ, जिन्होंने प्रमाण जुटाने में मेरी मदद की। सन् 1969 का K.P. Singh v/s उदय प्रताप कालेज के मुकदमे में जिला जज का फैसला बहुत मददगार हुआ। यह फैसला तथा राजर्षि की Will वसीयत की प्रतिलिपि प्राप्त करने में डॉ0 गणेश सिंह ने बहुत मेहनत की। उनके पास इसके अतिरिक्त भी विद्यालय सम्बन्धित लगभग सभी पेपर की प्रतिलिपि अवश्य रहती थी। इस सम्बन्ध में कुँवर रनजीत सिंह के वकील वावू उमाशंकर सिंह एडवोकेट, हाईकोर्ट के आवास पर कई बार गया। एक बार रनजीत सिंह तथा मैं इलाहाबाद उनके आवास पर रहकर पेपर्स तैयार करते रहे।

इस तरह कुल अधिनियमों के उल्लंघन, आर्थिक तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार सम्बन्धित लगभग 30 संलग्नक लगाकर एक विस्तृत पत्रक तैयार किया गया, जिसके साक्ष्य जुटाने तथा पत्र तैयार करने में प्रतिदिन 3-4 घण्टा देने पर लगभग 4 माह का समय लगा। यह पत्रक दि015-11-2008 को प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा उत्तर प्रदेश सरकार को सम्बोधित कर विभिन्न एसोसियेशन, पूर्व प्रावार्य एवं रीडर्स द्वारा दिया गया, जिसमें निम्न निवेदन था-



[illegible] के अन्तर्गत इण्टरमीडिएट स्तर की किसी व्यक्ति की सदस्यता विधिक रूप से [illegible] नहीं है।" संलग्नक 31

अतः आपसे सविनय निवेदन है कि राज्य सरकार पूर्त विन्यास अधिनियम [illegible] के अन्तर्गत स्थापित "उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिय स्कूल इण्डाउमेन्ट ट्रस्ट" बनारस तथा उसकी संस्थाओं की वर्तमान प्रबन्ध समिति अर्थात् उदय प्रताप एजुकेशनल सोसाइटी द्वारा कुप्रबन्धन एवं बर्बादी को ध्यान में रखते हुये, वर्तमान प्रबन्ध योजना में परिवर्तन करते हुये उक्त अधिनियम की धारा 6ए के प्राविधानों में प्रदत्त अपने अधिकार का प्रयोग करते हुये [illegible] प्रणाली के अन्तर्गत वर्तमान प्रबन्ध समिति को [illegible] करते हुये नई प्रबन्ध योजना लागू करने की अधिसूचना जारी करें।

दिनांक :

भवदीय,

मंत्री,
प्राचीन छात्र एसोसिएशन,
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

अध्यक्ष,
प्राचीन छात्र एसोसिएशन,
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

मंत्री,
शिक्षक संघ,
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

अध्यक्ष,
शिक्षक संघ,
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

मंत्री,
अभिभावक एसोसिएशन
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

अध्यक्ष,
अभिभावक एसोसिएशन
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी।

प्रतिलिपि –
1. निदेशक, उच्च शिक्षा, उत्तर प्रदेश शासन
उच्च शिक्षा निदेशालय, इलाहाबाद।
2. [illegible]
[illegible] उत्तर प्रदेश
[illegible]
इलाहाबाद।

तीन स्मृति पत्र के पश्चात् भी राज्य सरकार ने कोई ध्यान नही दिया और न कोई उत्तर ही दिया। तब प्राचीन छात्र एसोसियेशन की ओर से एक रिट याचिका सं0 40642/09 माननीय इलाहाबाद हाईकोर्ट में दाखिल की गई, जिसमें मात्र इतनी प्रार्थना थी कि राज्य सरकार को निर्देश दें कि उसके पास दि0 15-11-2008 से विचारणार्थ पड़े प्रार्थना पत्र का पूर्त विन्यास अधिनियम की धारा 6-ए के अन्तर्गत निस्तारण करे। दि 10-8-2009 को हाईकोर्ट ने निम्न आदेश पारित किया।

'In view of the aforesaid, the writ petition is disposed of with a direction to the State government to examine the representation filed by the petitioners and pass an appropriate order expeditiously, preferably within a period of two months'

उक्त आज्ञा के फलस्वरूप उच्च शिक्षाधिकारी वाराणसी से पूरी जाँच के बाद तथा आख्या प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षा निदेशक उच्च शिक्षा ने अपनी आख्या सचिव उच्च शिक्षा को दि0 17-11-2009 को निम्न शब्दों में प्रेषित की-

'.... क्षेत्रीय उच्च शिक्षाधिकारी का मत है कि सचिव उदय प्रताप शिक्षा समिति उत्तर दिये जाने से बचना चाहता हैं....'

दि0 26-11-2009 को निदेशक उच्च शिक्षा ने अपनी विस्तृत आख्या भेजी जिसके कुछ बिन्दु निम्न हैं-

— उक्त ट्रस्ट की शर्तों में प्रावधान है कि ट्रस्ट की सम्पूर्ण सम्पत्ति उत्तर प्रदेश सरकार में निहित है तथा संस्था का संचालन स्थानीय प्रशासन द्वारा किया जाता है, जिसकी सहायता के लिये सरकार द्वारा नामित एक समिति रहेगी।

— परन्तु दि0 26-07-1964 के पश्चात् बिना किसी वैधानिक अधिकार या राजाज्ञा के उदय प्रताप एजुकेशनल सोसायटी उक्त ट्रस्ट तथा उसकी संस्थाओं का अपनी सुविधानुसार मनमाने ढंग से, सरकार से हस्तक्षेप के अभाव में, संचालन एवं प्रबन्धन कर रही है।

माननीय हाईकोर्ट के आदेश के पश्चात् भी लगभग एक वर्ष तक राज्य सरकार ने आवेदन का निस्तारण नहीं किया और न ही प्रार्थीगण को कोई सूचना उपलब्ध करायी। तब हाई कोर्ट में एक अवमानना-प्रार्थना पत्र सं0 3750/10 प्रस्तुत किया गया, जिसमें हाईकोर्ट ने दि0 06-08-2010 को आदेश पारित किया-

'The o.p. no 2 [Principal secretory, Higher Education] Is bound by the order of this court and in case he does not comply with the directions of the writ court within six weeks of receipt of this order, without any reasonable cause, the court would have no option except to punish him under sec-12.of the contempt of courts and other allied powers'.

उक्त आदेश के बाद शिक्षा निदेशालय में बहुत सक्रियता देखी गयी। वस्तुस्थिति जानने हेतु मुझसे फोन पर सम्पर्क किया गया। दि0 01-09-2010 को शिक्षा निदेशक, उच्च शिक्षा ने विशेष सचिव, उत्तर प्रदेश शासन को अपनी आख्या तथा संस्तुति भेजी, जिसके पैरा 4 तथा 5 में निम्नलिखित है-

4) ..... अतः सचिव उदय प्रताप शिक्षा समिति से बार-बार माँगे जाने के बावजूद उत्तर/अभिलेखों को अभी तक उपलब्ध नहीं कराये जाने को संज्ञान में लेकर, उपलब्ध अभिलेखों के ही आधार पर याचिका/प्रत्यावेदन को निस्तारित किया जाना उचित प्रतीत होता है।

5) उपरोक्त वर्णित स्थितियों में निदेशालय का स्पष्ट अभिमत है कि उदय प्रताप कालेज वाराणसी पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 के उपबन्धों के विरुद्ध कार्यरत उदय प्रताप शिक्षा समिति द्वारा गम्भीर अनियमितताएं की जा रही हैं, जिसके सम्बन्ध में विस्तृत आख्या निदेशालय के पत्र दि0 26-11-09 द्वारा शासन को उपलब्ध करायी जा चुकी है।

अतएव शासन कृपया पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 के उपबन्धों के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करते हुए तथा कथित अवैधानिक रुप से कार्यरत उदय प्रताप शिक्षा समिति के सम्बन्ध में माननीय उच्च न्यायालय के आदेश दि० 10-08-2009 एवं दि० 6-08-2010 के अनुपालन में याची के प्रत्यावेदन को यथाशीघ्र निस्तारित करने का कष्ट करें।

अवमानना अवधि समाप्त होने में कुछ दिन शेष रह गये थे। निदेशक की निर्णायक आख्या, कार्यवाही करने हेतु तथा निर्णय करने हेतु, राज्य सरकार को प्राप्त हो चुकी थी। अतः सरकार के पास दो ही रास्ते शेष थे। या तो वह कार्यवाही करती अर्थात् उदय प्रताप शिक्षा समिति को भंग करती या हाई कोर्ट के आदेश से मुक्त होती। दि० 7-09-10 को हाईकोर्ट में उदय प्रताप शिक्षा समिति ने देर को मॉफ करते हुए उक्त याचिका में पक्षकार बनाने हेतु निवेदन किया। हाईकोर्ट ने उसी दिन देर मॉफ करते हुए अपने निस्तारण सम्बन्धी मूल आदेश दि० 10-08-09 को ही वापस ले लिया तथा निम्न निर्णय दिया-

'Since the writ petition was finally disposed of by this court without the society being impleaded as respondent in the writ petition and without hearing the society, the order dated 10-08-2009 is liable to be recalled and is hereby recalled and writ petition is restord to its original number'.

हाईकोर्ट का उक्त आर्डर राज्य सरकार को राहत प्रदान करने वाला था। यद्यपि राज्य सरकार को निदेशक उच्च शिक्षा से स्पष्ट आख्या तथा उक्त अधिनियम की धारा 6-ए के अन्तर्गत कार्यवाही करने हेतु संस्तुति प्राप्त हो चुकी थी, परन्तु राज्य सरकार ने कोई कार्यवाही करना उचित नहीं समझा और अपने विधिक दायित्व के पालन करने से बचती रही।

दूसरी तरफ हाईकोर्ट में बार-बार मेरे द्वारा अथक प्रयास करने के उपरान्त भी न तो उदय प्रताप शिक्षा समिति पार्टी बनी और न उसने कोई दस्तावेज प्रस्तुत किया। तारीख पर तारीख पड़ती रही तथा मैं एवं श्री त्रिलोकनाथ सिंह याचिकाकर्ता, किंकर्तव्यविमूढ अवस्था में पड़े रहे तथा निराश हो गये।

समाजवादी पार्टी की नई सरकार बनने के पश्चात् दि० 18-04-2012 को मुख्यमन्त्री का जनता दरबार लगा। मुख्यमन्त्री से मिलने के उद्देश्य से मैं भी प्रातः 8 बजे लाइन में लग गया। प्रथम दरबार होने के कारण इतनी भीड़ थी कि कोई अपने स्थान से पानी पीने हेतु भी नहीं निकल सकता था। मुख्यमन्त्री काफी देर से आये तथा लगभग दो बजे मैं उनके मुलाकात कक्ष में प्रवेश कर पाया। मुख्यमन्त्री ने बड़े आदर से पूछा कि 'सर अपना काम बताइये ?' मैंने उन्हें श्रीमद्‌भागवत के (एक कागज पर लिखे हुए) निम्न श्लोक-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यमेकं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।

को दिया तथा कहा कि इस श्लोक में नौ बार सत्य शब्द का प्रयोग किया गया है। आप नये मुख्यमन्त्री हुए हैं। सत्य के पालन के उद्देश्य से मैंने यह श्लोक आप को दिया है तथा

इसके पालन करने की शक्ति के लिए काशी के भगवान् शंकर के प्रसाद के रूप में यह रुद्राक्ष माला दे रहा हूँ। मैंने उन्हें एक शाल भी दी। उन्होंने अपने साथ घूमते हुए अधिकारियों से कहा कि- 'नोट कर लीजिए सर का काम जरूर करना है'। मैंने कहा कि काम भी मेरा नहीं, सत्य का तथा सरकार के विधिक दायित्व का है। वे आगे बढ़ गये।

दि0 11-04-2012 को मैं तथा आत्माप्रसाद, तत्कालीन प्रयोगशाला सहायक, उदय प्रताप कालेज, सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ट अधिवक्ता श्री संजय पारिख जी से मिलने उनके आवास एम0-113 साकेत, नई दिल्ली पर गये। इसके पूर्व प्रो0 बनवारीलाल शर्मा, संस्थापक आजादी बचाओ आन्दोलन ने अपने मित्र पारिख जी से मेरा परिचय देकर पूरी बात कर ली थी। विस्तार से पूरी बातें जानने के बाद श्री संजय पारिख ने निम्न तीन बातें कहीं-

- जनहित याचिका सीधे सर्वोच्च न्यायालय में नहीं हो सकती, इसके लिये इलाहाबाद कोर्ट में जनहित याचिका करायें। वहाँ याचिका का प्रतिकूल निर्णय हो जाने के बाद यहाँ आवें।
- सर्वोच्च न्यायालय के मुख्यन्यायाधीश के नाम एक पत्र लिखें तथा यह लिखें कि पूर्व न्यायाधीश की अध्यक्षता में कई अधिनियमों का उल्लघंन हो रहा है। इस पत्र पर 20-25 लोगों मुख्यतः वकील-समुदाय के हस्ताक्षर हों।
- प्राचीन छात्र ऐसोसियेशन द्वारा हाईकोर्ट में दाखिल की गई याचिका में वर्तमान अनियमितताएं दिखाते हुए शीघ्र निर्णय करने हेतु दबाव दिलवायें।

उक्त तीनों बातों का प्रयास प्रारम्भ हुआ। दि0 3-05-2012 को मुख्यन्यायधीश को पत्र भेजा गया। हाईकोर्ट में लम्बित याचिका में शीर्घ सुनवाई हेतु प्रयास हुआ, यद्यपि सफलता किसी में नहीं मिली।

प्रो0 शर्मा ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील श्री संतोष कुमार मिश्रा से जनहित याचिका तैयार कर दाखिल करने को कहा। इसके लिये मैंने 1-3 मई तक मिश्रा जी के साथ बैठकर उनके आवास पर याचिका तैयार करायी तथा मई माह के अन्दर ही मिश्रा जी की सक्रियता से याचिका निरस्त हो गई।

अब सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दाखिल करने हेतु प्राचीन छात्र एसोसियेशन ने प्रस्ताव पारित कर एक लाख रूपये की मदद की तथा 80 हजार रूपये एक दिन में, मैंने तथा श्री त्रिलोक नाथ सिंह ने एकत्रित किये।

दि0 13-07-2012 को मैं, याचिका कर्ता के रूप में आनन्दविजय तथा आत्माप्रसाद दिल्ली गये। दि0 14-07-2012 को पारिख साहब ने साकेत के पास 'अरविन्दो आश्रम' में हम लोगों के टिकने-खाने की व्यवस्था करायी। मैं लगातार दो दिनों तक प्रातः से सायं तक उन्हीं के साथ भोजन करते हुए, प्रश्नों की बौछार सहता रहा तथा उत्तर से सन्तुष्ट होते हुए वे अपने स्टेनों एडवोकेट बुशरा परवीन को डिक्टेट करते रहे। वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो गए कि उदय प्रताप शिक्षा समिति पूर्णतः अनधिकृत, अवैध तथा अक्षम है तथा सरकार द्वारा अपने कर्त्तव्यों के पालन न करने के कारण वर्तमान स्थिति पैदा हो गयी है। यद्यपि हाईकोर्ट में दाखिल याचिका में कोई नया बिन्दु डालने पर, उसकी सर्वोच्च न्यायालय से अनुमति लेनी होती है, परन्तु वे बड़े धैर्यपूर्वक, मेरी समझ से शर्मा जी के प्रति उच्च सम्मानभाव के कारण,

मेरी बातों को सुनते, तर्क करते तथा जोड़ने को तैयार हो जाते। उन्होंने हाईकोर्ट में दाखिल पुरानी याचिका के वकील श्री रविकिरन जैन से फोन पर लम्बी बात की तथा मुझसे कहा कि किसी तरह सन्तोष कुमार मिश्रा से मुझे मिलवायें। दिनांक 14-7-2012 को मैंने मिश्रा जी से उक्त बात बताई। मिश्रा जी ने कहा कि इस समय मैं दिल्ली आया हुआ हूँ, टैक्सी भेजकर बुलवा लें। मैंने 15 को उनसे पारिख साहब से मुलाकात करा दी तथा वे विस्तार से चर्चा करके अनेक विधिक पहलुओं पर एक मत हुए। मिश्रा जी को आप सबकी तरफ से धन्यवाद देने में मैं अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ।

पारिख साहब से शर्मा जी ने फोन पर कहा था कि बशिष्ठ आपको जो दे दें ले लीजिएगा। मैं इनका जिम्मा लेता हूँ। धीरे-धीरे माँग कर हम लोग पूरी करेंगे। कोर्ट खर्च, सहायक वकीलों की फीस तथा पारिख साहब को सब मिलाकर एकत्रित धन 1,80,000/-रू० दिया गया। उन्होंने इतना ही कहा कि शर्मा जी से पैसे की बात हो चुकी है।

जनहित याचिका दाखिल हुई तथा 21 अगस्त 2012 को सुनवाई की तारीख पड़ी।केस कोर्ट नं0 12 में 41 वें नम्बर पर था। 20 अगस्त 2012 को प्रातः मैं तथा आत्मा पारिख साहब के घर पहुँच गये। रात में अरविन्दो आश्रम के 'तपस्या' खण्ड में 21 नं0 रूम में रुके।

20 अगस्त की रात में स्वयं के लम्बे संघर्ष, प्राचीन छात्र एसोसिएशन के सदस्यों तथा आर्थिक रूप से सहायता करने वाले लोगों के भाव-विचार मन में आते रहे। याचिका के निरस्त होने की शंका से मन काँप उठता था। रात दो बजे तक करवट बदलता रहा, बेचैन रहा, नींद का नाम नहीं। रात दो बजे भाव जगा कि मैंने अपने स्वरूप, चैतन्य का तादात्म्य शरीर से करके कर्त्ता हो गया हूँ। 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अनुसार फल में तो अधिकार है नहीं। अतः प्रारम्भ से ही जो लड़ाई लड़ रहा है, वह तो स्वयं निमित्त मात्र बनकर लड़ाई लड़ने का जिम्मा तो अपने इष्ट कृष्ण को दे रखा है। अतः मैंने प्रार्थना की कि-हे भगवान! मैं तो यह भी नहीं जानता कि क्या उचित है। सब कुछ आप पर छोड़कर मैं निश्चिन्त हो रहा हूँ। नींद आ गयी।

प्रातः 10 बजे हम एवं आत्मा प्रसाद सर्वोच्च न्यायालय के अधिवक्ता भवन, कमरा नं0 101 में पहुँचे। मेरा कोर्ट में जाने का पास बना। कमरा नं0 12 की अदालत में वकीलों की भीड़ अधिकतर मुकदमों की सुनवाई 2-3 मिनट में, निर्णय। पारिख साहब लगभग 12 मिनट तक बहस करते रहे। न्यायाधीश, जो मुकदमें को पूरा पढ़े थे तथा अनेक प्रश्न लगातार पूछ रहे थे, ने निर्णय दिया कि 3 सितम्बर को अगली सुनवाई होगी। इसके पूर्व केन्द्र के तथा उत्तर प्रदेश सरकार के ट्रस्ट की संस्थाओं में भ्रष्टाचार होने पर नियन्त्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण नियम जमा करें।

अचानक 28 अगस्त को सायं पाँच बजे पारिख साहब का मुझे फोन आया कि "मैं बाहर चला गया था, स्टेट रूल्स मेरे पास नहीं हैं। अतः मिश्रा जी की मदद से हाईकोर्ट से प्राप्त कर, 30 को प्रातः तक अवश्य भेजें, क्योंकि छुट्टी पड़ जाने के कारण 30 को सर्वोच्च न्यायालय में शपथ पत्र के साथ जमा करना आवश्यक है। मैं घबरा गया। आत्मा प्रसाद को फोन किया। अभी शाम की गाड़ी से इलाहाबाद चलना आवश्यक है। पूरी बात बताई। डॉ0

वनवारी लाल शर्मा को पूरी स्थिति से अवगत कराया तथा कहा कि हम दो व्यक्ति रात 10.30 –11 बजे तक आपके पास पहुँचेंगे। रात 11 बजे शर्मा जी पराठ सब्जी बनवाकर प्रतीक्षा कर रहे थे। हम लोग 11.10 बजे उनके आवास पर पहुँचे। प्रातः 9 बजे तक मिश्रा जी के घर। उनके साथ 10 बजे हम लोग हाईकोर्ट गये। लगभग 1.00 बजे तक 'स्टेट रूल्स फार चैरिटेबुल इनडाउमेण्ट' की फोटो कापी मिल पाई। लगभग 4.00 बजे की ट्रेन से साधारण (चालू) डिब्बे में टिकट लेकर आत्माप्रसाद ट्रेन में बैठ गये। प्रातः 8 बजे पारिख साहब के आवास पहुँचे तथा उनकी गाड़ी से उनके साथ सर्वोच्च न्यायालय गये। इस तरह 30 अगस्त को न्यायालय के आदेशानुसार स्टेट रूल्स जमा हो गये। घबराहट दूर हुई।

अव सर्वोच्च न्यायालय में माननीय न्यायाधीश क्या-क्या पूछ सकते हैं? जनहित याचिका के आधार क्या हो सकते हैं? कहीं सर्वोच्च न्यायालय हाईकोर्ट में प्राचीन छात्र एसोसिएशन की याचिका से इसे न जोड़ दे। यद्यपि बड़ी मेहनत करके सम्भावित प्रश्नों की सूची बनाकर उसका उत्तर सोचकर पारिख साहब से मैं विस्तार से चर्चा कर चुका था, पारिख साहब तथा मिश्रा जी से भी फोन पर बात हमेशा होती रही, फिर भी अनेक शङ्काओं का निराकरण नहीं हो पा रहा था। किसी कारण मेरा 3 सितम्बर को न्यायालय पहुँचना सम्भव नहीं हो पा रहा था। ऐसे मौके पर मैंने अपने परममित्र, उदय प्रताप कालेज के प्राचीन छात्र, हिमालय प्रदेश के पूर्व प्रधान मुख्य वन संरक्षक श्री राम अशीश सिंह, जो इस संघर्ष में 2007 से धीरे-धीरे जुड़ने लगे थे तथा तथ्यों की पूरी जानकारी रखते थे, से मैंने कहा कि 3 सितम्बर को सर्वोच्च न्यायालय में बहस के समय आपका रहना आवश्यक है तथा इस हेतु प्रातः 8 बजे तक पारिख साहब के घर पहुँच कर सम्भावित प्रश्नों के उत्तर के बारे में बात भी करना आवश्यक है। वे उस समय अपने दूसरे आवास सोलन (हिमालय प्रदेश) में थे। वे सहर्ष तैयार हो गये तथा 3 सितम्बर को प्रातः 8 बजे पारिख साहब के घर पहुँच गए। कुछ देर उनके घर पर तथा उनकी गाड़ी में बैठकर, सर्वोच्च न्यायालय जाते समय लगभग 40 मिनट लोगों ने बात की। बड़ी मुश्किल से मेरी प्रार्थना पर उनको समय देने को पारिख साहब तैयार हुए थे। बहस के समय श्री राम आशीश सिंह तथा इलाहाबाद हाईकोर्ट के हमारे वकील मिश्रा जी न्यायालय के कमरा नं0 12 में मौजूद थे। पारिख साहब बार-बार आग्रह करते रहे कि सरकार को निर्धारित समय के अन्दर तय करने हेतु निर्देश दें। न्यायाधीशों ने कहा कि प्रार्थी राज्य सरकार के पास कभी गया नहीं है। वह सरकार को प्रार्थना पत्र दे। यदि सरकार नहीं करती है तो यहाँ पुनः आवें। अतः 3 सितम्बर 2013 को जब वाराणसी में राजर्षि जयन्ती मनाई जा रही थी, ऐसे मौके पर निर्णय हुआ।

आनन्द विजय बनाम मुख्य सचिव उ0प्र0 राज्य व अन्य

5 अक्टूबर, 2012 को सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल की गयी विशेष अनुज्ञा याचिका के फैसले की प्रमाणित प्रतिलिपि के साथ, प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा अनुभाग-6 को एक प्रार्थना पत्र भेजा गया, जिसमें प्रार्थना निम्न थी। '..... राज्य सरकार वैधानिक दायित्व को पूर्ण करने में असफल रही है। हमारा मानना है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश के पश्चात् शिक्षा तथा जनहित का ध्यान रखकर पूर्त विन्यास अधिनियम (चैरिटेबुल इनडाउमेण्ट एक्ट 1890) की धाराओं के अनुसार अपने दायित्वों के पालन में राज्य सरकार विलम्ब नहीं करेगी।'

उक्त प्रतिवेदन पर राज्य सरकार के पत्र संख्या 2733/सत्तर-6-2012-100 (144)/2012 दिनांक 15 मार्च, 2013 जो अन्य के साथ आनन्द विजय को मिला है, के अनुसार राज्य सरकार द्वारा दिनांक 19 अक्टूबर 2012 को निदेशक उच्च शिक्षा को सुस्पष्ट आख्या उपलब्ध कराने का निर्देश दिया गया। तत्क्रम में निदेशक ने दिनांक 21-02-2013 द्वारा निम्न आख्या उपलब्ध कराई गयी जो पैरा 01 से 10 तक में वर्णित है-

प्रमुख सचिव का सारांश (4) में उद्धृत

(4) '..... अनुसचिव शिक्षा विभाग के पत्र दिनांक 21-9-60 ..... अनुमति प्राप्त की गयी है।

(5) उदय प्रताप शिक्षा समिति वाराणसी के विरुद्ध याचिका संख्या 40642/2009 प्राचीन छात्र एसोसिएशन उदय प्रताप कालेज व अन्य बनाम उ0प्र0 राज्य, माननीय उच्च न्यायालय, इलाहावाद के समक्ष विचाराधीन है। सन्दर्भगत रिट याचिका में माननीय उच्च न्यायालय इलाहावाद द्वारा भविष्य में पारित होने वाले अन्तिम आदेश के आलोक में राज्य सरकार द्वारा अग्रेतर विधिसम्मत कार्यवाही की जायेगी।

प्रमुख सचिव का उक्त पत्र प्राप्त होने पर हम लोगों ने निश्चय किया कि चूँकि राज्य सरकार को अग्रिम कार्यवाही करने में उक्त याचिका ही बाधक है। अतः मैं स्वयं, श्री राम आशीश सिंह, श्री त्रिलोक नाथ सिंह तथा श्री आत्मा प्रसाद सिंह, हाईकोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता सन्तोष कुमार मिश्रा जी से राय लेने इलाहावाद गये। सब तरह के बिन्दुओं पर बात की गयी। श्री त्रिलोक नाथ सिंह ने मुकदमा लड़ने में असमर्थता व्यक्त की। अतः तय हुआ कि मुकदमा वापसी हेतु आवेदन किया जाय।

इस प्रार्थना पत्र पर निर्णय हुआ। दिनांक 14-5-2013 की तारीख पड़ी। विश्वास था कि निर्णय हो जायेगा। वापस करने में बाधा ही क्या है? परन्तु नम्बर पर केस आया ही नहीं। आपको बताऊँ इस पूरे संघर्ष में जब-जब मेरा कर्तृत्वभाव जगा है, मुझे अहंकार हुआ है कि कोई कार्य मेरे सम्बन्धों, मेरी मेहनत, मेरे प्रयास के कारण सफल होगा ही, तो वह निश्चित नहीं हुआ है। जब मैंने असहाय होकर परमात्मा को सौंप दिया कि जो चाहे, जब चाहे करें अथवा मत करें तो, अचानक पाता हूँ कि रास्ता निकल गया।

दिनांक 20-5-2013 को मिश्रा जी ने अचानक 11.30 बजे फोन किया कि हाईकोर्ट का आर्डर हो गया। रिट याचिका समाप्त। दिनांक 26-5-2013 को आत्मा प्रसाद प्रमाणित प्रतिलिपि मिश्रा जी से प्राप्त कर ले आये। 28 को तदनुसार 10.20 बजे प्रमुख सचिव को पत्र प्रेषित हो गया।

विशेष अनुज्ञा याचिका (सिविल) न0 23938/2012 आनन्द विजय बनाम मुख्यसचिव उ0प्र0 राज्य व अन्य में माननीय सर्वोच्च न्यायालय नई दिल्ली ने दि0 03-09-2012 को अपने आदेश में विधान के अनुसार राज्य सरकार को विचार कर निर्णय लेने हेतु कहा, जिसके अनुपालन में शासन के पत्र दि019 अक्टुबर 2012 द्वारा निदेशक उच्च शिक्षा को सुस्पष्ट आख्या उपलब्ध कराने का निर्देश दिया गया। तत्क्रम में निदेशक ने अपने पत्र दि0 21-2-2013 द्वारा निम्न आख्या उपलब्ध करायी-

1- स्व0 राजा उदय प्रताप सिंह ने अपने धन से भूमि एवं भवन की व्यवस्था करते हुए हिवेट क्षत्रिया स्कूल नामक शिक्षण संस्थान की स्थापना की, जिसका संचालन उनके द्वारा स्थापित इण्डाउमेण्ट फण्ड के द्वारा होता था।

2- इण्डाउमेण्ट फण्ड, चेरिटेबुल इण्डाउमेण्ट एक्ट- 1890 की धारा 4 के अन्तर्गत तत्कालीन राज्य सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा जारी अधिसूचना- 1139/ दि0 14-12-1908 वेस्टिंग आर्डर के द्वारा कोषाध्यक्ष, चेरिटेबुल इण्डाउमेण्ट में निहित कर दी गई तथा इस ट्रस्ट **Udai Pratap Collage and Hewett Kshatriya School Endowment Trust** एवं उक्त संस्थाओं का नियंत्रण एवं प्रबन्धन शासन द्वारा गठित प्रबन्ध समिति के सहयोग से किया जाने लगा। और इसके प्रबन्धन की योजना उक्त एक्ट के अन्तर्गत राज्य सरकार के द्वारा जारी अधिसूचना संख्या 1142 दि0 14-12-1908 से सुनिश्चित की गयी।

3- राज्य सरकार के शिक्षा विभाग (भूमि एवं भवन) की अधिसूचना स0 121-XV/61 दि0 10-02-1901 द्वारा संस्था से सम्बन्धित समस्त भूमि एवं भवन कोषाध्यक्ष चेरिटेबुल इण्डाउमेण्ट में उक्त एक्ट की धारा-4 के अन्तर्गत निहित कर दी गई।

4- उक्त ट्रस्ट में प्रावधान है कि ट्रस्ट की सम्पूर्ण सम्पत्ति उत्तर प्रदेश सरकार में निहित है तथा संस्था का संचालन स्थानीय प्रशासन (डिप्टी डायरेक्टर शिक्षा) द्वारा किया जायेगा एवं उनकी सहायता के लिए सरकार द्वारा नामित एक समिति रहेगी।

(यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजर्षि द्वारा 1908 में रूपया 10.5 लाख के इण्डाउमेण्ट फण्ड की स्थापना की गई थी। राजर्षि के पश्चात् महारानी मुरार कुमारी द्वारा ट्रस्ट फण्ड में 8 लाख रूपये की बढ़ोत्तरी की गई तथा ट्रस्ट का नाम बदलकर **Udai Pratap College and Hewett Kshatriya School Endowment Trust** की अधिसूचना जारी हुई तथा विद्यालय को इण्टरमीडिएट स्तर का किया गया। वेस्टिंग आर्डर की प्रमुख शर्त थी कि इण्डाउमेण्ट फण्ड से प्राप्त आय को विद्यालय के रख-रखाव एवं विद्यार्थियों को स्कालरशिप देने हेतु किया जायेगा तथा शेष धनराशि को समय-समय पर कोषाध्यक्ष धर्मादासंदान मे निहित ट्रस्ट फण्ड में जमा किया जायेगा)।

उक्त व्यवस्था 1908 से 1953 तक चली।

5- 1953 में उत्तर प्रदेश सरकार ने पूर्त विन्यास अधिनियम में संशोधन करते हुये उपनिदेशक, शिक्षा, वाराणसी को अधि0 स0 6091 दि0 14-10-1953 द्वारा प्रशासक नियुक्त करते हुए ट्रस्ट तथा उसकी संस्थाओं के संचालन का अधिकार दिया। यह व्यवस्था 1960 तक जारी रही।

6- उक्त एक्ट के अन्तर्गत जारी शिक्षा विभाग की अधिसूचना स0 सी-2178 दि0 27-07-1960 द्वारा पूर्व व्यवस्था को संशोधित करते हुये एक तदर्थ प्रबन्ध समिति का गठन किया गया जिसका कार्यकाल प्रथमतः एक वर्ष था, जिसे अधिसूचना संख्या सी-565 दि0 17-07-1961 द्वारा तीन वर्ष के लिऐ बढ़ाया गया, जो 26 जुलाई 1964 को समाप्त हो गया।

7- अनुसचिव शिक्षा विभाग के पत्र संख्या 03996/XV-608 (27/1958 दि 21-09-1960) द्वारा प्राचार्य उदय प्रताप कालेज वाराणसी को महाविद्यालय के लिये भूमि अधिग्रहण हेतु सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट 1860 के अन्तर्गत एक सोसायटी पंजीकृत किये जाने का सुझाव तथा पंजीकरण के पूर्व सोसायटी के प्रस्तावित नियमों को सरकार के पास भेजने का निर्देश दिया था ताकि पूर्त विन्यास अधिनियम के प्रावधानों से कोई विसंगतियाँ न हों।

8- शिक्षा विभाग के उक्त पत्र को आधार बनाकर उदय प्रताप शिक्षा समिति उसकी संस्थाओं का प्रबन्धन भी करने लगी, जो उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेण्ट ट्रस्ट के विपरीत है।

9- उदय प्रताप शिक्षा समिति का पंजीकरण सरकार को बिना सूचित किये दि0 20-2-1964 को किया गया तथा पंजीकरण की सूचना प्रबन्ध समिति के कार्यकाल की समाप्ति पर 1966 में दी गई।

10-उदय प्रताप शिक्षा समिति वर्तमान में भी उपरोक्त संस्थाओं का प्रबन्धन कर रही है।

निदेशक के उक्त आख्या की प्राप्ति पर प्रमुख सचिव उच्च शिक्षा ने संदर्भित पत्र में अपना निर्णय निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है- 'उक्त व्यवस्था उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेण्ट ट्रस्ट के विपरीत है। इस प्रकार दोहरी प्रबन्धन प्रणाली नियमतः उचित नहीं है और न ही इस सम्बन्ध में शासन स्तर से कोई अनुमति प्राप्त की गई है।

कोषाध्यक्ष धर्मादा संदान उ0प्र0 इलाहाबाद ने दि0 06-02-2013 को एक पत्र, पत्रांक धर्मादा- 213 द्वारा प्रमुख सचिव उच्च शिक्षा, उत्तर प्रदेश शासन को - 'उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेण्ट ट्रस्ट' के विषयान्तर्गत उद्घृत किया है- 'प्रशासन की स्कीम के अनुसार न्यास की प्रतिभूति पर अर्जित ब्याज का भुगतान 'सेकेटरी ऑफ मैनेजमेण्ट उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेण्ट ट्रस्ट वाराणसी' के पक्ष में देय बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान किया जा रहा है, जिसे उदय प्रताप शिक्षा समिति वाराणसी के खाते में जमा किया जा रहा है। यह एक आपराधिक कृत्य है। कोषाध्यक्ष धर्मादा संदान ने अन्त में न्यास के संदर्भ में शासन स्तर से यथोचित कार्यवाही किये जाने की अनुशंसा की है।'

प्रमुख सचिव उच्च शिक्षा, अनुभाग-6 द्वारा निदेशक, उच्च शिक्षा, उ0प्र0 इलाहाबाद से 'उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेन्ट ट्रस्ट' बनारस तथा उसकी संस्थाओं की विधिक स्थिति तथा अनियमितताओं के सम्बन्ध में कई बार आख्या/संस्तुति माँगी गई। निदेशक उच्च शिक्षा ने विस्तृत आख्या/संस्तुति हर बार दी। दि0 21-10-2013 को एक विस्तृत आख्या/संस्तुति प्रेषित की गई, जिसमें स्पष्टतः लिखा था कि उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, ट्रस्ट की पाँच संस्थाओं मे एक है। उ0प्र0 के शिक्षा विभाग द्वारा जारी अधिसूचना सं0 1139/XV-181 दि0 14-12-1908 (vesting order), 1142/ XV-181 दि0 14-12-1908 Scheme of Management के अनुसार प्रबन्धन योजना तथा पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 की धारा 6-ए (U.P. Amendment) की शर्तो का पालन करते हुए विधिक

कार्यवाही के अन्तर्गत निर्णय लिया जाना है न कि 'उदय प्रताप स्वायत्तशासी महाविद्यालय के सन्दर्भ में। उपर्युक्त प्रकरण पर अपेक्षित आख्या प्रस्तुत है'

उक्त आख्या की प्राप्ति के बाद दि0 18-11-2013 को राज्य सरकार द्वारा उदय प्रताप कालेज की संस्थाओं को अविधिक तरीके से प्रबन्ध करने वाली अनधिकृत सोसायटी 'उदय प्रताप शिक्षा समिति' को भंग करने हेतु एक नोटिस दी गई, परन्तु दि 21-10-2013 की उपरोक्त आख्या का संज्ञान लिया ही नहीं गया। निदेशक की आख्या में उद्धृत प्रमुख सचिव की स्वीकृति कि 'उक्त व्यवस्था (उदय प्रताप शिक्षा समिति द्वारा प्रबन्धन) उदय प्रताप कालेज एण्ड हिवेट क्षत्रिया स्कूल इण्डाउमेन्ट ट्रस्ट के विपरीत है। इस प्रकार दोहरी प्रबन्धन प्रणाली नियमतः उचित नहीं है और न ही इस सम्बन्ध में शासन स्तर से कोई अनुमति प्राप्त की गई है', कोई संज्ञान नही लिया गया।

सब तथ्यों का उल्लेख शिक्षा समिति को भंग करने के सम्बन्ध में किया गया परन्तु भंग करने की नोटिस विश्वविद्यालय अधिनियम- 1973 की धारा-58 के अन्तर्गत दी गई, जो विधिक रूप से मान्य नहीं थी।

इस बात का मौखिक तथा लिखित कड़ा विरोध मैंने तथा श्री रामअशीष सिंह ने कई स्तर पर किया। हमारे द्वारा तत्कालीन मन्त्री श्री आनन्द सिंह ने पूरे तथ्य से अवगत होकर कई पत्र प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा तथा मुख्यमन्त्री को लिखा। दि0 10-2-2014 को उन्होंने मुख्य मन्त्री से बात भी की।

उच्च शिक्षा अनुभाग-6 के अधिकारियों ने अपनी गलती छिपाने के उद्देश्य से निदेशक, उच्च शिक्षा से पुनः आख्या माँगी तथा पुनः वही आख्या प्राप्त होने पर अग्रिम कार्यवाही न कर सरकार के विधि विभाग को विधिक राय हेतु पत्र लिखा, जिसकी स्वीकृति सूचनाधिकार 2005 के अर्न्तगत मेरे द्वारा माँगी गई सूचना पर दि0 18-06-2014 को सूचित किया कि 'न्याय विभाग द्वारा परामर्श प्राप्त किया जा रहा है'।

न्याय विभाग से आख्या/संस्तुति प्राप्त हो जाने के बाद दि0 4-08-2014 को पूरी पत्रावली मुख्यमन्त्री / उच्च शिक्षा मन्त्री को प्रस्तावित कार्यवाही पर अनुमति के उद्देश्य से भेजी गई। इसकी स्वीकृति डॉ0 वशिष्ठ सिंह को सम्बोधित पत्र दि0 17-10-2014 द्वारा निम्न शब्दों में की गई।

'प्रकरण से सम्बन्धित पत्रावली प्रस्तावित कार्यवाही पर अनुमोदनार्थ/यथोचित निर्णय लिये जाने हेतु उच्च स्तर पर प्रस्तुत है, अतः वांछित सम्यक् सूचना दिया जाना सम्भव नहीं है'।

दि0 24-12-2014 को मुख्यमन्त्री कार्यालय अनुभाग-1 से माँगी गई सूचना पर अपने पत्र सं0 आई 211/सी0एम0-1/2015 दि0 19-02-2015 के माध्यम से स्वीकार किया गया कि पत्रावली उच्चानुमोदनार्थ प्रस्तुत है।

उल्लेखनीय है कि उच्च शिक्षा विभाग द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही जिसपर अनुमोदन माँगा गया है, पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 की धारा 6-ए के अन्तर्गत किये जाने के सम्बन्ध में है, परन्तु एक वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी उक्त पत्रावली मुख्यमन्त्री कार्यालय में निर्णय की प्रतीक्षा हेतु लम्बित है।

इस सम्बन्ध में एक रोचक तथ्य यह है कि उक्त धारा 6-ए के अन्तर्गत कार्यवाही करने सम्बन्धित एक पत्र श्री राजीव राय, सचिव समाजवादी पार्टी के द्वारा मुख्यमन्त्री को दि० 15-10-2012 को व्यक्तिगत रूप से दिया गया था तथा मुख्यमन्त्री ने उक्त एक्ट की धारा 6-ए के अन्तर्गत कार्यवाही करने का आदेश प्रमुख सचिव उच्च शिक्षा को दिया था। यह पत्र मुख्यमन्त्री कार्यालय अनुभाग-2 के कम्प्यूटर सं० पी०जी० 02151208/ सी०एम०-2/2012 द्वारा पंजीकृत हैं। मुख्यमन्त्री कार्यालय में अज्ञात कारणों से उच्च शिक्षा अनुभाग-6 को न भेजकर सचिव, नगर विकास, अनुभाग-8 को भेजा गया, जिस विभाग से इस प्रकरण का कोई सम्बन्ध नहीं था। इसकी स्वीकृति अनुसचिव, मुख्यमन्त्री कार्यालय ने अपने पत्र सं० 415सू०अ०/14 दि० 15 अक्टूबर द्वारा की है।

दिसम्बर 2014 में श्री चन्द्रमणि कान्त सिंह, उत्तराधिकारी, राजा उदयप्रताप सिंह, भिनगा राज, बहराइच के निर्देश पर मैं वाराणसी के प्रतिष्ठित समाज सेवी तथा भारत के एक प्रतिष्ठित परिवार से सम्बन्धित श्री प्रदीप बजाज जी से मिला तथा जनहित में पूर्त विन्यास अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित उदय प्रताप कालेज के सम्पूर्ण प्रकरण से उन्हें अवगत कराकर उनसे निवेदन किया कि कृपया इस जनहित के कार्य में मदद करें।

उन्होंने मुख्यमन्त्री को प्रेषित उक्त पत्रावली की जानकारी प्राप्त की। इसके बाद हम लोगों ने श्री मुलायम सिंह जी अध्यक्ष समाजवादी पार्टी को सम्बोधित करके एक पत्र लिखा, जिसमें उनके मुख्यमन्त्रित्व काल में 2003 तथा 2005 में पूर्व प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर जी के हस्तक्षेप आदि का सन्दर्भ था। इस पत्र के बाद प्रदीप जी मुख्यमन्त्री के व्यक्तिगत सचिव उच्च शिक्षा श्री पार्थसारथी शर्मा से उनके कार्यालय में मिले। उन्होंने दो मुख्य बातें कहीं-

1- आप से इससे क्या मतलब है, आप क्यों आए हैं?

2- उन्होंने कहा कि मुख्यमन्त्री जी का विचार है कि कालेज ठीक चल रहा है तो उसे क्यों छेड़ा जाय?

इसके पश्चात् उदय प्रताप कालेज के संस्थापक के उत्तराधिकारी राजा चन्द्रमणि कान्त सिंह नेएक पत्र मुख्यमन्त्री को सम्बोन्धित कर लिखा जिसमें मुख्य निम्न बातें थीं-

1- यह कि उदय प्रताप कालेज की स्थापना मेरे पूर्वज राजा उदय प्रताप सिंह द्वारा, पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 के अन्तर्गत जनहित के लिए हुई थी, अतः समाज का कोई व्यक्ति इस सम्बन्ध में, विधिक स्थित को ठीक रखने हेतु, सरकार से निवेदन करने का अधिकारी है। श्री प्रदीप बजाज एक प्रतिष्ठित समाज सेवी है, अतः उन्हें आपको या आपके सचिव को वस्तुस्थिति से अवगत कराने का अधिकार है।

2- श्री प्रदीप बजाज से आपके सचिव श्री पार्थसारथी शर्मा ने 'बहुत आपत्तिजनक बातें कही हैं। उनका यह कहना कि संस्था में सब ठीक चल रहा है, उसे क्यों छेड़ा जाय', बहुत आपत्तिजनक है। सरकार प्रबन्ध समिति की पूरी जाँच कराकर, निदेशक से अनेक आख्या प्राप्त कर वर्तमान प्रबन्धन प्रणाली को विधिविरुद्ध मान चुकी है तथा प्रबन्ध समिति को भंग करने हेतु दि० 18-11-2013 को नोटिस भी दे चुकी है। प्रश्न केवल इतना है कि भंग करने की नोटिस पूर्त विन्यास अधिनियम-1890 की धारा 6-ए के अन्तर्गत

न होकर विश्वविद्यालय अधिनियम 1973 की धारा-58 में दी गई हैं, जो वैध नहीं है। अतः संस्था के ठीक न चलने को तो शासन स्वीकार कर चुका हैं।

3- आप के सचिव ने यह भी कहा कि उदय प्रताप कालेज की प्रबन्ध समिति को पूर्व में कभी भंग नही किया गया है। यह कथन तो यह दिखाता है कि राज्य सरकार अपने द्वारा कश्त कार्यवाही से ही अवगत नही है, जबकि इस सम्बन्ध में अनेक प्रतिवेदनों द्वारा सरकार का ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध मे उ0प्र0 गजट पेज 1207 दि0 14 अक्टूबर 1953 में लिखा है- 'Now, therefore, the Governor in exercise of the powers conferred by section [3] of section [6A] of the said Act is pleased to modify as hereinafter provided ......'

4- यह कि आपके सचिव ने कहा कि उक्त पत्रावली के अनुमोदनार्थ मुख्यमन्त्री कार्यालय में लम्बित होने का कारण सपा सरकार के एक पूर्व मन्त्री (श्री आनन्द सिंह) का पत्रावली में संलग्न पत्र है, जो मन्त्री इस समय सपा सरकार के विरोधी हैं।

यह बात हास्यास्पद है, क्योंकि इस प्रकरण में अनधिकृत, अवैध प्रवन्ध समिति को भंग करने तथा सरकार द्वारा अपने विधिक दायित्व का पालन न करने के सम्बन्ध में अनेक लोगों ने पत्र लिखा है। सन्दर्भित मन्त्री ने जव पत्र लिखा था, तो वे सरकार के बहुत प्रतिष्ठित मन्त्री थे और आज भी समाज में उनकी वहुत ऊँची प्रतिष्ठा है।

5- मैंने श्री अखिलेश यादव मुख्यमन्त्री को सम्वोधित कर, संस्थापक के उत्तराधिकारी के रूप में दि0 14-12-1909 को जारी अधिसूचना (विस्टिंग आर्डर) में प्रदत्त कानूनी अधिकार के तहत लिखा था जिसमें राज्य सरकार द्वारा अपने विधिक कर्तव्यों के पालन न करने के कारण संस्था में व्याप्त अविधिक स्थिति, आर्थिक तथा प्रशासनिक अनियमितताओं, राज्य सरकार द्वारा 2003 तथा 2005 में भंग किये जाने की कार्रवाई, उ0प्र0 सरकार के कोषाध्यक्ष, धर्मादा संदान द्वारा प्रति वर्ष भेजी गयी प्रतिपूर्ति पर अर्जित व्याज के अनधिकृत लोगों द्वारा लिये जाने के सम्बन्ध में विस्तृत पत्र दि0 6-2-13, पत्र सं0 7065, पत्र की प्रतिलिपि के साथ संलग्न कर भेजी थी तथा पूर्त विन्यास अधिनियम की धाराओं के अन्तर्गत कार्यवाही करने हेतु निवेदन किया था, परन्तु खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि राज्य सरकार अपने विधिक दायित्वों का पालन सन् 1964 से नहीं कर रही है तथा सम्पूर्ण जाँच पूरी हो जाने के बाद, न्याय विभाग की आख्या प्राप्ति के पश्चात् भी दि0 4-8-2014 से प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा द्वारा पूर्त विन्यास अधिनियम की धारा 6-ए के अन्तर्गत प्रस्तावित कार्यवाही का अनुमोदन मुख्यमन्त्री कार्यालय से प्राप्त नहीं हो रहा है और न अनुमोदन देने की मंशा ही लग रही है, जैसे कि मुख्य मन्त्री के सचिव, उच्चशिक्षा की उपरोक्त बातों से स्पष्ट होता है।

जन्मभूमि पर भगवान् शङ्कर के नाम की जमींन को अवैध कब्जा से मुक्त कराकर 'शिवमन्दिर ट्रस्ट' की स्थापना

मन्दिर निर्माण में प्रगति तब आयी जब डी.एल.डब्लू वाराणसी में सेवा दे रहे श्री राम जन्म पाण्डेय ने स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण कर मन्दिर पर रहने की इच्छा व्यक्त की तथा अपने पैसे से अपने निवास हेतु एक कमरा बनवाया तथा वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। वे निर्माण कार्य में तन-मन-धन से लगे रहते। मैं उनका हर तरह सहयोग करता रहा। मन्दिरों का निर्माण-कार्य लगभग सन् 2004 तक पूरा हो गया। 20 से 22 अप्रिल 2005 को मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा हेतु समय निर्धारित हुआ था, परन्तु गाँव के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों, जो एक मश्त सोसाइटी का नवीनीकरण करा चुके थे, ने मुझसे प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य, अपने को मालिक बताते हुए रोक देने को कहा तथा मुझे भविष्य में मन्दिर पर होने वाली मीटिंग में उपस्थित होकर जवाब देने की बात कही। नवीनीकृत सोसायटी में महत्त्वपूर्ण पदों पर बहुत प्रभावशाली लोग थे तथा उनके पक्ष में बहुत लोग सक्रिय थे। मै बहुत चिन्तित हुआ। गाँव के लोगों ने यह भी बताया कि परिसर स्थित एक जर्जर मकान को गिराकर अर्धनिर्मित अवस्था में बनाये गये कमरे, बकरी ग्राम सभा के पंचायत भवन के लिए हैं। मैंने तत्कालीन सहायक निबन्धक सोसायटी से मिलकर पूरी वास्तविक स्थिति बताया तथा मन्दिर परिसर की जमीन ब्रिकी-पट्टा-बंधक आदि से बचाने के उद्देश्य से निबन्धक, मुहम्मदाबाद से मिला। दो बार मिलने पर तय हुआ कि राम-कश्ष्ण मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना की जाय।

पलिया ग्राम के स्वतन्त्रता सेनानी श्री वंश बहादुर सिहं को एक संरक्षक मण्डल के निर्देशन में काम करने हेतु ट्रस्ट का सर्वराहकार बनाकर दि0 27-01-2004 ट्रस्ट को पंजीकश्त किया गया। इसके द्वितीय पैरा में लिखित है कि इस व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि देवताओं की सम्पत्ति का कोई दुरुप्रयोग न कर सके, उसका कोई भाग बेच न सके, न बंधक रख सके और न किसी प्रकार का अधिभार उक्त सम्पति पर पैदा कर सके। इस ट्रस्ट के पंजीकश्त होने के लिए आवश्यक शुल्क सोसायटी कार्यालय में जमा किया गया। जिसका कड़ा विरोध तथाकथित मालिकों ने किया तथा मन्दिर परिसर में एक मीटिंग बुलाकर मुझे भाग लेने हेतु सूचित किया। श्री वशंबहादुर सिंह उन सभी ताकतवर लोगों से भी बात करते रहते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि 'वशिष्ठ! मीटिंग में मत जाओ। लोग बहुत नाराज हैं तथा वे तुम्हें बेइज्जत करेंगे।' मैने अपने करीबी लोगों से साथ देने तथा मीटिंग मे आने हेतु कहा। परन्तु कोई नहीं गया। मैं अकेले गया तथा सभी लगभग चालीस लोगों के कोध का भाजन बनते हुए स्पष्टीकरण देता रहा। इसके बाद मुकदमेबाजी होने लगी। मैं वाराणसी से अकेले जाता तथा दूसरी तरफ से जीप में भरकर लोग आते। दि0 28-01-2005 को सहायक निबंधक ने मन्दिर परिसर में आकर पूर्व सूचित पलिया-बकरी गाँवों की भीड़ में स्वयं निरीक्षण किया। तथाकथित सोसायटी के पदाधिकारी उनके प्रश्नों का कोई उत्तर न दे सके। उनका एक प्रश्न 'कि आपने सोसायटी की आय तथा व्यय लगभग 10 हजार रूपया दिखाया है, परन्तु यहाँ मन्दिरों के बनाने में लाखों रूपये खर्च हुए हैं', उन्हें निरुत्तर करने के लिए पर्याप्त था। अन्ततः दिनांक 26-2-2005 को सहायक निबन्धक आजमगढ़ ने अपना विस्तृत फैसला दिया। फैसले के पेज 3 पर निष्कर्ष के रूप में लिखा है-

अतः श्री [illegible] सिंह [illegible] राम [illegible] मंदिर [illegible] ग्राम– मकरी पो० पशिया [illegible] जिला– मऊ के नाम से पंजीकरण हेतु दिनांक 28-1-2004 को जो आवेदन किया है । उसे सो० अधि० की धारा 5 (2) के अन्तर्गत पंजीकृत न किये जाने का आदेश किया जाता है। तथा पूर्व पंजीकृत सोसाइटी श्री शंकर जी भगवान मंदिर समिति, मकरी पो०– पशिया जिला– मऊ का पंजीकरण सं०30/ 97-98 दिनांक 5-6-1997 पत्रावली सं० रेफ– 1561 को सो० रजि० अधि० 21 सन् 1860 की धारा 12(डी) के अन्तर्गत निरस्त करने के आदेश दिये जाते हैं।

(कुमार चन्द्र [illegible])
सहायक निबन्धक
आजमगढ़

कार्यालय सहायक निबन्धक फर्म्स सोसाइटीज एवं चिट्स आजमगढ़ मण्डल आजमगढ़

पत्रांक [illegible] रेफ– 5161 / [illegible] दिनांक 26/2/05

प्रतिलिपि– निम्नांकित को सूचनार्थ प्रेषित ।

1– श्री [illegible] सिंह . ग्राम व पो०– पशिया जिला– मऊ ।

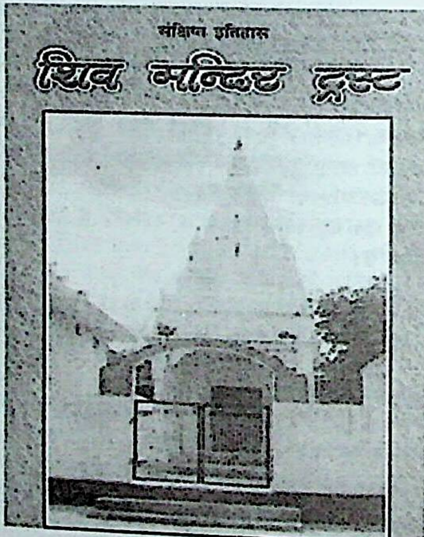
2– श्री [illegible] सिंह ग्राम व पो०– पशिया जिला– मऊ

3– श्री [illegible] – श्री शंकर जी भगवान [illegible] मंदिर स्थान ग्राम– मकरी पो०– पशिया जिला– मऊ ।

(कुमार चन्द्र [illegible])
सहायक निबन्धक
आजमगढ़

उस फैसले के विरुद्ध कमिश्नर की अदालत में होने वाली अपील पर मैंनें कैवियट दाखिल की, परन्तु फैसला इतना स्पष्ट था कि कोई अपील करने का साहस नहीं कर सका। इसके बाद वाराणसी से लाई गई मूर्तियाँ, जो कुछ दिन वोरे में वन्द थीं, खोली गयीं तथा उनकी प्राण-प्रतिष्ठा की तैयारी होने लगी।

कर्मकाण्डी ब्राह्मणों से बात करके मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा हेतु दि0 17-18 एवं 19 फरवरी 2006 की तारीख निश्चित की गई। प्राण-प्रतिष्ठा में लगभग एक लाख रूपये का खर्च होना था। इस हेतु मै सात-आठ दिन पूर्व सहयागियों के साथ कई गाँव के लोगों के घर-घर गया तथा अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुसार सामग्री- पैसा देने के लिए निवेदन किया। पर्याप्त पैसा तथा सामग्री प्राप्त हुई तथा प्राण-प्रतिष्ठा के बाद लगभग 14 हजार रूपये बच गये। प्राण-प्रतिष्ठा के कार्यक्रमों तथा आय-व्यय की छपी विवरण पुस्तिका के कुछ अंशो के फोटो दिये गये हैं।





ट्रस्ट के न्यासियों की मीटिंग में पलिया ग्राम स्थित इलाहाबाद बैंक में शिव मन्दिर ट्रस्ट के नाम से खाता खोलने का निर्णय हुआ, परन्तु बैंक के अधिकारियों ने कहा कि चूँकि अन्य किसी ट्रस्ट का खाता यहाँ नहीं है, इसलिये बैंक के जोनल आफिस वाराणसी की अनुमति के बाद ही खाता खुल सकता है। बहुत प्रयास के बाद दि0 15-09-2006 को खाता खोलने की अनुमति मिली। खाता खुलने हेतु सभी आवश्यक कार्यवाही के बाद दि0 13-10-2006 को खाता खुला तथा प्राण-प्रतिष्ठा कार्यक्रम से बचे 14 हजार रूपये इसमें जमा किये गये। संघर्ष समाप्त हुआ।

ट्रस्ट के मूल अभिलेखों के अनुसार भगवान् शङ्कर तथा सूर बाबा की समाधि के नाम ट्रस्ट की जमीन को बनाये रखने तथा मूल नकल देने में तत्कालीन सहायक चकबन्दी अधिकारी डा० बी.डी. शुक्ला ने बहुत मदद की। वे मुझे फोन करके अपने आवास, मऊ पर बुलाये तथा मुझे ट्रस्ट की जमीन की मूल नकल दे दी। उन्होंने अनेक प्रलोभनों को सत्य के आगे टाल दिया।

मुझे कष्ट है कि ट्रस्ट की कुछ जमीन चारों ओर बसने वालों ने कब्जा कर रखी है, जिसके लिये पैम्फलेट्स आदि द्वारा प्रार्थना की, परन्तु मैं मुक्त न करा सका। श्री राम जन्म पाण्डेय इस हेतु लोगों से झगड़ा कर लेते थे तथा इसी कारण उन्हें लोगों ने बेइज्जत कर भगा दिया। ट्रस्ट के लिए यह बहुत दुर्भागपूर्ण रहा।

<u>ट्रस्ट की धार्मिक गतिविधियाँ–</u>

प्राचीन शिव मन्दिर तथा हनुमान मन्दिर के अतिरिक्त नव निर्मित दुर्गा मन्दिर, राधा-कृष्ण तथा राम दरबार में स्थापित- भोग आदि की व्यवस्था स्थायी रूप से की गई। पलिया बाजार में लोग श्रद्धा से प्रतिमाह लगभग एक हजार रूपये देते थे, इससे तथा दान दाताओं के दान से सभी धार्मिक कार्य सम्पन्न होने लगे। मैंनें ट्रस्ट के खाते का कोष बढ़ाने हेतु कई प्रयास किये। फलतः सब खर्च के बाद लगभग सत्तर हजार रूपये जमा किये गये। नागपंचमी के अवसर पर प्रतिवर्ष दंगल का आयोजन, विजयादशमी के अवसर पर एक विशाल मेला तथा स्थायी बने मंचों से रामलीला का आयोजन प्राचीन काल से चला आ रहा है। शिवरात्रि के अवसर पर बहुत बड़ी संख्या में क्षेत्रीय जनता यहाँ आकर शिव पूजा करती है। शारदीय नवरात्र में नौ दिन दुर्गा पाठ, अन्य सम्बन्धित कार्यक्रम किये जाते है। कृष्ण जन्माष्टमी तथा रामनवमी आदि का पर्व अच्छी तरह मनाया जाता है। गर्मी के दिनों में काशी तथा अन्य स्थानों से प्रवचन कर्ताओं को बुलाकर कथाएं करायी जाती हैं। मन्दिर परिसर में जंगल विभाग के अधिकारियों के सहयोग से कई बार खाली स्थानों पर वृक्ष लगवाये गये, जिनकी रक्षा विभाग के गार्ड राजा राम ने की। पेड़ों की अवैध कटायी को रोकने के लिये बहुत वाद-विवाद करना पड़ा तथा कई वर्षो के संघर्ष के बाद अवैध कटायी रुक पायी।

एक समय भुडुक बाबा नामक सन्त अपनी गायों के झुण्ड के साथ महीजों रहे। बलरामदास नामक सन्त के निर्देशन में लगभग पॉच महीने तक अखण्ड कीर्तन का कार्य चलता रहा। इस हेतु जनरेटर, इनवर्टर आदि ट्रस्ट की ओर से खरीदा गया। आस-पास की क्षेत्रीय जनता रात में आकर इसमें बड़ी संख्या में भाग लेती थी।

दि 15.1.2013 को ट्रस्ट के मूल ट्रस्टी एवं अध्यक्ष श्री मंगला प्रसाद सिंह की मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छा का आदर करते हुए प्रभु टण्डा गाँव के डा० केदार नाथ सिंह को अध्यक्ष का भार सौंपा गया। वे मन्दिरों तथा ट्रस्ट के सभी कार्य सबके सहयोग से चला रहे हैं। मेरी भूमिका अब निर्देशन मात्र ही रह गई हैं।

सन् 1999 से 2013 तक मैं शिव मन्दिर ट्रस्ट की सम्पत्ति तथा इसकी गतिविधियों से जुड़ा रहा, जिससे मुझे अनेक लाभ हुए। स्वार्थी तत्वों ने अनेक बार मेरे ऊपर कटाक्ष किया। जमीन हड़पने आदि के ऐसे आरोप लगाये, मुझसे अनेक प्रश्न किये, मीटिंग मे वाद-विवाद किये, जिससे मेरी सहनशक्ति बहुत बढ़ी, हर परिस्थिति में समता भाव रखने के अभ्यास का अवसर मिला। भगवान् ने धार्मिक कार्यों में अपने आय का कुछ भाग खर्च करने का अवसर प्रदान किया। सभी प्रकार के स्वभाव वालों के साथ बिना राग-द्वेष, प्रेम पूर्वक रहने का मौका मिला।

पर्यावरण हेतु संघर्ष

मनुष्य का अस्तित्व प्राण-वायु, जल तथा अन्न पर टिका है। उसे जन्म धारण करने से मृत्यु के समय तक प्राण-वायु (आक्सीजन) चाहिए। हम प्रत्येक समय आक्सीजन लेते रहते हैं। जिससे खून शुद्ध होता रहता है तथा शरीर से विषैले पदार्थ, कार्बन डाइआक्साइड के रूप में निकलते रहते हैं। सृष्टि-रचना में आक्सीजन की पूर्ति बहुत हद तक वृक्षों से होती है। यदि वृक्ष न हों तो हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इसलिये हमारे अस्तित्व के लिये पृथ्वी का कम से कम चालीस प्रतिशत भाग पेड़ों से आच्छादित होना चाहिये। पेड़ों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कार्बनडाइआक्साइड का सोख लेना तथा प्राण वायु (आक्सीजन) का प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त वृक्ष, पर्यावरण को सुधारते ही हैं, अन्य अनेक प्रकार से हमारी सेवा करते हैं तथा बदले में कुछ न चाहकर हमें निष्काम कर्म, त्याग-भाव की शिक्षा देते रहते हैं।

जमींन के अन्दर के जल के स्तर को बनाये रखने के लिये वर्षा के जल को अपनी जड़ों की मदद से वे पृथ्वी की कोख तक पहुँचाते हैं। वर्षा के जल के समुचित प्रबन्धन न होने के कारण ही जल-स्तर प्रतिवर्ष नीचे जा रहा है तथा पीने के पानी की समस्या पैदा हो रही है। फलदार वृक्षों के फल से मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षी-कीड़ों की क्षुधा-तृप्ति होती है।

फलदार वृक्षों की कमी के कारण ही बन्दर इस समय शहरों की आवासीय कालोनियों की समस्या बने हुए हैं। वृक्षों की पत्तियाँ, फल गिरकर सड़ते है तथा पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं। वृक्षों से तापमान नियंत्रित रहता है। इनके द्वारा धूल का भी नियंत्रण होता है।

भोगवादी संस्कृति में तैलीय ऊर्जा से चलने वाले वाहनों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। एक कार लगभग 40 हजार किलोमीटर चलने में जितना हानिकारक कार्बन उत्सर्जित करती है, उतने कार्बन का शोषण एक छयादार वृक्ष – बरगद, पीपल, आम, सागवान, जामुन करता है।

वर्तमान समय में सीमा से अधिक ध्वनि प्रदूषण से हमारे सुनने की शक्ति क्षीण हो रही है। एक सीमा से अधिक ध्वनि हमें बहरा बना सकती है। वृक्ष ध्वनि प्रदूषण रोकने में मदद करते हैं।

औषधीय वृक्ष हमें स्वस्थ रखने में सहायक होते है। शारीरिक रोगों से हमें छुटकारा दिलाते हैं। सहिजन, जामुन, आँवला, बेल, अनार, नीबू आदि की पत्तियाँ-फल-छाल आदि सभी बहुत उपयोगी हैं।

बहुत से पौधे, वृक्ष अपने फूलों से पृथ्वी की सुन्दरता बढ़ाते हैं। हमारे मन को अपनी सुगन्ध से प्रसन्न करते हैं। कुछ वृक्षों की लकड़ी का उपयोग हम अनेक प्रकार से करते हैं। पोपलर के वृक्ष की लकड़ी से दियासलाई की तीली बनती है।

बहुत से लोग अपने पूर्वजों की याद उसी बहाने करते हैं। उनके किये गये उपकार को याद करते हैं। यज्ञभावना से प्रेरित होकर तथा जीवन के सन्यास आश्रम के समय का शान्त वातावरण में पेड़-पौधे के बीच एक कुटिया बनाकर साधना के उद्देश्य से सन 1999 में खेती की एक जमीन मैंने ली जो काफी गहरी थी, इसमें मिट्टी पाटकर अपने उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में संघर्ष करने लगा। बहुत मनन के बाद वर्ष के अन्त में मेरी भावी योजना इस प्रकार बनी थी।

1- पेड़-पौधों से घिरे वातावरण में एक घास-फूस की कुटिया बनाकर स्वाध्याय तथा तत्त्व-विचार के मार्ग पर चलते हुए जीवन के परम पुरुषार्थ की तरफ बढ़ें।

2-चित्त-शुद्धि में सहायक कार्यों को फलाशा छोड़कर करते हुए शेष जीवनयापन करूँ।

इन बातों को ध्यान में रखकर मैंने कार्य प्रारम्भ किये। बगीचे हेतु पानी का प्रबन्ध, उसकी सुरक्षा की व्यवस्था, जमीन को उर्वरा बनाकर आँवला, बेल, आम, जामुन, कटहल, नीबू, अमरूद, सन्तरा, अनार, नवग्रह के पौधे तथा अनेक तरह के फूल लगाकर, उनकी सेवा करने लगा। बाउन्ड्री पर रङ्गीन लतायें सुन्दरता हेतु लगायी गयीं। देव-पेड़ों के बीच कुटिया बनी, जिसकी दीवारों पर चतुश्लोकी भागवत, वेदों के महावाक्य, गीता के श्लोक तथा 'ॐ' लिखे गये। राजमार्ग पर आने-जाने वालों हेतु इस 'कृष्ण-वाटिका' के किनारे 'राधा-प्याऊ' की व्यवस्था की गयी। इस कार्य में लगभग दो वर्ष लग गये। इस वाटिका से थोड़ी दूर अत्यन्त दयनीय लोगों की एक बस्ती है। उस बस्ती को अपना परिवार मानकर यथा सम्भव सेवा को चित्त-शुद्धि का माध्यम बनाया। वाटिका के पीछे सात्त्विक विचार वाले धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का गाँव उदयपुर है। उनका भरपूर स्नेह-आशीर्वाद मिला तथा वे सत्सङ्ग हेतु सदा उपलब्ध रहते हैं।

2-3 वर्षो के संघर्ष के बाद इसमें पेड लगे। इस समय चारों बाउड्री के किनारे 45 सागौन के वृक्ष लगे हैं तथा दीवारों पर फैली अनेक रङ्ग की लताएं मन को प्रसन्न करती हैं। बीच में 14 वृक्ष आम, 12 अमरूद, 10 नींबू, 2 सन्तरा 3 अनार तथा कटहल, जामुन, बेल, आँवला, नीम, पीपल, मीटी नीम, बादाम के एक-एक पेड़ हैं तथा सभी फलदायी हैं। साधना कक्ष के रुप में बनी कुटिया के सामने सुगन्धित फूलों के अनेक पौधे हैं। वर्तमान में ये इस रुप में हैं



फल के साथ आम के वृक्ष



फल के साथ कटहल



फल के साथ अनार



फल के साथ नीबू



फले हुए बेल



केले के पौधे



बाउण्ड्री के किनारे सागवान



बाउण्ड्री पर लताएँ

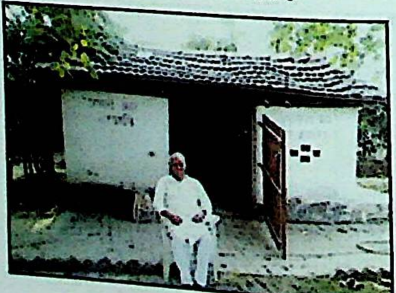
सारनाथ में भी एक छोटा बगीचा लगाया है जिसमें 30 पेड़ सागवान तथा 12 अन्य फलदायी वृक्ष हैं। इन वृक्षों में उपयुक्त अवसर पर खाद-पानी की व्यवस्था तथा उन्हें रोग से बचाने हेतु सभी आवश्यक उपाय करते हुए प्रसन्नता का उनुभव होता है।





सारनाथ वाराणसी में राम वाटिका के चित्र

साधना कक्ष तथा कृष्ण-वाटिका वाराणसी शहर से 7 किलोमीटर की दूरी पर वाराणसी-आजमगढ़ राजमार्ग पर स्थित है। इसका फोटो नीचे दिया गया है-





धार्मिक कार्य

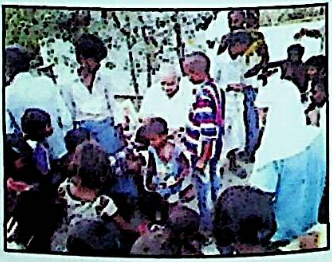
जरूरत मन्दों की सहायता : कम्बल–भोजन–वस्त्र–दवा आदि का वितरण

प्रतिवर्ष ठण्डी का मौसम प्रारम्भ होने के समय पैतश्क गाँव के जरूरतमन्द लोगों का पता कर पुरुषों हेतु कम्बल, औरतों हेतु साड़ी तथा शाल देने का नियम सन् 2000 के आस–पास में बनाया था। किसी जाति के, विशेषतः 60 वर्ष से अधिक आयु तथा अपने परिवार से तिरस्कृत व्यक्तियों को कम्बल, स्वेटर आदि देकर अतिप्रसन्नता का अनुभव होता रहा है। उदयपुर गाँव, वाराणसी स्थित कृष्ण वाटिका के पास चालीस घरों वाली एक बस्ती है। यहाँ के लोग एक तालाब के किनारे बसे हुए हैं। बाँस खरीद कर, डलिया बनाकर बहुत गरीबी में अपना गुजारा करते हैं। सन् 2004 में इस गाँव के लोगों से मेरी बहुत आत्मीयता बढ़ी। इनके सुख–दुःख में सहभागी बनने का निश्चय किया तथा इसे अपना एक परिवार माना। लगभग प्रत्येक त्योहार के एक दिन पूर्व पूरे परिवार को भोजन–सामग्री का एक पैकेट तथा छोटे बच्चों हेतु बिस्किट आदि देने का नियम बनाया, ताकि कम से कम त्योहार के दिन कोई भूखा न रहे। कभी–कभी कृष्ण वाटिका में पूरे बस्ती के लोग एकत्रित होते हैं। उदयपुर गाँव निवासी रामनामी दुपट्टा धारण किये हुये श्रद्धेय सी.बी.चौबे (चानीगुरु) के नेतृत्व में कुछ देर कीर्तन करते हैं। अपनी बीमारी या अन्य किसी कठिनाई के बारे में बताते हैं। मैं यथाशक्ति उनका निराकरण करने का प्रयास करता हूँ। कभी–कभी सरकारी अस्पताल से रोगियों को दवा दिलवाने में, या इनके घर पड़ने वाले विवाह आदि समारोह में या किसी के त्रयोदशाह में मदद कर चित्त–शुद्धि करता हूँ। इनके लिये कई बार भण्डारे की व्यवस्था करके तथा एक बार पूरे बस्ती के लिये एक स्थान पर सत्यनारायण कथा का आयोजन किया; क्योंकि इसके पूर्व किसी के घर कभी कथा नहीं हुई थी।

















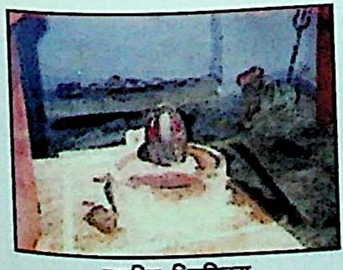
इस परिवार का फोटो



माने हुए परिवार के साथ

'शिव-मन्दिर' में शिवलिङ्ग की स्थापना व जीर्णोद्धार

फरवरी 1999 में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े शिवलिङ्ग को बदलकर शास्त्रीय विधि से नये शिवलिङ्ग की स्थापना, अर्घे की दिशा उत्तरमुखी कर तथा भण्डारा देकर, मैंने विधिवत सम्पन्न कराया था। इस कार्य के सम्पन्न होते ही आस-पास के गाँवों की जनता का उत्साह, धार्मिक-आध्यात्मिक भाव जागृत हुआ तथा कुछ दिनों के पश्चात् मेरे पिता के नेतृत्व में लगभग 20 लोगों ने प्राचीन शिव मन्दिर के पूरब राम-दरबार, राधा-कृष्ण, तथा मन्दिर के पश्चिम दुर्गा मन्दिर की नींव रखी। उक्त अवसर पर मैं उपस्थित था। सन् 2002 में उदय प्रताप कालेज की सेवा से मुक्त होने पर मैं भी अधिक समय देने लगा तथा गाँव के मित्रों- चन्द्रविजय सिंह, वालेश्वर सिंह, कन्हैया सिंह अध्यापक, जयराम दूबे, रामाधर दूबे आदि को साथ लेकर अलग-अलग क्षेत्र में जाता तथा मन्दिर निर्माण हेतु मदद माँगता। एक दिन के प्रयास में 3-4 हजार रूपये मिल जाते। मन्दिर निर्माण का कार्य रुक-रुक कर चलता रहता।



स्थापित शिवलिङ्ग



वैदिक विधि से स्थापना



धर्म संघ वाराणसी के सन्यासी द्वारा स्थापना



बायें से जयराम दूबे, लेखक अनिल सिंह, स्वामी के.पी. सरस्वती, रमेश ललवानी

पैतृक गाँव के शिवाले पर स्थापित मूर्तियों की सजावट

जन्म भूमि के अन्तः साक्ष्य में वर्णित प्राचीन शिवालय की मूर्तियाँ, श्रद्धालु भक्तों द्वारा माथे पर सिंदूर आदि से टीकने के कारण धुंधली हो गयी थीं। मन्दिरों के पुजारी श्री भुवनेश्वर द्विवेदी पुत्र स्व0 पवारू जी के निर्देशानुसार वाराणसी के जयपुर मूर्ति भण्डार के सन्तू नामक कलाकार को आवश्यक सामग्री सहित गाँव भेजा तथा उन्होंने वहाँ रहकर मूर्तियों को आकर्षक रूप प्रदान किया।

प्याऊ की व्यवस्था

भूखे को अन्न देना, प्यासे को जल पिलाना तथा रोगी की चिकित्सा की व्यवस्था करना भारतीय संस्कृति का अभिन्न अङ्ग रहा है। आजादी बचाओ आन्दोलन द्वारा गर्मी के मौसम में सार्वजनिक स्थानों पर प्याऊ की व्यवस्था उदार चरित वालों की सहायता से होती रही है। पशु-पक्षी की प्यास बुझाने हेतु तालाबों का निर्माण समर्थ लोगों द्वारा किया जाता था। तालाबों से पानी का संरक्षण होता है तथा पृथ्वी का जलस्तर बना रहता हैं। मेरे पूर्वजों ने कई तालाबों का निर्माण कराया था। मेरे पूर्वज बाबू जगरनाथ की पत्नी सुदेश्वरा कुँवरि ने पक्का घाट बनवाकर एक तालब का निर्माण कराया था,जिस पर आज भी 'सुदेश्वरा कुँवरि पत्नी बाबू बेनी माधव सिहं मि0जे0ब0 । संवत् ।993' अंकित है'।



सुदेश्वरा कुँवरि द्वारा निर्मित तालाब



तालाब के घाट पर अंकित

आजादी बचाओं आन्दोलन इलाहाबाद के कार्यकर्ता के रूप में तथा व्यक्तिगत प्रयास से, मैंने कई प्याऊ की व्यवस्था करायी। उदयपुर ग्राम की कृष्ण वाटिका में 'राधा प्याऊ' की व्यवस्था की गई है, जो 2006 से अनवरत चल रही है। वाराणसी- आजमगढ राजमार्ग पर इसकी स्थिति होने के कारण प्रतिदिन सैकडों की संख्या में आने-जाने वाले दैनिक मजदूरी वालों के लिये यह बहुत उपयोगी है। प्रतिवर्ष यह प्याऊ अप्रैल माह के प्रारम्भ से चालू होता है तथा श्रावण मास के काँवरिया-यात्रा समाप्त होने पर बन्द होता है।



कृष्ण वाटिका में राधा प्याऊ

इलाहाबाद में मोतीलाल नेहरू रोड पर, आजादी बचाओ आन्दोलन के कार्यालय के सामने एक अच्छी प्याऊ की व्यवस्था तथा पशुओं हेतु चरनी की व्यवस्था की गयी है, जिसमें मैंने यथा संभव अपनी भागीदारी निभायी है। प्याऊ की व्यवस्था बोतलबंद पानी की बिक्री रोकने, भारतीय संस्कृति-अतिथि देवो भव को बचाए रखने में बहुत मददगार है।

बाबा हरिदत्त सतसङ्ग कक्ष का लोकार्पण

मातृभूमि के पैतृक आवास के पास हरिद्वार के संन्यासी स्वामी धर्मनिधि ने एक सत्सङ्ग कक्ष की नींव कृष्ण जन्माष्टमी सन् 2012 के अवसर पर रक्खी। यह 'बाबा हरिदत्त सत्सङ्ग कक्ष' कृष्ण जन्माष्टमी दि0 10-8-2012 के अवसर पर, कृष्ण-जन्मोत्सव के पश्चात् पलिया गाँव के उपस्थित सैकड़ों लोगों को यह कहकर समर्पित किया गया कि गाँव का कोई भी व्यक्ति इसमें किसी धार्मिक कार्य, सत्सङ्ग, रामायण-भागवत कथा आदि का आयोजन करा सकता है।



बाबा हरिदत्त सत्सङ्ग कक्ष तथा संलग्न कमरे

अपने श्रद्धेय पूर्वजों, पालनकर्त्री तथा जन्मदात्री माँ, सदगुरु की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से सत्सङ्ग कक्ष की बाह्य दीवार पर,एक ग्रेनाइट पत्थर पर मेरे द्वारा भावोद्गार व्यक्त किया गया है।





आदर्श तथा करीबी लोगों के विचार एवं उनके सान्निध्य का प्रभाव डॉ बनवारी लाल शर्मा के सान्निध्य में सीख



सादगी का प्रभाव

जुलाई सन् 1958 से ही श्री बनवारी लाल शर्मा जी के यहाँ मेरा आना-जाना प्रायः होने लगा। वे चरखे पर कुछ देर सूत अवश्य कातते थे। उनका विचार था कि जितना खादी का कपड़ा कोई प्रयोग करता है, उतना सूत अवश्य कातना चाहिये। कपड़ा भी उनके पास सीमित रहता था। दो धोती, दो कुर्ता तथा कुर्ते के नीचे पहनने हेतु खादी का ही सिला हुआ आधी बाँह की बनियान। चौकी पर खादी का सफेद चादर। उनके यहाँ जाने पर चार पेज की सर्वोदय पाक्षिक पत्रिका तथा इसी तरह के कुछ पत्र-पत्रिकाएँ देखने को मिलते।

सर्वोदय विचारधारा से वे बहुत प्रभावित थे। इस सम्बन्ध में लेख लिखना, सर्वोदय की गोष्ठियों में भाग लेने हेतु जाना तथा अपने विचार रखना उनकी प्राथमिकता में था। स्वतन्त्रता आन्दोलन में गाँधी जी के निकटतम सहयोगी विनोवा भावे से भी वे बहुत प्रभावित रहते थे।शर्मा जी छात्रावास से बहुत करीब एक नये किराये के मकान में आ गये। मेरा आना-जाना और अधिक हो गया। उनकी माता जी भी साथ रह रही थीं। मैं उनका भी कृपा पात्र हो गया। इस तरह वर्ष बीता।

एक दिन बंगलूरु में मेरे प्रवास के समय शर्मा जी से फोन पर बात हुई। उन्होंने गाँधी
ी म्यूजियम में एक व्यक्ति से राष्ट्रीय हित-सम्बन्धी विषय पर चर्चा में भाग लेने हेतु मुझे
बुलाया। सायं मेरे साथ वे डॉ प्रद्युम्न कुमार सिंह वैज्ञानिक (वर्तमान में वैज्ञानिक राष्ट्रीय
वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ) के घर आये। उन्होंने मुझसे बताया कि इण्डियन
स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट में प्रतिदिन मेरा लेक्चर चल रहा है। अतः रात में ही मुझे वहाँ पहुँचना
जरूरी है। दूसरी बात, तुम जानते हो कि मेरे पास दो ही धोती-कुर्ता रहता है। प्रतिदिन एक
धोता हूँ। प्रेस की सुविधा न होने से, मैं अभी लोटे (जलपात्र) में आग डालकर कपड़ा प्रेस
कर लेता हूँ। परन्तु दस-पन्द्रह दिन अभी रहना है। अतः छोटा प्रेस ले लें।

व्यावहारिक सम्बन्ध निभाना

18 अप्रैल 1995 को मैंने उनसे अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर आशीर्वाद देने का आग्रह किया। उस समय वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गणित विभाग के अध्यक्ष थे तथा विभाग में एक कांफ्रेंस चल रही थी। वे बस से रात में नौ बजे आये। आशीर्वाद दिये तथा बहुत आग्रह पर एक पापड़ का टुकड़ा यह कहते हुए लिये कि लड़की के विवाह में मैं कुछ नहीं खाता। एक घण्टे रहकर वापस चले गये। व्यावहारिक सम्बन्धों को महत्त्व देना तथा विवाह में लड़की के पिता की मर्यादा का ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है।

समय का उपयोग = वर्तमान में जीना

प्रतिदिन प्रातः आगामी चौवीस घण्टे में किये जाने वाले कार्यों का समयवद्ध निर्धारण कर, वे एक डायरी पर लिख लेते थे। उसी के अनुसार उनकी दिनचर्या होती थी। इससे भूत के बारे में सोचने का तो समय नहीं ही होता था। व्यर्थ की बातों में समय बिताते हुए मैं उन्हें कभी नहीं पाता था। उनकी एक बात से मैं बहुत प्रभावित होता था–आन्दोलन के कार्य के सम्बन्ध में मैं उनके साथ बहुत बार टेम्पो–जीप में यात्रा करता था। एक काम समाप्त कर, साथ बैठने के पाँच–सात मिनट में, वे नींद में हो जाते थे। उतरने के समय मैं कहता था कि हम आ गये, उतरना है। वे उतरते तथा मिलने वाले व्यक्ति या काम में पूरी सजगता से बात करते या काम करते। इससे व्यर्थ की बातें नहीं हो पाती थीं, शक्ति का ह्रास नहीं होता था तथा उन्हें आराम मिल जाता। साथियों की ऊर्जा का क्षय भी नही हो पाता था।

अन्याय को सहन न करना, सामाजिक कार्य, निरभिमानिता तथा त्याग

अन्याय, भ्रष्टाचार या किसी विधि–विरुद्ध कार्यवाही के विरोध में वे पूरे उत्साह, शक्ति से किसी के सामने खड़े हो जाते थे। उदय प्रताप कालेज, वाराणसी के अविधिक प्रबन्धन के विरुद्ध संघर्ष में उनका प्रत्येक स्तर पर सहयोग मिला। प्रत्येक स्तर पर वे स्वयं साथ जाते, बात करते तथा आवश्यकतानुसार जिम्मेदारी भी ले लेते। उनके सहयोग के कारण ही उदय प्रताप कालेज का संघर्ष वर्तमान स्थिति तक पहुँच पाया है।

गर्मी का मौसम आते ही वे रेलवे स्टेशनों, मुख्य मार्गों, सामाजिक स्थानों पर प्याऊ लगवाने हेतु प्रयास प्रारम्भ कर देते थे तथा अनेक स्थानों पर लोगों के सहयोग से प्याऊ प्रारम्भ हो जाते थे। प्याऊ के साथ पशुओं के पानी पीने के लिये 'चरनी' भी यथा सम्भव वे रखना चाहते थे।

पूरे जीवन उनकी एक आदत थी कि कभी अपनी अच्छाई, उपलब्धि के बारे में स्वयं कुछ नहीं कहते थे। किसी दूसरे स्रोत से ही उनके बारे में किसी को पता चलता था।वे अपने वेतन का अधिकांश भाग उस समय प्रतिमाह अपने गाँव के पास स्थित एक विद्यालय के प्रधानाचार्य को विद्यालय हेतु भेज देते। विद्यालय सम्बन्धी बातें मैंने उनकी प्रधानाचार्य से बातें करते हुये सुनकर जानी थी। पूछने पर 'शर्मा जी' ने बताया कि 'मैंने प्रधानाचार्य से विद्यालय के अध्यापक, विद्यार्थी, चपरासी आदि के लिये खादी के कपड़े का प्रयोग करने हेतु इच्छा व्यक्त की है। घर की खेती के सम्बन्ध में मेरे पूछने पर उस समय स्वयं उन्होंने उक्त बात बतायी थी।

वंगलूरु जाने के पूर्व मुझसे उनकी मुलाकात हुई थी, परन्तु वे कभी ऐसी वात नहीं बताते थे, जिससे अहङ्कार बढ़ने की सम्भावना हो। इससे आवश्यकताओं को न्यूनतम रखने तथा अहङ्कार को कम करने के उपाय की सीख मिलती है।

उनका जन्म आगरा जिले में टुण्डला के समीप एक गाँव में हुआ था। वे पाँच भाई थे। जव इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कक्षा में प्रथम स्थान पाने के कारण उसी वर्ष प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति मिल गयी, तो उन्होंने अपने हिस्से की खेती-मकान अन्य भाईयों को दे दिया तथा जीवन के अन्तिम दिन (26 सितम्बर 2012) तक घर से कुछ नहीं लिया।

साहस

एक बार वे घर पहुँचे थे तथा उसी दिन डाकुओं का मुकावला करने में गोली के छर्रे उनके घुटने में रह गये थे तथा इलाहाबाद में विस्तर पर थे। उस समय भी उनकी लेखनी चलती रहती थी। कुछ दिन बाद मैंने उनसे इच्छा व्यक्त की कि सर, घुटने का आपरेशन करा कर छर्रे निकाल दिये जायँ। इस सेवा को करने का मुझे मौका दें। उन्होंने कहा कि कोई आवश्यक्ता नहीं महसूस होती। राष्ट्रीय हित के कार्यों में लगे रहने के कारण वे गल गये।

विद्यार्थियों से निकटता

दूसरे वर्ष गणित में शर्मा जी का विद्यार्थी होने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। चूँकि उनका मेरे ऊपर भरपूर स्नेह था तथा वे छात्रावास के पास ही रहते थे, अतः मैं अपनी गणितीय कठिनाईयों के निराकरण हेतु तथा वैसे भी प्रायः उनके घर जाता। उनके नहीं मिलने पर भी उनकी माता जी के पास बैठा रहता। उन्होंने विवाह तो बहुत बाद में किया।

विश्वविद्यालय में पढ़ाई सुचारु रूप से चले, विद्यार्थियों के आन्दोलन के कारण कोई व्यवधान न होने पाये- जैसे उद्देश्यों को लेकर शर्मा जी ने विश्वविद्यालय के चालीस विद्यार्थियों को लेकर विश्वविद्यालय शान्ति सेना का निर्माण किया, जिसमें मुझे भी सक्रिय सदस्य के रूप में कार्य करने का आदेश दिया। उनके सादे रहन-सहन, उत्तम व्यवहार, विद्यार्थियों के प्रति स्नेह तथा वेजोड़ अध्यापन शैली आदि से सभी विद्यार्थी बहुत प्रभावित रहते थे। अतः उनके आदेश के पालन तथा उनके निर्देशानुसार कार्य करने में विद्यार्थी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। उनके सान्निध्य में रहने मात्र से बहुत कुछ सीखने में आता था। हम लोग पहचान के रूप में हरे रंग का दुपट्टा सिर पर बाँधते थे।

समय की पावन्दी

उन्होंने प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से एक दिन शान्ति सेना के सदस्यों को तेज वहादुर सप्रू अस्पताल, इलाहावाद में निर्धारित तिथि तथा समय पर वुलाया। हम सभी उपस्थित हुए। वे हाँफते हुए पहुँचे। विस्तार से सवका परिचय जानने के पूर्व उन्होंने कहा कि सवसे पहले तो मैं तुम लोगों से माँफी माँगता हूँ; क्योंकि मैं तीन मिनट देर से आया। इसके वाद परिचय हुआ तथा उन्होंने हम लोगों के कर्त्तव्य के वारे में विस्तार से वताया। प्राथमिक चिकित्सा के वारे में भी वातें हुईं। तीन मिनट देर से आने पर मांफी माँगने की वात ने हम सभी विद्यार्थियों पर गहरा असर डाला। मेरे ऊपर तो इस वात की ऐसी छाप पड़ी कि आज तक मुझे याद नहीं है कि किसी निर्धारित समय पर देर से पहुँचा होऊँ। प्रायः

समय से पूर्व पहुँच जाता हूँ। इसका असर यह हुआ कि सभी कार्य निर्धारित समय पर करने का पूरा प्रयत्न करता रहा।

समय का कड़ाई से पालन करने से अनेक लाभ होते हैं। ऐसा काम करने वाला अधिक काम कर लेता है। दूसरों के काम में व्यवधान नहीं पहुँचता। समय निर्धारित होने के कारण व्यर्थ की वार्तों में समय बर्बाद नहीं होता। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा सभी ग्रह, नक्षत्र अपने निर्धारित मार्ग पर एक पल का भी अन्तर नहीं रखते हुए चलायमान हैं। इनसे हमें समय की पावन्दी की शिक्षा मिलती है। पारमार्थिक, व्यावहारिक या किसी क्षेत्र में समय का पालन करने वाले लोग अधिक सफल देखे जाते हैं।

अस्तेय

जैसा ऊपर कहा गया है कि शर्मा जी के घर मैं प्रायः जाता ही रहता था। एक दिन मैं उनकी माँ के पास बैठा था। शर्मा जी घर पर अभी नहीं आये थे। बिना कुर्ता पहने, केवल उत्तरीय शरीर पर डाले, एक व्यक्ति शर्मा जी के घर मेरे सामने आये। वे शर्मा जी की माँ से भली-भाँति परिचित थे। एक कपड़े के टुकड़े में सिक्के सहित कुछ रुपये की बँधी पोटली को उन्होंने शर्मा जी की माँ के सामने पटका तथा कहा कि 'दो दिन का भूखा हूँ, जल्दी कुछ खिलाओ।' शर्मा जी की माँ ने कहा कि अरे! इतने रुपये की पोटली पास में है, तो कुछ खा क्यों नहीं लिये? कम से कम केला तो खा सकते थे? इस पर उनका उत्तर था कि 'खा कैसे लेता? ये पैसे तो विद्यालय (वही विद्यालय जिसे शर्मा जी प्रतिमाह कुछ राशि भेजते थे) के लिये वम्बई में चन्दे में मिले हैं। मेरे पैसे थोड़े ही हैं कि मैं खा लेता? शर्मा जी की माँ ने कुछ खिलाया। थोड़ी देर वाद शर्मा जी आ गये। उनकी माँ ने उनकी पूरी बात बताकर कहा कि देखो न बनवारी, ये भूखों मरते रहे। पैसे की पोटली पास में रखे रहे, परन्तु उसमें से निकालकर कुछ खर्च नहीं किये। अपना पैसा तो उनके पास बचा नहीं था। शर्मा जी ने कहा कि–'माँ! इन्होंने ठीक किया। चन्दे के पैसे पर इनका अधिकार नहीं था। जिन्होंने इन्हें चन्दे में पैसा दिया, उसे विद्यालय के लिये दिया। इनको थोड़े ही दिया था कि ये उसमें से खर्च करते।' बात समाप्त हो गयी।

परन्तु इस घटना ने मेरे मस्तिष्क पर एक अमिट छाप छोड़ी। जब भी मैं किसी को या कुछ व्यक्तियों के समूह को मन्दिर-मस्जिद पूजा या किसी सामाजिक कल्याण के नाम पर पैसा वसूल कर, मात्र उसी के निमित्त खर्च न कर अन्य कार्य या व्यक्तिगत-सामूहिक उपभोग के लिये खर्च करते देखता हूँ, तो हार्दिक कष्ट होता है। इससे नैतिक पतन होता है। इस तरह के कार्य से व्यक्ति अनजाने में ही पतन के रास्ते पर तेजी से बढ़ता जाता है तथा एक समय ऐसा आता है कि इस तरह का कार्य उसके जीवन का हिस्सा बन जाता है।

इस शताब्दी की सबसे बड़ी समस्या– पानी पर चर्चा

चार सितम्बर 2012 को रात में शर्मा जी आजादी बचाओ आन्दोलन के पूर्ण समर्पित कार्यकर्ता मनोज त्यागी के साथ मेरे आवास पर आये। पाँच सितम्बर को प्रातः उन्होंने मुझसे प्रकृति द्वारा निःशुल्क प्रदत्त सूर्य की धूप– वायु की तरह 'पानी' पर लम्बी वार्ता की। उन्होंने जाग्रत विद्यार्थी समाज के माध्यम से विद्यालयों में जाकर विद्यार्थियों को पानी के महत्त्व, इसकी उपलब्धता तथा उपयोग में सामञ्जस्य बनाये रखने, इसकी बर्बादी रोकने तथा

बोतलबन्द पानी की विक्री से होने वाली क्षति आदि के बारे में जानकारी देने तथा इस हेतु विद्यार्थियों से सहयोग लेने की बात कही।

मैंने कहा सर! मैं भी बहुत चिन्तित रहता हूँ। भारत की संस्कृति 'अतिथि देवो भव' की रही है। किसी के यहाँ किसी अपरिचित व्यक्ति के आने पर बिना परिचय पूछे पहले पानी पिलाया जाता है। भूखे को अन्न, प्यासे को पानी, बीमार को दवा देना बहुत पुण्य का काम माना जाता है। इसीलिये निःशुल्क प्याऊ की व्यवस्था लोग करते हैं। पानी के लिये कुँआ तथा तालाब खुदवाते हैं। यहाँ की संस्कृति में पानी प्राप्त करना, प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है और पानी पिलाना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी को पानी पिलाना 'धर्म' माना जाता है। महाराष्ट्र के महान सन्त एकनाथ जी गंगोत्री से जल लेकर, भारत के दक्षिणी छोर पर बसे रामेश्वरम के शिवलिङ्ग पर चढ़ाने आ रहे थे। करीब पहुँचने वाले थे। रास्ते में एक प्यासे गधे को वह पानी पिला दिये। ऐसी रही है हमारी संस्कृति। जीवन-दृष्टि का विकास ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। मैं सोचता हूँ कि यदि लोगों के मन में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दुष्प्रचार के कारण यह बात बैठ गयी कि बोतल बन्द पानी ही सुरक्षित है, तो गरीब लोग कैसे खरीद कर पानी पीयेंगे? दूसरी इससे बड़ी समस्या यह होगी कि बारह से बीस रुपये लीटर पानी खरीद कर किसी दूसरे को कितने लोग पिला सकेंगे? परिणाम यह होगा कि हमारी संस्कृति ही नष्ट हो जायेगी।

शर्मा जी ने कहा- ठीक कहते हो। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मूल उद्देश्य पानी को भी विक्री की एक वस्तु बना देना है। देश के सम्पन्न लोग विकसित देशों के मॉडल की नकल करने में अपनी शान समझते हैं। विश्व बैंक के अध्यक्ष बुल्फेंसन ने भारत यात्रा के दौरान कहा है कि पानी मुफ्त पिलाने की चीज नहीं है। यह कमोडिटी है। इसका पैसा लगना चाहिए। जानते हो? एक साजिश के तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ यहाँ के पानी को दूषित, हानिकारक प्रचारित कर रही हैं और बोतलबन्द पानी को ही सुरक्षित बता रही हैं। देश के लोग इस दुष्प्रचार का शिकार बन रहे हैं। ये लोग यह नहीं सोच रहे हैं कि यदि ये कम्पनियाँ अपने उद्देश्य में सफल हो गयीं, तो भारतीय संस्कृति का क्या होगा? भारत की बहुसंख्यक आबादी का जीवन कैसे चलेगा? पानी का आमजन के हाथ से निकल जाने का अर्थ होगा- मानवता का नष्ट होना।

मैंने पूछा सर! क्या उपाय करने चाहिये?

शर्मा जी-देखो, समर्थ लोगों, समाजसेवी संस्थाओं तथा सबके सहयोग से अधिक से अधिक सार्वजनिक जन-प्याऊ तथा पशुओं हेतु पशु-प्याऊ की व्यवस्था करनी होगी। बोतलबन्द पानी की विक्री रोकने हेतु सभी सम्भव प्रयास करने होंगे।

नदियों, तालाबों, झीलों एवं अन्य सार्वजनिक पानी के स्रोतों को निजी कम्पनियों के हाथ जाने का अहिंसक विरोध करें। पानी के निजीकरण के विरुद्ध सामूहिक रूप से खड़े हों। ऐसी व्यवस्था को अस्वीकार करें तथा निजीकरण के पक्ष में कोई कानून न बनने दें।

प्रो0 जानकीप्रसाद द्विवेदी वाराणसी का दीर्घकालीन सान्निध्य



सन् 2001 की उपर्युक्त मानव श्रृङ्खला तथा जाग्रत विद्यार्थी समाज में बहुत सक्रिय भूमिका निभाने वाले मेरे विद्यार्थी यशश्चन्द्र द्विवेदी (सम्प्रति असि0 प्रोफेसर, राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान कुरुक्षेत्र, हरियाणा) के पिता तथा तिब्बतन यूनिवर्सिटी में संस्कृत व्याकरण के प्रोफेसर जानकी प्रसाद द्विवेदी (व्याकरणाचार्य डी0लिट्0, पूर्व शब्दविद्या संकायाध्यक्ष) से मेरा परिचय हो गया था तथा उनके शास्त्रीय ज्ञान, विद्वत्ता से प्रभावित होकर मैं प्रायः उनके पास जाने लगा था। कभी-कभी अपनी किसी शङ्का के समाधान हेतु या कुछ ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से मैं उनके पास बैठता था। एक दिन मैंने जाकर उनसे दो वार्तों के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश हेतु प्रार्थना की। मैंने कहा कि सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद मुझे समय किस तरह बिताना चाहिये तथा उपर्युक्त परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिये? पहले प्रश्न के समाधान में उन्होंने महाभारत का निम्न कूट श्लोक उद्धृत किया तथा इसका भाव समझाया।

'प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्री प्रसङ्गतः।
रात्रौ चौर्य प्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्।।'

प्रातः काल का समय जुआ के प्रसङ्ग पर चर्चा करके, मध्याह्न का समय स्त्री प्रसंग पर चर्चा कर तथा सायं काल का समय चोरी के प्रसङ्ग पर चर्चा करके बुद्धिमानों का समय बीतता है।

भावार्थ- प्रातः काल महाभारत के सम्बन्ध में कि किस प्रकार जुआ खेलने के कारण महाभारत का विनाशकारी युद्ध हुआ- पर, दोपहर का समय रामायण के प्रसङ्ग पर अर्थात् रावण द्वारा स्त्री-सीता को हरने के कारण क्या घटनाएँ घटीं तथा सायं-रात्रि को श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री कृष्ण की माखन-चोरी की चर्चा कर आनन्द लेते हुए बुद्धिमान् मनुष्य अपना समय बिताते हैं।

दूसरे प्रश्न के समाधान में उन्होंने एक श्लोक द्वारा 'क्षत्रिय 'के स्वाभाविक गुण का वर्णन किया। यह भी राय दी कि समाज के हित वाले कर्म आसक्ति रहित होकर करने से चित्त शुद्धि होती है, अतः ऐसे कर्म भी करते रहिये।

एक दिन मैंने द्विवेदी जी से कहा कि एक समय स्वामी कश्ष्ण प्रेमानन्द जी के भजन के कार्यक्रम में मैं शामिल था। कुछ लोग बीच में आये तथा आशीर्वाद माँगकर खड़े-खड़े चले गये। बीच-बीच में स्वामी जी के पास कुछ अपने क्षेत्र के बहुत प्रतिष्ठित लोग आशीर्वाद लेने आते हैं। आशीर्वाद लेकर वे अपनी व्यस्तता के कारण शीघ्र चले जाते हैं। ऐसा मैंने कईबार देखा है। स्वामी जी, उक्त भजन के बाद पता नहीं किस विचार से प्रेरित होकर कहने लगे- आशीर्वाद माँगने लोग आते हैं। वे यह नहीं समझते कि- 'आशीर्वाद माँगा नहीं जाता, आशीर्वाद दिया जाता है। द्विवेदी जी! आशीर्वाद के सम्बन्ध में मैंने उनसे अपने विचार व्यक्त किये तथा कहा कि जब किसी की सेवा से, उसके अच्छे विचार, अच्छे कर्म से, उसकी सत्य-निष्ठा से कोई माता-पिता-गुरु या अन्य सम्बन्धित व्यक्ति अत्यन्त प्रसन्न होता है, उसका हृदय आह्लादित हो जाता है, तो उसके हृदय- अन्तस्तल से व्यक्त या अव्यक्त रूप में आशीर्वाद प्रकट हो जाता है। आशीर्वाद उस अवस्था में भी फूट पड़ता है, जब माँगने वाले के गुणों, उसकी सत्यनिष्ठा, उसके सद्व्यवहार आदि से कोई पहले से ही प्रभावित रहता है और वह विनम्रभाव से आशीर्वाद माँगता है। ऐसे आशीर्वाद का महत्त्व भी बहुत बड़ा होता है। महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व युधिष्ठिर अपने विरुद्ध लड़ने के लिए उद्यत पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य से विजय का आशीर्वाद माँगते है और वे विजयी भव कहकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। दूसरी तरफ दुर्योधन स्वयं उसके पक्ष में लड़ रहे इन्हीं महापुरुषों का आशीर्वाद नहीं पा सका। वह तो उनसे कहता है कि आप लड़ रहे हैं हमारी तरफ से, परन्तु आपका मन पाण्डवों के पक्ष में है। असत्य-अत्याचार-अधर्म-अहङ्कार से युक्त दुर्योधन को अपनी माँ का भी पूर्ण आशीर्वाद नहीं मिल सका। किसी सन्तान को उसके माता-पिता से यदि कहकर आशीर्वाद माँगना पड़े तो इसका सीधा अर्थ है कि सन्तान यह अनुभव कर रही है कि उसमें कुछ कमी है तथा वह अपने धर्म-कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रही है।

आज मैं 'आशीर्वाद' के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहता हूँ। किन परिस्थितियों में, आशीर्वाद फलदायी होता है? आशीर्वाद के सम्यन्ध में शास्त्रीय तथा अन्य दृष्टि से कृपया विस्तार से बतायें।

द्विवेदी जी- आशीर्वाद की अपेक्षा किसी को तब होती है, जब वह किसी अप्राप्त परन्तु अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। तब विशिष्ट जनों द्वारा, उसे प्राप्त करने की इच्छा करने वाले के प्रति मङ्गल कामना अभिव्यक्त की जाती है। इसमें यह सम्भावना होती है कि आशीर्वाद पाकर कोई असाध्य या दुःसाध्य कार्य को भी सम्पन्न कर लेगा।

सत्त्वगुणप्रधान पुरुष आशीर्वाद की कामना नहीं करते। भक्त प्रहलाद ने तो आशीर्वाद की कामना करने वाले को व्यवसायी कहा है। रजोगुणमयी प्रकृति से प्रभावित होकर ही मनुष्य या तो अपने लिये किसी आशीर्वाद की कामना करता है या किसी दूसरे को कृतार्थ करने के लिए आशीर्वाद देता हैं। लोकव्यवहार में अनेक शुभचिन्तक गुरुजन आदि से आशीर्वाद तो प्राप्त होते हैं, परन्तु उन सबका फल प्रायः नहीं मिलता। वे केवल मङ्गल कामना के रूप में ही रह जाते हैं। शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा था-

विप्रा मन्त्रविदोयुक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्।। (श्रीमद्भा0 10/7/17)

वेदवेत्ता और सदाचारी ब्राह्मणों द्वारा दिया गया आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता। ब्राह्मणों के अतिरिक्त भगवद्भक्तों तथा सत्यशील द्विजों के भी आशीर्वाद सफल होते हैं। आशीर्वाद के फल को पूर्णरूप से पाने के लिये महापुरुषों के वचन का तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये। शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा था कि महापुरुषों का उल्लङ्घन-तिरस्कार करने से आशीर्वादों का प्रभाव समाप्त हो जाता है-

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ।। (श्रीमद्भा० 10/4/46)

परीक्षित्! जो लोग महान् सन्त- विद्वान् पुरुषों का अनादर करते हैं, उनका वह कर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सब-के-सब कल्याण के साधनों को नष्ट कर देता है।

आशीर्वाद देने में देने वाले की सद्भावना का परिचय मिलता है। समाज में ज्येष्ठ के द्वारा कनिष्ठ के प्रति, ब्राह्मण के द्वारा यजमान के प्रति, स्वामी के द्वारा सेवक के प्रति तथा शुभचिन्तक के द्वारा परिचित व्यक्ति के प्रति दिया गया आशीर्वाद सामान्य स्तर का अर्थात् केवल शुभकामना का सूचक होता है। माता-पिता द्वारा अपनी सन्तान को तथा गुरुजनों द्वारा अपने प्रिय शिष्यों को जो आशीर्वाद दिया जाता है, वह फल की दृष्टि से असामान्य होता है। इन्द्र के मान-मर्दन तथा उनके कोप से व्रजवासियों को बचाने का उद्देश्य पूर्ण होने पर जब भगवान् कृष्ण ने गिरिराज को पूर्व स्थान पर स्थापित कर दिया, तो उनके गुरुजनों ने स्नेहातुर होकर उन्हें हृदय से लगा लिया तथा आशीर्वाद प्रदान किया था-

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः।। (भा० 10/25/30)

यशोदारानी, रोहिणी जी, नन्दबाबा और बलवानों में श्रेष्ट बलराम जी ने स्नेहातुर होकर श्रीकृष्ण को हृदय से लगा लिया तथा आशीर्वाद दिये।

आशीर्वाद देने में अवस्था की ज्येष्ठता भी महत्त्वपूर्ण होती है, चाहे वह अर्थ-गुण-पद आदि में कितना ही हीन क्यों न हो। परन्तु गुणादि-श्रेष्ठ व्यक्ति की आशीर्वाद देने की शैली में अन्तर होता है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित श्रीरामचरित मानस में लगभग एक सौ स्थलों पर आशीर्वाद की विधि का प्रयोग किया गया है। आज के अशान्तिमय, भय-निराशा -स्वेच्छाचार से व्याप्त वातावरण में शान्ति, अभय और आशा के सञ्चारार्थ देव-देवियों, गुरुजनों, श्रेष्ठजनों तथा भक्तों के आशीर्वादों की परम आवश्यकता है। अतः हम आशा करते हैं कि समाज के लोग विशेषकर नई पीढ़ी, अपने सत्कर्मों द्वारा माता-पिता, गुरुजनों तथा अपने से बड़े सभी लोगों को प्रसन्न करेगी तथा उनसे सफल आशीर्वाद प्राप्त करेगी।

एक दिन दृढ़ निश्चय के सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा होने पर द्विवेदी जी ने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बालकों में, दृढ निश्चय के उदाहरण हमें क्रमशः नचिकेता, ध्रुव, श्रवणकुमार तथा एकलव्य की जीवन शैली में मिलते हैं। इनके बारे में विस्तार से बताने की मेरी प्रार्थना पर उन्होंने कहा-

महर्षि उद्दालक के पुत्र नचिकेता ने, उनके द्वारा किये जा रहे यज्ञ के अवसर पर गायों का दान देते समय, पिता से सात्त्विक भाव से कहा कि आप मुझे किसको दान देंगे? तीन बार ऐसा करने पर पिता ने आवेश में कहा- मैं, तुझे मृत्यु को देता हूँ। मृत्यु के देवता, यमराज से ही उसका रहस्य जानने का दृढ निश्चय लेकर नचिकेता यमराज के पास गये तथा उनके द्वारा दिये गये तीन वरों में तीसरे वर के रूप में उनसे मृत्यु के उपरान्त आत्मा की गति के सम्बन्ध में समझाने की प्रार्थना की। इस पर यमराज ने अनेक प्रलोभन दिये तथा कहा कि तू इस अध्यात्मज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी माँग ले- अपार धन, सुदीर्घ जीवन, कोई दुर्लभ वस्तु, परन्तु नचिकेता ने कहा- बुद्धिमान् मनुष्य इनके प्रलोभन से ग्रस्त नहीं होता। भोगों की प्रचुरता से रोग तथा शोक ही प्राप्त होते हैं। अतः मुझे अन्य कोई वर नही लेना है, मुझे आत्मज्ञान ही देने की कृपा करें।

अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति कराने वाले भगवान् के बारे में माता सुनीति के वचन सुनकर, वालक ध्रुव ने तपस्या के उद्देश्य से पिता के नगर के बाहर निकलने पर नारद जी ने उनसे मिलकर कहा-अनेक जन्मों तक अनासक्त रहकर योगीजन बड़ी-बड़ी कठोर साधनाएं करते हैं, परन्तु भगवान् के मार्ग का पता नहीं पाते। इसलिये तू व्यर्थ का हठ छोड़ दे तथा घर वापस लौट जा। इसके उत्तर में दृढनिश्चयी ध्रुव ने कहा- ब्रह्मन्! मैं त्रिलोक में सबसे श्रेष्ठ पद पर अधिकार करना चाहता हूँ, जिस पर मेरे बाप-दादा या दूसरा कोई भी आरूढ़ नही हो सका है। आप मुझे उसी की प्राप्ति का मार्ग बताइये।

माता-पिता की इच्छापूर्ति हेतु किये गये दृढ निश्चय से, अनेक कष्ट सहते हुए वैश्य वालक श्रवण कुमार, उन्हें तीर्थ यात्रा कराने निकलेतथा राजा दशरथ के बाँण से उनका प्राणान्त ही हो गया।

शूद्र वालक एकलव्य, धनुर्विद्या सीखने के उद्देश्य से द्रोणाचार्य से निवेदन करने गया था। शूद्र या आदिवासी होने के कारण द्रोणाचार्य जी द्वारा इनकार करने पर, उसका निश्चय अचल रहा तथा उसने उनकी मिट्टी की मूर्ति बनाकर, उसमें गुरुभाव रखकर धनुर्विद्या का अभ्यास किया। उसके दृढ निश्चय तथा अभ्यास ने उसे इस स्तर तक पहुँचा दिया कि द्रोणाचार्य जी को गुरुदक्षिणा में उसके दायें हाथ का अँगूठा ही माँगना पड़ा।

भारतीय वीर बालकों में दृढ़ निश्चय के ये सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इस प्रकार के उदाहरणों से भारतीय संस्कृति जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर तथा कल्प-कल्पान्तर तक गौरवान्वित रहेगी।

एक समय मैंने स्वाध्याय के विशेष महत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की तथा कहा कि आप ने फरवरी 2014 में एक 'स्वाध्यायसन्देश ट्रस्ट' की स्थापना की है। उसमें मुझे संरक्षक बनाया गया है। अतः समय-समय पर स्वाध्याय के 'अर्थ-वेद-प्रामाणिकता-महत्ता-विधि-प्राचीनता-फल' आदि विन्दुओं पर चर्चा होती रहती है। आज इसी सम्बन्ध में कुछ बताएँ। द्विवेदी जी ने कहा-

वियाध्ययन की पूर्णता होने पर आचार्य अन्तेवासी को समावर्तन संस्कार के अवसर पर विविध प्रकार के उपदेश देता है। जिसके अन्तर्गत एक अंश विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमे कहा

गया है- आठ विषयों में जीवन पर्यन्त कभी प्रमाद (आलस्य या शिथिलता) नहीं करनी चाहिये जैसे-

"सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्,।।"

(तैत्तिरीयोपनिषद्- शिक्षावल्ली)

1- सत्यभाषण में 2- धर्माचरण में 3- कुशल कर्मो के विधान में 4- अभ्युदय के उपयोगी कार्य में 5- स्वाध्याय-वेद शास्त्रादि के अध्ययन में 6- शिष्यों को पढ़ाने में 7- देव सम्बन्धी कार्यों में तथा 8- पितृ सम्बन्धी कार्यों में किसी भी प्रकार प्रमाद नही किया जाना चाहिए-

इन आठ मे से स्वाध्याय का विशेष महत्त्व इसलिए है कि जैसा स्वाध्याय होता है, व्यक्ति के द्वारा उसी प्रकार का सत्य भाषण- धर्माचरण आदि किया जाता है ।

इस क्रम में अभी तक विष्णुसहस्रनाम, गङ्गा दशहरा, स्वाध्याय विधि, स्वाध्याय पाठ, स्वाध्याय विषयक हिन्दी-संस्कृत गीत तथा आशीर्वाद विषय पर सक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है।

श्री रामअशीष सिंह के सानिध्य में समय का सदुपयोग

श्री राम अशीश सिंह, सेवा से अवकाश ग्रहण कर सन् 2007 से मेरे आवास के पास रहते हैं। उदय प्रताप कॉलेज के सम्बन्ध में प्रत्येक स्तर पर वे मेरा सहयोग करते हैं। हम लोग साथ-साथ सरकार या न्यायालय से सम्बन्धित स्थानों पर जाते है तथा एक बार कई दिन साथ-साथ लखनऊ या दिल्ली रहते हैं। अवकाश के समय में हम लोगों की प्रायः किसी विषय पर चर्चा होती रहती है। एक दिन की वात-चीत का विवरण नीचे दिया गया है।

प्रश्न- सुख क्या है? सब लोग सुख चाहते हैं, दुःख से निवृत्ति चाहते हैं, परन्तु सभी दुःखी क्यों है? सुख की परिभाषा क्या है? सुखी रहने का उपाय क्या है?

उत्तर- जब परिस्थिति हमारे मन के अनुकूल होती है, हमारी कामनाओं की पूर्ति होती है, तो कुछ समय के लिये हम सुख का अनुभव करते हैं। कामना की पूर्ति होने पर लोभ हो जाताहै तथा हम दूसरी कामनाओं की पूर्ति की चिन्ता कर पुनः दुःखी हो जाते हैं। यदि कामना की पूर्ति नहीं हुई, तो पूर्ति में बाधक व्यक्ति, परिस्थिति पर क्रोध आता है और हम क्रोधाग्नि में जलने लगते हैं तथा दुःखी हो जाते हैं। सुख-दुःख का अनुभव हमारे मन में होता है। वाह्य परिस्थितियाँ हमें सुखी-दुःखी नहीं कर सकतीं। किसी भी विपरीत परिस्थिति में हम अपनी सकारात्मक सोच से, मन को साम्यावस्था में रखने की साधना से, ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण के भाव तथा उसकी कृपा पर विश्वास कर हम सुखी रह सकते हैं। इसके लिये राग-द्वेष से मुक्त होना होगा। किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति के प्रति आसक्ति का भाव त्यागना होगा।

प्रश्न- मेरे मन में कभी-कभी विचार आता है कि सभी पदार्थ ईश्वर ने ही बनाये हैं। उनका पूर्ण उपभोग हम क्यों न करें। बढ़िया खाना-पीना भौतिक संसाधनों का पूर्ण उपयोग कर हम क्यों न आनन्द लें? कुछ लोगों को मांसाहारी भोजन तथा मादक पदार्थों के सेवन से आनन्द आता है, इसमें बुराई क्या है?

उत्तर- देखिये, हमें आनन्द की परिभाषा समझनी होगी। आनन्द की परिभाषा अलग-अलग नहीं हो सकती। किसी को मांसाहारी भोजन से आनन्द का क्षणिक आभास होता है तथा हो सकता है कि उसके किसी मित्र को ऐसा भोजन देखकर उल्टी हो जाय। आनन्द तो उसे कहेंगे जिसमें सभी का अनुभव समान हो। दूसरी बात आनन्द स्थायी होता है। यह किसी व्यक्ति, वस्तु परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। यह तो इन्द्रियों तथा मन के परे हो जाने पर सम्भव है। परिवर्तनशील, नाशवान पदार्थ में आनन्द की खोज करना मूर्खता है। नाशवान पदार्थ में आनन्द की खोज करने वाले हल्का झटका लगते ही अवसादग्रस्त देखे जाते हैं।

स्वीकृति- हाँ! यह तो सही है।

उत्तर- एक बात और देखिये। यदि हम प्रकृति के विधान को तोड़ते हैं तो प्रकृति हमें निश्चित सजा देगी। हमें शारीरिक, मानसिक रोग होंगे। यदि हम प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर नहीं चलते, अपने मूल स्वभाव-करुणा को छोड़ देते हैं तथा दूसरे जीव की हिंसा कर, उसे कष्ट देकर, उसे कराहते हुए मारकर उसके मरते समय के भाव के कारण उसके विषैले गुर्दे को, अपनी जिह्वा के स्वाद के लिये खाते हैं, तो क्या इसकी प्रतिक्रिया कभी दुष्परिणाम के रूप में नहीं होगी? यदि सृष्टि को हम अच्छा बना नहीं सकते, तो इसे नष्ट करने का अधिकार कहाँ है? भगवान् बुद्ध ने अंगुलिमाल से यही तो कहा था कि वृक्ष की टहनी को काट दो, पुनः जोड़ दो। उसकी असमर्थता व्यक्त होने पर उन्होंने यही न कहा था कि यदि तुम जोड़ नहीं सकते, तो काटने का अधिकार तुम्हें कैसे है। इसी उक्ति ने अंगुलिमान को परिवर्तित कर दिया था।

दिनांक10-05-2015 की बात-चीत

अच्छा! दस फरवरी 2015 को जब हम लोग आजादी बचाओ आन्दोलन द्वारा आयोजित बीस ग्रामों की यात्रा की समाप्ति पर गये थे, तो हम दोनों ने अपने विचार रक्खे थे। विषय था- 'जमीन-जङ्गल, पानी, बीज तथा ज्ञान पर किसका अधिकार है? आप जङ्गल से सम्बन्धित विभाग के एक प्रदेश के प्रमुख के रूप में बहुत दिन तक कार्य किये हैं। आज इसी पर चर्चा करें।

स्थानाभाव के कारण चर्चा का विवरण नही दिया जा रहा है।

श्री जगदीश सिंह, पूर्व अभियोजन अधिकारी

पूर्व वरिष्ठ अभियोजन अधिकारी श्री जगदीश सिंह से मेरा परिचय उनके पुत्र शैलेन्द्र सिंहके उदय प्रताप कालेज में बी0एस-सी0 में प्रवेश के समय हुआ था। उनके निकट सम्पर्क में आने पर उनकी सादगी, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा से अत्यधिक प्रभावित हुआ । सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे मेरे आवास के पास ही रहने लगे। कभी-कभी मैं उनसे मिलता रहा तथा सेवाकाल के श्रेष्ठ, ईमानदार अधिकारियों, तत्कालीन कार्य-पद्धति और ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में हुई कठिनाई आदि पर चर्चा करता था। जब मैं अपनी आयु के पचहत्तर वर्ष पूर्ण करने को था, तो उनसे बीस जनवरी 2015 को मैंने उनके आवास पर निम्न वार्ता की।

प्रश्न- आपके पिता श्री लछिराम सिंह जी, जो आजमगढ़ जिलान्तर्गत खड़गपुर इण्टर कालेज के प्रबन्धक थे, के बारे में मेरे पैतृक गाँव के मूर्धन्य विद्वान्, सदाचारी, पबारू पण्डित जी बहुत चर्चा करते थे। कृपया अपने पिता जी के बारे में विस्तार से बतायें।

उत्तर- मैं मानता हूँ कि मेरा किसी जन्म का पुण्य शेष रहा होगा कि मुझे ऐसे पिता की सन्तान होने का सौभाग्य मिला। मैं उनके सामने किसी तरह नहीं ठहरता। उन्होंने तीस वर्ष की आयु के पूर्व मांसाहारी भोजन का त्याग किया तथा इसके बाद फल और दूध पर रहने लगे। केवल फल में भी प्रायः चार केला का क्रम उनकी उम्र (चौहत्तर वर्ष) के अन्तिम दिनों तक रहा। वे प्रारम्भ में रेलवे में गार्ड के पद पर तैनात थे। आँख की रोशनी की वार्षिक जाँच में उन्होंने पचास रूपये घूस देने से इनकार कर दिया, जिस कारण उनकी नौकरी छूट गयी। वे घर बैठ गये।उनकी कर्त्तव्यनिष्ठ, ईमानदारी से उच्चाधिकारी बहुत प्रभावित थे। अतः उनको बुलाकर मुगलसराय (चन्दौली) में उन्हें कमर्सियल सुपरिंटेंडेण्ट का दायित्व सौंपा गया। इस पद पर वे सेवाकाल के अन्त समय तक रहे। सेवा से अवकाश ग्रहण कर वे खड़गपुर इण्टर कालेज के विकास, सर्वोत्तम पढ़ाई, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की कठिनाईयों को हल करने हेतु सदा तत्पर रहते थे। वे प्रतिदिन पैदल विद्यालय जाते थे तथा विद्यालय से किसी प्रकार की व्यक्तिगत अपेक्षा नहीं रखते थे।

प्रश्न- आपने आपराधिक अनुसंधान शाखा की जाँच एजेन्सी के प्रमुख पद पर रहते हुए भी ईमानदारी से कर्त्तव्यों का निर्वहन किया। लगभग 40 वर्षों से मैं आपके साधारण जीवन स्तर को देख रहा हूँ। कभी उतार-चढ़ाव नहीं देखा। क्या आपके जीवन में सादगी, ईमानदारी, निरभिमानिता के मूल में आपके पिता के संस्कार थे।

उत्तर- जब मैं सरकारी वकील बना, तो पिता जी से आशीर्वाद लेने तथा भविष्य हेतु अपनी जीवन-शैली को निर्धारित करने के उद्देश्य से उनके पास गया। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुमसे एक ही बात कहनी है कि कभी किसी से पूरे सेवाकाल में एक पैसा मत लेना। किसी तरह के प्रलोभन से बचना। भगवान् के प्रति भरोसा रखकर अपना काम, ईमानदारीपूर्वक, सेवा समझकर करना।

कुछ दिन सेवा करने पर उन्होंने एक दिन पूछा कि तुम नौकरी कैसे कर रहे हो ?मैंने कहा कि मैंने तय कर लिया है कि किसी से कभी एक पैसा नहीं लूँगा। हाँ, कभी-कभी लोगों के साथ बैठकर चाय-नाश्ता कर लेता हूँ। यह सुनकर उन्होंने कहा कि यह तो ईमानदारी नहीं है। तुम लोभ से परे नहीं हो पाये। यह आंशिक बेइमानी ही है। इसे छोड़ दो। इसके बाद मैंने हमेशा के लिये यह भी छोड़ दिया।

प्रश्न- मेरे बारे में आप कैसे जाने ?क्या उन्होंने ही बताया था।

उत्तर- हाँ! उन्होंने सन् 1969 में बताया कि मेरे ननिहाल के बाबू हरिदत्त सिंह का पोता शायद उदय प्रताप कालेज में प्रवक्ता हो गया है, पता लगाना। इसी कारण मैं आपसे मिल सका।

इसके बाद श्री जगदीश सिंह ने निम्न प्रश्न किया।

प्रश्न- अच्छा, मेरे पिताजी आपके गॉव के रहने वाले श्रद्धेय पवारू जी की बहुत प्रशंसा किया करते थे। उनको खड़गपुर इण्टर कालेज, आजमगढ़ में संस्कृत के प्रवक्ता पद पर प्रतिष्ठित करने हेतु, उन्होंने बहुत प्रयास किया था। पवारू जी का अन्तिम समय कैसे बीता?

उत्तर- पवारू जी का सम्बन्ध हमारे पितामह, पिता तथा स्वयं मुझसे बहुत करीब का रहा। कभी किसी ने उन्हें क्रोध में नहीं देखा। शास्त्रों का उच्चकोटि का ज्ञान, प्रभावशाली वक्ता होने पर भी कभी किसी ने उन्हें अहङ्कार के भाव में नहीं देखा। वाणी सदा मधुर रही। वाराणसी के अस्सी घाट के निकट जगन्नाथ मन्दिर परिसर में, उन्हीं के आचार्यत्व में मेरा जनेऊ संस्कार हुआ था। विद्वत्ता का प्रदर्शन कभी नहीं रहा। उनके छोटे पुत्र जिन्हें उन्होंने बहुत त्याग करके अपने स्थान पर प्रवक्ता बनवाया था, के सन्तोषजनक व्यवहार न होने पर भी उनसे कभी अपने पुत्र या किसी अन्य के बारे में शिकायत का एक शब्द सुनने को नहीं मिला। दूसरे के द्वारा निन्दा की बात पर वे चुप हो जाते थे। लगभग सत्तानवे वर्ष की आयु में, उन्होंने एक दिन प्रातः लगभग आठ बजे अपने बड़े पुत्र से कहा कि भुवनेश्वर! आज कहीं जाना मत। उन्होंने उनसे रामचरितमानस पढ़कर सुनाने को कहा तंथा बैठे ही रामायण सुनते शरीर त्याग दिया।

वार्ता के पश्चात मैने उनसे 27 जनवरी 2015 को अपनी कौस्तुभ जयन्ती के अवसर पर आयोजित आशीर्वाद समारोह में शामिल होने के लिए निवेदन किया।

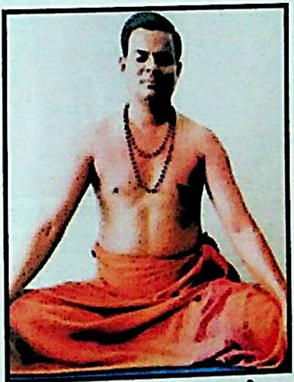
***

आध्यात्मिक (पारमार्थिक) जीवन

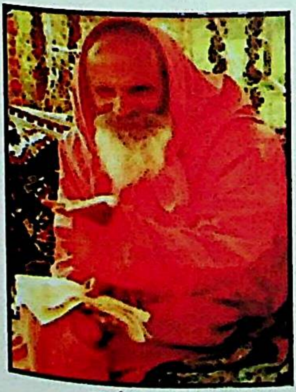
वे महात्मा जिनके निकट सान्निध्य का सुअवसर मुझे मिला तथा प्रथम सम्पर्क—वर्ष



स्वामी स्वतन्त्रानन्द गीता टीकाकार 'तत्त्वदर्शिनी' सन् 1950



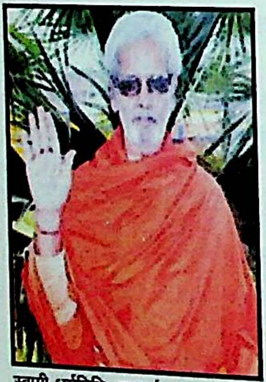
स्वामी कृष्ण प्रेमानन्द सरस्वती, वाराणसी सन् 1978



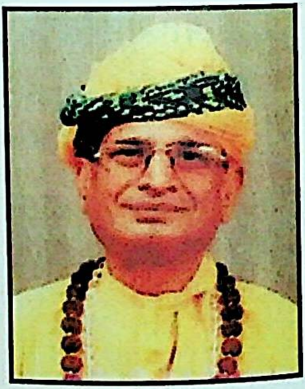
स्वामी परमानन्द
संस्थापक— अखण्ड परमधाम, हरिद्वार
सन् 1998



श्री श्यामचरणदास, 'गुरुधाम'
हरिद्वार – सन् 1998



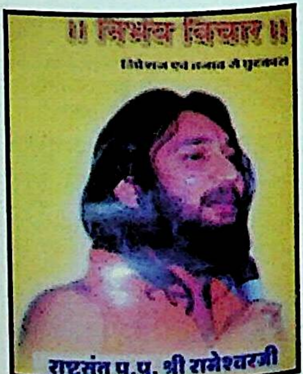
स्वामी धर्मनिधि, परमार्थ आश्रम हरिद्वार
सन् 2008



स्वामी सुरेशानन्द
(पूर्व सांसद एटा)
गणेश नगर, दिल्ली
सन् 2009



श्री नरेन्द्र रामदास, अयोध्या
सन् 2012



राष्ट्रसंत प. पू. श्री रामेश्वरजी
सन् 2011

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी का अविस्मरणीय सान्निध्य

जब मैं 6-7 में पढ़ रहा था, तो उस समय गर्मियों में प्राइमरी पाठशाला में दो संन्यासी आकर रहने लगे। वे 15-20 दिन रहे। स्वामी जी का नाम स्वतन्त्रानन्द था तथा दूसरे आत्मानन्द जी उनके शिष्य थे। वे केवल एक बार भोजन करते थे। पिता जी गाँव के लोगों के साथ सेवा हेतु पहुँचे। प्रतिदिन सायं प्रवचन का कार्यक्रम चलने लगा। स्वामी जी का नियम था कि प्रतिदिन की भिक्षा अलग-अलग घर से होनी चाहिये। मेरे प्रारब्धवश यह सेवा पिता जी ने मुझे सौंपी। मैं निर्धारित घर से भिक्षा लेकर जाता था तथा उन्हें भिक्षा प्राप्त कराकर लौटता था। सायं प्रवचन में बड़ी श्रद्धा से अवश्य भाग लेता। यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष चलने लगा। वर्ष में एक बार स्वामी द्वय कहीं से घूमते हुए गाँव पर आ जाते थे। बाद में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी अकेले ही आने लगे। स्वामी आत्मानन्द को अलग रहने हेतु उन्होंने आदेश दिया।

एक समय वे मेरे पितामह के पूजा-साधना वाले हाते में लगभग एक माह रहे। मुझे उनकी सेवा करते हुए उनके कृष्ण-प्रेम तथा उनकी असङ्गता को समीप से देखने का अवसर मिला, जो मेरे ऊपर अमिट छाप छोड़ता गया। भक्ति-प्रेम की पूर्णावस्था में कैसी स्थिति होती है, महात्मा लोग आत्मतत्त्व से किस प्रकार एकात्म्य स्थपित कर लेते हैं तथा शरीर से अपने को अलग कर लेते है- इसका दिग्दर्शन कराने तथा अपनी चित्त शुद्धि के उद्देश्य से अपने भाव व्यक्त कर रहा हूँ-

अद्वैत वाद के बारे में जानने तथा उसे आत्मसात करने हेतु हमें आदि शङ्कराचार्य जी के ग्रन्थों का अध्ययन तथा मनन करना पड़ता है। विशिष्टाद्वैत हेतु स्वामी रामानुजाचार्य के, पुष्टिमार्ग अथवा शरणागति हेतु स्वामी बल्लभाचार्य के, कृष्ण भक्ति तथा रामभक्ति हेतु सूरदास जी के सूरसागर तथा गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस के अध्ययन तथा मनन को हम आधार बनाते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की श्रीमद्भगवद्गीता पर 'तत्त्वदर्शिनी' नामक टीका जिसमें वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, भागवत आदि कुल 108 ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, के अध्ययन से हमें इसका ज्ञान होगा कि 'वासुदेवः सर्वमिति', सर्व 'खल्विदं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ क्या है? इसकी अनुभूति कैसे हो सकती है? आत्मानन्द-ब्रह्मानन्द-स्वरूपानन्द में कैसे डूबा जा सकता है तथा स्वामी जी की स्थिति का अनुभव करके हम कैसे उस अवस्था में स्थित रह सकते हैं। कैसे हम आत्मा को शरीर से अलग कर सकते हैं? ऐसी स्थिति कैसी होती है? इस हेतु मैं स्वामी जी के जीवन की दो घटनाओं का वर्णन कर रहा हूँ।

एकबार स्वामी जी भ्रमण करते हुए 'गीता गार्डेन' गीताप्रेस, गोरखपुर पहुँचे। उस समय वहाँ श्रीमद्भागवत के कपिलोपाख्यान की कथा चल रही थी। उसे सुनकर स्वामी जी दिव्योन्माद की स्थिति में आ गये तथा छः घण्टे तक उस स्थिति में बने रहे। इसी आवेश में सम्पूर्ण जगत् को कृष्णमय समझते हुए भावापन्नावस्था में वहाँ से भाग चले तथा कुछ दूर जाकर एक पेड़ से आलिङ्गन कर कुछ देर पड़े रहे। शिथिलावस्था में एक जीप द्वारा उन्हें गीता गार्डेन लाया गया। उसी समय गीता प्रेस के सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार जी दर्शनार्थ आये। किसी के द्वारा स्वामी जी का प्रवचन होने की इच्छा व्यक्त की गयी। पोद्दार

जी ने उत्तर दिया कि 'स्वामी जी' तो उपदेश की मूर्ति हैं। इनसे निरन्तर उपदेश हो रहा है। इससे बढ़कर उपदेश क्या होगा? उन्होंने कहा कि श्रीमद्भागवत में ऐसे महात्मा का लक्षण बताया गया है, किन्तु अभी तक दर्शन का सौभाग्य नहीं मिल पाया था। आज प्रत्यक्ष दर्शन पाकर मैं कृत-कृत्य हो गया।

उनकी मेरे द्वारा सेवा काल के दौरान प्रवचन के समय उनका आनन्द में डूब जाना, रोमाञ्च हो जाना, अश्रुपात होना तथा कृष्ण के विशेष सन्दर्भ आते ही वाणी का बन्द हो जाना आदि प्रतिदिन की घटना थी। भागवत में वर्णन है-

> कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
> विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः।। (भागवत 11/14/23)

विना रोमाञ्च हुए, बिना चित्त के द्रवित हुए, विना आनन्दाश्रु के चिरकाल प्रवाहित हुए और जब तक अन्तः-बाह्य भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने, उतराने नहीं लगता, तब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता।

अनेक जन्मों की वासनाओं एवं कृत कर्मों का शुभ-अशुभ फल प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है। भोग योनियों- जैसे पशु-पक्षी आदि- में हम केवल भोग भोगते हैं, परन्तु मनुष्य जन्म में भोगते भी है तथा वासनाओं के कारण अपने लिये अगले कई जन्मों का कारण भी बना देते हैं। इस कर्मफल सिद्धान्त से कोई महात्मा, सन्त भी अछूता नहीं रहता। संसार चक्र से छूटने हेतु इस प्रकार का जीवन जीना होता है कि नई वासनाएँ बनने न पायें तथा पूर्वार्जित वासनाएँ किसी साधना से जल जायँ। फिर भी कुछ शेष रह जाती है, तो इसी शरीर से भोग कर समाप्त किया जाय। इसी कारण समर्थ होते हुए भी बड़े सन्त-महात्मा शरीर से कष्ट भोगते हुए दिखाई देते हैं।

प्रारब्धवश स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी को पेट में कष्ट के कारण आपरेशन कराना पड़ा। अतः पलिया के वासुदेव सिंह (मेरे पिता) तथा अन्य कई गाँवों के लोगों ने अनुरोध करके स्वामी जी को आजमगढ़ के सदर अस्पताल में आपरेशन हेतु राजी कराया। आजमगढ़ के तत्कालीन प्रसिद्ध सर्जन श्री विश्वम्भर नाथ तागड़ी ने आपरेशन किया। आपरेशन टेबुल पर स्वामी जी तथा तागड़ी साहब के बीच वार्तालाप इस प्रकार है-

प्रश्न- स्वामी जी! आपने संन्यास क्यों लिया?
उत्तर- (हँसते हुए) यह भी कोई प्रश्न है? संन्यास तो परमात्मा के लिये लिया जाता है।

प्रश्न- आपकी आयु क्या है?
उत्तर- अनन्त आयु है।

प्रश्न- आपका स्थान कहाँ है?
उत्तर- सर्वत्र।

प्रश्न- आपका नाम क्या है?
उत्तर- अनाम, 'स्वतन्त्र' नाम

प्रश्न- बेहोशी नहीं हो रही है?
उत्तर- क्लोरोफार्म देते जाओ।

दस मिनट तक और क्लोरोफार्म दिया गया। इस प्रकार लगभग 15 मिनट क्लोरोफार्म देने पर भी बेहोशी नहीं हो सकी। तब सिविल सर्जन ने पुनः पूछा- स्वामी जी, अब क्या करें?

उत्तर- अपना काम करो।

स्वामी जी 'राम-राम' कह रहे थे। रामाकार वृत्ति से उन्होंने प्रवचन प्रारम्भ कर दिया। सिविल सर्जन ने चैतन्यावस्था में ही पेट और आँत का आपरेशन कर दिया। सैकड़ों की भीड़ बाहर खड़ी प्रवचन सुन रही थी। प्रवचन में 'वासुदेवः सर्वमिति', 'सर्वखल्विदं ब्रह्म','नेह नानास्ति किञ्चन' (आदि मन्त्रों के अनुसार) डाक्टर ब्रह्म, चाकू ब्रह्म, रोग ब्रह्म, रोगी ब्रह्म, सर्व ब्रह्म'। इस प्रकार अद्वैतपरक, ब्रह्मात्मैक्य दर्शन युक्त प्रवचन लगभग डेढ़ घण्टे तक चलता रहा। उपस्थित लोग आश्चर्य चकित एवं स्तब्ध थे। आश्चर्यजनक बात रही, नाड़ी का प्रत्येक परिस्थिति में सामान्य बने रहना। (स्रोत-गीता पर तत्त्वदर्शिनी नामक टीका)

उक्त घटना से हमारा विश्वास इस बात में दृढ़ होता है कि यद्यपि बाहर से हम सिद्ध महात्माओं को भी कष्ट भोगते हुए देखते हैं, परन्तु हमारी तरह उनको शारीरिक कष्ट का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वे अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। यह घटना प्रत्यक्ष उदाहरण है कि शरीर में व्याप्त आत्मतत्त्व, जो शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-प्राणिक आदि सभी क्रियाओं का आधार है, किस तरह सबसे अप्रभावित है। भगवान् द्वारा आत्म तत्त्व के बारे में गीता में कही गयी निम्न बात का अर्थ हम समझ सकते हैं-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। (गीता 2/23)

इस आत्मा का शस्त्र छेदन नहीं कर सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गीला नहीं कर सकता और न वायु इसका शोषण कर सकता है (क्योंकि ये सगुण-साकार का नाश करने में समर्थ हैं, निर्गुण निराकार का नहीं)।

स्वामी कृष्ण प्रेमानन्द सरस्वती (योगमार्गी) के सान्निध्य में

सन् 1978 में मेरे आवास से थोड़ी दूर पर बिहार योग विद्यालय मुँगेर, बिहार के संस्थापक स्वामी सत्यानन्द जी (शिवानन्द जी (ऋषिकेश) के शिष्य) के शिष्य स्वामी कृष्ण प्रेमानन्द सरस्वती रहते थे। संन्यास आश्रम में भ्रमण करते हुए वे वाराणसी आये थे तथा स्थानीय जनता के आग्रह पर गङ्गा माता द्वारा बनवाये गये आश्रम में ठहर गये थे। मैं उनके पास पत्नी के साथ कभी-कभी जाने लगा था। सन् 1978 के अन्तिम दिनों में हम लोगों ने उनसे दीक्षा ली। इसके बाद हम लोग उनके पास प्रायः जाने लगे।

ये महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग, जिसे राजयोग भी कहते हैं, के अनुयायी हैं। स्वामी जी को शरीर के सभी अन्तः-बाह्य अङ्गों की कार्य-पद्धति, उनके रुग्ण होने के कारण तथा योग से उनके उपचार की बहुत अच्छी जानकारी है। उनसे मैं आसन तथा प्राणायाम

सीखने लगा। प्रत्येक आसन तथा प्राणायाम को करने के सही तरीके पर वे बहुत जोर देते हैं। प्रत्येक से होने वाले लाभ के बारे में विस्तार रो बताते हैं।

सन् 1981 के जनवरी-फरवरी में घर जाने पर मुझे पता चला कि पिता जी ने दूसरे कुछ लोगों से मेरे नाम की जमींन पर पैसा लिया है। मैंने पिता जी से पूछा कि– 'आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? जिनसे आप पैसा ले रहे हैं, उन्हें मैं जमींन नहीं लिखूँगा, तो आपकी बदनामी होगी। उन्होंने कहा कि तुम अपने हिस्से की जमीन लेकर खेती करो, मुझसे मतलब नहीं रहेगा, परन्तु क्रोध में व्यङ्ग्यात्मक तथा तीखे शब्द भी कहे। मैं बिना कुछ बोले, पैर छूकर वाराणसी चला आया। दूसरे दिन स्वामी जी (स्वामी कृष्णा प्रेमानन्द सरस्वती जिनसे हमने दीक्षा ले ली थी) के पास गया तथा पूरी घटना का वर्णन करके उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की। मैंने कहा कि मुझे दो लड़कियों का विवाह अभी करना है। गत वर्ष जो एक लड़की का विवाह हुआ है, उसका भी कर्ज अभी देना है। पिता जी मुझे मेरे हिस्से की जमीन देने को तैयार हैं। यदि उनसे लेकर दूसरों को भी खेती करने हेतु दे दूँ, तो मुझे अच्छी आर्थिक मदद मिल जायेगी। इस सम्बन्ध में मैं आपसे अनुमति चाहता हूँ। स्वामी जी ने शान्तिपूर्वक मेरी बातें सुनीं तथा कहा कि आपने मुझे गुरु बनाया है। मान लीजिए कि वह सम्पत्ति आपको प्राप्त हो गयी। उन्होंने अपना दायां हाथ सामने करके कहा कि अब प्राप्त सम्पत्ति मुझे गुरु समझकर दे दीजिये। उसे अब भूल जाइये। भगवान् से अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए प्रार्थना कीजिये तथा आय बढ़ाने हेतु कुछ अन्य उपाय कीजिये। विश्वास रखिये, वे सब प्रबन्ध कर देंगे। अपनी तरफ से प्रयास में कोई कोर-कसर मत उठा रखियेगा।

कुछ समय पश्चात् एक समय रोते हुए मैंने आशुतोष भगवान् से यह कहते हुए प्रार्थना की कि-'इञ्जिनियरिंग, मेडिकल की प्रतियोगिताओं हेतु मैं कोचिंग कक्षाओं के सञ्चालन की व्यवस्था करना चाहता हूँ। इसमें इतना दीजिये कि पुत्रियों के विवाह के खर्च का प्रबन्ध हो जाय, एक पुत्र की कुछ व्यवस्था हो जाय। इसके बाद इस कार्य को मैं छोड़ दूँगा। इस प्रार्थना के पश्चात् मैंने कोचिङ्ग कक्षायें प्रारम्भ की।

उनके द्वारा मन के गठन, उसके कार्य करने के तरीके तथा ध्यान के सम्बन्ध में बतायी गयी कुछ बातें, जिनका मेरे ऊपर गहरा असर पड़ता था, नीचे उद्धृत की जा रही हैं-

जिज्ञासु- वासनाएँ किस प्रकार कार्य करती हैं?

स्वामी जी- पूर्व जन्मों के कर्मों के प्रभाव, संस्कार के रूप में वासनाएँ, हमारे कारण शरीर में पड़ी रहती हैं। इनके अनुरूप मन में विचार तथा शरीर में कर्म उत्पन्न होते हैं। पृथक्-पृथक् वासनाओं के कारण ही संसार का रूप पृथक् लगता है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! अन्तर्मुखी जीवन तथा योग के सम्बन्ध में कृपया बतायें।

स्वामी जी- अन्तर्मुखी जीवन का मतलब होता है- आँखों के बिना देखना और कानों के बिना सुनना। 'योग' चेतना का विज्ञान है। तनाव, दबाव, असन्तोष, निराशा के वातावरण में जीवन यापन करने वाले व्यक्ति के लिये योग सुख, शान्ति तथा मानसिक सन्तुलन प्रदान करता है। मानसिक क्षमताओं के विकास हेतु प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए योग आत्मनियन्त्रण तथा सर्वोच्च उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। योग एकाग्रता, सरलता, निष्ठा प्राप्त करने का

एक मार्ग है। समाधि तथा अतिचेतनावस्था में जाने के इच्छुक व्यक्ति के लिये योग के अतिरिक्त अन्य कोई बेहतर मार्ग नहीं है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! आज हमें 'ॐ' के बारे में कुछ बतायें।

स्वामी जी- ध्वनि तरङ्गें मुख्यतः चार प्रकार की होती हैं- स्थैतिक, गुञ्जायमान, दोलायमान तथा अन्तर्ज्ञान। 'ॐ' तीन ध्वनियों 'अ-उ-म्' का मेल है। 'अ' स्थैतिक, 'उ' गुञ्जायमान तथा 'म्' दोलायमान तरङ्गों का निर्माण करता है। चौथी अन्तर्ज्ञान की तरङ्ग होती है, जो वाणी या सुनने के परे है। जब हम "ॐ' का अपने हृदय में ध्यान करते हैं, तब वह नाद रूप में उत्पन्न होती है और यह अन्तर्नाद, जो बाह्य ध्वनियों से परे हैं, हमें सुनाई पड़ता है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! हम उच्च आदर्शमय, शान्तिपूर्ण जीवन जीना चाहते हैं, इसके लिए क्या करें?

स्वामी जी- संसार में स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि आपके प्राण से भी बड़ा, सबका अधिष्ठान आत्मतत्त्व है, जो आपके हृदय-देश में ही स्थित है। कुछ समय सांसारिक विषयों से मन को हटाकर, एकाग्रचित्त होकर इन्द्रियों को संयमित कर, योग द्वारा अपने अन्दर छिपी उस दिव्य शक्ति का अनुभव करने की कोशिश कीजिये। यही एक मार्ग है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! समाज में साधकों के बीच 'समाधि' पर बहुत चर्चा होती है। समाधि किसे कहते हैं? इस अवस्था में होता क्या है?

स्वामी जी- अष्टाङ्ग योग के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है-

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'

इसके अनुसार समाधि ध्यान की वह अवस्था है, जिसमें ध्यातव्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य कोई समवर्ती चेतना कार्य नहीं करती। असल में ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में ध्येय विषय के सूक्ष्म तत्त्व, मन की चञ्चलता के कारण स्पष्ट नहीं हो पाते। ध्येय विषय तथा चेतना के बीच मन एक पर्दे के रूप में बाधा खड़ी किये रहता है। मन का अहंतत्त्व, चैतन्य स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। समाधि की अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय अर्थात् ज्ञान करने वाला, ज्ञान की प्रक्रिया तथा ज्ञान का विषय-तीनों एक हो जाते हैं। कोई भेद शेष नहीं रह जाता।

जिज्ञासु- स्वामी जी! महर्षि पतञ्जलि का 'योग' तो बहुत वैज्ञानिक है। इसमें 'ध्यान' का अर्थ क्या है? इसके लिये कैसे अभ्यास किया जाय?

स्वामी जी- मन की वह अवस्था 'धारणा' कहलाती है, जिसमें मन को किसी विषय पर कुछ देर टिकने का अभ्यास सध जाय। यही अभ्यास जब इस अवस्था में हो जाता है कि मन ध्येय वस्तु पर देर तक टिका रहे, तो इस अवस्था को 'ध्यान' की अवस्था कहते हैं।

जिज्ञासु- स्वामी जी! आज मुझे कुछ व्यावहारिक बातें बतायें?

स्वामी जी- अपना सब काम स्वयं करने की आदत डालें। किसी काम के लिये दूसरे पर निर्भर न रहें। कुछ देर एकान्त में रहने का अभ्यास करें। एकान्त में सत्-साहित्य पढ़ें। शास्त्रोक्त बातों पर मनन करें। निर्विचार रहने का अभ्यास करें। कभी भूत की बातों की याद न करें, तथा भविष्य की कल्पनाओं में न जीयें। आपके हाथ में केवल वर्तमान है, अतः सजग रहकर वर्तमान के पल-पल को प्रसन्नतापूर्वक जीयें। जीवन का रहस्य, समय के रहस्य में छिपा है और समय का रहस्य वर्तमान का रहस्य है। भूत की बातें भी हम वर्तमान में ही सोचते हैं। वर्तमान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः वर्तमान का सदुपयोग कीजिये।

स्वामी जी के पास मैं प्रायः जाता रहता हूँ। उनसे योग, अध्यात्म, जीने की कला, मौन, एकान्त आदि विषयों पर पर चर्चा होती है। उन्हीं जिज्ञासात्मक वार्ताओं में कुछ उद्धृत की जा रही हैं।

स्वामी जी ने सन् 2003 में 'सदा शिव साधना मन्दिर' शिवानन्द योग संस्थान-सत्यम् आश्रम नाम से एक ट्रस्ट की स्थापना की थी। इसके अन्तर्गत एक मन्दिर, एक ध्यान कक्ष, साधकों हेतु सात-आठ कमरे, योगासन हेतु एक कमरा तथा एक आवास के निर्माण के वे हेतु बने थे। इसी आवास में वे रहते हैं। यह दीनदयाल चिकित्सालय वाराणसी के पास मार्कण्डेश्वर नगर में स्थित है।

उक्त आश्रम में प्रवेश करते ही दाहिने मन्दिर है। इस मन्दिर में निर्गुण-निराकार ब्रह्म का प्रतीक एक दिव्यशिवलिङ्ग स्थापित है तथा शङ्कर भगवान् अपने परिवार सहित विराजमान हैं। मन्दिर के प्रवेशद्वार पर नन्दी स्थापित हैं, जिनकी दृष्टि सदा अपने इष्ट पर लगी रहती है। इससे शिक्षा लेता हूँ कि सब कुछ करते हुए अपना ध्यान सदा अपने इष्ट-ईश्वर पर रखना चाहिये। भगवान् राम के वनवास के समय, सभी दुःखों को झेलते हुए, जबतक सीता जी की दृष्टि उनपर थी, तबतक वे परम आनन्द में थीं। उनसे जब उनकी दृष्टि हटकर स्वर्णमृग पर गयी, तब वे सोने की लङ्का में रहते हुए भी हनुमान जी के माध्यम से भगवान् राम से -'हरहुनाथ मम सङ्कट भारी' कहती हैं। अर्जुन को भी महाभारत के युद्ध में मोह तब हुआ, जब उनकी दृष्टि श्रीकृष्ण से हटकर पितामह भीष्म, गुरुद्रोणाचार्य तथा अपने सगे-सम्बन्धियों पर गयी। नन्दी के आगे स्थापित कच्छप से प्रेरणा लेता हूँ कि खतरे की आहट पाकर जिस प्रकार कच्छप अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, इसी प्रकार संयम रखकर जीवन जीयें। मन्दिर में स्थित भगवान् शङ्कर के परिवार के अन्तर्विरोध पर दृष्टि जाती है, जहाँ अनेक अशान्त करने वाली बातें हैं- भगवान् शङ्कर के गले में सर्प हैं, जो उनके पुत्र गणेश जी के वाहन के मूषक को भोजन बनाता है। बड़े पुत्र कार्तिकेय जी का वाहन मयूर है, जो सर्प का दुश्मन है। माँ पार्वती की सवारी सिंह, भगवान् शङ्कर की सवारी नन्दी बैल का दुश्मन है। इतने विरोधों के बीच परिवार में परमशान्ति है। इसका कारण परिवार में गणेश जी, जो विवेक के स्वामी है,की उपस्थिति है। अनेक अन्तर्विरोधों में भी विवेक का आश्रय लेकर हम परमशान्ति में रह सकते हैं। मन्दिर में अखण्ड जलता हुआ दीप, चैतन्य आत्मा का स्मरण कराता है, जिसकी एक अद्भुत शक्ति के रूप में प्रतिदिन सुषुप्त्यावस्था के पश्चात् मन का उदय होता है तथा सुषुप्त्यावस्था में जाने के पूर्व उसी में विलीन हो जाता है। जब मन है तभी संसार भी है। मन नहीं, तो संसार भी नहीं।

स्वामी जी का सायं का समय कैसे बीतता है इसकी एक झलक देखें-

दिनांक 16-09-2014 को सायं मन्दिर-द्वार पर उक्त बातों का स्मरण कर मैं उनके संगीत कक्ष में गया। हारमोनियम पर कबीरदास का भजन- 'मनुवाँ! हरि बिन तेरा कोई नहीं' पूरे भाव में गा रहे थे। मैं चुपचाप सामने बिछी दरी पर बैठ गया तथा आँखे बन्द कर उसी भाव में डूबने की कोशिश करने लगा। 'सुन्दर काया, देख लुभाया मौज करे मन का। बीच में उनकी आँखे खुलती हैं। वे भजन का अर्थ बताते हुए कहते हैं- पचास वर्ष से अधिक उम्र हो जाने पर सुन्दर काया (शरीर) देखकर मन तो आकर्षित हो जाता है, परन्तु इन्द्रियों के साथ न देने के कारण उसकी मौज, मन तक ही सीमित रह जाती है। इसलिये 'मनुवाँ! हरि बिन तेरा कोई नहीं।' वे मुझसे कहने लगे-गाइये-गाइये। गाते क्यों नहीं? मैंने कहा-स्वामी जी! मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। उन्होंने कहा-अच्छा भोजन देखकर प्रसन्न होना, उसे खाकर प्रसन्नता का अनुभव करना तथा भोजन अपने हाथ से बनाकर तथा उसका स्वाद लेकर प्रसन्नता का अनुभव करने में अन्तर है कि नही? (स्वामी जी, भोजन बनाना, बर्तन धोना, सफाई करना- सबकुछ स्वयं करते हैं, किसी को कुछ नहीं करने देते।) उन्होंने बताया कि आँखे बन्द कर भाव-मग्न होने पर भी मन भटक जाता है, परन्तु जब भाव में आप गायेंगे, तो दूसरा विचार नहीं आ पायेगा। मैं भी साथ-साथ गाने लगा। इसके बाद उन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य द्वारा रचित 'निर्वाणषट्कम्' का गान प्रारम्भ किया तथा मैं भी उनके साथ गाने लगा। ये छह श्लोक निम्नवत् हैं-

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 1 ।।

न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्चवायुः
न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशाः।
न वाक्पाणिपादं न चोपस्थपायू
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 2।।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ
न मे वै मदो नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 3।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिन्दानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 4।।

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 5।।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।। 6।।

स्वामी जी ने आज्ञा दी कि इन श्लोकों को अपनी आत्मकथा में भाव सहित लिखकर डाल दें। उक्त श्लोक मुझे भी बहुत प्रिय हैं। सन 2010 से प्रतिदिन प्रातः मैं इन श्लोकों का स्मरण करता हूँ। प्रत्येक श्लोक के अन्त में अपने स्वरुप की वास्तविक स्थिति तथा अन्य पंक्तियों में, मैं क्या नहीं हूँ, इसका वर्णन किया गया है। क्रम से उपरोक्त श्लोकों का भाव इस प्रकार है-

मैं, मन (सङ्कल्प-विकल्प करने वाली तथा सकल विचारों को उत्पन्न करने वाली शक्ति) बुद्धि (मन की निर्णयात्मिका शक्ति), अहङ्कार अहं वृत्ति ('अहम्' शब्द वर्णमाला के मूल अक्षर 'अ' तथा अन्तिम अक्षर 'ह' से बना है। इनमें सबका समावेश हो जाता है। यह आत्मा का निर्देश करता है, जो हमारे सद्रुप का आधार है। यद्यपि 'मैं' भाव को अहंवृत्ति' कहते हैं, परन्तु यह अन्य सभी वृत्तियों का आधार है। बिना अहंवृत्ति दूसरी वृत्ति टिक नहीं सकती। यह आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न होती है), चित्त (चेतना के प्रत्येक स्तर पर अनुभूति को संगृहीत करने वाला अन्तःकरण) नहीं हूँ। न मैं सुनने, चखने, सूँघने, देखने वाली इन्द्रियाँ हूँ और न आकाश, भूमि, तेज, वायु हूँ। मैं तो सत्-चित्-आनन्द स्वरुप सर्वव्यापी शिवतत्त्व हूँ। (1)

मैं 'प्राण' नहीं हूँ और श्वासादि पञ्चकर्म करने वाली प्राणादि वायु-पञ्चक (प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान) मैं नहीं हूँ। सात धातुओं (रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) तथा पञ्चकोशों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय) से युक्त स्थूल देह मैं नहीं हूँ। बोलना, चलना, देना-लेना, मल-विसर्जन तथा आनन्द- इन पाँच विविध क्रियाओं को करने वाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः वाक्, पाद, पाणि, पायु तथा उपस्थ भी मैं नहीं हूँ। मैं तो सत्-चित्-आनन्द स्वरुप आत्मा शिवतत्त्व हूँ। (2)

मेरे अन्दर राग (अनुकूल व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति के प्रति आकर्षण), द्वेष (विकर्षण-भाव), लोभ (किसी चीज़ को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा), मोह (ममत्व-भाव या आत्मस्वरूप की विस्मृति), मद (घमण्ड) तथा मात्सर्य (ईर्ष्या) भाव नहीं है। अर्थात् मेरा निजस्वरूप इन भावों से रहित है। चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) से भी मैं मुक्त हूँ। मैं तो चित्-आनन्द स्वरूप सर्वव्यापी आत्मतत्त्व हूँ। (3)

मेरे स्वरुप का सम्बन्ध न पुण्य से है, न पाप से है, न सुख से और न दुःख से है। मैं मन्त्र, तीर्थ, वेद तथा यज्ञों से भी अछूता हूँ। ये सब जीव के धर्म हैं, स्वरूप के नहीं। मैं सुख-दुःख का भोक्ता (अनुभवकर्ता) सामग्री तथा उसके बीच की क्रिया से रहित हूँ। अर्थात् प्रत्येक प्रकार की त्रिपुटी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय या ध्याता-ध्यान-ध्येय आदि से मुक्त हूँ। मैं तो चित्-आनन्द स्वरुप 'शिव'तत्त्व हूँ। (4)

मुझे मृत्यु की कोई शङ्का नहीं है (क्योंकि मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा तो अमर, अविनाशी, अजन्मा, नित्य है), मेरे में किसी प्रकार का भेद (सजातीय, विजातीय तथा स्वगत) नहीं है। न मेरा कोई पिता है और न कोई माता और न मेरा जन्म हुआ है (क्योंकि माता-पिता शरीर के होते हैं तथा जन्म भी शरीर का ही होता है)। इसी कारण न मेरा कोई बन्धु है, न मित्र है। न कोई गुरु है और न कोई शिष्य है (क्योंकि जीव के सभी सम्बन्ध शरीर के नाते होते हैं) शरीर के अन्त के साथ ही सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। वास्तव में मेरा स्वरूप तो ज्ञानमय तथा आनन्दमय है और मैं सर्वव्यापी आत्मतत्त्व हूँ। (5)

मैं सङ्कल्प-विकल्प से रहित, आकार रहित, सब समय तथा सभी स्थानों पर सबको व्याप्त करके स्थित हूँ। मैं सर्वदा समत्व में स्थित हूँ। न मैं किसी बन्धन में हूँ और न मेरी मुक्ति होनी है, (वास्तव में भ्रम-अज्ञान के कारण हम अपने को बन्धनयुक्त समझते हैं, मुक्ति पानी नहीं होती, केवल उसकी मुक्तावस्था का ज्ञान होता है)। मैं तो चित्-आनन्द स्वरूप शिवतत्त्व हूँ। (6)

स्वामी परमानन्द का सान्निध्य

सन् 1998 में हरिद्वार में होने वाले महाकुंभ में भाग लेने के उद्देश्य से मैं जाने वाला था। मेरे निवास के पास रहने वाले, चाय के व्यापारी श्री तीर्थराज सिंह भी संयोग वश उसी दिन अपने सद्गुरु, योग मार्ग के उच्च साधक गुरुदेव मुनि- के पास जा रहे थे। अपने गुरु आश्रम में उन्होंने एक कमरा भी बनवाया था। तीर्थराज सिंह से मेरा इससे पहले कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं उनके साथ गया तथा उनके कमरे में ही ठहरा। उसी दिन शाम को मैं रानीगली स्थित आश्रम से निकलकर, वैष्णव देवी मन्दिर के सामने गङ्गा किनारे बाँध पर घूमने गया। बाँध से सटे, गङ्गा किनारे, अखण्ड परमधाम के परमपूज्य स्वामी परमानन्दजी का कैम्प तथा प्रवचन स्थल था। प्रवचन होने वाला था। वहाँ मेरी पहली मुलाकात नोएडा (दिल्ली) निवासी श्री चमन सिंह से हुई। वे वर्तमान में स्वामी विद्यानन्द नामक संन्यासी हैं तथा नोएडा में अकेले रहते हैं। उनके आग्रह पर मैं भी प्रवचन सुनने हेतु बैठ गया। उस दिन एक घण्टे के प्रवचन में स्वामी जी ने भगवान् राम पर चालीस मिनट बोला तथा अन्तिम बीस मिनट उन्हीं पर ध्यान कराया। प्रवचन में बोले गये एक-एक शब्द ने मुझे आकर्षित किया। ध्यान केवल 'राम' शब्द पर था, परन्तु श्वास के माध्यम से उन्होंने ऐसी क्रिया करायी कि अन्त में अपने शरीर का भान नहीं रहा। आरम्भ इस तरह रहा।

अब 'रा' से श्वास लो 'म' से श्वास निकालो। आनन्द, प्रसन्नता, मस्ती, प्रेम प्रकट हो जाने दें। प्रेम-पूर्वक प्रभु के नाम से श्वास लो। समय-अन्तराल तुम्हारा अपना है। ढङ्ग कोई अपना लो।

1- 'रा', 'म', 'रा', 'म'
2- 'रा ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ म'
3- 'रा ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ ऽ ऽ म', 'रा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ म'

सुख से आराम से, श्वास लो तथा सुख, आराम से छोड़ो। बस चेतन रहो। चेतन। राम-नाम के बिना रह न सको। आज तो हमारे प्राणों का, मन का और अन्तर्यामी राम का समझौता हो गया है। मित्रता है, समन्वय है।

भीतर राम, बाहर राम, जहाँ देखें वहाँ राम, राम, राम।

.... तू भक्ति-प्रेम जगा। तू प्रेम जगायेगा, प्रभु तेरे भीतर आनन्द जगायेगा, तू प्रेम से सुमिरन करेगा, परमात्मा तुझे सब कुछ दे देंगे। आनन्द से, मस्ती से, प्रेम से , अपना जीवन भर दो। तू भगवान् की शरण लो, तेरा सब काम हो जायेगा।

उस स्थिति का वर्णन तो करने में मैं असमर्थ हूँ, परन्तु होश आने पर शरीर को जमीन पर पड़ा पाया। ध्यान स्थल पर कई लोग अलग-अलग अस्वाभाविक क्रियाएँ कर रहे थे। इसके पूर्व मैं आठ-दस वर्षों से ऐसे ब्रह्मनिष्ठ, ज्ञानी, गुरु की खोज में था, जिससे वेदान्त के गूढ़ भाव को समझ सकूँ। इसके बाद मैंने चमन सिंह जी तथा उनके मित्र एवं स्वामी जी के अत्यन्त निकट जवाहर लाल नेहरु यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ0 नारायण प्रसाद से स्वामी जी का शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। उन लोगों ने प्रतिवर्ष अप्रिल तथा नवम्बर में होने वाले ध्यान सत्र में भाग लेने तथा स्वामी जी की किताबें ले जाकर पढ़ने हेतु कहा। इसके पश्चात् ही उनका शिष्य बनने को कहा।

उनकी एक किताब स्वप्न से सत्य में पढ़ा। यह परम सत्य है कि जब कोई व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति की हार्दिक इच्छा करता है, जब उसमें सत्त्व गुण जाग्रत होता है और ईश्वर उसकी भक्ति से प्रसन्न होते हैं, तो वे उस व्यक्ति को सद्गुरु के सान्निध्य में पहुँचा देते हैं। फिर उसे गुरु के लिये भटकना नहीं पड़ता।

इसी किताब मे उन्होंने गुरु के सम्बन्ध में निम्न श्लोक उद्धृत किया है-

गुकारश्च गुणातीतं, रुकारं रूपवर्जितम्।
गुणातीतमरूपञ्च यो दद्यात्स गुरुः स्मृतः।।

'गु' कार अर्थात् गुणातीत; और 'रु' कार अर्थात् रूपवर्जित; ऐसे 'त्रिगुणातीत' को और 'अरूप' अर्थात् 'निर्गुण निराकार' ऐसे "ब्रह्मतत्त्व को जो 'स्वरुपज्ञान' द्वारा भान कराते हैं वे गुरु कहलाते हैं।"

दिनांक 04-02-1999 को स्वामी परम, साध्वी चेतन सिन्धु एवं अन्य शिष्यों के साथ गुरुदेव, प्रशान्त पुरी, वाराणसी स्थित मेरे आवास पर आये। आरती, तिलक, माल्यार्पण के बाद थोड़ी देर उनका प्रवचन हुआ तथा साररूपमें निम्न उपदेश दिये।

शरीर पर ध्यान। केवल शरीर को देखें, क्या घट रहा है। क्रोध आवे, कोई विचार आवे, परन्तु शरीर पर कोई प्रतिक्रिया न हो। साक्षी भाव से देखें।

बोली में उतार चढ़ाव न हो। किसी भी परिस्थिति में, क्रोध आने पर भी, बोली सहज, सामान्य ही रहे।

जो इन्द्रिय, एक समय में काम कर रही है, केवल वही कार्य करे। बाकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहें। हमारा कोई लगाव या विरोध किसी के प्रति न हो। केवल साक्षी भाव से देखें। सुनाई पड़ रहा है, पड़ने दें। मन जाता है, तो जाने दें, कोई विरोध नहीं। केवल साक्षी मात्र।

इसके बाद अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित, शरणागत होकर एक लिखित निवेदन गुरु जी को दिया। पढ़ने के पश्चात् उन्होंने मेरे ऊपर कृपा दृष्टि डाली। शयन कक्ष में कितावें देखे तथा प्रसाद के पश्चात् अपने आवास पर गये।

फरवरी सन् 1999 में स्वामी जी की शिष्या साध्वी ऋतम्भरा का वाराणसी में भागवत कथा का कार्यक्रम रक्खा गया। स्वामी जी भी उसमें उपस्थित रहते थे। प्रातः स्वामी जी द्वारा ध्यान कराया जाता था। दि० 05-02-1999 को प्रातः अपनी शिष्या साध्वी ऋतम्भरा के कथा-पण्डाल में उन्होंने ध्यान का कुछ अभ्यास कराया तथा अन्त में कहा-

विना किसी अवलम्ब के यदि मन टिका रहता है तो मन आत्मा में चला जाता है, वही स्वरूपावस्था है।

दि० 06-02-1999 को प्रातः 10-01 बजे तक मैं उनके पास रहा। व्यावहारिक जीवन के सम्वन्ध में जिज्ञासा पर उन्होने कहा- दो पक्ष हैं। सभी जिम्मेदारियों को तत्परता पूर्वक करना एक पक्ष है। द्वितीय पक्ष है- सदैव याद रखना कि हम आत्मस्वरूप में हैं, ब्रह्म हैं। घड़ा बन कर प्रयोग में आना, परन्तु याद रखना कि हम मिट्टी ही हैं। साफी के गाँठे का उपयोग है, परन्तु हम जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति में भी साक्षी ही हैं।

दि० 07.02.99 को उन्होंने आर्शीवाद की प्रार्थना पर कहा -

अर्जुन ने जव 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहा तो कृष्ण ने आर्शीवाद नहीं दिया, वल्कि उसे गीता सुनाकर उसके भ्रम का निवारण किया । अतः गुरु की 'कृपा' का अर्थ भ्रम-निवारण करना है। 'मैं ब्रह्म हूँ'- यह जानना है। यह महसूस करना है कि घड़ा नहीं, मिट्टी सत्य है। गहना नहीं, सोना सत्य है। गाँठ नहीं, साफी सत्य है। गाँठ है असत्य, क्योंकि वह होती है और चली जाती है। यह जानी जाती है, 'मैं' के द्वारा, जो स्वयं असत्य है।

हरिद्वार कुम्भ में प्रतिदिन प्रातः पाँच से छह बजे के बीच स्वामी जी के सान्निध्य में दि० 08.04.98 से 14.04.98 तक मैंने निम्न प्रमुख बातें सीखीं-

राम के चार रूप है-

एक राम दशरथ का बेटा, एक राम घट-घट मे लेटा ।
एक राम का जगत पसारा, एक राम है जग से न्यारा।।

चेतन के प्रति हमेशा सजग रहना है।
चेतन में ही सब कुछ है, चेतन ही हमारा उद्‌देश्य है।

जाग्रत स्वप्न सुपुप्ति अवस्थाओं से ऊपर उठना हमारा उद्‌देश्य है। इनसे बाहर होना ही मुक्ति है।

शरीर की उपयोगिता है।, संसार भी उपयोगी है, परन्तु मिथ्या है, सत्य नहीं है। आभासित हो रहा है।

इन्द्रियों का पति मन, मन का पति बुद्धि, बुद्धि का पति आत्मा है। धीरे-धीरे मन को स्थिर करते-करते आत्मा में विलीन कर देना है।

जगत् का आभास- जैसे कपड़े में गाँठ, सोने में गहना। हमें वास्तविक लगता है, क्योंकि हम पकड़े हुए हैं। गहना सोने से महगाँ है, क्योंकि हम उसे महत्त्व देते हैं।

भगवान् के सामने अपने सारे दोषों को खोल देना, अपने अहं को गला देना तथा पूर्ण आत्मसमर्पण, खूब रोना- भक्ति मार्ग है।

दिनांक 15-10-2004 से चित्रकूट में भक्तिवेदान्त सम्मेलन था। मैंने भी स्वामी जी के साथ अधिक से अधिक समय विताने के उद्देश्य से सम्मेलन में भाग लिया। एक दिन शाम को कुछ शिष्य-भक्तों के साथ मैं बैठा था। श्रद्धालुओं द्वारा पैर छूने की बात पर उन्होंने कहा-

'आप में गुरु के प्रति श्रद्धा होने का महत्त्व इतना ही है कि आप में श्रद्धा होगी, तो आप उनकी बात ध्यान से सुनेंगे,-जो वे कहेंगे वह आप करेंगे। परन्तु आपके लिये यह आवश्यक नहीं है कि आप पैर पर अपना सिर रखें या पैर छूएँ। अपने स्थान पर ही खड़े-खड़े विनम्र भाव से शिर झुका दें तथा अपनी श्रद्धा व्यक्त कर दें। यदि आप किसी को श्रेष्ठ समझकर पूजा कर रहे हैं, तो उसमें विद्यमान परब्रह्म की ओर दृष्टि रखें। जिसकी पूजा हो रही है, उसे उस समय विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ'- जिसकी पूजा हो रही है? उस समय वह ब्रह्म है कि व्यक्ति? यदि उस समय वह ब्रह्म नहीं है, तो उसे शर्म आनी चाहिये। जो ब्रह्म नहीं है वह पूजा का पात्र नहीं है।

सन् 2004 के उज्जयिनी के सिंहस्थ कुम्भ में मैं लगभग एक माह रहा। मैं रहता तो था महाकालेश्वर मन्दिर के हरसुन्दरी धर्मशाला में स्वामी ज्ञानानन्द जी के साथ, परन्तु प्रतिदिन स्वामी परमानन्द जी के प्रवचन सुनने अवश्य जाता था। एक दिन मैंने स्वामी जी के करीबी स्वामी अनुभूतानन्द जी से स्वामी जी का जीवनवृत्त लिखने की इच्छा व्यक्त की। उनके निर्देश पर संन्यास ग्रहण के पूर्व की घटनाओं हेतु स्वामी स्वतः प्रकाश जी से तथा संन्यास ग्रहण के पश्चात् की घटनाओं हेतु स्वामी त्यागानन्द जी से मिला। इनसे बहुत जानकारियाँ प्राप्त की। संन्यास के प्रारम्भिक दिनों में स्वामी त्यागानन्द जी ही साथ रहते थे।

स्वामी जी के जीवन को करीब से देखने के उद्देश्य से, मैं उनके जन्म स्थान, मवईधाम, जनपद फतेहपुर गया। जिस दिन मैं वहाँ पहुँचा, उसी दिन रात में लगभग दस बजे स्वामी जी भी शैली पेरी तथा कुछ अन्य शिष्यों के साथ आये। स्वामी जी से मिलने पर उन्होंने कहा- तुम भी आये हो? कैसे पहुँचे? इसका विस्तार से वर्णन मैंने किया। स्वामी जी चुप रहे। बाद में मुझे बहुत ग्लानि हुई कि मैंने अनावश्यक बातें करके स्वामी जी का अपना समय बर्बाद किया। तब से सतर्क रहने लगा कि अपनी बात स्पष्ट, परन्तु संक्षेप में कहनी चाहिये। जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना चाहिये।

मवईधाम में जन्म भूमि के स्थान पर स्वामी जी के शिष्यों ने मन्दिरों का निर्माण करा दिया है। इस ग्राम में स्वामी जी की प्रेरणा से अत्यन्त पिछड़े निर्धन क्षेत्र की बालिकाओं हेतु एक कॉलेज की स्थापना की गयी है। उसका प्रबन्ध स्वामी प्रकाशानन्द जी कर रहे थे।

यद्यपि स्वामी जी स्वयं मान-प्रतिष्ठा से दूर रहना चाहते हैं परन्तु दूसरों को वे खूब सम्मान देते हैं। एक दिन प्रवचन में उन्होंने कहा-

दैवीय विधान कहता है कि हम जितना भी देंगे, वह अनन्त गुना होकर हमारे पास आयेगा। इसलिये तुम जो पाना चाहते हो, वह बाँटो और जो नहीं पाना चाहते, उसे स्वयं भोगो। जो दे चुके हो उसे वापस लेने की इच्छा छोड़ दो। फिर भीतर का माधुर्य उमड़ेगा और तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। अहङ्कार से मुक्ति पाना, ध्यान-मार्ग का पहला कदम है। संसार की चीजों के पीछे मत भागो, उन्हें छोड़ दो। संसार के सारे व्यवहारों में आसक्ति छोड़कर, उन्हें साक्षी भाव से निहारने का अभ्यास करो। फिर ध्यान लगाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, वह अपने आप लग जायेगा।

सन्त के लक्षण बताते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पर कहै न जाना।।

तथा

सन्त हंस गुन गहहि पय परिहर वारि विकार।

परन्तु स्वामी जी ने सन्त की जैसी परिभाषा दी है, उसे देखें-

'जिस व्यक्ति के पास जाते ही कामनाओं का अन्त और सङ्कल्पों का तिरोधान हो जाय वही सन्त है। जिस व्यक्ति के पास जाने पर कामनाएँ बढ़ें और नये-नये सङ्कल्प-विकल्प जन्म लेने लगें, वह सन्त नहीं है। उसे संसारी, व्यवसायी, पाखण्डी समझें। सन्त वह है जिसकी समीपता में आशीर्वाद प्राप्त करने की इच्छा भी मर जाय। सन्त वह, जो सरल ही नहीं, सहज भी हो। सन्त वह जो आश्रमों और आवासों का स्वामी होते हुए भी अनिकेत हो'।

उक्त परिभाषा का प्रत्यक्ष अनुभव मेरे जीवन में बहुत बार हुआ है। स्वामी जी के ध्यान सत्रों में, प्रातः छह बजे प्रारम्भ होने वाले प्रथम प्रवचन के पूर्व, उनके पास पाँच से छह बजे के बीच मैंने बिना कुछ पूछे, आनन्दाश्रु बहाते, गदगद् मन से उनके सान्निध्य में समय बिताया है। ऐसा ही अनुभव दूसरों का भी है। उनके विदेशी भक्तों, विद्वानों, उच्च पदासीन व्यक्तियों तथा गाँव की किसी बिना पढ़ी-लिखी महिला से बात करने के ढङ्ग में कोई अन्तर न देखकर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

5 अप्रैल से 5 मई 2004 के उज्जयिनी के महाकुम्भ के अवसर पर, अक्षय तृतीया 22 अप्रैल 2004 को स्वामी जी के संन्यास-ग्रहण के स्वर्णजयन्ती के अवसर पर, स्वामी जी की शिष्या ऋतम्भरा की पहल पर, हरिद्वार स्थित भारत माता मन्दिर के संस्थापक स्वामी सत्यमित्रानन्द जी के आग्रह पर, स्वामी जी ने निरञ्जनी अखाड़े के महामण्डलेश्वर पद को स्वीकार किया। उक्त अवसर पर होने वाले सभी कार्यक्रमों में मैं उपस्थित रहा।

जब भारत के सभी अखाड़े इन्हें 'महामण्डलेश्वर' पद देकर सम्मानित करना चाहते थे, तो उन्होंने दिनांक 21-04-2004 को प्रातः प्रवचन के समय कहा कि मेरे गुरुदेव स्वामी अखण्डानन्द (चित्रकूट वाले) की ऐसी शिक्षा रही कि पद-मान-प्रतिष्ठा से सदा दूर रहा जाय। मुझे यह प्रस्ताव ऐसे ही लगता है, जैसे किसी के संन्यासी बन जाने पर उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जाय।

उक्त अवसर पर निरञ्जनी पीठाधीश्वर स्वामी पुण्यानन्द जी ने अपने विचार निम्न शब्दों में व्यक्त किये।

विरक्त शिरोमणि स्वामी परमानन्द जी ने आज तक अमानी होकर सबको सम्मान दिया है। शास्त्रकार कहते हैं–

'हुतं च दत्तं व तथैव तिष्ठति'

हवन किया गया और दूसरों को दिया गया कभी नष्ट नहीं होता। सम्पूर्ण जीवन में आपने सारे भारतवासियों को केवल सम्मान ही नहीं दिया, सम्मानित होने के लिए अवसर और सुझाव भी दिया।

सामाजिक एकता को सुदृढ़ करने वाले कार्य स्वामी जी को प्रिय हैं। इन्होंने गुरुसाहिबा के सन्देश को देशभर फैलाने हेतु खालसा पन्थ की सर्जना 'तीन सौ साला' के सुअवसर पर श्री पटना साहिब से आनन्दपुर साहिब तक सन्त यात्रा की अगुवाई की थी।

इसी अवसर पर शैली पेरी तथा उनकी सहयोगिनी अन्य दो–तीन के स्वास्थ्य खराब होने के कारण स्वामी का सन्देश पाकर मुझे एक रात उनके आतिथ्य का अवसर मिला तथा उनके दिल्ली जाने की व्यवस्था की गयी। इनमें शैली पेरी, रुक्मिणी सुजान तथा वर्जिनिया की डी० मार्टिनों भी थीं, जिनके विचार नीचे दिये गये हैं।

sally Perry, sprite Medicine

August [28-31] -2000, united nation at first millennium world peace summit of Religeous and Spritual leaders.

"If we can all pledge to landmark our lives with healing our own conflict in our homes and within ourselves. Peace can happen in the world. It must begin in our homes first. Like the well known song says 'Let there be peace on earth and let it begin with Me'

Valeria dra naiman - (american) expresses her views as follows 'And what truly makes India rich for me is being in the presence of Swami ji. I have met many in my life's journey who were called masters but for the first time I have truly met holy one. I am grateful to have met and recognized this great teacher. Words cannot express the love that emanates from and around this beloved one'.

स्वामीजी का सन्देश – 'यदि अगला जन्म अच्छा चाहते हो तो निष्काम शुभ कर्म करो। यदि तुम मृत्यु के बाद मोक्ष चाहते हो तो केवल भगवान् का भजन करो, सन्तों के वचन पर विश्वास करो और यदि इसी जन्म–मरण के, इसी दुनिया के ज्यों के त्यों रहते अपने को मुक्त करना चाहते हो तो फिर आत्मज्ञान प्राप्त करो।

एक दिन स्वामी जी ने कहा–

धर्म कहता है कि सृष्टि की असलियत को समझो और जैसी सृष्टि है वैसे ही जियो। सबके लिये राजी होना धर्म है। दुःख है अधर्म और आनन्द है, धर्म। धैर्य ही धर्म है, क्योंकि धैर्य से ही सब कुछ धारण किया जा सकता है।

ध्यान के सम्बन्ध में स्वामी जी के विचार हैं- जानने की इच्छा से रहित केवल जानना मात्र, बिना किसी विचार केवल होश मात्र, शान्त रहकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों-कियाओं के प्रति तटस्थ जागृति मात्र ध्यान है। ध्यान में मन मौन रहता है, किसी क्रिया अथवा भाव का विरोध नहीं बल्कि केवल प्रेम-पूर्ण दर्शन मात्र। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव नहीं, बल्कि केवल साक्षित्व भाव की स्मृति।

श्री श्याम चरण दास का सान्निध्य

सन् 1998 में हरिद्वार में पूर्ण कुम्भ (बारह वर्ष पर लगने वाला) होने वाला था। मैं भी जाने हेतु तैयार था। जाने के लगभग एक माह पूर्व पता चला कि मेरे पैतृक गाँव के मेरे ही वंश के, बचपन के मेरे सहपाठी शेषनाथ सिंह, जो अब श्यामचरण दास के नाम से विख्यात सन्त हैं, हरिद्वार में ही रह रहे हैं। उनसे लगभग चालीस वर्ष बाद बात हुई। वे भी मुझसे बात करके बहुत प्रसन्न हुए। मैंने उनसे कहा कि मैं भी हरिद्वार महाकुम्भ में आ रहा हूँ। मेरी उनसे संक्षिप्त वार्ता इस प्रकार रही। मेरा नाम सुनते ही उन्होंने कहा-

वशिष्ठ भैया! आवाज सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विधि का विधान- मुझे तो भगवान् ने अपने रास्ते पर बुला लिया। आप उत्तम गृहस्थ धर्म का निर्वाह कर रहे हैं। बड़ी प्रसन्नता होगी आपसे मिलकर। जब आप आयें तो मेरे यहाँ जरूर आइयेगा। मैंने उनसे कहा कि मुझे बड़ी उत्सुकता है आपसे मिलने तथा आपके साथ घटी परिस्थितियों को जानने की। उन्होंने अपना निवास स्थान गुरुधाम, हिमालय डिपो गली, हरिद्वार बताया। बात समाप्त हो गयी।

हरिद्वार जाने के दो-तीन दिन बाद मैं हिमालय डिपो गली में स्थित श्यामचरण दास जी के निवास स्थान गुरुधाम गया तथा तीन-चार दिन उनके साथ रहा। इसके ऊपरी भाग में स्थित एक छोटे कमरे में वे रहते हैं। उसमें भगवान् राम, कृष्ण के साथ कुछ अन्य देवताओं के फोटो रखे थे, जिन्हें प्रचुर मात्रा में फूल-माला से सजाया गया था। सामने अखण्ड दीप जल रहा था। नीचे भारत भ्रमण पर निकले सन्तों के विश्राम तथा साधकों-भक्तों से मिलने का स्थान था। बगल में दो सन्त भोजन-प्रसाद बनाने, सन्तों की सेवा बड़े भाव से करने हेतु तत्पर थे। दो-तीन विद्यार्थी भी निःशुल्क रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। श्यामचरण दास जी मध्याह्न लगभग ग्यारह बजे अपने कमरे से साधना के बाद नीचे आगन्तुकों, सन्तों, भक्तों से मिलने तथा फलाहार ग्रहण करने हेतु उतरते। फलाहार के बाद वे अपने कमरे में चले जाते तथा पुनः सायं लगभग आठ बजे नीचे आते।

उनके रहन-सहन के ढङ्ग, गङ्गास्नान, एकान्त-साधना, फलाहार विशेषतः तिन्नी का चावल तथा शाक, प्रेमपूर्ण वाणी, सभी आगन्तुकों को टीका लगाकर भगवत् चरणामृत प्रसाद देकर सबके प्रति मङ्गलकामना, आगन्तुकों, सन्तों, गृहस्थों-भक्तों के भोजन-प्रसाद के प्रति सचेत रहने, दोनों समय भगवान् की विधिवत आरती के प्रति सचेत रहने, कुछ समय सन्तों के साथ भगवत् चर्चा आदि से मैं बहुत प्रभावित हुआ तथा उनके सम्पर्क में बने रहने का वायदा कर वाराणसी आया।

मेरे सहपाठी शेषनाथ सिंह के गाँव छोड़कर जाने तथा हरिद्वार के महान सन्त श्यामचरण दास की वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के बारे में जानने हेतु मैं उत्सुक था। अतः एक दिन

मैंने उनसे संक्षेप में बताने का निवेदन किया। उनके द्वारा बतायी गयी बात इस प्रकार है- वे लगभग बीस वर्ष की उम्र में गाँव छोड़कर, विन्ध्याचल मिर्जापुर स्थित प्रसिद्ध देवी मन्दिर से कुछ दूरी पर एक तालाब के किनारे इकतालिस दिन बेलपत्ता तथा पानी के सहारे रहकर जप करते रहे। इकतालिसवें दिन उनके कानों में 'उत्तराखण्ड' शब्द कई बार गूँजा। वे वहाँ से उत्तराखण्ड के बारे में पूछकर ट्रेन से हरिद्वार आये। वहाँ चण्डी मन्दिर पर कुछ दिन रहे तथा गङ्गोत्री की यात्रा पर पैदल निकल पड़े।

उससे भी आगे वे गोमुख गये। इस स्थान से पवित्र गङ्गा का प्रवाह प्रारम्भ होता है। यह ऊँची पर्वत की हिमाच्छादित चोटियों से घिरा हुआ, महान ऋषियों द्वारा प्रशंसित, स्वर्ग के करीब देवों की यह निवासस्थली, पृथ्वी का पवित्रतम स्थान है। संसार को पवित्र करने हेतु, वर्फ से बने हुए गो-मुख के आकार में, गङ्गा के निकलने के कारण इसे गोमुख कहते हैं। गंगोत्री से गोमुख के दुर्गम मार्ग पर भोजवासा में भोजपत्र के वृक्षों का जङ्गल है। वहाँ वे भोजवासा के भोजपत्र से छाई हुई एक कुटिया में मात्र लंगोटी धारण करने वाले, आम के पटरे पर सोने वाले तथा स्वयं आलू पैदाकर, धूनी में भूनकर खाने वाले, प्रतिदिन बर्फीले पानी में तीन बार स्नान करने वाले वयोवृद्ध सन्त विष्णुदास जी की शरण में पहुँचे तथा उनकी सेवा में रहने की आज्ञा माँगकर तथा तीन-चार दिनों के आग्रह के बाद आज्ञा पाकर रहने लगे। घर छोड़ने के पूर्व इनके घर वालों ने इनका विवाह कर दिया था। इसके पूर्व भी वे घर छोड़कर साधु बनने हेतु घर से भागे थे। परन्तु घर वाले पकड़ लाते थे। वे वहाँ मृगछला धारण करते थे।

विष्णुदास जी का शरीर छूटने पर लगभग बारह वर्षों के बाद वे गाँव एक बार आये थे। घर के पास स्थित करियाबाबा की कुटी पर रात बिताये। प्रातः अपने पुराने घर आकर माँ से भिक्षा माँगी। पत्नी को समझाया तथा पुनः हस्तिनापुर चले गये। वहाँ से वे ऋषिकेश में रामझूला के पास स्थित हनुमान मन्दिर पर कुछ दिन रहे। तबतक बड़ी संख्या में उनके शिष्य हो गये थे। शिष्यों ने आश्रम बनाने का आग्रह किया, परन्तु वे स्वीकार नहीं किये। गङ्गा किनारे रहकर एकान्त साधना करने की उनकी दृढ़ इच्छा जानकर, शिष्यों ने वर्तमान भवन गुरुधाम खरीद दिया तथा एक ट्रस्ट की स्थापना कर दी थी। वहीं उनका निवास स्थान था।

एक दिन सायं उनके पूजा कर लेने के बाद मैंने उनसे कहा-

श्यामचरण दास जी! हम लोग एक ही वंश में लगभग एक ही समय पैदा हुए, परन्तु बचपन में ही हम लोगों के रास्ते अलग हो गये। पूर्व जन्मों के पुण्यों, संस्कारों तथा भगवान् के अनुग्रह से आप उच्चकोटि के सन्त हो गये। भगवान् ने आपको बचपन में ही 'गोमुख' जैसी बर्फीली जगह पर केवल आलू खाकर, नङ्गे बदन रहकर साधना करने की सामर्थ्य प्रदान की और ईश्वरानुभूति के पश्चात् भी आपके समय का अधिकांश समय जप-साधना में ही बीतता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' कहा है। आज मैं आपसे जप-साधना के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहता हूँ। अतः कृपा करें।

महात्मा- देखो भाई! जैसे रस्सी तीन लड़ियों से बनी होती है, वैसे हमारा मन प्रकृति के तीन गुणों से बना है। जब हम जप करते हैं, तो भगवान् के किसी नाम या गुरु द्वारा दिये

गये मन्त्र के शब्दों में छिपी हुई शक्ति कार्य करना प्रारम्भ करती है और इससे हमारे अन्दर स्थित तमस् तथा रजस् का गुण, सत्त्वगुण में परिवर्तित होने लगता है। नाम तथा मन्त्रों के अक्षरों का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि जब उनका उच्चारण होता है, तो वे कई रसायनों के मिलाने से उत्पन्न प्रभावशाली परिणाम की भाँति, अपना प्रभाव छोड़ते हैं और परिणामस्वरूप तमोगुण व रजोगुण की निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों का रूपान्तरण सत्त्वगुण की उच्चस्तरीय प्रवृत्तियों में होता है।

जिज्ञासु- जप करने में जप किये जाने वाले इष्ट या देवता का ही मुख्य स्थान है?

महात्मा- जप में तीन महत्त्वपूर्ण बातें होती है- मन्त्र-शक्ति, देवता-शक्ति तथा साधना-शक्ति। जप करने वाले साधक का भी उतना ही महत्त्व है, जितना नाम या मन्त्रों में अक्षरों के समायोजन तथा ईश्वर या देवता का, जिसका जप किया जाता है। जप करते समय साधक का यह भाव रहता है कि वह किसी साधारण नाम का उच्चारण नहीं कर रहा है, बल्कि किसी नाम या मन्त्र के उच्चारण द्वारा वह ऐसे व्यापक तत्त्व का आह्वान कर रहा है, जो उसके अन्दर भी स्थित है। उसका प्रयास व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना के साथ एक करने का होता है। नाम या मन्त्र के अक्षरों को एक विशेष प्रकार से समायोजित करने के कारण उत्पन्न गुप्तशक्ति ही मन्त्रशक्ति है। मन्त्र में आह्वान किये जाने वाले देवता की शक्ति उसकी सर्वव्यापकता के कारण है।

जिज्ञासु- जप करने का विधान क्या है?

महात्मा- भगवान् का नाम कोई भी व्यक्ति, किसी समय में, किसी भी स्थान पर ले सकता है। वह उसका कल्याण वैसे ही करता है जैसे जाने-अनजाने किसी परिस्थिति में ली गयी ओषधि काम करती है, या जाने-अनजाने छू जाने पर अग्नि जलाती ही है। अन्तः-बाह्य शुद्धि का ध्यान रखकर, एक निश्चित समय, निश्चित स्थान पर, माला का आलम्बन लेकर मन्त्र जप करना अच्छा रहता है। इससे मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

जिज्ञासु- जप को और प्रभावशाली बनाने हेतु उपाय बतायें।

महात्मा- जब हम जप करते हैं, तो हमारी कर्मेन्द्रिय जिह्वा, 'रसना' के रूप में रस लेने लगे तथा उसका मन के साथ योग हो जाय, तो बहुत अच्छा रहेगा। सबका योग करने के लिये अपने मन को भगवान्-इष्ट देवता में निमग्न कर देना चाहिए। इस प्रकार का जप शीघ्र फलदायी होता है। ऐसा करते हुए भगवान् की कृपा से, बिना किसी आग्रह प्रतीक्षा करते रहने पर, भगवान् का दर्शन किसी रूप में अवश्य हो जाता है।

अक्षय नवमी के अवसर पर प्रति वर्ष श्यामचरण दास जी हरिद्वार में अपने गुरू श्री विष्णुदास जी की पुण्य तिथि के अवसर पर बृहत् भण्डारा करते हैं। अखण्ड परमधाम में स्वामी परमानन्द जी के सान्निध्य में ध्यान सत्र भी उसी अवसर पर होता है। मैं प्रतिवर्ष जाता था। सन् 2003 के नवम्बर में जब गया, तो श्यामचरण दास जी के साथ भी एक सप्ताह रहा। उस अवसर पर मैंने उनके गुरु, शिष्य परम्परा, उनके समय बिताने के तरीके, साधना आदि के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की। मैंने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप आज्ञा दें, तो उक्त बातों को मैं लिपिबद्ध करूँ। इसे पढ़कर-जानकर बहुत से लोगों को ऐसे हिमालयवासी उच्चकोटि के महात्माओं की कठिन तपस्या, भारत की ऋषि परम्परा के महान्

सन्तों के जीवन से प्रेरणा मिलेगी। उन्होंने अनुमति दे दी तथा मेरे आग्रह पर कुछ फोटो उपलब्ध कराये। भारत के महान् सन्त स्वामीराम की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिमालय के सन्तों के संग निवास' 'स्वामी राम का आध्यात्मिक अनुभव' के पेज 332 पर गंगोत्री के युवा सन्त शीर्षक के साथ श्यामचरण दास की युवावस्था की ध्यानमुद्रा में छपी फोटो की कापी भी मैंने प्राप्त की।



श्यामचरणदास जी : गगोत्री के युवा सन्त

सन् 2004 के गर्मी के ध्यान सत्र में मैं जब हरिद्वार गया तब उन्हें 'ब्रह्मलीन महात्मा श्री विष्णुदास जी महाराज एवं उनकी शिष्य परम्परा' नाम से लिखा हुआ हस्तलिखित वृत्तान्त दिखाया तथा इसे किताब के रूप में सन्तों-भक्तों की सेवा में समर्पित करने की आज्ञा ली। वाराणसी आकर किताब छपवायी गयी। इस पुस्तक में विष्णुदास जी की लगभग नब्बे वर्ष की उम्र में मात्र लंगोटी पहने, नंगे वदन, वर्फ में धँसते हुए, कमण्डल में भरकर गङ्गा जल लाते हुए एक फोटो छपी है। इसे देखकर भौतिकवादी जीवन बिताने वाला व्यक्ति यह सोचने



श्री विष्णुदास जी गङ्गा जल लाते हुए

को वाध्य होगा कि यह कैसे सम्भव हो सकता है? इस पुस्तक में वर्णित कुछ पंक्तियाँ उद्‌घृत की जा रही हैं।

'एक बार श्री श्यामचरणदास जी ने अपने सम्बन्ध में बात करते हुए कहा कि गुरुजी! आपके शरीर त्याग देने पर मेरी प्रबल इच्छा ऋषिकेश में रहकर भजन करने की है तथा मैं भजन करता हुआ शेष जीवन वहीं बिताऊँगा।

विष्णुदास जी ने कहा-"नहीं, तुम्हारे पचपन वर्ष की उम्र बीतने पर कुछ लोग तुम्हें एक पुराना मकान, हरिद्वार में, गङ्गा किनारे खरीद कर दे देंगे। तुम वहीं रहोगे तथा तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना माँगे हो जाया करेगी। यह बात अक्षरशः सत्य निकली।

विष्णुदास जी के शरीर-त्याग के कुछ दिन पूर्व एक दिन कड़ाके की ठण्ड में उन्होंने कहा कि गुरू जी! सर्दी बहुत है अवस्था नब्बे से अधिक हो रही है। यहाँ किसी प्रकार की सुविधा नहीं है। अतः हम लोग यहाँ से कुछ नीचे गङ्गोत्री चलें, नहीं तो शरीर छूटने पर बहुत कठिनाई होगी। यह सुनकर विष्णुदास जी मुस्कुराये तथा कहा 'तुम चिन्ता नहीं करो। हम चलते-चलते शरीर छोड़ेंगे।

1971 में देवोत्थानी एकादशी के पूर्व, नवमी को गोमुख के वर्फ की मोटी परत पर, विष्णुदास जी गङ्गा की तरफ हाथ फैलाये खड़े-खड़े शरीर छोड़े। उस अद्‌भुत दृश्य का फोटो, पर्वतारोही सरदार हरवंश सिंह के सौजन्य से तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रिका (मुम्बई से प्रकाशित टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशन) 'धर्मयुग' में छपा था।

स्वामी धर्मनिधि के सान्निध्य में जिज्ञासात्मक वार्ता

स्वामी धर्मनिधि से मेरा परिचय सन् 2008 में स्वामी कृष्णप्रेमानन्द सरस्वती के आवास पर उनके सायं भजन-कार्यक्रम में हुआ। भजन के पश्चात् उनसे विस्तार से चर्चा हुई। उन्होंने सन् 2004 में परमार्थ आश्रम, हरिद्वार के परमाध्यक्ष स्वामी चिन्मयानन्द से दीक्षा ग्रहण की थी तथा उनकी ही आज्ञा से उस समय कैन्सर से पीड़ित अपनी पत्नी की सेवा हेतु वाराणसी में निवास कर कर रहे थे। मैं उनके सेवा-भाव से प्रभावित होकर, उनसे प्रायः मिलने लगा तथा अध्यात्म के विषयों पर उनसे चर्चा करने लगा। उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद उनके द्वारा आयोजित तीन भागवत तथा राम कथाओं में पूरे समय भाग लिया।

स्वामी धर्म निधि का अधिकतर समय विहार के गाँवों के भ्रमण, साठ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों की सेवा, अपनी सत्प्रेरणा द्वारा गाँवों में धर्म के प्रति रुचि पैदा कर, धर्ममय जीवन बिताने हेतु लोगों को अपने आचरण-वाणी-उपदेश से प्रभावित करने में व्यतीत हो रहा था। ग्रामीण जनता के कल्याण को ध्यान में रखकर उन्होंने अलग-अलग गाँवों में भागवत तथा रामकथा का साप्ताहिक आयोजन कराया। इस हेतु वे स्वयं पैसे से दूर रहे, परन्तु सम्बन्धित पास के कुछ गाँवों के सम्मानित व्यक्तियों की समिति गठित कर तथा स्वयं घूमकर दान देने, उत्साहपूर्ण भागीदारी करने, कथा-श्रवण के लिये सबको आमन्त्रित करने तथा कथा का सम्पूर्ण प्रबन्ध अपने निर्देशन में कराया। ऐसी तीन बड़ी कथाओं का आयोजन किया गया।

रोहतास जिले के दनवार गाँव में जब भागवत कथा हो रही थी, तो मैं कुछ व्यक्तियों के सहयोग से प्रतिदिन प्रातः या सायं छात्र-छात्राएं, साठ वर्ष से अधिक आयु के पुरुष,

गृहस्थाश्रमी पुरुष एकत्रित होते। स्वामी धर्मनिधि एवं मुझसे प्रश्न पूछते तथा यथासम्भव हम लोग उनको उपयोगी बातें बताते। एक दिन एक मन्दिर पर विद्यार्थियों ने महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग के अङ्ग, आसन-प्राणायाम के बारे में भी जाना तथा कुछ अभ्यास किया।

जब भोजपुर जनपदान्तर्गत मोआपकला गाँव में कथा चल रही थी, तो एक दिन कथा में स्वामी धर्मनिधि तथा व्यास जी के साथ हम लोग कथा स्थल पर जा रहे थे। उसी समय स्वामी जी ने कहा कि वशिष्ठ जी! अब आप काषायवस्त्र धारण कर लीजिये। बोलिये कब मैं आपको धारण करा दूँ? मैने कहा कि आज सायं व्यास जी के सामने हम लोग इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे। सायं मैने उनसे निवेदन किया-

स्वामी जी! आप वस्त्र तो धारण करा देंगे, परन्तु मेरा मन तो तबतक कर्म करता ही रहेगा, जबतक वैराग्य-भाव दृढ़ न हो जाय। संसार की कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति जबतक मेरे मन को तनिक भी आकर्षित करने में सफल है, जबतक चित्त पूर्णरूपेण शुद्ध न हो जाय, जबतक मन की तरङ्गें उठनी बन्द न हो जायँ, बुद्धि में संसार के मिथ्यापन तथा एक मात्र परमात्मतत्त्व कृष्ण की उपस्थिति का भाव स्थायी न हो जाय, तबतक कपड़ा बदलकर मैं ढोंग ही करूँगा, बल्कि एक हानि यह होगी कि लोग मुझे आदरभाव से देखने लगेंगे, मेरा पैर छूने लगेंगे और ऐसे समय यदि कभी अन्तर्यामी कृष्ण की विस्मृति हो गयी, तो अहङ्कार खड़ा हो जायेगा। स्वामी जी! मन को नियन्त्रित करने में जिस स्तर के अभ्यास की आवश्यकता है, भटकते हुए मन को बार-बार वापस कर परमात्म-तत्त्व, कृष्ण में लगाने की तथा उसी भाव में टिके रहने की साधना है, वह भी तो पूर्ण नहीं हुई है। इसलिये मैं अपने को काषायवस्त्र धारण करने की क्षमता से रहित पाता हूँ।

एक बात और स्वामी जी! मेरा स्वभाव बाह्यरूप से कर्मों को छोड़ने का नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि शरीर के अन्त समय तक संसार की सेवा होती रहे, परन्तु मेरा सेवारूपी कर्म फलाकाङ्क्षा तथा कर्त्ता-भाव से तो रहित हो ही, कर्म के प्रति भी आसक्ति न रहे। कर्म करके, जिसकी प्रदत्त शक्ति से, जिसकी प्रेरणा से कर्म हुआ है, उसे उसी को समर्पित कर दूँ।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता 18/46)

स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

ऐसा कृष्ण ने गीता में कहा है। अतः मेरे हृदय में भाव है कि इस सृष्टि के प्रत्येक दिक्-काल में उसी की उपस्थिति का अनुभव करता हुआ, उसी का काम समझकर तथा अहङ्कार रहित होकर कर्म करता रहूँ, लेकिन मेरा कर्म सन्तोषजनक तब होगा, जब किसी कार्य के प्रारम्भ में आत्मा के स्तर पर आनन्द जग जाय। सभी कर्म, बुद्धियोगपूर्ण हों, तथा मन इतना सध जाय कि बुद्धि के साथ हमेशा ताल-मेल बनाये रखे, सुर में सुर मिलाये रखे। प्रत्येक कर्म, कर्मयोग हो। मैं आश्वस्त हूँ कि मेरे चाहने मात्र से या मेरे प्रयास से ही यह सब सम्भव होने वाला नहीं है। यह सब उसकी कृपा से ही सम्भव होगा, इसलिये प्रेमाश्रु भरकर गदगद् कण्ठ से, अन्तर्भाव से प्रार्थना करता रहता हूँ।

सन् 2014 में एक समय स्वामी धर्मनिधि मुझे अकेले जीवनयापन करते हुए देखकर, मुझपर कृपा कर मेरे आवास पर, मेरे साथ लगभग 15 दिन रहे। प्रतिदिन सत्सङ्ग होता

था। एक दिन मैने उनसे कहा कि आज हम लोगो की वार्ता अहं-वृत्ति तथा अहङ्कार के रूप में होगी। स्वामी जी! अहङ्कार का भाव कितनी सूक्ष्मता से हमारे अन्दर आ जाता है, शीघ्र पता नहीं चलता है। जहाँ अपने से कम ज्ञानवान, धनवान, बलवान और असुन्दर आदि के साथ सम्पर्क होता है, वहाँ भाव जाग जाता है कि मै तो इससे श्रेष्ठ हूँ । भगवान् की कृपा से ही यह शीघ्र अनुभूति हो पाती है कि यह तो अहङ्कार खड़ा हो गया। आज आप अहं-वृत्ति से तादात्म्य कर, मेरे अहङ्कार को घायल करें । अतः वाको-वाक्यम् प्रारम्भ करते है।

जिज्ञासु- स्वामी जी मैं अहङ्कार हूँ, क्या मेरे में कोई कमी है कि लोग मेरे नाश की बात करते हैं? क्या मेरा नाश सम्भव है?

स्वामी जी- हे अहङ्कार! संसार की सारी बुराइयों की जड़ तुम्हीं हो। तुम्हारे नाश के लिये शासकों द्वारा विधान बनाये जाते हैं। विद्वान् लोग अनेक प्रकार की शिक्षाएं देते रहते हैं, परन्तु तुम इतने चालाक-धूर्त हो कि कोई रूप बनाकर छिपे रहते हो और सारी शिक्षाएँ बेकार कर देते हो। परन्तु तुम्हारे नाश होने में देर नहीं है। तुमसे बड़ा, वास्तविक, वैश्विक अहं-वृत्ति (ब्रह्माकार-वृत्ति) तुम्हारे नाश के लिये उद्यत है। 'मैं ब्रह्म हूँ'- यह भाव ही तुम्हारा दुश्मन है।

जिज्ञासु - स्वामी जी! मेरे में और मेरे प्रतिद्वन्दी, अहं-वृत्ति में अन्तर क्या है? क्या मेरे प्रतिद्वन्दी में मेरे प्रति राग-द्वेष का भाव है? वह मुझसे मेरी तरह ही दुश्मनी का भाव रखता है? मेरा उससे सामना सम्भव है?

स्वामी जी- हे अहङ्कार! तुम यह मत सोचना कि तुम्हारा दुश्मन तुम्हारी तरह का है। तुम तो नष्ट हो जाते हो, फिर खड़े हो जाते हो; क्योंकि तुम तो हमेशा 'मैं' 'तुम' 'वह' में भेद करते हो, परन्तु तुम्हारा दुश्मन 'मैं-विचार' से स्वतन्त्र है। वह तो सभी भेदों को मिटा देता है। उसके लिये भेद नामक कोई चीज़ है ही नहीं। चूँकि उसकी उपस्थिति में तुम्हारा अस्तित्व है ही नहीं, इसलिये उसके अन्दर तुम्हारे प्रति द्वेष-भाव नहीं है। तुम्हीं उसे भ्रमवश अपना दुश्मन मानते हो। तुम उसके सामने इतराकर अपनी तड़क-भड़क दिखाने का प्रयत्न करते हो, परन्तु तुम उसे आते ही समाप्त हो जाते हो। इसीलिये तो सवकुछ उसके शासन के अन्तर्गत है। सब उसमें व्याप्त है। वह विभु है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! जब मैं अपने भाव में रहता हूँ, तो सामने वाले को कुछ नहीं समझता। क्या आपको मालूम है कि मैं कब, कैसे प्रसन्न रहता हूँ?

स्वामी जी- हे अहङ्कार! तुम तो इतने दुष्ट हो कि जबतक दूसरे को नीचा दिखाकर अपने को श्रेष्ठ साबित नहीं कर लेते, तबतक तुम सन्तुष्ट ही नहीं होते। तुम तो हमेशा सोचते रहते हो कि दूसरे लोग किस प्रकार हमारे सामने नतमस्तक हों? किस प्रकार मेरा सम्मान बढ़ जाय? कैसे मैं बड़ा दिखूँ? क्या दूसरे लोग मेरे बड़प्पन के बारे में आपस में बात करते है? क्या सभी मेरी आज्ञा मान रहे हैं? तुम यह कभी नही सोचते कि 'मेरा जीवन कितना छोटा है, फिरभी अनन्त विचार मेरे मन में आते रहते हैं और मैं अनेक बुराइयाँ करता रहता हूँ'। तुमने व्यर्थ में इस प्रकार का भ्रम पाल रखखा है कि इस प्रकार के विचार में सुख है।

जिज्ञासु– क्या मेरी मित्रता उससे हो सकती है, जिसे आप मेरे नाश का कारण बताते हैं? मेरा उससे सम्बन्ध क्या है? जैसे मैं कभी-कभी दुःखी हो जाता हूँ तथा दूसरे को दुःखी कर देता हूँ, वैसे वह भी करता है?

स्वामी जी– तुम अपने को बड़ा किस आधार पर मानते हो? संसार के मनुष्यों की इतनी बड़ी संख्या में तुम वैसे ही हो जैसे दूसरे सब हैं। जब ऐसा है तो तुम क्यों अपने को दूसरों से श्रेष्ठ बनने की इच्छा रखते हो। इस इच्छा से तुम स्वयं भी दुःखी होते हो और दूसरों को भी दुःखी करते हो। इसलिये तुम स्वयं को और दूसरों को सुखी करने के लिये एक मात्र सत्य, अहं-वृत्ति=ब्रह्माकार-वृत्ति के प्रति अपना समर्पण कर दो। वह तुम्हारा सच्चा मित्र है। तुम तो उसके ही आभास हो। उसी के कारण तुम्हारा अस्तित्व है।

जिज्ञासु– स्वामी जी! मैं अर्जुन की भाँति, आप के प्रपन्न हूँ। कृपया मेरे लिये जो उचित मार्ग हो, उसे बतायें?

स्वामी जी– हे अहङ्कार! एक बार पूर्ण समर्पण करके तो देखो। अपने भविष्य के प्रति चिन्तित मत हो। वह तुम्हें अपने स्तर का कर देगा। तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। शरणागति, प्रसन्नता से प्रारम्भ होती है और आनन्द में डुबा देती है। सुख-दुःख का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। इसी शरणागति= (पूर्ण समर्पण) के लिये तो शास्त्र कहते हैं। ऐसा होने पर तुम सीमित नहीं रह जाओगे। समुद्र की एक लहर, एक बूँद न होकर तुम समुद्र हो जाओगे। तुम्हारा एक विशेष रूप नहीं रह जायेगा, बल्कि सभी रूप तुम्हारे ही होंगे। तुम्हारे अस्तित्व में ही संसार की गति होगी। तुम ही सब कार्यों के कारण होगे। अपने मिथ्याभिमान को छोड़ो, इसलिये अपने को गला दो और अहं-वृत्ति=ब्रह्माकार-वृत्ति से एक हो जाओ।

हे अहङ्कार! स्वप्न में मत पड़े रहो, जग जाओ। अपना ध्यान रूपों-आकृतियों-आभासों से हटाकर इनको देखने वाले पर ले जाओ। 'मैं'-ब्रह्माकार वृत्ति-तो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरे साथ एकात्म्य स्थापित करो। जैसे स्वप्न में तुम एक संसार की रचना कर लेते हो, परन्तु जगते ही मिथ्या समझकर भूल जाते हो, वैसे ही जागृतावस्था के कार्य भी मुझमें मिल जाने के बाद मिथ्या हो जायेंगे। इसके लिये तुम्हें अपना मिथ्या अस्तित्व मिटाकर मेरे स्तर पर आना होगा, मेरे साथ एक होना पड़ेगा।

जिज्ञासु– क्या आप की शिक्षा पूर्णतया मान लेने पर मैं परम शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ?

स्वामी जी– हे अहङ्कार! मैंने जो बातें कही हैं, वे सब तुम्हारे हित में कही हैं। सभी शास्त्र, सन्त-महात्मा, विद्वान तुम्हें ये बातें समझाते रहते हैं, परन्तु तुम मानते नहीं। यदि मेरी राय, जिसमें तुम्हारा तथा तुम्हारे जैसे अन्य लोगों का हित है, मान लोगे, तो तुम अपनी सीमितता तोड़कर अनन्त हो जाओगे। अपने जीवन के लक्ष्य को पा जाओगे। यही तुम्हारा परम पुरुषार्थ है। इसलिये मैं तुमसे तथा तुम्हारे जैसे सभी से, सबकी भलाई सोचकर, एक मात्र सत्य 'ब्रह्माकार-वृत्ति' में रहना,' मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव में रहने- को कह रहा हूँ। इसे मान कर 'परमशान्ति=कैवल्य-मोक्ष' प्राप्त करो।

वेदान्ती तथा पूर्व भागवत-कथाकार स्वामी सुरेशानन्द का सान्निध्य

सन् 2009-10 में बिहार के भोजपुर जनपद के आरा में एक बड़ा धार्मिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। मेरे पूर्व परिचित स्वामी धर्मनिधि की कृपा से एक दिन दस-बारह सन्तों के मेरे आवास पर रहने तथा उनके स्वागत का अवसर मुझे मिला। इसमें वृन्दावन, नाडियाद (गुजरात) के सन्त तथा उत्तर प्रदेश के एटा जिले के पूर्व सांसद-लोकसभा तथा पूर्व प्रसिद्ध भागवत कथाकार, वेदान्ती, प्रखर वक्ता स्वामी सुरेशानन्द जी भी थे। स्वामी जी की विद्वत्ता, उनके समझाने का ढंग, उनके स्नेह से प्रभावित होकर, प्रातः से लेकर रात बारह बजे तक मैं ध्यान से उनकी बातों को सुनता-समझता रहा। वे भी मेरे पास चित्रकूट के महान सन्त अखण्डानन्द जी, जिनसे स्वामी जी भी प्रभावित थे, के शिष्य तथा मेरे सद्गुरु हरिद्वार के स्वामी परमानन्द जी का कुछ साहित्य देखकर प्रभावित हुए। 'उदय प्रताप कालेज, वाराणसी' की अनियमितता को जानकर उन्होंने कहा 'अन्याय के विरुद्ध आग जलाये रखिये, बुझने मत दीजिए। एक समय ऐसा आयेगा कि आग धधक उठेगी तथा न्याय मिल जायेगा।' उन्होंने मुझे आश्वासन दिया तथा कहा कि दिल्ली आइये, मैं सर्वोच्च न्यायालय के कुछ वकीलों से बात करा दूँगा।

मैं, स्वामी धर्मनिधि के साथ दिल्ली गया। गुजरात के पूर्वपरिचित सन्त भी पहुँचे। हम लोगों के रहने की व्यवस्था स्वामी जी ने अपने रोहिणी के मकान में कर रखी थी। यह मकान धार्मिक, सामाजिक सम्मेलनों हेतु खाली रहता हैं। स्वयं स्वामी जी अपने गणेशनगर में स्थित मकान में रहते है। वहीं मुझे ज्ञात हुआ कि स्वामी जी की पत्नी के हार्ट का एक वाल्व बदला जाना है। वे अस्पताल में भर्ती हैं। उनका ज्येष्ठ पुत्र जो उस समय इण्टर का छात्र था, भी बीमार है। मैंने स्वामी जी को बड़े सङ्कोच में फोन किया तथा क्षमा माँगकर कहा कि 'स्वामी जी! मैं बहुत गलत समय पर आया। कोई बात नहीं मैं लौट जाऊँगा।' स्वामी जी ने कहा-

'नहीं, वशिष्ठ जी! भगवान् की इच्छा से सभी कुछ निर्धारित समय पर होता है। अपने ही किये हुए कर्म का फल हम प्रारब्ध के रूप में भोगते हैं। अतः हमें ईश्वर के विधान का आदर कर, आई हुई किसी परिस्थिति को समभाव से स्वीकार करना चाहिये। हाँ, मैंने वकील से बात कर ली है। थोड़ी देर में मैं आपके पास आऊँगा तथा साथ लेकर सर्वोच्च न्यायालय चलूँगा। स्वामी जी दिल्ली हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील सेंगर साहब से परिचय कराकर, तथा वस्तुस्थिति से अवगत कराकर चले गये। सेंगर साहब हमें लेकर सर्वोच्च न्यायालय के उपाध्याय जी जिनका कमरा वकीलों से भरा था, से स्वामी जी की बात बताकर चले गये। उपाध्याय जी तथा उनके सहयोगियों ने लगभग एक घण्टे का समय दिया। पूरे सम्बन्धित पेपर्स देखे। कुछ सेवा करने हेतु प्रार्थना करने पर वे बोले, स्वामी जी ने आपसे पैसे की बात करने को मना किया है। वकालतनामा लेकर मैं आ गया।

कुछ दिन बाद एकबार पुनः उदय प्रताप कालेज के सम्बन्ध में, सर्वोच्च न्यायालय में नया केस करने के सम्बन्ध में, स्वामी धर्मनिधि जी के साथ गया। उस समय स्वामी जी के घर उनकी पत्नी-पुत्र से बात हुई थी। स्वामी जी ने श्रीमद्भागवत के कुछ भावों पर भी चर्चा की।

मई 2012 में भगवान् की कृपा से श्रीमदभागवत् की कथा घर पर सुनने की प्रबल इच्छा हुई। इस हेतु अयोध्या निवासी राम-भक्त, भागवत-राम कथाकार श्री नरेन्द्ररामदास जी

से अपनी इच्छा प्रकट कर पाँच जून से ग्यारह जून 2012 तक उनसे कथा कहने हेतु निवेदन किया। उन्होंने बिना किसी तरह की लम्बी वार्ता किये प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा चार जून को प्रातः तीन बजे मध्यप्रदेश में कथा समाप्त कर आ गये। उनकी स्वीकृति मिलने के बाद मैंने उस समय दनवार, बिहार में रह रहे, स्वामी धर्मनिधि जी तथा स्वामी सुरेशानन्द जी, नई दिल्ली से आग्रह किया कि इस भागवत सप्ताह में मुझे आशीर्वाद दें। मेरी प्रार्थना पर उक्त दोनों लोग निर्धारित तिथि पर आ गये। नरेन्द्ररामदास जी के कुछ शिष्य भी पूरे समय कथा में भाग लिये।

स्वामीजी से जिज्ञासात्मक वार्ता –

जिज्ञासु– नहीं चाहने पर भी किसी के दोषों के वर्णन में रस लेने लगता हूँ। सेवा में भी ज्ञानी-अज्ञानी का भेद हो जाता है, क्या करें?

महात्मा–किसी के दोष देखने या निन्दा करने में अपना समय नहीं गवाना चाहिये। सब में एक ही सत्ता-ईश्वर को देखने से ऐसा सम्भव हो सकेगा। ज्ञानी–अज्ञानी का भेद न कर सभी साधुओं की सेवा करने से नम्रता का गुण विकसित होता है और यह ईश्वर को सर्वाधिक प्रसन्न करता है।

जिज्ञासु– पिछले कर्मों का फल कैसे नष्ट हो सकता है?

महात्मा–'स्व' से भिन्न कोई वस्तु तभी तक दिखायी पड़ती है, जब तक अज्ञान के कारण द्वैतभाव रहता है। सबमें 'आत्मभाव' हो जाने पर एक अणु भी 'स्व' से भिन्न नहीं रह जाता। जाग जाने पर जिस प्रकार स्वप्न का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार 'सत्य का साक्षात्कार होते ही शरीर के मिथ्यात्व के कारण, पिछले कर्मों का फल भी नष्ट हो जाता है।

जिज्ञासु– मनुष्यत्व का महत्त्व क्यों इतना अधिक है?

महात्मा– मनुष्य से देवता बनने की अपेक्षा मनुष्यत्व प्राप्त करना अधिक कठिन है, क्योंकि शुभ कार्यों के अनुष्ठान से मनुष्य देवता हो सकता है, परन्तु आवश्यक नहीं कि उसने मनुष्यत्व भी प्राप्त कर लिया है।

जिज्ञासु– मनुष्यत्व प्राप्त व्यक्ति या मानव में कौन सी बातें आवश्यक हैं?

महात्मा– अन्तःकरण की शुद्धि, इन्द्रियों के वेग को सह लेने की सामर्थ्य, सर्वभूत में समदर्शन, अभिमान-त्याग तो आवश्यक है ही। इसके अतिरिक्त षट्-सम्पत्ति-शम,दम, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा तथा उपरेति-के गुण भी मानव में होना चाहिये।

जिज्ञासु– षट्-सम्पत्ति को विस्तार से कृपया बताएँ।

महात्मा– 'शम' कहते है, मन की शान्ति को। इसके लिये कामना रहित होना आवश्यक है; क्योंकि कामना ही मन को अशान्त करती है। विषयों से बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को 'दम' कहते हैं। शीत-उष्णादि द्वन्द्वों को सहन करना 'तितिक्षा' है। संसारिक विषयों से मन को वापस कर लेना तथा इस विचार में दृढ़ रहना कि हम तो चेतन है, संसार में जो भी घट रहा है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं– इसे 'उपरेति' कहते हैं। गुरु तथा शास्त्र-वचन में विश्वास तथा उसके सम्बन्ध में गहन चिन्तन-मनन को 'श्रद्धा' कहते हैं। श्रवण-मनन- निदिध्यासन द्वारा ईश्वर में मन को एकाग्र करना तथा उसी में डूबे रहना 'समाधान' कहलाता है।

जिज्ञासु- वेदान्त-दर्शन का मूल सिद्धान्त क्या है?

महात्मा- वेदान्त-दर्शन जिसे वादरायण ने लिपि बद्ध किया है तथा जिसे आदि शङ्कराचार्य तथा अद्वैत मत के उनके समर्थक अनुयायी मानते हैं, का मूल सिद्धान्त यह है कि जीव और संसार का अलग-अलग अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। एक तरफ ब्रह्म तथा दूसरी तरफ विश्व तथा जीव में एकत्व देखना ही 'ब्रह्मज्ञान' है। विश्व के सारतत्त्व के रूप में एकमात्र ब्रह्म की अनुभूति करना तथा उसमें निरन्तर निमग्न रहना ही जीवन का परमलक्ष्य है।

जिज्ञासु- जब एकमात्र सत्य ब्रह्म ही है, तो विश्व में इतनी विभिन्नता कैसे प्रतीत होती है?

महात्मा- वास्तव में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। दूसरी सभी चीजें नाशवान् तथा परिवर्तनशील हैं, इसलिये वे सत्य नहीं हैं। ब्रह्म, जो दिक्-काल से परे है तथा अन्य किसी चीज से अवाधित एवं अपरिवर्तनशील है, स्वयं को ज्यो-का-त्यों रखते हुए विश्व को प्रक्षेपित करता है। इस प्रक्षेपण का कार्य ब्रह्म में स्थित एक विशेष शक्ति द्वारा किया जाता है। इस शक्ति को ही 'माया' कहते हैं। विश्व का उपादान कारण होने के कारण इसे 'प्रकृति' कहते हैं। इस विशिष्ट शक्ति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ब्रह्म ही विश्व के रूप में प्रकट है।

जिज्ञासु- क्या उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विश्व जो पाँच महाभूतों-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से निर्मित होता है, भी ब्रह्म ही है तथा आत्मा जो स्वयं को प्रत्येक जीवित शरीर में 'मैं' 'मैं' के रूप में अभिव्यक्त करता है तथा जिसे 'जीव' की संज्ञा दी जाती है, भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं?

महात्मा- हाँ। विश्व तथा जीव दोनों अपनी शक्ति के कारण परिवर्तनशील प्रतीत होने वाले परन्तु अपरिवर्तन शील ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

जिज्ञासु- मेरे मन में एक शङ्का हो रही है कि अपना पूरा समय जप-साधना में लगाने पर समाज की सेवा छूट जायेगी।

महात्मा- नहीं भाई! चूँकि ईश्वर सर्वज्ञ है, सब जगह उसकी आँखें तथा कान हैं।

'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि-शिरोमुखम्'

इसलिये तुम कहीं पर भी, कुछ भी करो, वह तुम्हारे हृदय के अन्तःस्तल से की गयी प्रार्थना को सुनेगा। यह प्रार्थना केवल तुम्हारी मुक्ति हेतु ही सेवा नहीं होगी, बल्कि यह पूरी मानवता हेतु महान सेवा होगी।

जिज्ञासु- वेदान्त में उपासना के स्वरूप तथा उसकी उपयोगिता पर कृपया प्रकाश डालें।

महात्मा- उपासना में कर्ता गौण तथा इष्ट मुख्य होता है। मुख्य रूप से इसके चार प्रकार होते हैं।

1- विराट के एक अवयव में जब पूर्ण की भावना की जाती है तो इसे कार्योपासना कहते हैं। इसमें जड़ को चेतन, परिच्छिन्न को पूर्ण मानकर अपनी वृत्ति को ईश्वराकार बनाया जाता है। मूर्ति-पूजा, गुरु-पूजा इसका उदाहरण है।

2- उपासना का एक स्तर स्थूल-समष्टि या सूक्ष्म समष्टि में विराजमान चैतन्य के रूप में ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करना है। इसी से प्रेरित होकर जीव या मानव सेवा होती है।

3- देश-काल द्रव्य के बीज या सृष्टि के कारण में विद्यमान चेतन की उपासना ईश्वरोपासना का अन्य रूप है। यह सम्पूर्ण जीव जगत् में भरपूर है।

4- अद्वितीय ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता की भावना करना ब्रह्मोपासना है। उपासना के पहले प्रकार से साकार इष्ट में प्रेम तथा उसका दर्शन, दूसरे से राग-द्वेष की निवृत्ति, तीसरे से भगवद् भाव का उदय तथा चौथे से ब्रह्म ज्ञान की योग्यता होती है। संसार की सभी आसक्तियों से मुक्त होने तथा राग-द्वेष मिटाने के लिये, हमें अपने अन्तःकरण में किसी भगवद्-आकार को आरोपित कर उसी में श्रद्धा तथा आसक्ति बढ़ाते जाना चाहिये।

जिज्ञासु- पूर्ण वेदान्तनिष्ठ आदि शङ्कराचार्य जी ने अद्वैत ब्रह्म के उपासक होते हुए भी शक्ति की उपासना कैसे की? क्या विरोधाभास नहीं लगता?

महात्मा- नाम और रूप के भेद से तत्त्व का भेद नहीं होता। घड़ा और कसोरा के भेद से मिट्टी में भेद नहीं होता। एक ही मिट्टी अनेक रूपों में है। राम, कृष्ण, शङ्कर या दुर्गा के नाम रूप में भेद होने पर भी सबमें परमात्म-तत्त्व एक ही है। वासनाओं के अनुसार अलग-अलग नाम रूपों में मन लगता है। किसी एक में मन लगाने से मन की चञ्चलता दूर होती है। शङ्कराचार्य जी पूर्णतया अद्वैत-निष्ठ थे। अद्वैत में पूर्ण निष्ठा होने पर भी उन्होंने साधारण बुद्धि वालों के लिये, उनकी वासना-रुचि के अनुसार अपने इष्टदेव में मन लगाकर, उसका बार-बार चिन्तन तथा चित्त-शुद्धि कराकर उन्हें आत्म-तत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता प्रदान करने के उद्देश्य से शक्ति तथा अन्य देवताओं की उपासना बतायी तथा उनके लिये स्तोत्र लिखे। शङ्कराचार्य जी द्वारा रचित सभी स्तोत्रों में वर्णित देवता ब्रह्म ही है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में 'सब रूपों में वे विधिपूर्वक मुझे ही भजते हैं' ऐसा कहा है। शङ्कराचार्य जी ने भिन्न अधिकारी-भेद के कारण विभिन्न उपासना-स्तोत्रों की रचना की है।

जिज्ञासु- स्वामी जी! कर्त्ता-भाव से कैसे मुक्त हों।

महात्मा- व्यवहार में तो तुम्हें कर्ता रहना पड़ेगा। व्यवहार में कोई अकर्ता नहीं होता। अकर्ता बनने के लिये कर्तव्य का पालन समुचित ढङ्ग से होना चाहिए। नश्वर वस्तुओं में मशगूल न होकर स्वरूप-दृष्टि से अकर्ता भाव होता है। अकर्ता होने के लिए तुम्हें कर्मफल से, पाप-पुण्य से मुक्त होना है। चूँकि एक ही आत्मा सबमें है, इसलिये मुक्त पुरुष ऐसा नहीं मानता कि वह स्वयं अकर्ता-अभोक्ता है तथा दूसरा कर्ता-भोक्ता है।

जिज्ञासु- इसे अनुभव में कैसे लायें?

महात्मा- इस भाव को दृढ़ता से अपने हृदय में स्थायी कर लीजिये, दृढ़ता से मान लीजिये कि विभिन्नता से भरी इस सृष्टि में, नाम-रूपात्मक जगत् में तत्त्व एक ही है। सृष्टि के कण-कण में चाहे वह व्यक्त हो या अव्यक्त, वह व्याप्त है। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कहा है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' (ईश० उप० 1)

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है या अव्यक्त है, सब-का-सब परमेश्वर से व्याप्त है। उससे रहित कुछ भी नहीं है। इस बात को गीता में भी भगवान् ने कहा है-

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' (गीता 9/4)

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है। व्यष्टिस्तरपर हमारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि को भी वह व्याप्त किये है। यद्यपि वह कुछ करता नहीं, परन्तु उसकी शक्ति से ही हमारा शरीर, इन्द्रियाँ, कार्य करने में सक्षम हैं। मन की सङ्कल्प-शक्ति, बुद्धि की निर्णयात्मक-शक्ति, सभी कुछ उसके कारण ही है। वह सब भूतों में अन्तर्यामी के रूप में स्थित है तथा किसी का अस्तित्व उसके बिना सम्भव नहीं है। उसी तत्त्व को ब्रह्म-परमात्मा-ईश्वर कहते हैं।

जिज्ञासु- मुझे जीवन-यापन करने के तरीके के बारे में कृपा कर कुछ बतायें।

महात्मा- देखिये! आप की जो प्रवृत्ति है, उसके अनुसार विद्या-अविद्या के यथार्थ स्वरूप को समझकर, दोनों को साथ लेकर जीवन-यापन कीजिये। विद्या का अर्थ, ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान से तथा अविद्या का अर्थ कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान से है। ज्ञान के अनुष्ठान से हमारा तात्पर्य है- नित्य-अनित्य, आत्म-अनात्म पदार्थों में विवेक का जागृत होना; सांसारिक या स्वर्गादि के भोग्य पदार्थों में तनिक भी मन का आकर्षित न होना अर्थात् वैराग्य भाव का दृढ़ होते जाना, षट् सम्पत्ति= शम, दम, उपरेति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान- एवं मुमुक्षा तथा एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा के सम्बन्ध में चिन्तन तथा अधिकतम समय अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयास।

जिज्ञासु- स्वामी जी! कर्म तो मुझसे छूटेगा नहीं तो करें कैसे?

महात्मा- अहङ्कार तथा आसक्ति से रहित होकर, राग-द्वेष से मुक्त रहकर, लोकसङ्ग्रह के कार्य करते रहिये। ऐसे कर्मों को करते समय फलाकाङ्क्षा न रहे तथा ध्यान रहे कि हमारे इस कर्म से सृष्टिकर्ता को प्रसन्नता होगी। ऐसे निष्काम कर्म बन्धनकारी नहीं रह जाते।

जिज्ञासु- स्वामी जी! व्यावहारिक जीवन में किसी समय पर, किसी व्यक्ति द्वारा, किसी प्रतिकूल परिस्थिति में कष्ट होता है, उसे कैसे टाला जाय?

महात्मा- यदि मनुष्य काल-कर्म और स्वभाव के रहस्य को समझ ले, तो वह कष्टों से प्रभावित नहीं होगा। यदि किसी व्यक्ति द्वारा कोई कष्ट हुआ, तो दो बातें सोचें। एक तो वह अपने स्वभाव के कारण लाचार है। जैसे बिच्छू का स्वभाव डङ्क मारने का है, वैसे ही दुष्ट व्यक्ति को दुःख देने में सुखानुभूति होती है। सगे-सम्बन्धियों के कारण जो दुःख मिलता है, उसे तो इस प्रकार सोचना चाहिये कि इसके साथ कभी हमने उचित व्यवहार नहीं किया है, जिसके कारण वह भी ऐसा कर रहा है। इसमें अपने कर्मों को ही जिम्मेदार समझना चाहिये। चार प्रकार के पुत्रों में एक प्रकार के पुत्र से पिता को कष्ट मिलता है। इसका कारण यह हो सकता है कि पिता उस के कर्ज की अदायगी कर रहा है या अपने किसी सञ्चित कर्म को भोग रहा है।

जिज्ञासु- सञ्चित कर्म क्या है?

महात्मा-सञ्चित, प्रारब्ध तथा आगामी तीन तरह के कर्म होते हैं। पूर्व या वर्तमान जन्म में किये गये सभी कर्म सञ्चित कर्म के रूप में रहते हैं।

शास्त्र कहते हैं- प्रत्येक कर्म को, चाहे शुभ या अशुभ, भोगना तो पड़ता ही है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

किसी कर्म के फल को जब हम भोगते हैं, तो वह प्रारब्ध कर्म होता है। आगामी कर्म वे हैं, जो भविष्य में आने वाले हैं। वर्तमान में जैसा हम कर्म करेंगे, तदनुसार उसका फल मिलेगा। यदि हम भविष्य को अच्छा बनाना चाहते हैं, तो अपना वर्तमान ठीक करें। ऐसे ही कर्म करें, जिन्हें करके हमें पश्चात्ताप न हो, दूसरे के हित में हों, शास्त्र-बचनानुसार हों, जिन कर्मों से ईश्वर प्रसन्न हो, ऐसे कर्म करें।

जिज्ञासु- अपना कहलाने वाले के तथा सबसे करीवी माने जाने वालों का दुर्व्यवहार असहनीय हो जाता है। ऐसे में क्या किया जाय?

महात्मा- महाभारत में 'भारी से भारी क्षति के लिये भी क्षमा करने को कहा गया है। क्षमा शक्तिमान की शक्ति है। क्षमा मन की शान्ति है। क्षमा पवित्रता है। क्षमा और भद्रता आत्मसंयमी के गुण है। ये शाश्वत सद्गुणों के प्रतीक है। अपने कहलाने वालों को भी हृदय से क्षमा कर दें। यह अपने कल्याण के लिए आवश्यक है।

श्री नरेन्द्र रामदास, श्रीमद्भागवत तथा राम कथाकार, अयोध्या के सान्निध्य में समय का सदुपयोग

सन् 2012 के पाँच जून से बारह जून तक मेरे आवास पर श्रीमद्भागवत कथा करने वाले, अयोध्या के महान् भक्त, श्री रामहर्षण दास जी के शिष्य, श्री नरेन्द्र रामदास के श्रीमद्भागवत के श्लोकों को आधार बनाकर कथा करने की रोचक शैली, मधुर स्वर में भजनों के गायन, भगवान् राम के विग्रह को सदा केन्द्र में रखकर जीवनयापन करने के ढङ्ग, मधुर वाणी, चित्तशुद्धि के लिये आवश्यक बातों का पालन करने की तत्परता से, मैं बहुत प्रभावित था। स्वामी धर्मनिधि भी उक्त समय में उनकी भागवत कथा से बहुत प्रभावित थे। इसीलिये स्वामी धर्मनिधि द्वारा आयोजित तीनों कथाओं के कथा-व्यास अयोध्या के सन्त नरेन्द्र रामदास जी ही रहे। उनके साथ वाद्ययन्त्रों के कलाकार, उनके सहयोगी-सभी अयोध्या के ही। मैं भी उक्त तीनों कथाओं में पूरे समय उपस्थित रहा।

भोजपुर जिले के मोआपकला गाँव में नरेन्द्र रामदास जी की एक भागवत कथा तथा एक रामकथा का आयोजन हुआ। दोनों कथाओं में मैं पूरे समय व्यास जी के साथ ही रहा। नरेन्द्ररामदास जी तथा उनके संगीतज्ञों के साथ ही हमारा नाश्ता, भोजन आदि होता था। वे मुझसे बहुत आत्मीय भाव रखते थे। मेरी तो अगार श्रद्धा उनके प्रति है ही। उनके समय बिताने के तरीके पर ध्यान देता तथा उनके भगवान् राम के प्रति श्रद्धा-भाव देखकर गदगद हो जाता था। मौका मिलते ही उनसे जिज्ञासाओं का समाधान भी पाता था।

मोआपकला गाँव के श्री रामानुज प्रसाद सिंह ने वहाँ आयोजित कथाओं के समय गाँव के छात्र-छात्राओं को एकत्र कर तथा मुझे निमित्त बनाकर सभी प्रकार की शिक्षाप्रद बातें उनके हित में करायीं। प्रतिदिन कथा के बाद गाँव के भजन प्रेमी एकत्रित होते, जिसमें वे स्वयं तथा इस्लाम धर्मावलम्बी आजाद के नेतृत्व में भजन गाकर लोग खूब आनन्दित होते। गाँव

के लोगों के अतिथि सत्कार, सेवा-भाव, आत्मीय सम्बन्ध रखने, अपने घर बुलाकर भोजन कराने की होड़, किसी के अन्दर ऋणी होने के भाव को जागृत करने हेतु पर्याप्त थे।

सन् 2013 के अगहन मास में उनके सद्गुरु श्री रामहर्षण दास, अयोध्या के आश्रम में भगवान् राम के विवाहोत्सव में भाग लिया। रामहर्षण दास जी सीता जी को अपनी बहिन मानते थे। एकबार पुजारी ने सीता जी के वस्त्राभूषण बदलने के अवसर पर नाक में सोने की कील पहनाने में लापरवाही की। उसी दिन रात में पुजारी को बुलाकर रामहर्षण दास जी ने कहा कि आज नाक की कील मोटी थी, पहनाने में तुमसे लापरवाही हुई क्या कि किशोरी जी की नाक में खून आ गया। उन्होंने मेरे पास आकर कहा कि भैया! आज नाक में खून आ गया था, बड़ा दर्द हुआ था। पुजारी ने गलती स्वीकार की।

शिष्य अपने सद्गुरु के प्रति किस तरह का भाव रखते हैं, यह देखकर वहाँ कोई भी प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। स्टेज पर लीला प्रदर्शन, कार्यक्रम प्रारम्भ होने के पूर्व बाजा बजाते हुए स्वामी जी की फोटो सोफा पर रखकर लायी जाती थी। उन्हें ठण्डक से बचाने हेतु शीशे से बने कमरे में रक्खा जाता था। तब कार्यक्रम प्रारम्भ होता था तथा कार्यक्रम के अन्त में बाजे के साथ उनको शयनकक्ष में ले जाया जाता था। उनके शयन कक्ष में उनके बिस्तर के नीचे जमीन पर उनके एक शिष्य सोते हैं तथा रात में उनका वैसे ही ध्यान रखते हैं, जैसे वे प्रत्यक्ष उपस्थित हों। राम-विवाहोत्सव इतने धूम-धाम से मनाया जाता है, जैसे लगता है कि आप राजाजनक के धनुषयज्ञ, राजादशरथ की बारात, किशोरी जी का अपनी आठ सखियों के साथ जमीन से प्रकट होने (स्वचालित मशीन द्वारा) आदि के प्रत्यक्षदर्शी हैं। सभी कार्यक्रमों में नरेन्द्र रामदास जी की सक्रिय भूमिका रहती है। घोड़े, हाथियों, रथों पर सवार ऋषियों, राजाओं तथा बड़ी संख्या में, पैदल, अयोध्या वासी सभी तरह के बैण्ड बाजों के साथ बारात का पूरे अयोध्या में भ्रमण भी होता है।

जिज्ञासात्मक वार्ता -

महात्मा- बाबूजी आप की रुचि तो वेदान्त में थी। उसकी चर्चा भी आप से होती थी। श्रीकृष्ण के रूप ने आप को कब, कैसे आकर्षित कर लिया?

जिज्ञासु- नरेन्द्र जी, मेरा तो निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की तरफ झुकाव था। आत्मतत्त्व को समझने, अनुभव करने, 'गुणा-गुणेषु वर्तन्ते' के भाव में मग्न रहने, घटाकाश -चिदाकाश की एकता का भाव दृढ़ करने, उपनिषदों के महावाक्य 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' के भाव को आत्मसात् करने तथा उसे अनुभव में उतारने के प्रयास में सुख का अनुभव होता था, परन्तु पता नहीं कब, कैसे श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी ने मुझे अपना दीवाना बना दिया। मैं उनके बाल-रूप का रसिक हो गया और वह भी उनको अपना पुत्र मानकर। इस भाव को दृढ़ करने हेतु कृष्ण ने प्रेरणा देकर सात दिसम्बर 2014, शरत्पूर्णिमा के अवसर पर वृन्दावन बुलाया। चार से दस दिसम्बर तक प्रेम कुटीर, मोतीझील अखण्डानन्द जी के आश्रम में रहा। इस प्रवास में कृष्ण की बाल-लीलाओं, पूतना-उद्धार, शकटासुर का उद्धार, तृणावर्तलीला, कालिया-नाग के फणों पर नाचने, गोपियों की चीरहरणलीला तथा उसके परिणामस्वरूप रासलीला- का मर्म समझने का प्रयास करता रहा तथा आश्रम में स्थित 'नृत्यगोपाल' के

विग्रह के सामने बैठकर, नर्तन करते हुए बालस्वरूप की छवि को हृदय में बसाने की चेष्टा करता रहा। वास्तव में मेरा प्रयास कुछ नहीं, एक मात्र उस कृष्ण की कृपा मानता हूँ।

महात्मा– चाहे प्रवृत्ति मार्ग का कोई सगुण साकार ब्रह्म का उपासक भक्त हो, चाहे निवृत्तिमार्ग का कोई कितना ही पहुँचा ज्ञानी हो, यदि संयोगवश या पूर्व प्रारब्धया अन्य किसी कारण से भगवान् की सगुण-साकार रूप-माधुरी का तनिक भी रसास्वादन करने का सुअवसर मिल जाय, तो वह अपने को रोक नहीं सकता, आकृष्ट हो ही जायेगा तथा उसके बदले अपना सर्वस्व त्याग करने को उद्यत हो जायेगा। प्रवृत्तिमार्ग के ज्ञानी राजा जनक जब श्रीराम को प्रथम बार देखे तो वे अपने को रोक न सके। उनका ज्ञान किसी काम न आया, उन्होंने कहा-

सहज विरागरूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चन्द चकोरा।
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।।

(रामचरितमानस बाल का0215/2-3)

निवृत्तिमार्ग के परमज्ञानी ब्रह्मा के मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार भी एक समय किसी मूल्य पर, भगवत्-प्रेम प्राप्त करने हेतु लालायित हो उठे थे। श्रीकृष्ण के सखा उद्धव को अपने ज्ञान पर बहुत अहङ्कार था। इस ज्ञान को गोपियों को देने के बहाने, भगवान् ने उन्हें गोपियों के पास भेजा। गोपियों के प्रेम की स्थिति का अनुभव करके उनका सब ज्ञान ही भूल गया तथा गोपियों की श्रेष्ठतर दशा को स्वीकार कर कहने लगे।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो,
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।। (श्रीमद्भाग0 10/47/58)

इस पृथ्वी पर इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गयी हैं। और की तो बात ही क्या। शुकदेव जी जैसे परमहंस, जिनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं था तथा जो श्रीकृष्ण के परमधाम में उनके साथ रहने वाली किशोरी जी (राधा जी) के लीला शुक हैं, भी व्यास जी के शिष्यों द्वारा श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के सम्बन्ध में एक श्लोक –

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।। (भागवत10/21/5)

(श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिर पर मयूर पङ्ख है और कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प, शरीर पर सुनहरा पीताम्बर और गले में पाँच प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की बनी वैजयन्ती माला है। रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नट का-सा क्या ही सुन्दर वेष है। बाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वाल-बाल उनकी लोकपावन कीर्ति का गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ यह वृन्दावन धाम उनके चरण चिह्नों से और भी रमणीय बन गया है।)

सुनकर शिष्यों के पास दौड़कर आये तथा व्यास जी से पूरी भागवत पढ़ी।

जिज्ञासु- मैं भी रूपमाधुरी का दीवाना हो गया। मेरे विचार से शास्त्र-अध्ययन से अपरिपक्व ज्ञान मिलता है। इससे झूठा सन्तोष हो जाता है, परन्तु मिथ्याभिमान का खतरा बना रहता है। शास्त्र तो लाभकारी तब होते हैं जब अन्तरानुभूति की दृढ़ इच्छा से एक-एक श्लोक को समझकर आत्मसात किया जाय।

महात्मा- पूर्व तथा वर्तमान भाव की स्थिति में अन्तर क्या लगता है?

जिज्ञासु-मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे जीवन में पहले वह आनन्द नहीं था, जो अब है। प्रतिदिन अपना पुत्र मानकर, उन्हें गोद में लेकर, जब मैं चूमता हूँ, तेल लगाकर नहलाता हूँ, नहलाने के लिये दौड़कर जब पकड़ने का प्रयास करता हूँ, परन्तु नटखट पकड़ में नहीं आता, तब हार मानकर बुलाता हूँ, दुलराता हूँ। नहलाकर उसी से पूछकर कपड़े पहनाता हूँ। माथे पर टीका, बालों में मोरपिच्छ सजाता हूँ तथा माखन-मिश्री स्नेह से खिलाता हूँ, जब रात में गोद में लेकर बड़ी सावधानी से सोता हूँ कि करवट बदलने में लाला कहीं दब न जाय, तो आनन्द की सीमा नहीं रहती। प्रेमाश्रु ही सान्त्वना देते हैं। जीवन बड़ा ही आनन्दित है।

दि0 30 जुलाई 2015 गुरुपूर्णिमा की पूर्व संध्या पर, भक्त नरेन्द्र रामदास जी ने अवध धाम के अपने निवास पर, अपने शिष्य रमेश जी के माध्यम से मेरे सम्बन्ध में निम्न भाव लिख कर व्यक्त किये –

भगवत्-भागवत कृपा जिस व्यक्ति के ऊपर होती हैं, वह महान् है। इस छोटे से बालक ने जो डॉ0 साहब के बारे में सुना, वही देखा भी। यद्यपि मैं उनके आश्रम में व्यास के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था, परन्तु मैं अपने को बड़भागी मानता हूँ कि उन्होंने मुझे मानस-पुत्र के रूप में स्वीकार कर, प्रेम के सम्बन्ध को दृढ़ किया। इस बात के लिये मैं गौरवान्वित हूँ। डॉ0 साहब के बारे में बस यही लिखूँगा कि 'उनकी प्रेमाश्रु की गङ्गा में मेरी विवेकरूपी मछली लहर लेने लगी'। अधिक क्या-

श्रीरामचरितमानस के बारे में उन्होंने लिखा 'श्रीरामचरितमानस वह गन्ध {इत्र} है, जो महकता भी है और दिखता भी है, जबकि इत्र की खुशबू तो मिलती है पर दिखती नहीं। श्रीमद्भागवत में देव-दैत्य मिलकर सिन्धु का मन्थन किये और उससे कई रत्न प्रकट हुए, परन्तु श्रीरामचरितमानस में स्वयं भगवान् राम ने भरत रूपी समुद्र का मंथन किया तथा प्रेमामृत को प्रकट किया।

प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुबीर।।

राष्ट्र सन्त रामेश्वर जी का सान्निध्य

एक समय पवित्र नर्मदा नदी के किनारे (ग्राम थापना के पास) 'श्री तन्मय धाम' ओंकारेश्वर, म0प्र0 के संस्थापक राष्ट्रसन्त श्री रामेश्वर जी के साथ रहने, उनकी सेवा करने तथा उनसे कुछ व्यावहारिक बातें सीखने का मौका मिला। ये सन्त मेरे पूर्व परिचित स्वामी धर्मनिधि जी से परिचित थे तथा उन्होंने ही मेरे पास उन्हें भेजा था। वे सन् 2014 में भी कुछ भक्तों के साथ मेरे घर पर रुके थे।

व्यावहारिक बातें–

1– प्रातः काल टहलने के वाद 10–15 बार गहरी श्वास लेना

2– आँखों का अभ्यास उँगली के सहारे करना

3– गर्दन को धीरे-धीरे आगे-पीछे, वाएं–दाएं तथा दोनों ओर से गोल घुमाना 5–5 बार

उन्होंने शरीर के विभिन्न अङ्गों को स्वस्थ्य रखने हेतु अनेक अभ्यास बताए। एक दिन मैंने उनसे कहा कि आप आदिवासियों के बीच रहे हैं, समाज के बहुत से लोगों से आपका सम्पर्क है। आपने 'अवसाद' दूर करने के उपाय पर एक पुस्तिका भी लिखी है। अतः इसके सम्बन्ध में आज आपसे चर्चा करना चाहता हूँ। उन्होंने स्वीकृति दी तथा प्रश्न–उत्तर का प्रारम्भ हुआ।

जिज्ञासु– आज के व्यस्त जीवन में बहुत कम उम्र में रक्तचाप की बीमारी से लोग ग्रस्त हैं। एकवार इसकी दवा प्रारम्भ हो जाने पर इसे बन्द करना, सम्भव नहीं होता। इसकी प्रतिक्रिया भी होती है। मेरी पत्नी की किडनी तो इसी कारण खराब हो गयी थी। वे बहुत दिनों तक एलोपैथिक दवा लेती रहीं। आदिवासी लोग किस तरह इस रोग से छुटकारा पाते है, वे तो यह दवाएं पाते नहीं होंगे?

महात्मा– एक बार आदिवासी– वस्ती में मैंने ध्यान दिया। निकट से उनका रहन–सहन देखा। उस वस्ती में देखा गया कि किसी को यह बीमारी नहीं है। कारण जाना तो पता चला कि वे सुरती का चूरा हाथ पर मलकर इसे सूँघते हैं ताकि छींक आवे। छींक आ जाने पर इनका रक्त चाप सामान्य रहता है।

जिज्ञासु– महात्मा जी! आज के सभ्य समाज में अवसाद से बहुत लोग पीड़ित हैं। जिन्हें भौतिक सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं, वे भी इससे ग्रस्त हैं। अवसाद के कारण लोग आत्म हत्या तक कर लेते है। इसका कारण क्या है?

महात्मा– जव कोई समग्र जीवन पर विचार नहीं करता, प्रकृति द्वारा प्रदत्त प्राप्त अच्छी सुविधाओं को महत्व नहीं देता, किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के नकारात्मक पक्ष को देखता है तथा किसी एक विचार को वहुत अधिक महत्त्व देता है तो वह अवसाद से ग्रस्त हो जाता है।

जिज्ञासु– इससे कैसे वचा जाय?

महात्मा– प्रत्येक व्यक्ति को अपने से प्यार करना होगा। उसे प्राप्त परिस्थिति, सुविधाओं, प्रकृति द्वारा प्रदत्त संसाधनों को महत्त्व देना चाहिए। जो कुछ उसको मिला है, जो उसके पास है, उसको महत्त्व दे। नकारात्मक पक्ष पर विचार न आने दे।

जिज्ञासु– मन में जो विचार दृढ़ हो जाता है और जिसे अच्छा मान लेता है वह पूरा नहीं होने पर दुःखी होता है।

महात्मा– जो मन को भाए ऐसा कार्य तो पशु भी करते हैं, किन्तु जो कार्य हाथ में हो, उसे मनभावन जो वनाये, वही मनुष्य है। हर सफलता के पीछे संघर्ष, मेहनत, लगन, धैर्य एवं उत्साह का होना आवश्यक है, इसलिये अवरोधों व मुश्किलों से डरना नहीं, बल्कि धैर्यपूर्वक सामना करते हुए आगे वढ़ना चाहिए।

जिज्ञासु- अवसाद समाप्त करने हेतु क्या करें?

महात्मा- बाह्य जीवन शैली को बदलने में सारी दुनियाँ लगी हुई है। धन्य हैं वे जो साथ में उन्नत विचारों से युक्त आन्तरिक जीवन शैली बदलने में लगे हैं। मनोविकार, डिप्रेशन (अवसाद) आदि व्यर्थ के विकारों को नष्ट करने हेतु प्रतिदिन कुछ समय सुबह स्नान आदि से निवृत्त होकर पूर्व दिशा की ओर बैठ कर बार-बार ॐ की तीव्र गर्जना करते हुए शुभ संकल्प करें, अवश्य ईश्वरीय बल प्राप्त होगा। जब भी खाली समय मिले मन को अपनी स्वयं की श्वासों पर केन्द्रित करके निहारें। एकाग्रता बढ़ेगी, इससे चित्त शान्त होगा।

जिज्ञासु- प्रतिदिन के सङ्कल्प हेतु उपाय बताएँ?

महात्मा- शुभ सङ्कल्प करें, शुभ चिन्तन करें, शुभ कामना करें एवं शुभ आचरण करें। ईश्वर की उपासना में सर्वोत्तम दो फूल प्रतिदिन अर्पित करें- एक सदैव प्रसन्न रहने का स्वभाव, दूसरा प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव। जो अशान्ति बढ़ायें, कलह बढ़ायें- ऐसे वातावरण से दूर रहें। जो शान्ति बढ़ायें, प्रसन्नता जगायें एवं जीवन को दिव्य बनायें, ऐसे सत्सङ्गमय वातावरण में अवश्य जाएँ।

जिज्ञासु- शारीरिक-मानसिक रोग होने पर क्या करें?

महात्मा- यदि शारीरिक, मानसिक रोग सताए तो शरीर की सोच न करके भावना करें कि आप साक्षात् स्वास्थ्य की मूर्ति हैं। आप अमर आत्मा हैं। इस बात को महसूस करें और तुरन्त भला चङ्गा हो जायेंगे।

जिज्ञासु- निराशा से मुक्ति हेतु क्या करें?

महात्मा- निराशा को दूर करने के लिये बार-बार गहरी श्वास लें और छोड़ें। इस प्रकार से आप तुरन्त ही निराशा से मुक्त हो जायेंगे। परिस्थिति जितनी विपरीत, वातावरण जितना पीड़ाकारक होगा, उतनी परिस्थितियों से निकलने वाले बलिष्ठ होंगे। अतः समस्त बाहरी कष्ट एवं चिन्ताओं का स्वागत करें। इन परिस्थितियों में वेदान्त का आचरण करोगे तो वे आपके लिये अनुकूल और उपयोगी हो जायेंगी। आप उनके स्वामी बन जायेंगे।

जिज्ञासु- निश्चिन्त कैसे रहें?

महात्मा- विपरीत परिस्थितियों से डर कर मुँह मोड़कर कहीं अन्यन्त्र भागने का भाव कायरता है और किसी एक दुःख से घबड़ाकर दूसरी जगह जाने पर उससे बड़ा दुःख मिलेगा। इसलिये धैर्यपूर्वक परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। "जो जहाँ है वहाँ सुखी नहीं तो कहीं भी जाने पर सुखी नहीं हो सकता।"

जरा सोचो, परमात्मा ने सृष्टि की रचना सुख के लिये, आनन्द के लिये की है, न कि दुःख के लिये। हमें अपने व्यर्थ के विचारों में जकड़े रहने के कारण ही सुखमय सृष्टि, दुःखमय प्रतीत होती है।

तुलसी भरोसे राम के, जो सोये निश्चिन्त।
अनहोनी होनी नहीं, होनी हो सो होय।।

अर्थात् ईश्वर को अपने कर्त्तापन का भार सौंप कर निश्चिन्त हो जाएं, जो होना है वह होकर रहेगा और जो होता है अच्छे के लिये ही होता है।

गुरू : गुरुतत्त्व

दैनिक जीवन में प्रायः हम 'गुरु' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं। 'कुलगुरू' उसे कहते हैं, जो परम्परा से किसी परिवार का गुरु होता है। उसके नहीं रहने पर उसके वंशज सम्बन्धित परिवार के वंशजों के गुरू होते रहते हैं। 'कुलगुरु' परिवार को बहुत करीब से जानते हैं। परिवार के कर्मकाण्डों को वे ही कराते हैं, परिवार के सभी कार्यक्रमों में भागीदारी करते रहते हैं। चूँकि वे परिवार को करीब से जानते हैं। अतः परिवार में नवागन्तुक शिशु के नामकरण आदि सभी संस्कार वे ही कराते हैं। कृष्ण भगवान् ने जब नन्द-यशोदा के यहाँ शिशु के रूप में लीला की तब उनका तथा उनके बड़े भाई बलराम के नामकरण-हेतु कुलगुरू श्री गर्गाचार्य जी को बुलाया गया, जिन्होंने नामकरण संस्कार किया। उन्होंने यशोदा पुत्र का नाम देखते ही सबको अपनी ओर आकर्षित करने के गुण के कारण 'कृष्ण' तथा रोहिणी पुत्र को बल तथा शत्रु के अहङ्कार को चूर करने के कारण 'बलराम' रखा। वशिष्ठ जी ने भगवान राम तथा उनके अन्य भाईयों का, उनके भावी गुणों के आधार पर नामकरण किया, क्योंकि वे राजा दशरथ के कुलगुरू भी थे।

जिससे किसी प्रकार की शिक्षा ली जाती है, उसे भी हम गुरु पुकारते हैं। वास्तव में वह शिक्षागुरू होता है। महाभारत में वर्णित द्रोणाचार्य पाण्डवों एवं दुर्योधन आदि कौरवों के शिक्षा गुरु थे। उन्होंने उन्हें अस्त्र-शस्त्र आदि की शिक्षा दी थी। कृपाचार्य कुलगुरु थे।

महर्षि अत्रि तथा महान् सती अनुसूया की सन्तान के रूप में ब्रह्मा-विष्णु-महेश के आशीर्वाद के फलस्वरूप तथा उन तीनों के गुणों को धारण करने वाले दत्तात्रेय जी ने चौबीस लोगों से शिक्षा ग्रहण की तथा उन सबको गुरु माना। उन्होंने पृथ्वी से धैर्य तथा क्षमा की, वायु से सब जगह विचरते हुए भी किसी के गुण-दोष से प्रभावित न होने की; आकाश से आत्मा के साथ एकरूपता की, जल से स्वभावतः शुद्ध, मधुरवाणी की, अग्नि से मात्र अपने पेट में रखना-सङ्ग्रह न करने की, चन्द्रमा से यह सीख ली कि जन्म से मृत्यु तक सब अवस्थाएँ शरीर की होती हैं, आत्मा की नहीं; सूर्य की भाँति इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण तथा उपयुक्त समय पर त्याग; कबूतर से यह शिक्षा ली कि किसी के साथ अतिस्नेह अथवा आसक्ति कष्टदायक होती है, अजगर के समान प्रारब्ध से मिले पदार्थ पर संतुष्टि, समुद्र से प्रसन्नता तथा गम्भीरता; हाथी से किसी स्त्री के चक्कर में न फँसना, मधु संग्राहक से लोभ वृत्ति छोड़ना, हरिन से किसी विशेष इन्द्रिय के वशीभूत न हो जाने की; मछली से स्वादेन्द्रिय के वशीभूत न हो जाने की, पिङ्गला वेश्या से वैराग्य अर्थात् आशा ही सबसे बड़ा दुःख और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है की; कुरर पक्षी से अति प्रिय वस्तु का भी समय आने पर त्याग की; बालक से मान-अपमान का भान न रहना तथा अपनी आत्मा में ही रमते रहने की; कुमारी कन्या से अकेले ही विचरने की; बाण चलाने वाले से यह सीख ली कि आसन और श्वास को जीतकर वैराग्य एवं अभ्यास के द्वारा मन को वश में करके उसे लक्ष्य पर लगा देना चाहिए; सर्प से किसी अन्य से सहायता न लेने तथा अकेले ही विचरण करते रहने की; मकड़ी से शिक्षा मिली कि उसी के तरह परमात्मा का जगत् को उत्पन्न करना, उसमें विहार करना तथा उसको लीन कर लेना है; भृङ्गी कीट से शिक्षा मिली कि उसकी तरह यदि प्राणी किसी प्रकार अपना मन पूर्णतया किसी में लगा दे, तो उसे उसकी प्राप्ति हो जायेगी।

इसके अतिरिक्त अवधूत दत्तात्रेय जी ने अपने शरीर से महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण की। शरीर से विवेक-वैराग्य की शिक्षा मिलती है। मरना-जीना तो इसका लगा ही हुआ है। इससे आसक्त होने पर दुःख भोगने पड़ेंगे। यह आयुष्य पूरी होने पर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्ष के समान, दूसरे शरीर के बीज बोकर भावी दुःख की व्यवस्था भी कर देता है।

जीवन में सबसे अधिक महत्त्व सद्गुरु का है, जो जीव को उसके स्तर से उठाकर, उसकी कमियों को दूर कर उसे परमात्मा के करीब लाता है। ईश्वर से उसका योग करा देता है। महर्षि रमण के अनुसार स्व-स्वरूप में स्थिरता तथा अभेद दृष्टि की प्राप्ति; किसी भी स्थान पर किसी कारण से चञ्चल न होने वाला धैर्य-ऐसे लक्षण वाले महापुरूष सद्गुरु कहलाते हैं। मेरे सद्गुरु स्वामी परमानन्द (अखण्ड परमधाम, हरिद्वार) के अनुसार सद्गुरु वह है जिसके पास बैठने पर किसी कामना का जन्म न हो। घण्टों बैठ रहे परन्तु आशीर्वाद माँगने की भी इच्छा न जागे।

सद्गुरु का महत्व देखें-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

अर्थात् गुरुदेव ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर हैं। ऐसे गुरुदेव जो साक्षात् परमब्रह्म हैं, उनको नमस्कार है।

ऐसा कैसे, क्यों कहा गया

जैसे ब्रह्मा बुद्धि की देवी सरस्वती तथा अपनी पत्नी की मदद से सृष्टि रचना करते हैं; विष्णु धन-सम्पत्ति की मल्लिका लक्ष्मी की मदद से सबकी यथास्थिति बनाये रखते हैं, अर्थात् सृष्टि का पालन करते हैं तथा शङ्कर भगवान् उमा (प्रकृति) की सहायता से सर्वदा संहार करते रहते हैं। वैसे ही सद्गुरु शिष्य में नये गुणों का प्रादुर्भाव करते रहते हैं; वे गुण उसमें बने रहें- वह अपने स्थान से च्युत न हो- ऐसा प्रबन्ध करते हैं तथा उसके अन्दर काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार का नाश करते रहते हैं। अतः वे ब्रह्मा भी हैं, विष्णु भी हैं तथा महेश्वर भी हैं। इतना ही नहीं, जैसे प्रतिक्षण सृष्टि-स्थिति-विनाश में एक चेतन तत्त्व सर्वदा एकभावसे विद्यमान रहता है वैसेही चैतन्य-परमात्मा-ब्रह्म-ईश्वर से एक रूप होने के कारण सद्गुरु परब्रह्म हैं। ऐसे सद्गुरु को नमस्कार है।

कबीरदास जी ने तो गुरु का दर्जा गोविन्द से भी बड़ा कर दिया है। वे कहते है-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय।।

तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में गुरू की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है-

तुलसिदास हरि-गुरु करुना बिनु, विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोरनिधि, पार न पावै कोई।।

आदि शङ्कराचार्य ने हिन्दू धर्मावलम्बियों के लिए पाँच देवों की पूजा का विधान किया है। वे है गणेश जी, शङ्कर जी, विष्णु जी, सूर्य भगवान् तथा शक्ति की अधिष्ठात्री दुर्गा जी।

श्री गणेश जी विवेक के देवता हैं। उन्हें दूर्वा की माला प्रिय है। समाज में उपेक्षित मूषक उनकी सवारी है, अर्थात् सबसे विनम्र दूर्वा तथा मूषक, जिसे समाज उपेक्षित मानता है, उसे वे स्वीकार करते हैं।

भगवान् शङ्कर को सत्सङ्ग बहुत प्रिय है। वे कथा सुनने कैलाश से बहुत दूर अगस्त्य ऋषि के आश्रम तक सती के साथ जाते हैं। स्वयं उमा के साथ सत्सङ्ग करते हैं तथा यहाँ तक कहते हैं-

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना, सत हरि भजन जगत सब सपना।।

गणेश जी शङ्कर जी के पुत्र है। सत्सङ्ग से ही विवेक उत्पन्न होता है। विष्णु व्यापक हैं। उनसे शिक्षा मिलती है कि हमारा विचार, दर्शन, सङ्कीर्ण नहीं होना चाहिये। दूसरों के कष्ट दूर करने हेतु वे मछली, कच्छप, वराह का रूप धारण करने से भी नहीं हिचकिचाते।

सूर्य प्रकाश के देवता हैं। अन्धकार-अज्ञान उनके पास रह ही नहीं सकता। उनकी शिक्षा है कि वर्तमान में जीओ। हमेशा ज्ञान की छाया में रहो। कर्मयोगी बनो।

माँ दुर्गा में सरस्वती-लक्ष्मी-काली तीनों का समन्वित रूप है। वे अखण्ड श्रद्धा की प्रतीक हैं। विना श्रद्धा कोई व्यक्ति जी ही नहीं सकता।

"भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ" ऐसा तुलसीदास जी ने कहा है। श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। 'श्रद्धावान्लभते ज्ञानम्' ऐसा गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं।

उपर्युक्त सभी देवताओं के गुण सद्गुरु में मिल जाते हैं। सद्गुरु अहङ्कार को समर्पित करने वाले किसी शरणागत को अपना लेते हैं। सत्सङ्ग करते ही रहते हैं। उनकी दृष्टि सङ्कीर्ण नहीं, बल्कि व्यापक होती है। वे अपने जीवनशैली से वर्तमान में रहने की प्रेरणा-सीख देते हैं। उनमें ईश्वर के प्रति, सत्य के प्रति अखण्ड श्रद्धा होती है। अतः कोई व्यक्ति यदि सद्गुरु की पूजा करता है, उनके प्रति शरणागत होता है, उनके सान्निध्य में रहकर विवेकपूर्ण जीवन जीता है; व्यापक दृष्टिकोण रखता है; सत्सङ्ग में रुचि रखता है; सिद्ध पुरुषों-महात्माओं- शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखता है तो वह मात्र सद्गुरु के प्रति समर्पित होकर उपर्युक्त सभी देवताओं की पूजा का लाभ प्राप्त करता है।

साधक के मन में ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम ऐसे सद्गुरु की तलाश कैसे करें? सद्गुरु कैसा होना चाहिये? इस सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् कहता है-

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। (मु०उ० 1/2/12)

अतः उस नित्य वस्तु की ज्ञान-प्राप्ति के लिये उसको (शिष्य-साधक को) हाथ में समिधा (यज्ञ हेतु सूखी लकड़ी) लेकर श्रोत्रिय (शास्त्रज्ञ) और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये। सद्गुरु के लिए उसका शास्त्रज्ञ होना तथा ब्रह्मनिष्ठ- अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से स्थित होना-आवश्यक है। ऐसे गुरु में ही ऐसा साहस, धैर्य होता है कि अपने शिष्य के जीवन में अनेक समस्याएं आने पर भी सद्गुरु शिष्य को परमलक्ष्य तक पहुँचा देते हैं। अतः हमें नम्र भाव से, सेवाभाव से, शुद्धमन में जिज्ञासा लेकर ऐसे गुरु के पास जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है। अज्ञान से कामनाएं होती हैं तथा कामना से काम्यकर्म होते हैं। अतः कर्म-बन्धन से मुक्ति हेतु, हमें 'कर्म' ही समाप्त करना होगा, जिसके लिए ज्ञान का सहारा लेना हमारी वाध्यता है। ज्ञान के प्रकाश में अज्ञानजनित अहङ्कार भी नष्ट हो जाता है। अतः एक ही उपाय शेष बचता है। किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु की शरण मे जाना। श्रीकृष्ण कहते है-

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। (गीता 4/34)

(हे अर्जुन!) सद्गुरु के पास जाकर, उनके चरणों में अपने सिर को पटक दो अर्थात् अहङ्कार त्याग कर, शरणागत हो जाओ तथा उनकी सेवा करते हुए निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जानो। ये तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे। अगर एक बार में बात समझ में नहीं आती, तो धैर्य मत खोना। सेवा करते रहो तथा बार-बार पूछते रहो। यदि ऐसा करते रहोगे, तो एक दिन अवश्य ज्ञान हो जायेगा। सद्गुरु के महत्त्व के कारण ही सन्त तुलसीदास जी ने रामचरितमानस की रचना के प्रारम्भ में भगवान् शंङ्कराचार्य द्वारा बताये गये पाँच पूजनीय देवों की वन्दना के पश्चात् सद्गुरु की वन्दना करते हुए कहते हैं-

बन्दउँ गुरू पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।
(रामचरितमानस बाल0 सो0 5)

मैं, उन गुरु महाराज के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ जो कृपा के सिन्धु तथा मनुष्य के रूपमें स्वयं श्रीहरि ही हैं। उनके वचन महामोहरूपी घने अन्धकार को नाश करने के लिये सूर्य-किरणों के समूह हैं।

इतने से तुलसी दास को सन्तोष नहीं होता है। वे चरणकमल के रज की अनेक प्रकार से बड़ाई करते हैं, तथा कहते हैं कि गुरु के चरण-नख का ध्यान करते ही दिव्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है। उनका अपने गुरु 'नरहरि' जी के चरण-रज का आँखों में अञ्जन की भाँति प्रयोग करने का स्मरण करते ही दिव्यज्ञान प्रस्फुटित हुआ तथा वे ब्राह्मणों, सन्तों आदि की वन्दना करते हुए, खलों की भी वन्दना करते हैं तथा गुरुकृपा से पूरा संसार उन्हें सीता-राम मय दिखाई देता है तथा वे कहते है-

'सीयराम मैं सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

गुरु-कृपा का परम फल यही है कि शिष्य को सृष्टि के प्रत्येक कण में परमात्मा दिखाई देने लगे तथा वह प्रत्येक चीज को परमात्मा से भिन्न न समझकर, उसे ही समझकर, उन्हें प्रणाम करे, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'मां नमस्कुरु' कहकर अपनी बात कही है।

भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार गुरु एक नश्वर व्यक्ति नहीं हैं, वल्कि गुरु एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसके माध्यम से परम सत्य प्रकट होता है। वास्तव में गुरु तो स्वयं नारायण श्रीहरि हैं, परन्तु उनका परमसत्य भौतिक गुरु के माध्यम से प्रकट होता है। शरीरधारी गुरु केवल माध्यम हैं, जिनके द्वारा नारायण का ज्ञान शिष्य को मिलता है। इसलिये 'अपरोक्षानुभूति' के मङ्गलाचरण में शङ्कराचार्य जी अपने गुरु गोविन्दाचार्य को प्रणाम करते समय कहते हैं।

श्री हरिं परमानन्दम् उपदेष्टारमीश्वरम्।
व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहम्।। (अपरोक्षानुभूति 1)

मैं, श्रीहरि को दण्डवत् प्रणाम करता हूँ जो संसार के गुरु है, ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, सर्वव्यापी हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कारण तथा आनन्द के स्वरूप परमसत्य हैं।

श्रीहरि ऐसे हैं जो हमारे सभी भ्रमों का निवारण कर देते हैं। उनमें हमारे शरीर, मन तथा बुद्धि में उत्पन्न पदार्थ-भावनाएं तथा विचार सभी समाप्त हो जाते हैं। कोई मानसिक उत्तेजना नहीं रह जाती। परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वे परमानन्द कहलाते हैं। गुरु एक व्यक्ति नहीं। गुरु तत्त्व है।

संसार में जितने भी गुरुओं ने किसी शिष्य-व्यक्ति को उसके स्तर से उठाया है, उसे परमात्मा के करीब लाया है, उसके दुर्गुणों को नष्ट किया है, सद्गुणों का विकास किया है, परमतत्त्व को समझने में हमारी बुद्धि को समर्थ बनाया है तथा स्वयं जो सदगुरु के गुणों को धारण करने वाले है, वे सभी सदगुरु हैं।

सदगुरु के साथ सत्सङ्ग का लाभ शिष्य भाव में रहकर हमें लेना चाहिए, क्योंकि-

सत्संगत्वे निःसंगत्वं निःसंगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः।।

सत्संग से वैराग्य की प्राप्ति होती है। निर्लिप्त व्यक्ति में माया और मोह का अभाव हो जाता है। तब मन शान्त हो जाता है और हम अविचल ब्रह्म-तत्त्व की प्राप्ति कर लेते हैं। अतः सत्सङ्ग के लाभों को जानते हुए हम मोक्षप्राप्ति की ओर अग्रसर हों। ऐसे सद्गुरु को हम प्रणाम करें तथा कृतार्थ हो जायें -

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकंनित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।

हम, ऐसे महान् सद्गुरु को नमस्कार करते हैं, जिनका स्वभाव ब्रह्म के आनन्द वाला है, जो सुखस्वरूप हैं, जो स्वतन्त्र हैं तथा ज्ञान के मूर्ति हैं, जो द्वन्दों से रहित तथा आकाश की तरह व्यापक है, जिनका ध्येय वेद के महावाक्य 'तत् त्वम् असि' द्वारा व्यक्त सत्य को अनुभव करने का है, जो शाश्वत, शुद्ध तथा स्थिर हैं, जो सभी विचारों के साक्षी हैं तथा जो भावातीत एवं गुणातीत हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त गुणों को धारण करने वाले, संसार के सभी व्यक्ति सद्गुरु की श्रेणी में आते हैं, और हम सबको सद्गुरु समझकर प्रणाम करते हैं। अतः गुरु एक व्यक्ति नही, बल्कि गुरु तत्त्व है। एक गुरु से दीक्षा लेना, उनकी शरण में रहना, उन्हें सद्गुरु मानकर उनका आदर करना, उनकी बात मानना हमारे लिए आवश्यक है। ऐसा करते हुए तथा गुरु के निर्देश तथा अनुशासन में रहते हुए ही हम आत्मोन्नति प्राप्त कर सकते हैं। सद्गुरु की सेवा करते हुए, ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा तदनुसार साधना करते हुए हम अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

वर्णाश्रमियों के गुरु के सम्बन्ध में श्रीकश्ष्ण ने अपने मित्र सुदामा से कहा है –

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः।। (भागवत10/80/32)

इस ससांर में शरीर का कारण– जन्मदाता पिता प्रथम गुरु है। उपनयन–सरंकार करके सत्कर्मों की शिक्षा देने वाला दूसरा गुरु है। वह मेरे ही समान पूज्य है। तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमात्मा को प्राप्त कराने वाला गुरु तो मेरा स्वरुप ही है।

गीता के सम्बन्ध में विचार

स्वामी विवेकानन्द –

गीता उपनिषदों के उपवन से चुने हुए आध्यात्मिक सत्यों के सुन्दर पुष्पों का एक गुच्छा है।

डॉ. एनी बेसेण्ट –

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से ज्ञान निःस्सृत हुआ है और उसने उनके शिष्य तथा मित्र अर्जुन का मानसिक उद्वेग शान्त किया है, अतः उसने बहुत से व्यथित हृदयों को शान्ति और सान्त्वना प्रदान की और बहुत से थके माँदे जीवों को परमात्मा की ओर अग्रसर किया। गीता का मुख्य विषय सन्तुलन और मनुष्य के सभी घटकों के बीच समन्वय स्थापित करना है। अन्त में उसे परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होता है।

जीवन जीने के सम्बन्ध में गीता की शिक्षा है– आसक्ति रखे बिना अपने कर्त्तव्य कर्म को करते रहो और इस बात का ध्यान रखो कि ईश्वर नियामक और स्वामी होकर सब करा रहा है। यह जगत् को विकसित कर पूर्णता की ओर लिये जा रहा है, जहाँ परमानन्द और शान्ति का साम्राज्य है। भक्तिपूर्वक उसके साथ तादात्म्य रखो और अपना कर्त्तव्य कर्म करते रहो। विगतज्वर और निष्काम होकर तथा क्रोध और घृणा में न पड़कर संघर्ष करते रहो। इस प्रकार कर्म का बन्धन न होगा, योग सिद्ध होगा और हम मुक्त हो जायेंगे। साधक–भक्त–जिज्ञासु का हृदय पूजा की वेदी है और प्रभु का प्रेम ही उस पर जलती दीपशिखा है। उसके शारीरिक और मानसिक सभी कर्म उस वेदी पर चढ़ाये गये पूजा के पुष्प हैं। एकबार समर्पित की गयी वस्तु से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

लोकमान्य तिलक –

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्म ग्रन्थों का अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्ड–ब्रह्माण्ड–ज्ञान सहित आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्वों के आधार पर मनुष्य मात्र के पुरुषार्थ के– अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल करा के इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से त्रस्त मनुष्य को शान्ति देकर–उसे निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगाने वाला, गीता के समान बाल बोध ग्रन्थ, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता।

गीता की शिक्षा उन लोगों के लिए नहीं है जो स्वार्थपूर्ण सांसारिक जीवन बिताने के बाद अवकाश के समय पुस्तकें पढ़ने लगते हैं और न यह सांसारिक लोगों के लिए कोई प्रारम्भिक शिक्षा है। इसमें यह दार्शनिक शिक्षा दी गयी है कि हमें मुक्ति की ओर दृष्टि रखते हुए

सांसारिक कर्त्तव्य कैसे करने चाहिये। इसमें मनुष्य का संसार में वास्तविक कर्त्तव्य भी बताया गया है, इसलिये मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि हर व्यक्ति बिना किसी अपवाद के अपने जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में गीता में दी हुई गृहस्थ धर्म की शिक्षा भली-भाँति सीख ले।

एल्डुअस हक्सले –

गीता सनातन दर्शन का स्पष्टतम और सर्वग्राही सार-संग्रह है। यह भारतीयों के लिये ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के लिये स्थायी मूल्य का ग्रन्थ है। यह सम्भवतः सनानत दर्शन का सबसे अधिक सुव्यवस्थित अध्यात्म चिन्तन है।

महात्मा गाँधी –

मुझे गीता में वह शान्ति व सन्तोष मिला है जो पर्वत पर दिये गये उपदेश में भी उपलब्ध नहीं है। जब कभी मुझे निराशा घेरती है और कहीं से भी कोई प्रकाश की किरण नहीं मिलती तो मैं अविलम्ब भगवद्गीता के पास जाता हूँ। जहाँ-तहाँ कुछ श्लोकों को टटोलते ही घोर निराशा के अन्धकार में भी प्रसन्नता की एक किरण चमक उठती है। मेरा जीवन तो बाह्य कठिनाइयों और दुःखों से भरा पड़ा है। यदि मेरे ऊपर उनका कोई अमिट प्रभाव नहीं पड़ सका है, तो उसका श्रेय मुझे प्राप्त भगवद्गीता की शिक्षा को ही जाता है।

अरविन्द घोष –

गीता एक अद्वितीय ग्रन्थ है। वह अब भी नया जैसा है और उसका प्रतिपाद्य विषय बिल्कुल नवीनता लिये हुए है। महाभारत के बीच लिखते समय वह जितना ताजा था, वैसा ही आज भी अनुभव में आता है। आज भी उसे उन सिद्धान्तों का सङ्ग्रह माना जाता है जिनसे धार्मिक विचारधारा नियन्त्रित होती है। सभी मत-मतान्तरों के लोग भले ही उसे स्वीकार न करें, किन्तु उसकी शिक्षा को सर्वत्र, सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसका केवल दार्शनिक और शैक्षिक मूल्य नहीं है, व्यावहारिक जीवन में उसकी बड़ी उपयोगिता है। उसका प्रभाव विचार और कर्म दोनों पर है।

मदनमोहन मालवीय –

मेरा विश्वास है कि संसार की सभी जीवित भाषाओं में, ज्ञान से परिपूर्ण इतनी छोटी पुस्तक कोई नहीं है, जितनी भगवद्गीता है। इसमें मनुष्य को सर्वोच्च ज्ञान, पवित्रतम प्रेम और सर्वोत्कृष्ट कर्म की शिक्षा मिलती है। गीता आत्म-संयम, त्रिविध ताप, अहिंसा, सत्य, करुणा, कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य का पालन करना और अधर्मी के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा देती है। मेरी दृष्टि से विश्व साहित्य में भगवद्गीता जैसी महान् रचना कोई नहीं है। वह हिन्दुओं का ही नहीं, वरन् मनुष्य मात्र के धर्म का भण्डार है।

धर्म

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ धारण करना, बनाये रखना या पुष्ट करना होता है। इसका प्रयोग एकीकरण करने या योग करने के अर्थ में भी होता है। 'धारयते इति धर्मः'– जो धारण करे वह धर्म है। उसे भी धर्म कहते हैं, जिसे रक्षा, अभ्युदय, कल्याण आदि के लिए धारण किया जाता है–'धार्यते यः सः धर्मः'।

जिसके बिना किसी का अस्तित्व ही न रहे, उसे उसका धर्म कहते हैं। जैसे- अग्नि के धर्म, प्रकाश तथा गर्मी हैं। शीतलता जल का धर्म है-'उष्ण स्पर्शवत् तेजः, शीत स्पर्शवत्य आपः'। इस धर्म को कारणात्मक धर्म कहते हैं। इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन करने की सम्भावना नहीं होती है। यह धर्म ईश्वरेच्छा, प्रकृति से आया है। उदाहरण के लिये हमारे शरीर में चेतना ने शक्ति को, शक्ति ने हड्डी को, हड्डी ने मांस को, मांस ने रक्त को तथा रक्त ने चर्म को धारण कर रखा है। यह आधाररूप धर्म है। हमारे जीवन में कर्म और ज्ञान का जो समन्वय है- जैसे आँख से देखते हुए पैर से चलना, उसे स्थापित करने वाला धर्म संयोगरूप अनादि धर्म है। इसे हम छोड़ नहीं सकते।

धर्म का दूसरा प्रकार कार्यात्मक होता है। इसे हम छोड़ने में-करने न करने में-समर्थ हैं। यह धर्म हमारे चित्त को शुद्ध करता है, वाह्यचरित्र को शुद्ध करता है। यह हमारे अहङ्कार तथा ममता को नियन्त्रित करता है। इसका पालन करने से जीवन अनुशासन में रहता है।

'धर्मोरक्षति रक्षितः' (वा०रा०)

हम धर्म का पालन जितनी मात्रा में, जितनी श्रद्धा से, जितने विधि-विधान से करने में समर्थ होते हैं, उतनी मात्रा में धर्म का संरक्षण हमारे ऊपर बना रहता है। हमारे अन्तःकरण को निर्मल करने हेतु धर्म की आवश्यकता वैसे ही है, जैसे शरीर की गन्दगी को साफ करने हेतु जल की आवश्यकता होती है।

धर्म का लक्ष्य वहिर्मुखी इन्द्रियों तथा मन को अन्तर्मुखी करके, अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति करना है। धर्म भगवत्-प्राप्ति का साधन है। इसमें चार बातों की प्रधानता होती है। चरित्र की प्रधानता, संयम की प्रधानता, अन्तःकरण शुद्धि की प्रधानता तथा ईश्वर के साक्षात्कार हेतु जिज्ञासा के द्वारा उससे सम्बन्ध स्थापित करना। 'मनुस्मृति' के अनुसार धर्म वह है जिससे अभ्युदय-प्रेयस हो, यहाँ तथा बाद में भला हो अर्थात् धर्म-अर्थ-काम की प्राप्ति हो तथा निःश्रेयस-जन्म, मरण से मुक्ति, जो हमारे जीवन का लक्ष्य है और हमारा परमधर्म भी है, की प्राप्ति हो। चार प्रकार के धर्म होते हैं-

सामान्य धर्म- ये जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखते है। इनसे सबका, सब प्रकार का भला होता है। ये हैं-

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम् इन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।। (मनु०स्मृ०)

धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी न करना, अन्तः-वाह्य पवित्रता, मन तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध-धर्म के ये दस लक्षण हैं।

असामान्य धर्म- जिनका पालन मनुष्य अपने विशेष गुण, शक्ति के कारण करता है, असामान्य धर्म कहलाते हैं।

विशेष धर्म- वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास के अनुसार तथा जो अपने निर्धारित दायित्व के कारण किया जाय, विशेष धर्म कहलाता है।

आपातधर्म- जीवन में विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर किये जाने वाले कर्म जो धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित होते हैं। चूँकि मनुष्य में उसके वास्तविक धर्म को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक

कार्यों द्वारा व्यक्त करने की क्षमता ईश्वर-प्रदत्त है, इसलिये उसके द्वारा समाज, राष्ट्र, विश्व या उसके सम्बन्धियों के प्रति किये गये कार्य, प्रकृति के प्रति किये गये कार्य तथा दान एवं परोपकार-भाव से किये गये सभी कार्यों को भी शास्त्रों में धर्म कहा गया है।

धर्म के अन्तर्गत दर्शन (Philosophy) तथा सम्प्रदाय (Religion) दोनों आते है। 'जीव-जगत-ईश्वर' के सम्बन्ध में ज्ञान 'दर्शन' है। इसमें कर्म-सिद्धान्त, सृष्टि-रचना तथा वैश्विक-मूल्य भी सम्मिलित हैं।

सम्प्रदाय में नैतिक मूल्यों, कर्त्तव्यों, करणीय-अकरणीय व्यवहार, आध्यात्मिक साधनाओं, यज्ञादि कर्मों को बताया जाता है तथा सम्प्रदाय के संस्थापना के विचारों को प्रमुखता देकर जीवन जीने हेतु निर्देशित किया जाता है। समय-स्थान तथा परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय में किसी विशेष बात की प्रमुखता होती है। जैसे-बौद्ध धर्म में करुणा, जैनधर्म में अहिंसा, इस्लाम में भाईचारा तथा ईसाई धर्म में प्रार्थना पर अधिक बल दिया गया है। इस सम्बन्ध में विवेकानन्द जी के विचार ध्यान देने योग्य हैं-

"It is good to be born in a Sampradaya but not to die in one. One must finally uplift oneself to wards that Truth beyond Sampradaya which is called Parama Dharama."

किसी सम्प्रदाय में पैदा होना अच्छा है, परन्तु उसी में मर जाना अच्छा नहीं है। उसे अन्तिम रूप से सम्प्रदाय के परे सत्य के उस स्तर तक अपने को ले जाना चाहिए, जिसे परम धर्म कहते हैं।

गीता के अनुसार धर्म -

इसके अनुसार धर्म मानवता के एक वर्ग से सम्बन्धित सीमित सिद्धान्त नहीं है, बल्कि वह तो सम्पूर्ण मानवता के लिए ईश्वर की ओर से एक सन्देश है। एक सिद्धान्त, एक प्रतीक, एक व्यक्ति-सम्प्रदाय के संस्थापक-से अपने को आवद्ध कर लेने वाले भी ईश्वर का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकते हैं, यदि उनकी भक्ति एकनिष्ठ न हो तथा वे दूसरे को समायोजित करने की उदारता के भाव से पूर्ण हों। धर्म के नाम पर दूसरे की आदर्श मान्यताओं के प्रति दुराग्रह या घृणा का भाव रखना उचित नहीं है। गीता के अनुसार यह सही मार्ग नहीं है; क्योंकि स्वार्थ का भाव धार्मिक पूजा के मूल उद्देश्य को ही बेकार कर देगा। इससे स्वधर्म-पालन में कमी आयेगी। गीता का धर्म वैश्विक धर्म है जो किसी भी सिद्धान्त को मानने वाले की अभिलाषाओं को पूरा करने का आश्वासन देता है। इसके अनुसार जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु, संसार के आवागमन से छुटकारा हेतु, ईश्वर-साक्षात्कार की अनुभूति हेतु मँहगे सामानों की आवश्यकता नहीं है। बहुत कर्मकाण्ड आवश्यक नहीं है; क्योंकि ईश्वर मन के भावों को महत्त्व देता है, सामानों को नहीं।

'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप'।

श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं- 'पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' अपने नियत या सहज कर्मों को ही पूजा का माध्यम बनाकर अर्थात् कर्मों से ही पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है -

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" (गीता 18/46)

गीता में बताये गये उक्त धर्म संसार के सभी के लिए हैं, पापी से पापी व्यक्ति भी इस रास्ते से चल सकता है तथा परम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

एकत्व की दृष्टि से गीता तथा वेदान्त का विचार एक है। यह विचार प्रत्येक को अपनी आत्मा में तथा अपनी आत्मा को सबमें देखने के सम्बन्ध में है, तथा यह सबके साथ एकता स्थापित करता है। धर्म, सामाजिक तथा नैतिक नियमों, जो मानव-समाज को एक सूत्र में बाँधने का कार्य करते हैं, से प्रारम्भ कर सभी को उच्चतर स्तर तक उठने का कार्य करता है।

गीता में मानवधर्म –

हमारे अन्दर स्थित वह शक्ति जो हमें बुरे कर्मों को करने से रोकती है, धर्म कहलाती है। यही शक्ति मनुष्य को मनुष्यत्व में स्थापित करती है, हमें पशुस्तर में जाने से रोकती है। इस शक्ति को जागृत रखना ही मानवधर्म है।

जबतक हमारा पाञ्चभौतिक शरीर है–सुख-दुःख, जय-पराजय, सर्दी-गर्मी आदि रहेंगे, इन्हें हम नहीं रोक सकते। परन्तु किसी भी परिस्थिति में हमें शोक को अपने अन्दर नहीं आने देना चाहिये। हमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

आत्म-निरीक्षण करते रहना मानवधर्म है। इस हेतु किसी श्रेष्ठ, अनुभवी पुरुष से मार्गदर्शन लेते रहना चाहिये। अर्जुन का विषाद-शोक इसलिये दूर हो पाया; क्योंकि उन्होंने आत्म-निरीक्षण किया तथा श्रीकृष्ण से कहा कि मैं कृपणता के दोष से पीडित हूँ, मेरे लिये जो श्रेष्ठमार्ग हो, उसे बताइये। निर्देश प्राप्त करने के लिये उन्होंने यह भी कहा, मैं आपका शिष्य हूँ, मेरा शासन कीजिये।

यह हमारा धर्म है कि हम दृढ़तापूर्वक मानें तथा इस बात में हमारी पूर्ण श्रद्धा हो कि हम वर्तमान शरीर के पूर्व भी थे तथा बाद में भी रहेंगे। हमारा शरीर का बदलना– इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना वैसे ही है जैसे हम पुराने वस्त्र को छोड़कर नया वस्त्र धारण करते हैं। यह प्रकृति की एक प्रक्रिया है, इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है।

मन में कोई विकार– काम, क्रोध, लोभ आदि के आ जाने पर उसके वशीभूत न हो जाना तथा उस विकार के वेग को रोक लेना हमारा धर्म है। भगवान् ने ऐसे मनुष्य को युक्त तथा सुखी कहा है, जो काम-क्रोध के आवेग को रोक सकने में समर्थ हैं। हमारा यह धर्म है कि किसी प्रतिकूल परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर हम अपने मन की शान्ति में व्यवधान न आने दें। हम उसे सहन कर लें।

चूँकि हम सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा के अंश है, अतः हम किसी परिस्थिति में रहना चाहते हैं, ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तथा आनन्द चाहते हैं। अतः हमारा धर्म है कि सभी लोगों को रहने के लिये भोजन, वस्त्र, मकान मिले। सबको योग्य शिक्षा-ज्ञान की सुविधा मिले तथा सभी को सुख मिले-इस हेतु हम प्रयास करें।

अपने संस्कारों के अनुसार प्राप्त स्वधर्म का पालन दृढ़ता तथा उत्साहपूर्वक करना हमारा धर्म है। अपने कर्म को ही पूजा का साधन मानकर पूरी निष्ठा से करते हुए हम सिद्धि अर्थात्

अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करते हैं, जो भगवत्प्राप्ति का साधन है। अपने कर्मों को करते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम ऐसा काम न करें जो चित्त शुद्धि में बाधक हो।

'ब्रह्मतत्त्व' ही एकमात्र परम सत्य है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य की सत्ता नहीं है। पूरी प्रकृति, सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र का कारण आनन्दमय ईश्वर है। ईश्वर से ही सब कुछ पैदा होता है और उसी की सत्ता में रहता है तथा अन्त में उसी में सब विलीन हो जाता है। इस ज्ञान में जीना ही परम धर्म है।

मन

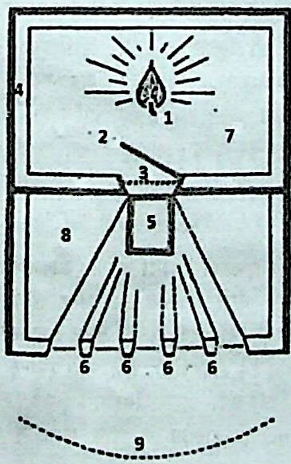
मन ईश्वर द्वारा प्रदत्त समस्त अनुदानों में सर्वश्रेष्ठ अनुदान है। मन द्वारा ही हम सृष्टि को, स्वयं को तथा ईश्वर को समझ सकते हैं। अच्छे बुरे की पहचान मन से ही होती है। मन द्वारा सृष्टि के रहस्य को समझकर, हम विवेक जागृत कर आनन्दपूर्वक जीवन बिता सकते हैं तथा मन द्वारा ही अपनी गलत सोच से हम शरीर से रुग्ण, मन से दुःखी, अवसाद पूर्ण जीवन बिताते हुए स्वयं को नष्ट कर सकते हैं। परमात्मा को प्राप्त करने का भी एकमात्र साधन मन ही है। मन का गुण है कि जिसके बारे में मन सोचता है उसका आकार ग्रहण कर लेता है। विचार ही मन का स्वरुप है। विचार शून्य होने पर मन जैसी कोई चीज का अस्तित्व ही नहीं है। सुषुप्ति में विचार नहीं रहते, तो जगत् भी नहीं रहता। जागृत और स्वप्न में विचार रहते हैं तो जगत् भी रहता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर से तन्तुओं को निकालकर जाला बुनती है, उस पर टिकी रहती है तथा स्वयं उसे अपने अन्दर खींच लेती है, उसी प्रकार मन भी संसार प्रकट करता है तथा मन के लीन होने पर संसार का भी अस्तित्व नहीं रहता। आत्म साक्षात्कार की दशा में मन ही आत्माकार हो जाता है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मन ही मनुष्य के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। भगवान् ने हमें स्वतन्त्रता दी है कि मन को सेवा- सत्कर्मों में लगाकर, शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए सत्सङ्ग का सहारा लेकर, जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लें या नकारात्मक सोच तथा तदनुसार कर्म करके स्वयं को नष्ट करें तथा समाज को भी हानि पहुँचायें।

मन आत्मस्वरूप में रहने वाली अद्भुत शक्ति है। सङ्कल्प-विकल्प करना उसका स्वभाव है। इसे नियन्त्रित करना वायु को नियन्त्रित करने के समान कठिन है। इस बात को भगवान् ने भी स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने इसे नियन्त्रित करने का उपाय अभ्यास तथा वैराग्य को बताया है। मन का यह स्वभाव है कि अपनी पसन्द की चीज़ पर अधिक टिकता है। यदि हम अपनी प्रियता भगवान् के साथ उतनी बढ़ाते जायें कि वे ही हमारे सबसे प्रिय रह जायें तो मन उन पर टिक जायेगा। प्रारम्भ में उसके बार-बार भटकने पर, उसे खींचकर पुनः अपने ध्येय पर लाकर टिकायें। यही अभ्यास है। स्त्री-पुत्रादि, वस्तुओं, परिस्थितियों में जितना ही हम राग कम करते जायेंगे, उतना ही मन को परम लक्ष्य पर टिकने में आसानी होती जायेगी। संसार के दुःखों से छूटने का एकमात्र तरीका मन को उसके मूल आत्मस्वरूप से एकता स्थापित करना है। मन ज्योंही आत्मस्वरूप से बाहर आयेगा, जगत् प्रतीत होगा तथा हम दुःखों में फँस जायेंगे। जब जगत् दिखाई देगा तो आत्मस्वरूप का बोध नहीं होगा। जबतक मन आत्मा में लीन रहेगा, जगत् का अस्तित्व नहीं रहेगा।

अनुभवान्तर्गत तीन दशाएँ – तीन शरीर इत्यादि, जो कल्पना मात्र हैं, स्वयं प्रकाशक आत्मा के प्रकाश में किस प्रकार प्रकट होती हैं तथा मन की स्थिति को निम्न चित्र द्वारा महर्षि रमण ने स्पष्ट किया है।



यहाँ 1– दीपक–आत्मतत्व, 2– दरवाजा–सुषुप्ति, 3– दरवाजा पद– महत् तत्व, 4– आन्तरिक दीवार– कारण शरीर, 5– शीशा–अहङ्कार, 6– खिड़कियाँ–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, 7– आन्तरिक कक्ष– सुषुप्ति जिसमें कारण शरीर अव्यक्त है, 8– मध्यकक्ष– स्वप्न जिसमें सूक्ष्म शरीर व्यक्त है, 9– बाह्य प्रांगण– जागृतावस्था जिसमें स्थूल शरीर व्यक्त है।

महर्षि ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है। 1–आत्मा जो दीपक के रूप में है, 7–आन्तरिक कक्ष– कारण शरीर में स्वयं प्रकाशित है, 4– जो अविद्या की आन्तरिक दीवार से सम्पन्न है, 2– दरवाजे के रूप में नींद है, 5– जब समय तथा कर्म से प्रतिबन्धित जीव सम्बन्धी आधारभूत कारण द्वारा नींद का दरवाजा खुलता है, अहङ्कार रूपी शीशे में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, 8– वह दरवाजे के बाद वाले पद पर– महत् तत्व पर रखा जाता है, इससे अहङ्कार का शीशा स्वप्न की दशा को प्रकाशित करता है और 6– पाँच ज्ञानेन्द्रियों रूपी खिड़की द्वारा 9–जागृतावस्था में जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण स्पष्ट करता हैं कि किस प्रकार आत्मा स्थिर है, अहम् तथा आत्मतत्त्व में किस प्रकार का अन्तर है और किस प्रकार तीन दशाएं प्रकट होती हैं।

व्यवहार में हमें मन को इन्द्रियों का नियन्त्रक बनाना है। स्वेच्छाचारी इन्द्रियों पर यदि मन का नियन्त्रण नहीं रह पायेगा तो रथ में अनियन्त्रित घोड़ों की भाँति इन्द्रियाँ हमें बर्बाद कर देंगी। संयमयुक्त मन से ही ध्यान सम्भव है। ऐसा ही मन हमें आत्मज्ञान करा सकता है। चूँकि ईश्वर सम तथा निर्दोष है, अतः समत्व दृष्टि रखने वाले मन से ही संसार पर विजय

प्राप्त की जा सकती है। यदि हम इन्द्रियों पर निग्रह करने में सफल हो गये, परन्तु मन में भोगे हुए सुखों का चिन्तन चलता रहा, उसकी स्पृहा बनी रही तो भगवान् के अनुसार हम मिथ्याचारी, ढोंगी होंगे। विषयों से भूत में प्राप्त रस से पूर्ण निवृत्ति हो जाना, इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण की असली पहचान है। यह तभी सम्भव है जब हम परम पुरुष के साथ एक हो जायँ; अपने मन तथा इच्छा को पूरी तरह उसे समर्पित कर दें, जो हमारे अन्दर स्थित है। मन तथा बुद्धि तो केवल करण हैं। इनके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। हमारा लक्ष्य तो इनकी सहायता से ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करना है और उसके शरणागत हो जाना है।

भगवान् ने कहा है- 'मुझे अपना मन दे दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा पूजन करने वाला हो जाओ, मुझे प्रणाम करो, मेरे उद्‌देश्य से काम करो, इस प्रकार मुझे ही परम लक्ष्य मानकर मुझसे युक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे।' तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही स्थित करो। इसके पश्चात् तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

(गीता 9/34)

मन का निग्रह तथा उसे अपने जीवन के परम लक्ष्य भगवान् को समर्पित करने में निम्न उपाय सहायक होंगे। हम प्रतिक्षण सतर्क रहें कि नकारात्मक विचार हमारे अन्दर न टिक पायें। जब भी मन अन्यत्र जाय तो उसे प्रेमपूर्वक समझाकर, वापस लाकर ईश्वर में टिकायें। शुद्ध शाकाहारी, ताजा भोजन, ईश्वर को समर्पित करके करें। चित्त शुद्धि हेतु कर्मयोग का सहारा लें। संसार की सेवा में शरीर को समर्पित करें। इन्द्रियों का मन से निग्रह तथा मन को ध्यान द्वारा शान्त करें। ईश्वर के प्रति प्रेम प्रतिक्षण बढ़ायें। भक्ति अनन्य हो इसका ध्यान रखें। अपनी आध्यात्मिक प्रगति का निरीक्षण करते रहें।

ऐसा पुरुष जानता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ परिवर्तनशील है, अतः सुख-दुःख आने पर वह शान्त रहता है। चूँकि वह अपनी आत्मा में पूर्ण सन्तुष्ट रहता है तथा उसे अन्य कोई इच्छा नहीं रहती, अतः वह राग, भय तथा क्रोध से मुक्त रहता है तथा स्वयं में आनन्दित रहता है।

स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष में बाह्य विषयों से वैराग्य के साथ, सभी परिस्थितियों का सामना करने हेतु मन का सन्तुलन होता है। उसके अन्दर शुभ प्राप्ति में हर्षातिरेक तथा अशुभ प्राप्ति में द्वेष-विषाद नहीं होता। ऐसे पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह जब चाहे विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा ले। इसी क्षमता को योगशास्त्र में प्रत्याहार कहते हैं तथा वेदान्त में इसे उपरति कहते हैं, जिसे जिज्ञासु, साधक अपने विवेक से प्राप्त करता है। भक्त भगवान् की रूप माधुरी में डूबकर विषयों को त्याग देने में समर्थ होता है।

ज्ञानी पुरुष की चेतना आत्मतत्व के प्रति सदैव जगी रहती है, जिसके प्रति सांसारिक मनुष्य बेपरवाह रहता है। सांसारिक विषयों में आसक्त होकर व्यवहार करने वाले तथा दुःख भोगने वाले मनुष्यों के विपरीत, ज्ञानी इन्हें रात्रि अर्थात् अज्ञान की अवस्था समझते हैं। आत्मसंयम तथा मननशीलता -ये गुण ज्ञानी होने के लिये आवश्यक हैं।

ज्ञानी पुरुष की तुलना भगवान् ने समुद्र से की है। जिसमें मुद्रा हो, उसे समुद्र कहते है। जो प्रसन्नता दे, उसे मुद्रा कहते है। समुद्र के धरातल पर अनेक प्रकार की हलचल हम

देखते है, जिन्हें देखकर हमें प्रसन्नता होती है, परन्तु धरातल के नीचे गहराई में एकदम शान्ति है। ठीक ऐसे ही ज्ञानी को देखने पर, उसके सान्निध्य में रहने पर प्रसन्नता होती है। ऊपर से ज्ञानी कई रूपों में दिखाई देता है, क्रोध करता हुआ भी दिखाई देता है, परन्तु अन्दर से वह एकदम शान्त होता है। सभी कामनाओं के विषय उसमें वैसे ही समा जाते है तथा उनका कोई पता नहीं चलता, जैसे चारों ओर से निरन्तर नदियों से पूरित समुद्र उनके वेग से अप्रभावित रहता है। कामना युक्त पुरुष शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता।

परम् शान्ति प्राप्त पुरुष में कामनाओं तथा विषयों के प्रति स्पृहा, आसक्ति का पूर्णतया अभाव रहता है। इच्छाओं को उत्पन्न करने के मूल में स्थित ममता तथा अहङ्कार से वह रहित होता है।

पन्द्रहवें अध्याय में परमतत्त्व की अनुभूति प्राप्त करने वाले पुरुष को भगवान् ने बुद्धिमान कहा है, बुद्धिमान पुरुष कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, क्योंकि कर्म का निर्धारण क्रिया के साथ कर्त्ताभाव तथा कर्म के पीछे की भावना से होता है। चूँकि बुद्धिमान पुरुष को प्राप्तव्य की प्राप्ति हो चुकी है, वह स्वयं में सन्तुष्ट है, अतः उसमें न तो कर्त्तापन का भाव होता है और न वह किसी उद्देश्य से क्रिया करता है। उसके द्वारा क्रिया स्वाभाविक होती है। वाह्य रूप से देखने पर लगता है कि ज्ञानी द्वारा कुछ कर्म नहीं हो रहा है, परन्तु उसकी उपस्थिति मात्र में ही वहुत कर्म सम्पन्न होते रहते हैं।

महर्षि रमण के पास सन्देह लेकर आये साधक विना कुछ पूछे उपस्थिति मात्र में समाधान पाकर लौट जाते थे। यह उदाहरण है अकर्म में कर्म का। व्यावहारिक जीवन में भी यदि कोई छोटा बच्चा किसी बड़े का वाल खींचता है, तो उसे हम कर्म नहीं मानते। परम् शान्ति में वने रहने की अर्थात् ब्रह्म-भाव में टिके रहने की इस स्थिति को भगवान् ने ब्राह्मी स्थिति कहा है। इस स्थिति को एकबार प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुरुष कभी भ्रम-मोह में नहीं पड़ता। एकवार जान लेने के वाद इसका ज्ञान सदा वना रहता है, यहाँ तक कि वह ज्ञानी शरीर छोड़ते समय भी इस स्थिति में रहता है। यह ज्ञान की उच्च अवस्था है। इसे निर्वाण की दशा कहते हैं।

भगवान् ने इस स्थिति को प्राप्त पुरुष को छठवें अध्याय में 'योगी', बारहवें अध्याय में 'भक्त' तथा चौदहवें अध्याय में 'गुणातीत' की संज्ञा दी गयी है। दूसरे अध्याय में 'स्थित प्रज्ञ' के लक्षणों को विस्तार से कहा गया है। नाम अलग-अलग होने पर भी ये सभी एक ही पुरुष हैं।

अर्जुन अपने मन की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।' (गीता 2/28)

मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है और मैं खड़े होने में असमर्थ हूँ।

हमारा मन शरीर छोड़कर कहीं जाता नहीं है, रहता शरीर में ही है। परन्तु अज्ञान के कारण जब अपने मालिक-आत्मा, जिसकी शक्ति से वह उत्पन्न हुआ है- को भूलकर या तो भूतकाल की स्मृति में खो जाता है या भविष्य की किसी वात की कल्पना करने लगता है, तो हमें लगता है कि हमारा मन भ्रमित-सा हो रहा है- यह आता-जाता मालूम पड़ने लगता है। होता यह

है कि हम भूतकाल की स्मृति, जो स्वप्न मात्र है- लौटकर नहीं आ सकती, में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं या भविष्य की अनेक आशङ्काओं के कारण दुःखी होते हैं, तथा कल्पनाएं करते हैं, जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है-

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। (गीता 6/25)

मन को आत्मा में स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन न करें।

मन जब अपने मूल स्थान आत्मा से अलग हो जाता है तो वह पराधीन हो जाता है। जिसमें मन जाता है उसके ऊपर उसका सुख निर्भर करने लगता है। उसी का वह चिन्तन करता रहता है, उसकी प्राप्ति की कामना करता है तथा कामना के बढ़ने पर मनुष्य दुःखी होता है तथा बुद्धिनाश की स्थिति तक पहुँच जाता है। इसलिये भगवान् मन को प्रेम से, बच्चे की भाँति धीरे-धीरे उसे वश में लाकर, आत्मा की वेदी पर सुलाने को कहते हैं। मन के आत्मस्थ हो जाने पर सोचना बन्द करने को कहते हैं। जैसे छोटा बच्चा जब थक जाता है तो उसे हम सुला देते हैं, उसी प्रकार लगातार सङ्कल्प-विकल्प करने के कारण थके हुए मन को आराम देना चाहिये।

भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर हमें मन को एकाग्र करके योग का अभ्यास करने की बात-'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा' (गीता 8/12)। मन को संयमित करने की बात 'मनः संयम्य' (गीता 6/14)। उत्तम सुख की प्राप्ति के लिये मन के प्रशान्त होने की बात-'प्रशान्त मनसं' (गीता 6/27) तथा योगी को परम सुख की प्राप्ति हेतु मन को आत्मा में स्थिर करने की बात कहकर ऐसे मन को 'आत्मन्येव वंश नयेत्' (गीता 6/26), आत्मा में स्थिर करने को कहा, तो हम सभी के मन में स्वाभाविक रूप से उठने वाले प्रश्न को उनके समक्ष अर्जुन ने रखा तथा कहा कि मन बड़ा ही बलवान, दृढ़ तथा चञ्चल है। यह एक जगह बैठने नहीं देता। इसे नियन्त्रित करना वायु के समान दुष्कर कार्य बताया। तब भगवान् ने उसकी बात स्वीकार की, परन्तु उसे महाबाहो! कहकर सम्बोधित किया तथा उसे अभ्यास एवं वैराग्य से नियन्त्रित करने की बात कही। महाबाहो! के सम्बोधन का भाव है कि इस हेतु दृढ़ निष्ठा, दृढ़ निश्चय, साधना में तत्परता, उच्च लक्ष्य के प्रति समर्पण भाव आदि का गुण होना चाहिये, तभी व्यक्ति सफल हो सकता है।

अभ्यास माने बार-बार दुहराना। चञ्चल मन को बार-बार वापस लाकर अपने आत्मा में केन्द्रित करना, अपने इष्ट का मन से संस्पर्श कराना, इष्ट के नाम, रूप, लीला, धाम, के चिन्तन में रस लेना। वैराग्य का अर्थ है- दूसरे के रास्ते में छेड़-छाड़ न करना, अपने रास्ते चलते जाना। यह योग है, इसमें कोई अन्य की आवश्यकता नहीं है। 'छिन्न संशयः'-ऐसी मान्यता है कि जो हो रहा है, वह ठीक है, मुझे हस्तक्षेप कहीं नहीं करना है। मेरे ऊपर किसी परिस्थिति का प्रभाव नहीं है। अपना लक्ष्य तो केवल ईश्वर प्राप्ति है, जो पूरी सृष्टि का सृष्टिकर्त्ता तथा उसका उपादान कारण भी है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। वही प्रेरक, प्रकाशक, सबका आधार है। अतः हमें अपना मन उसी में लगाना चाहिये। यदि हम किसी के प्रति आसक्ति का त्याग कर दें, राग-द्वेष से रहित हो जायँ, कामना मुक्त हो जायँ तो मन शान्त हो जायेगा।

योग

सृष्टि के क्रमिक विकास में पत्थर से दिव्य मानव तक लाखों वर्षो में विभिन्न स्तरों पर प्रकटीकरण होता है। पत्थर धीरे-धीरे समाप्त होकर धातु के रूप में प्रकट होता है। धातुएं वनस्पतियों का रूप लेती है। वनस्पतियों से पशु स्तर, पशुस्तर से मनुष्य स्तर का विकास होता है। मनुष्य में भी क्रमिक विकास होता है और जब विकास करते-करते वह सभी अवरोधों को पार कर जाता है तो पूर्ण विकसित चेतना सम्पन्न मानव, दिव्य मानव-अतिमानव में वदल जाता है। विकास की इस अन्तिम प्रक्रिया को 'योग' कहते हैं।

कोई भी यज्ञ-त्याग 'योग' है; क्योंकि त्याग का अर्थ कुछ हद तक उच्चतर स्तर को प्राप्त करने की दिशा में अपने अहं का समर्पण है।

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार योग एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति के विकास को, शारीरिक जीवन के अस्तित्व के एक ही जीवन काल में या कुछ वर्षो - महीनों में ही साधित कर दे।

सम्पूर्ण जीवन ही चेतन या अवचेतन रूप में योग है; क्योंकि सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म परिपूर्णता के लिये किया गया विधि-बद्ध प्रयत्न और मानव व्यक्तित्व का उस विश्व व्यापी और परात्पर-सत्ता के साथ मिलन है।

गीता में समता को योग कहते हैं।

"समत्वं योग उच्यते।" (गीता 2/48)

विभिन्न परिस्थितियों में संतुलन-सामञ्जस्य स्थापित करना योग है। असंतुलन बाह्य तथा आन्तरिक स्थितियों में होता है। आन्तरिक स्थिति में समता के अभ्यास से मन और बुद्धि के बीच तादात्म्य स्थापित होता है, फलतः मन अनुशासित होकर बुद्धि के अनुसार कार्य करता है। अहङ्कार मूलक इच्छाएं इन दोनों में तादात्म्य न होने के कारण हैं। इच्छाओं के क्षय से तादात्म्य स्थापित होता है।

समभाव रूपी योग में स्थित होकर तथा आसक्ति रहित होकर कर्म करने की आज्ञा भगवान् ने दी है। पुनः भगवान् कहते हैं-

'तंविद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' (गीता 6/23)

दुःखों के संयोग से वियोग हो जाने की अवस्था को योग कहते हैं। ससांर मे जबतक हमारा शरीर है, तबतक हमारी इन्द्रियो का विषयों से संयोग होना अवश्यम्भावी है। बिना संयोग हुए व्यवहार सम्भव नहीं है। इन्द्रियों का उनके विषयों से संयोग होने पर प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख होता है। व्यवहार में ऐसी स्थिति उत्पन्न होती रहती है। दुःख से छुटकारा हेतु एक ही उपाय है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर हमारी सोच, हमारी मानसिक स्थिति ऐसी बन जाय कि हमारा उस उत्पन्न दुःख से छुटकारा हो जाय। अर्थात उस परिस्थिति में हम इस प्रकार सोचने लगें की उसका प्रभाव हमारे उपर न पड़े। शास्त्रों का ज्ञान व्यावहारिक पीरस्थिति को नहीं बदलता, बल्कि वह केवल हमारी सोच बदलता है। जैसे दुःखदायी परिस्थिति होने पर हम सोच सकते है- सुख-दुःख रथ के पहिये के आरे की भाँति बदलने वाले हैं, यह परिस्थिति नहीं रहने वाली है, बदल जायेगी। हमारे ऐसा सोचने पर भी कि हम

अज्ञ हैं, सभी परिस्थितियों को जानते नहीं हैं तथा ऐसी परिस्थिति हमारे कल्याण को ध्यान मे रखकर भगवान् ने हमारे सामने उपस्थित की है; क्योंकि वे हमारे सुहृद हैं ऐसी सोच से हमारा दुःख के संयोग से वियोग हो जायेगा। इस प्रकार अपनी सकारात्मक सोच से हम किसी दुःखदायी परिस्थिति से मुक्त हो सकते हैं।

दुःख के संयोग से वियोग को ही 'योग' कहते हैं। संसार से सम्बन्ध ही दुःख का कारण है। संसार से सम्बन्ध विच्छेद, दुःख के संयोग से वियोग है। अनासक्ति तथा समता का भाव होने से ऐसा सम्भव हो सकेगा। समभाव हेतु राग-द्वेष से मुक्ति आवश्यक है। पुनः

'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता 2/50)

कर्मों में कुशलता 'योग' है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कुशलता पूर्वक किसी कार्य को करने वाला 'योगी' है। इसका अर्थ है कि मन का तथा पूरे व्यक्तित्व का इस तरह रुपान्तरण हो जाय तथा आन्तरिक स्थिति इस प्रकार की हो जाय कि सभी कार्यों का पालन स्वाभाविक रूप से शास्त्रानुसार होता जाय और कार्यों के दिव्य परिणाम वैसे ही प्राप्त हों जैसे बीज से वृक्ष मिलता है। ऐसी स्थिति में न अहङ्कार होगा, न कर्त्ताभाव और न ही आसक्ति। इस कुशलता से कर्म करते हुए हम संसार के आवागमन से मुक्त हो जायेंगे, जो जीवन का परम लक्ष्य है।

गीता में आत्म ज्ञान तथा आत्मानुभूति के साधन को भी 'योग' कहा गया है। चूँकि मिथ्या से वियोग तथा सत्य से संयोग 'योग' है, अतः हमें योग की सफलता के लिये उत्साह तथा निश्चयपूर्वक तबतक साधनारत रहना चाहिए जबतक हम लक्ष्य प्राप्ति में सफल न हो जायँ।

भगवान् ने योग के व्यवहार में लाने तथा योगारुढ़ अवस्था को प्राप्त करने हेतु कुछ उपाय बताये हैं। सर्वप्रथम तो हमें ध्यान रखना है कि 'योग' का अभ्यास वही कर सकता है जिसका भोजन, सोना, मनोरञ्जन कार्य सभी समुचित मात्रा में, न अधिक न कम अर्थात् सन्तुलित हों। यद्यपि मन चञ्चल है तथापि अभ्यास तथा वैराग्य से उसे नियन्त्रित किया जा सकता है। इन्द्रियों द्वारा भटके मन को बार-बार वापस लाकर जब कोई व्यक्ति उसे आत्मा में स्थित करने में सफल हो जाता है तो वह 'योगी' होता है। उस योगारुढ अवस्था में उसे परमशान्ति तथा आनन्द का अनुभव होता है। उस अवस्था को प्राप्त करने वाला बड़े से बड़े दुःख से विचलित नहीं होता तथा उसके लिये, उस आनन्द से बड़ी कोई चीज नहीं है। अतः हमें मोक्ष को परम लक्ष्य बनाकर, कामना-क्रोध-भय से मुक्त होकर, विषयों को इन्द्रियों के संयोग से दूर रखकर, अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करके, नासारन्ध्रों में प्राण-अपान की गति को समान करके तथा इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि को नियन्त्रित करके नियमित ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान के अभ्यास से हम जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

बुद्धियोग

भगवान् सांख्यशास्त्र का वर्णन करने के पश्चात् इस वेदान्त-ज्ञान को व्यवहार में किस प्रकार लाया जाय-इस बात को ध्यान में रखकर कहते हैं कि-

एषतेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। (गीता 2/39)

हे पार्थ! सांख्य विषयक ज्ञान तुम्हें बताया गया। अब बुद्धियोग से सम्बन्धित ज्ञान को सुनो, जिसे जानकर तुम कर्मबन्धन से छूट सकोगे। सांख्य का प्रयोग रामानुजाचार्य ने बुद्धि के लिए किया है। ठीक-ठीक जानकारी होने को संख्या= बुद्धि कहते हैं। ऐसी बुद्धि के द्वारा जिस आत्मतत्त्व को ग्रहण किया जाय उसे 'सांख्य' कहते हैं। गीता में सांख्य का प्रयोग ज्ञान के लिये किया गया है। षड्दर्शनों में एक कपिल मुनि द्वारा प्रणीत सांख्यशास्त्र के अर्थ में नहीं है। सम्यक् बुद्धि द्वारा गृहीत आत्मतत्त्व के अर्थ में सांख्य का प्रयोग होता है। अमरता को निरूपित करने वाले तथा स्वधर्माचरण वाले श्लोकों को भी सांख्य के अन्तर्गत लेते हैं।

कर्म तो होते हैं, मनबुद्धिसमष्टिगत रूप चित्त में, आत्मतत्त्व के प्रतिबिम्ब के कारण उत्पन्न होने वाले आभास से। चूँकि हमारा अन्तःकरण मलिन है, दूषित है, इसलिये मलिनतापूर्ण अहङ्कार के द्वारा जो कर्म होते हैं, वे बन्धनकारी हो जाते हैं। भगवान् एक ऐसा योग-उपाय बता रहे हैं जिससे स्वधर्म का भली-भाँति पालन करते हुए भी हम कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। इस हेतु वे ऐसी बुद्धि देने की बात कह रहे हैं, जिस बुद्धि का प्रयोग करके हम परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं, बुद्धि को योग बना सकते हैं तथा कर्म का जो दोष है- कर्मबन्धन, उससे रहित हो सकते हैं। इस बुद्धियोग की प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं इसमें वैदिक कर्मों की भाँति अभिक्रम = एक-एक कदम आगे बढ़ने की बात के कारण होने वाली सम्भावित हानि का खतरा नहीं है और न ही इसमें प्रत्यवाय = प्रायश्चित या पतन के रास्ता की ही सम्भावना है। वेदों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों-राजसूय यज्ञ (राज्य प्राप्ति की इच्छा से सम्पन्न होने वाले), पुत्रेष्टि यज्ञ (पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला यज्ञ), अश्वमेध यज्ञादि में बहुत विधि-विधान होता है। किसी स्तर पर विधान में त्रुटि होने पर फल-प्राप्ति नहीं होती और कभी-कभी त्रुटि होने पर 'वांछित फल-प्राप्ति के स्थान पर दुष्परिणाम भी प्राप्त हो जाता है। वृत्तासुर के गुरु शुक्राचार्य ने इन्द्र भगवान् को मारने हेतु यज्ञ कराया। मन्त्रोच्चारण में स्वरविषयक गलती हो जाने के कारण इन्द्र ने ही वश्त्तासुर को मार दिया। भगवान् कह रहे हैं कि इस प्रकार का कोई दोष इस बुद्धियोग में नहीं है। इसका थोड़ा भी पालन महान् भय से बचाता है।

भय चार प्रकार के होते हैं- मृत्युभय, सबसे बड़ा भय है; शत्रु का भय होता है; अज्ञानता के कारण मूर्ख बन जाने का तथा किसी कारण दुःखी होने का। चूँकि सम्यक् बुद्धि से हम सबको छोड़कर केवल परमात्मा से जुड़ जाते हैं, हमें अद्वैतता का बोध हो जाता है, हम सबको आत्मस्वरूप ही देखते हैं, इसलिये हमें भय किससे होगा? ऐसी बुद्धि कैसी होती है? इस बुद्धि को भगवान् ने 'व्यवसायात्मिका' कहा है। उस दृष्टि को, उस बुद्धि को व्यवसाय कहते है जो किसी कार्य के प्रारम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण प्रक्रिया को देखे। व्यवसायात्मिका बुद्धि का निश्चय एक होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य एक होता है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि को

किसी कार्य के आरम्भ से अन्त तक प्रत्येक स्तर पर क्या करना है, इसका भली-भाँति बोध होता है। उसका प्राप्तव्य मात्र परमात्मा की प्राप्ति, अपने स्वरूप की प्राप्ति होता है। अव्यवसायात्मिका बुद्धि वालों की बुद्धि चञ्चल होती है। वे कभी भोग की सामग्री चाहते हैं, कभी यश के पीछे भागते हैं, कभी पुत्रादि की इच्छा करते हैं। अर्थात् ऐसे लोग प्रमुख तीन एषणाओं- पुत्रेषणा, वित्तेषणा तथा लोकेषणा को पूरा करने में लगे रहते हैं। बड़े-बड़े यज्ञों के माध्यम से भी या तो सांसारिक इच्छाएं पूरी होती है या स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, जिसे भोग कर पुनः संसार-चक्र में आना पड़ता है।

जड़ से चेतन को अलग समझने की बुद्धि, परमात्मा को ही एकमात्र लक्ष्य बनाने की बुद्धि, यज्ञादि कर्म को अनित्य मानने की बुद्धि, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योग-क्षेम, आत्मवान् होने की बुद्धि-यही व्यवसायात्मिका-निश्चयात्मिका बुद्धि है, जिस बुद्धि को भगवान् की कृपा से प्राप्त कर अपने जीवन को हम धन्य कर सकते हैं। कृत-कृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य हो सकते हैं। ऐसी ही बुद्धि के सन्दर्भ में भगवान् ने कहा है कि जो सतत् प्रीतिपूर्वक मेरे भजन में लगे रहते हैं, लगातार मुझसे जुड़े हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग दे देता हूँ, जिससे वे मुझे पाने में समर्थ हो जाते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। (गीता 10/10)

हमारे मन से श्रेष्ठ हमारी बुद्धि है। आत्मा के सबसे करीब बुद्धि ही है। दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। अपने दोषों की निवृत्ति तथा सद्गुणों को धारण करने का साधन बुद्धि ही है। चारों पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना बिना बुद्धि के सम्भव नहीं है। भगवत्-प्राप्ति भी सम्यक् बुद्धि से ही सम्भव है। जीव, जगत् तथा माया का ज्ञान हमें बुद्धि से ही होता है- ये सभी हमारी बुद्धि में ही भासते हैं। इसकी महत्ता के कारण भगवान् अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव को बुद्धि की शरण में जाने को कहते हैं। बुद्धियोग का आश्रय लेकर हमें अपने मन को उनके प्रति समर्पित करने को कहते हैं। भगवान् का सम्पूर्ण उपदेश बुद्धि-परिवर्तन हेतु है। गीता का बुद्धियोग हमारी नासमझी मिटाने के लिये है। बुद्धियोग की प्राप्ति कर हमारा जन्म-मृत्यु का भय मिट जायेगा। शङ्काओं का निराकरण हो जायेगा। फलाकाङ्क्षा मिट जायेगी। जीवन में शान्ति आ जायेगी। मनुष्य-जन्म सफल हो जायेगा।

बुद्धियोग उसके लिये है जो अपने गुण-दोष पर विचार करता हो। जो दोष-मुक्त होना चाहता हो, जिसे मोह न हो अर्थात् जिसकी बुद्धि उल्टी न हो; जिसे ज्ञान-गुणों पर श्रद्धा हो; जो अपने जीवन को समुन्नत करना चाहता हो; जिसे संसार के आवागमन से मुक्ति की दृढ़ इच्छा हो। मनुष्य का कल्याण तो तभी सम्भव है जब वह अपनी वासनाओं को मिटाने-हेतु सङ्कल्पित हो तथा उनके अनुसार कर्म का आचरण न हो, शास्त्र तथा सन्त-महात्माओं पर श्रद्धा हो, उनकी बात मानने के लिये तैयार हो।

हमारे जीवन में चार प्रकार के दोष हैं, जिनके कारण हम दुःखी है। पहला दोष है कि हमने शरीर को ही सब कुछ मान लिया है। आत्मा के धर्म को शरीर पर तथा शरीर के धर्म को आत्मा पर थोप दिया है। अर्थात् हमारी बुद्धि उलटी हो गयी है। दूसरा दोष है कि हम किसी से राग तथा किसी से द्वेष कर बैठे हैं। इस कारण हमारा चिन्तन सम्यक् नहीं

होता। राग-द्वेष दोनों दुःख देते हैं। तीसरा दोष है अस्मिता का। हम अपने को धन, पद, प्रतिष्ठा, ज्ञान, साधना, रूप, बल आदि में दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं। अर्थात् अहङ्कार पूर्ण जीवन बिताते हैं। चौथा दोष हमारी नासमझी है। हमें जीव, जगत्, ईश्वर तथा उनके सम्बन्धों के बारे में सम्यक् जानकारी नहीं है। अर्थात् तत्त्वबुद्धि नहीं है। गीता में इन चारों दोषों से छुटकारा पाने का उपाय बताया गया है। इस हेतु ऐसी बुद्धि दी गयी है, जिससे हम इन दोषों से मुक्त हो सकें।

प्रथम दोष जो अभिनिवेश का है, जिसमें हमने दृढ़ भावना कर रखी है कि हम शरीर हैं, अतः शरीर की मृत्यु (विनाश) की आशङ्का से तथा इसके रुग्ण होने पर दुःखी रहते हैं। उसका निवारण इस बुद्धि से होता है कि हम शरीर नहीं चेतन आत्मा हैं। हमारा जन्म-मरण नहीं होता। शारीरिक व्याधि का प्रभाव हमारे मूल स्वरूप आत्मा पर नहीं होता।

हमारे दुःखी होने का एक दूसरा कारण हमारा किसी से राग या किसी से द्वेष हो जाना है। जब हम राग या द्वेष से प्रभावित रहते हैं, तो वास्तविक स्थिति को नहीं देख पाते हैं। या तो हम राग से प्रभावित होकर पक्षपातपूर्ण ढङ्ग से सोचते तथा करते हैं या द्वेष के वशीभूत होकर सत्य से दूर हो जाते हैं। जब हमारी बुद्धि यह सोचने लगती है कि नाम-रूपात्मक जगत् में आत्मतत्त्व एक ही है, केवल नाम-रूप के कारण विभिन्नता है; जब हमारी सोच यह बनती है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों में रत हैं-गुण ही गुणों में वरत रहे हैं-हम तो उससे अछूते हैं या जब हम सोचते है कि पूरी सृष्टि भगवान् द्वारा निर्मित है, सबमें वह समान रूप से वर्तमान हैं, तो हम क्यों तथा कैसे किसी से राग-द्वेष करें। इससे हमारा राग-द्वेष ढीला होता है। वैराग्य का भाव पैदा होता है। परिणाम स्वरूप राग-द्वेप के कारण होने वाले दुःखों से हमारा छुटकारा होता है।

तीसरा दोष अस्मिता का है। हमारा ध्यान जब भगवान् पर जाता है, उसके ऐश्वर्य पर जाता है, उसके ज्ञान, धन, बल आदि पर जाता है तो हमारा अहङ्कार समाप्त होता है। इस प्रकार भक्तियोग, जो बुद्धियोग का ही एक प्रकार है, हमारी अस्मिता के दोप को समाप्त करता है।

जब हमारी बुद्धि जीव, जगत्, माया, ईश्वर के वास्तविक तत्त्व को समझने में समर्थ होती है, तो हमारी नासमझी मिटती है तथा हमें दुःखों से छुटकारा मिलता है।

कर्मों को करते हुए पाप-पुण्य होते हैं। धर्मानुकूल, शुभ कर्मों, यज्ञ-दान-तप लोक कल्याण हेतु कर्मों के करने से पुण्य तथा उसके विरुद्ध मानव धर्म के विपरीत आचरण करने पर पाप होते हैं। इनसे बचने हेतु, वैराग्य भाव से प्रेरित होकर कुछ लोग संसार छोड़कर एकान्त में चले जाते हैं। इस हेतु भगवान् ने कर्मयोग का मार्ग बताया। बुद्धियोग का ही एक प्रकार कर्मयोग है। इसमें अपने सभी कर्म हम करते हैं, परन्तु बुद्धि में अनासक्ति का भाव रहता है, फलाशा तथा अहङ्कार से रहित होकर सभी कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्म करते हुए हम पाप-पुण्य से भी बच जाते हैं। किसी कर्म के करने में बाधा नहीं होती। इस प्रकार कर्म करते हुए यह भाव रहता है कि सृष्टिकर्त्ता ने जिस काम को करने हेतु हमें निमित्त बनाया है, उसे अपना स्वधर्म समझकर ईमानदारी से करते हुए अपने काम से ही हम उसकी पूजा कर रहे हैं।

बुद्धियोगी की पहचान यह होती है कि वह निरभिमान रहता हुआ अपने कर्मों को करते हुए पूर्ण सन्तुष्ट रहता है। उसके कर्म का फल स्वयं उसका कर्म है। यदि अपने कर्म से उसे पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिल रही है, तो कर्म की पूर्णता में कमी है। उसे कुछ जानने की इच्छा नहीं होती और न ही जाने हुए का अभिमान रहता है।

भगवान् ऐसी बुद्धि को महत्त्व देते हैं जो स्थिर हो, कई दिशाओं में बँटी न हो। बहुत कुछ पढ़कर या सुनकर बुद्धि स्थिर नहीं रह जाती। बुद्धि, एक तथा स्थिर हो जाने पर, शान्ति प्रदान कर सकती है, अपने लक्ष्य पर पहुँचा सकती है तथा ऐसी बुद्धि से ही योग सम्भव है।

ऐसी बुद्धि हमें तभी प्राप्त हो सकती है जब चित्त निर्मल हो। निर्मल चित्त वाले की ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। कामनाओं का समूल नाश करने वाली तथा अपनी आत्मा में ही पूर्ण सन्तुष्ट रहने वाली बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। कामनाएँ चित्त को स्थिर तथा निर्मल नहीं रहने देतीं। अतः बुद्धि भी स्थिर नहीं रह पाती। कठोपनिषद् में हमारे शरीर की तुलना एक रथ से की गयी है, जिसका रथी आत्मा है, बुद्धि सारथी, मन लगाम तथा इन्द्रियाँ घोड़े हैं। बुद्धि की मालिक आत्मा है। सुषुप्ति या समाधि में बुद्धि आत्मा की गोद में रहती है। कामनाएं मन में रहती हैं। यदि बुद्धि अपने मालिक के प्रति ईमानदार न रहकर इन्द्रियों तथा मन के साथ मिल जायेगी तो रथ कहाँ जायेगा? अपने गन्तव्य पर नहीं पहुँच सकता। अतः कामनाओं को जड़ से उखाड़ फेंकना आवश्यक है। भगवान् ने बुद्धियोग को अत्यधिक महत्त्व दिया है। भगवान् द्वारा कही गयी निम्न बातों से यह पूर्णतया स्पष्ट है।

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' (गीता 2/49)

बुद्धि की शरण ग्रहण करो।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।

बुद्धियोग का आश्रय लो और मन को मुझमें लगाओ। इसका फल क्या होगा? वे कहते हैं कि ऐसा होने पर –

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (गीता 10/10)

मैं बुद्धियोग दे देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

जब बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है तो इसके फलस्वरूप चित्त में प्रसन्नता रहती है। प्रसन्नता उसका फल है। प्रसन्नता में कोई दुःख नहीं रह जाता। हमारे सभी दुःखों का अभाव हो जाता है।

अतः भगवान् ने वेदों को तीन गुणों–सत्त्व, रज, तम– तक ही सीमित बताते हुए अर्जुन तथा उसके माध्यम से हम सभी को गुणों से ऊपर उठने को कहा है तथा निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ, योग-क्षेम की चिन्ता से रहित होने तथा आत्मवान् बनने को कहा है। निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि जो द्वन्द्व हैं, उनसे ऊपर उठ जाना, उनमें सम रहना, किसी से प्रभावित न होना। नित्य सत्त्वस्थ क्या है? तमोगुण से रजोगुण अच्छा है, रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित रहना बहुत अच्छा है। सत्त्वगुण में स्थित हो जाने पर भी चूँकि वृत्ति बदलती रहती है, अतः हम रजोगुण या तमोगुण से प्रभावित होते रहते

है। भगवान् कहते हैं कि नित्य सत्त्वगुण में स्थित रहने का प्रयास करो। निर्योग-क्षेम का भाव यह है कि हमें अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त को बनाये रखने हेतु चिन्तित नहीं होना चाहिये। हमें विश्वास रखना चाहिए कि जो होने वाला है, होगा ही और जो नहीं होने वाला है वह नहीं ही होगा। कहा है –

भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत्।
गन्तव्यं गतभित्याहुर्गजभुक्तकपित्थवत्।।

जो होने वाला है होकर रहेगा। उतनी ऊँचाई पर नारियल के फलों में पानी भर जाता है। कैथ का बीज हाथी को खिलाया जाय तो वह उसकी लीद से खड़े ही बाहर आ जाता है, यद्यपि उसके अन्दर का गूदा नहीं रहता। अतः निष्कर्ष है कि जाने वाला जायेगा और आने वाला आयेगा। आत्मवान् बनने से तात्पर्य यह है कि हमें देहात्मभाव नहीं रखना है, अपने को शरीर नहीं मानना है। हमें यह दृढ़ बोध होना चाहिए कि हम आत्मस्वरूप हैं। चैतन्य आत्मा से सभी कुछ व्याप्त है। जड शरीर से तादात्म्य करके कर्त्ता, जड मन से तादात्म्य करके भोक्ता, सुखी-दुःखी नहीं होना है।

शरीर नश्वर-आत्मा अमर

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" (गीता2/11)

जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिए तुम शोक करते हो। यह गीता का बीजमन्त्र है। जिसे हम 'जीव' कहते हैं वह तो ईश्वर का अंश है। शरीर पञ्चभूतों से निर्मित है, प्रकृति का अंश, जड है तथा आत्मा अपरिवर्तनशील, अजन्मा, अविनाशी स्वयंप्रकाश तथा अविकारी है। देह जन्म के पूर्व भी अव्यक्त रहता है तथा इसके नाश के बाद भी अव्यक्त रहता है। केवल स्थितिकाल में ही व्यक्त रहता है, इसलिये यह सत्य नहीं है। अतः इसके लिये शोक करना व्यर्थ है। इसलिये भी इसके लिए शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। आत्मा-देही- जन्म के पूर्व भी रहता है, शरीर के नाश होने पर भी रहता है, अतः इसके लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है। यह सबको व्याप्त करने वाला अविनाशी तत्त्व है। जैसे इस शरीर में देही की कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था होती है, उसी प्रकार देहान्तर प्राप्ति भी इसकी एक अवस्था है, अतः इसमें कोई शोक की बात नहीं है।

'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्' (सां० का०)

विकास या परिवर्तन जीव के लिए है, आत्मा के लिए नहीं। भगवान् कहते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलने वाला है। शरीर के छः विकार हैं- पैदा होना, रहना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना, नष्ट हो जाना।

'षड् भावविकाराः इति वार्ष्यायणिः।'
'जायतेऽस्ति विपरिणयते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति इति'।

यह काल तथा देश की सीमा से बँधा है, इसलिये असत्य है। जीवन के पहले तथा बाद की स्थिति प्रकट नहीं है, तथा वर्तमान भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। अतः मरणधर्मा-नाशवान् शरीर के लिये शोक क्यों? जो सत् है, नित्य है, जो काल तथा स्थान की सीमा से परे है,

अर्थात् प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर है, उसका कभी तथा कहीं अभाव नहीं है। इस तत्त्व के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि यह आत्मा, अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं है) अदाह्य (न जलने वाला), अक्लेद्य (न भींगने वाला), अशोष्य (न सूखने वाला), अचल, अवध्य, स्थिर, अजन्मा, सनातन, अविकारी (शरीर के छः धर्मों से रहित) अहन्य (जिसका हनन न हो सके) पुरातन, सर्वव्यापी, अव्यक्त (जो व्यक्त नहीं है), अप्रमेय है। हमारी देह-बुद्धि हमें सदा स्थूल से बाँधे रहती है।

सांख्य बुद्धि हमें सूक्ष्म के प्रदेश में ले जाती है। सूक्ष्म, निर्गुण तथा निराकार है, इसलिये इसका पता नहीं चल पाता। यद्यपि सूक्ष्म की महिमा है, परन्तु इस कारण स्थूल का अनादर नहीं किया जा सकता; क्योंकि सूक्ष्म का आधार स्थूल ही है और इसी के द्वारा जीवन का संग्राम लड़ा जाना है। इसलिये सूक्ष्म का बोध कराकर भगवान् अर्जुन के निमित्त से हम सब को स्वकर्म तथा स्वधर्म के बारे में बताते है, ताकि हम अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें।

परिवर्तन मात्र एक दशा है, कोई तत्व या चीज नहीं है। इसलिये यह वास्तविक नहीं है परन्तु व्यवहार में मृत्यु के समय लगता है कि बहुत बड़ी घटना घट गयी। वास्तव में सभी घटनाओं का एक क्रम है, तथा हमारे प्राणिक शरीर में लगातार परिवर्तन हो रहा है। अपरिवर्तनीय अस्तित्व को आत्मा, चैतन्य आदि कहते हैं। हम अपने व्यक्तित्व को लगातार एक पल के लिये भी स्थायी नहीं रख सकते। प्रत्येक क्षण हम बदलते हैं तथा उच्चतर प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ते हैं। परन्तु चूँकि चैतन्य हमारे शरीर तथा मन की सीमितता से अत्यन्त संलग्न है, इसलिये ऐसा लगता है कि हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही बदल रहा है। जब परिवर्तन मन की सामर्थ्य के बाहर हो जाता है, तो लगता है कि जैसे हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

परिवर्तन दो प्रकार के होते है। एक प्रकार का परिवर्तन वह है जिसका हम अपने विकास में अनुभव करते हैं, जैसे बचपन से जवानी और दूसरा परिवर्तन वह है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। जब हम विकास के नवीन रूप में परवर्तित होते हैं तो चूँकि हमारा शरीर दिक्-काल के संसार में अपना विशिष्ट रूप कायम रखता है, इसलिये इस परिवर्तन पर हमारा अधिक ध्यान नहीं जाता। चूँकि हम इन्द्रियों के प्रभाव में रहते हैं और हमने शरीर को ही आत्मा के रूप में मान लिया है, इसलिये हमको ऐसा अनुभव नहीं होता कि दिक्-काल की संरचना में कोई गम्भीर घटना घटी है। जबतक हमारा बाह्य रूप सुरक्षित रहता है, हम अपने को सुरक्षित समझते है, परन्तु जब विकास के अन्तर्गत सीमितता की दशाओं में ही परिवर्तन आवश्यक हो जाता है और जब हम एक दिक्-काल की स्थिति से दूसरे दिक्-काल के क्षेत्र में भेजे जाते हैं, तो हमें लगता है कि व्यक्तित्व का पूर्ण नाश हो गया, जबकि मृत्यु एक दिक्-काल की श्रेणी से दूसरे उच्चतर दिक्-काल की संरचना में परिवर्तन मात्र है। जब हमारा आरोहण उच्चतर दिक्-काल की श्रेणी में होना अवश्यम्भावी है, तो हमारे भौतिक रूप का पूर्णतया नष्ट हो जाना और इस उद्देश्य के लिये नये रूप-शरीर का ग्रहण करना भी आवश्यक है। इसलिये हमारे मन में मृत्यु का डर विकास की वैश्विक आवश्यकता को सही अर्थ में न समझ पाने के कारण है।

गीता इस भाव को बहुत सरल शब्दों में कहती है कि मृत्यु या शरीर छोड़ना तथा दूसरा शरीर धारण करना, इसी प्रकार है जैसे पुराने कपड़े को छोड़कर हम नया कपड़ा धारण करते हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि मृत्यु के कारण वास्तविक हानि हुई है; क्योंकि यह एक आवश्यकता है और इस कारण भी कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये, नये उच्चतर मूल्यों की ओर अग्रसर होने हेतु यह हमारी यात्रा है। यह ईश्वर की इच्छा है और उसका विधान इसे यथावत् रखेगा ही। मनुष्य के इतिहास में सभी परिवर्तन, चाहे उसका प्रकार जो भी हो, वैश्वीय न्याय की आवश्यकता का एक भाग है। मृत्यु पर हम दुःखी इसलिये होते हैं कि हमारी दृष्टि-सोच हमारी इन्द्रियों तक सीमित है, और हम विश्व के नियमों की उच्चतर आवश्यकता के बारे में सोचने में असमर्थ हो जाते हैं।

कामना-इच्छा

जीवात्मा की बन्धन से मुक्ति तथा परमात्मतत्त्व से एकत्व स्थापित होने में जिन चार प्रमुख आवरण या बाधक तत्त्वों का वर्णन गीता में भगवान् ने किया है, उनमें एक है इच्छा। अहङ्कार का होना, समत्वबुद्धि का न होना तथा निस्त्रैगुण्य न होना-अन्य तीन हैं। इच्छा मनुष्य के मन की उस क्षमता को कहते हैं, जिससे भविष्य में किसी वस्तु को प्राप्त होने पर अधिक सुखी होने का भाव होता है। किसी कमी का अनुभव होने पर वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा पैदा होती है। इच्छित वस्तु को प्राप्त करने की प्रवृत्ति इसलिये होती है कि हम सोचते हैं कि इसे प्राप्त कर लेने पर हमारे पूर्णत्व में जो कमी है, वह कुछ हद तक या पूर्णतया दूर हो जायेगी, तथा हमें अधिक सन्तोष मिलेगा। इच्छित वस्तु के महत्त्व के प्रति आश्वस्त होकर, उसे प्राप्त करने हेतु तरसने लग जाना, इच्छा का मूल कारण है।

इसका सम्बन्ध हमारे मूल स्वभाव से एकदम नहीं होता। इच्छाएँ हमारी विशाल अस्पष्ट निम्नस्तरीय प्रकृति में उठी तरङ्गें हैं, जो एक व्यक्ति से दूसरे की तरफ चली जाती हैं। इन तरङ्गों को हम अपने अन्दर पैदा नहीं करते, बल्कि इनके द्वारा आकर्षित होते रहते हैं। यदि हम सतर्क नहीं हैं, प्रारम्भ में ही इनके खतरों के प्रति जागरूक नहीं हो जाते, तो हम इनके द्वारा पकड़ लिये जाते हैं तथा इनके हाथों के खिलौने बन जाते हैं और तब इन इच्छाओं का अन्त नहीं होता। एक इच्छा को पूरा होने या उसके पूर्व ही अनेक नई इच्छाएँ पैदा हो जाती है, तथा कभी पूर्ण न होने वाली इच्छाओं को पूरा करने में ही हम अपना जीवन गवाँ देते है तथा पुनर्जन्म होता रहता है।

इच्छायें ही हमारे सभी दुःखों, मनस्तापों, वेदनाओं का मूल कारण हैं। इन्हीं के कारण हम बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेते हैं, तथा दुःख भोगते रहते हैं। यद्यपि एक इच्छा पूरी होने पर हमें क्षणिक सुख मिलता है, परन्तु नई इच्छाओं के कारण हमें तनाव होता है, इच्छा पूरी करते समय उत्तेजना रहती है, पूरी न होने का भय रहता है। हम शारीरिक एवं मानसिक रूप से थक जाते हैं, तथा किसी भी दशा में शान्ति नहीं प्राप्त कर पाते, जो जीवन का लक्ष्य है।

अर्जुन के यह पूछने पर कि न चाहते हुए भी मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है, भगवान् ने इसका कारण इच्छा को बताया। ये रजोगुण से उत्पन्न होती हैं तथा इनकी भूख कभी मिटती नहीं। काम महापापी है। इसे ही भगवान् ने बलवान् शत्रु बताया।

क्रोध, कामना से अलग नहीं है। जब किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, मन अशान्त हो जाता है और किसी कारण इच्छा की पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है, तो क्रोध हो जाता है।

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता 2/62)

काम से क्रोध उत्पन्न होता है।

हमारी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक इच्छाएँ ज्ञान को किस प्रकार आच्छादित कर लेती है, इसके लिये भगवान् ने तीन उदाहरण दिये हैं- धुएँ से अग्नि, धूल-कण से दर्पण तथा गर्भाशय से भ्रूण। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि इच्छाओं के रहने के स्थान हैं। इन्हीं के माध्यम से कामनाएँ ज्ञान को आवृत करती हैं, जिससे हम मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये पहले हमें इन्द्रियों को संयमित करना चाहिये। इन्द्रियों को संयमित करने हेतु हमें इच्छाओं के मूल कारण-इन्द्रियों का उनके विषयों की तरफ भागने तथा उनसे सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति है, इसलिये उन्हें उनके विषयों से लौटाकर इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में स्थित करके निश्चिन्त हो जाना चाहिये। इस अभ्यास से कामनाओं का नाश हो जायेगा।

जीवन जीने के दो मार्ग हैं- प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। इसे प्रेय तथा श्रेय मार्ग भी कहते है। प्रवृत्तिमार्ग में स्वार्थपूर्ण कर्म करते हुए मनुष्य इच्छाओं की पूर्ति करता रहता है। अथक परिश्रम करने के बाद भी जब वह पाता है कि न तो उसकी इच्छायें सन्तुष्ट हो रही हैं और न ही उसे शान्ति मिल रही है, तब अन्त में वह निवृत्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। इच्छा, कर्म तथा ज्ञान पहले भी था तथा निवृत्ति मार्ग में भी रहता है, परन्तु अन्तर यह होता है कि अब इच्छा, सांसारिक पदार्थों की न होकर भगवत्-प्राप्ति की होती है। इच्छा सङ्कल्प में बदल जाती है। कर्म स्वार्थपूर्ण न होकर यज्ञभावना से दूसरों के हित के लिये होने लगते हैं, तथा जहाँ वह सृष्टि की विविधता देखता था, सभी भिन्न-भिन्न दिखाई दे रहे थे, अब उसे सबमें अन्तर्निहित परमात्मतत्त्व का दर्शन होने लगता है।

निवृत्तिमार्ग में जाने पर भी पूर्णरूपेण आत्मनियन्त्रण करना सरल नहीं होता। कठिनाई यह होती है कि विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु इन्द्रियों की विषयों के साथ संयोग से पूर्व में जो रस-सुखानुभूति प्राप्त हो चुकी है, उसका स्मरण होता रहता है। स्मरण से रसानुभूति होती है, और इन्द्रियों का तथा मन का पूर्ण नियन्त्रण तबतक नहीं माना जा सकता, जबतक रस लेने की चाह शेष हो। यह रस प्राप्ति राग-द्वेष दोनों से होती है। विषयों के चिन्तन से उसमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से ही कामना की उत्पत्ति होती है। कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध होता है, क्रोध तथा मोह से अविवेक उत्पन्न होता है। मोह ही स्मृतिनाश का कारण है। ऐसी स्थिति होने पर हमारी बुद्धि अपने शान्त, आत्मस्वरूप को देखना बन्द कर देती है, अर्थात् बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट होने पर तो हम मोह, क्रोध, दुःख के स्वरूप ही हो जाते हैं। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने श्रद्धेय गुरु, माता-पिता का भी तिरस्कार करने लगता है। मनुष्य का मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता है।

विषयों के स्मरण से रस प्राप्त करने की प्रवृत्ति केवल इन्द्रियों तथा मन के नियन्त्रण से सम्भव नहीं है। यह कार्य 'योग' द्वारा सम्भव है; क्योंकि योग हमारी इन्द्रियों, मन, बुद्धि,

जो उपकरण मात्र हैं, से श्रेष्ठ है। अतः इस हेतु हमें अन्तर्यामी ईश्वर के प्रति समर्पित होना चाहिये। उसकी शरण में जाना चाहिये तथा उसी से प्रार्थना करनी चाहिये। विषयों के रस की निवृत्ति, बुद्धियोग द्वारा उस परमतत्त्व को सर्वश्रेष्ठ समझकर, उसके प्रति पूर्णभाव से समर्पित होकर हो सकती है। इसीलिये श्रीकृष्ण हमें अपना मन, बुद्धि उन्हें अर्पित करने, चित्त को उनमें स्थिर करने, उन्हीं को केन्द्र में रखकर कर्मों को करने हेतु कहते हैं, और अन्त में सबकुछ छोड़कर उनके शरण में जाने को कहते हैं।

कामना रहित होने तथा लक्ष्य की प्राप्ति में शीघ्र सफलता पाने हेतु निम्न साधना उपयोगी होगी।

1. इन्द्रियों को संयमित करें तथा इच्छापूर्ति हेतु अनेक पदार्थों को पाने के लिए भाग-दौड़ बन्द करें।
2. पृथ्वी पर सभी शक्तियों की प्रवृत्ति व्यक्तीकरण की होती है। ये ताकतें पदार्थों के साथ आती हैं। इन पर रोक लगायें। प्रारम्भ में ये ताकतें इन बाधाओं को तोड़ने का प्रयास करेंगी, परन्तु बाद में थक जायेंगी। व्यक्त न होने पर वापस लौट जायेंगी तथा हमें शान्त छोड़ देंगी।
3. हम कुछ नहीं करते। परमात्मा के विधान से सब हो रहा है। यह विश्वास दृढ़ करें।
4. मेरी कोई इच्छा नहीं है। परमात्मा सर्वज्ञ हैं, वे हमारे परम हितैषी हैं। उनकी इच्छा से जो कुछ होगा, उसमें हमारा कल्याण होगा, यह भाव रखें।
5. सभी बाह्य तथा आन्तरिक आवेगों के लिये हमारे दरवाजे बन्द हैं। मेरे लिये उनका कोई अस्तित्व नहीं है। उनके क्षेत्र से मैं बाहर हूँ। इस भावना से परमात्मा के अतिरिक्त सभी कुछ हमारी चेतना से बाहर हो जायेगा।

स्वभाव तथा स्वधर्म

सिद्धि-प्राप्ति की साधना बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस परमात्मा से प्राणिमात्र की उत्पत्ति हुई है, तथा जिससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों द्वारा पूजा करके विवेकशील मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। यहाँ कर्मों से तात्पर्य यज्ञार्थ कर्मों से है। अर्थात् ऐसे कर्म जो विश्व के कल्याण की भावना से, निःस्वार्थ तथा समर्पण की भावना से युक्त हों। हमें कर्म, आसक्ति तथा अहङ्कार-रहित होकर करने चाहिये। कर्म कौन से तथा किस प्रकार के हों? कर्म अपने स्वभाव तथा स्वधर्म के अनुसार हों। स्वभाव=पूर्वार्जित संस्कार-वासनाएँ।

गीता में स्वभाव अध्यात्म को कहते हैं 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (गीता 8/3)। अध्यात्म-आत्मनि अधि-अपने भीतर जो है, वह अध्यात्म है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वभाव हमारे असंख्य पूर्व जन्मों के कर्मों का समुच्चयरूपी संस्कार है। ऐसे स्वभाव को लाँघना बड़ा कठिन है। कर्मफल से बँधने का कारण स्वभाव के वशीभूत होना है। यदि हम स्वभाव का अतिक्रमण कर सकें, अन्तःकरण स्थिर और मन-बुद्धि हमारे वश में हो जायँ, हम वशी हो जायँ, यदि कामनारूपी अज्ञान का पर्दा हमारे ज्ञान को ढक न ले तो हम कर्मबन्धन से मुक्त हो सकेंगे। फलाशा के त्याग से अहङ्कार का त्याग स्वभावतः हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्राह्मणादि वर्ण का सम्बन्ध स्वभाव के साथ है। स्वभाव=प्रकृति से गुण पैदा होते हैं, जिनके अनुसार कर्म का सम्पादन होता है। मनुष्य को परख करनी चाहिये कि उसके अन्दर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रकारक इन चार वृत्तियों में से कौन सी वृत्ति का प्रभाव सर्वाधिक है, फिर उसके अनुसार जीवन को संघठित करना चाहिये।

यदि हमारे अन्दर शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता तथा आस्तिकता की प्रधानता है, तो हमारी ब्राह्मण-वृत्ति है। शौर्य, तेज, दान, संघर्ष का सामना करने की प्रवृत्ति तथा ईश्वर-भाव की प्रधानता क्षत्रिय में स्वाभाविक होती है। अर्थ प्राप्त करना तथा उसकी प्राप्ति-हेतु प्रयास करते रहने की रुचि वैश्य-वृत्ति का लक्षण है। शूद्र-वृत्ति के लिए गीता में 'परिचर्या' शब्द का प्रयोग है। 'परिचर्या' का अर्थ सेवा है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि, किसी के प्रति स्वाभाविक झुकाव तथा अपने स्वभाव का विश्लेषण करके अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में निर्णय लेना चाहिये।

स्वधर्म अर्थात् सहज कर्म। 'सहज कर्म' से तात्पर्य उन वासनाओं, संस्कारों से है जिनके साथ मनुष्य का जन्म होता है। भगवान् का कथन है कि यदि स्वकर्म दोषयुक्त हों तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। इनसे सञ्चित वासनाओं का क्षय होता है। चित्तशुद्धि होती जाती है। 'अनासक्तियोग' में स्थिरता आती है। 'स्वधर्म माने अपना कर्त्तव्य'। गीता की शिक्षा का केन्द्रबिन्दु कर्मफल का त्याग है, और स्वकर्म करते हुए दूसरा उत्तम कर्तव्य ढूँढ़ने में फल के त्याग का स्थान नहीं रहता। इसी से स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा गया है। सभी धर्मों का फल इसमें आ जाता है।

तीन कर्म जो मनुष्य को करने ही चाहिये वे हैं-'यज्ञ, दान और तप।' वेदों में भी इन कर्मों को करने की बात कही गयी है, पर वहाँ वर्णित कर्म बाह्य कर्म के रुप में थे। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हें नये रूप में परिभाषित किया है तथा इनको मनुष्यों के गुणों पर आधारित, आन्तरिक विशेषताओं को जोड़कर प्रस्तुत किया है, जिससे चित्तशुद्धि होती जाय तथा मनुष्य उत्तरोत्तर निम्नस्तर से आध्यात्मिक प्रगति करते हुए अपने परम लक्ष्य को पाने में सफल हो जाय। जहाँ यज्ञ का प्राचीन अर्थ यज्ञ-कुण्ड में हवन-आदि था, वहाँ गीता में सभी कर्मों को अहङ्कार तथा आसक्तिरहित होकर लोकसंग्रह हेतु, ईश्वरार्पण बुद्धि से कार्य करने को कहा गया है, जिनसे वासनाओं का क्षय होता है। दान का अर्थ जहाँ अहङ्कारपूर्ण दान से सम्बन्धित था, वहाँ गीता में सबको अपना ही अङ्ग समझकर, सबसे एकत्व का भाव स्थापित करके, समाज के कल्याण के लिये अहङ्कार रहित होकर अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु को योग्य पात्रों में देने-वितरण की बात कही गयी। दान की क्रिया को कर्त्तव्य समझकर, प्रत्युपकार की भावना से रहित होकर, दिक्-काल को ध्यान में रखकर, योग्य पात्र को दिया गया दान, उत्तम-सात्त्विक माना गया है। शरीर, वाणी, मन आदि से होने वाले तप के वर्गीकरण का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति है। श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर-भाव, अन्तःबाह्य-स्वच्छता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं शरीर सम्बन्धी अहिंसा उद्वेगरहित, प्रिय, हितकारक तथा सत्य से पूर्ण भाषण वाणी का तप तथा मन की प्रसन्नता, आत्मसंयम, मौन तथा चित्तशुद्धि मन का तप कहलाता है।

गीता के अनुसार निम्न तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं-

1. प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अपना कुछ विशेष होता है, उसके स्वभाव की जन्मजात शक्ति होती है, ताकि वह अपने कर्म-द्वारा उस शक्ति को व्यक्त कर सके। इसलिये मनुष्य के प्रत्येक कार्य का निर्धारण उसके अन्दर से होना चाहिए। अर्थात् उसकी वासनाओं तथा उनके अनुसार प्राप्त आन्तरिक शक्ति के अनुसार कार्य का निर्धारण होना चाहिये।
2. मुख्य रूप से चार प्रकार का स्वभाव होता है और जिस स्वभाव में मनुष्य स्थित है, उस स्वभाव के अनुसार ही मनुष्य का कार्यक्षेत्र तय होना चाहिये। तभी उसकी सबसे अच्छी प्रगति सम्भव है।
3. मनुष्य जो कुछ भी करता है, देखने में वह कार्य अच्छा हो या बुरा, यदि वह सही माने में उसके स्वभाव के अनुसार है, तो उसके द्वारा कृत कार्य ईश्वर की पूजा हो जायेगा और वह अपने कार्य को आध्यात्मिकपूर्णता का साधन बना सकता है।

मूल सत्य वाह्य कर्म नहीं हैं, वल्कि हमारी अन्तःशक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में चारों प्रवृत्तियाँ होती हैं=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रवृत्ति। परन्तु इन चार प्रकार की शक्तियों=ज्ञानशक्ति, दण्डशक्ति, वित्तशक्ति तथा श्रमशक्ति में से किसी एक की प्रधानता होती है और वही उसका स्वभाव है। अतः हमको अपने स्वभाव के अनुसार, पूर्वार्जित वासनाओं के अनुसार प्राप्त सहज कर्म को पूरे मन से करते रहना है। स्वधर्म का पालन करते हुए अपने अन्दर स्थित प्रवृत्तियों से अन्तः संघर्ष करते हुए आगे बढ़ना है। तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सत्त्वगुण तथा उसका भी अहङ्कार न रखकर गुणों के पार जाना है। यदि हम अपने सभी कर्मो को अपने अन्दर स्थित परमात्मा की पूजा मानकर करते जायँ, उस पुरुषोत्तम को सभी कर्म सौंपकर उसकी शरण ग्रहण कर लें, श्रीकृष्ण के आदेश 'मयि संन्यस्य कर्माणि' सब कर्मो को मुझे सौंपकर तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सब धर्मो को छोड़कर 'मामेकं शरणं व्रज' आत्मस्वरूप जो सबका अधिष्ठान है, उसी की शरण ग्रहण कर लें, उसी को सर्वस्व मान लें, जान लें, पा लें तो हम आत्म-साक्षात्कार कर लेंगे- परमात्मा से अभिन्न हो जायेंगे।

कर्म-विकर्म-अकर्म

सृष्टि में विना कर्म किये कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता। श्वास-प्रश्वास के बिना हम जी नहीं सकते। यह भी कर्म ही है। यदि हम शान्त बैठे हुये हैं और सोचते हैं कि हम कर्म नहीं करते तो यह हमारी भूल है। ऐसी अवस्था में हम तमोगुण में रहते हैं, तथा आलस्य के कारण शरीर का सुख मिलता है। इससे अच्छा तो किसी प्रकार का कार्य करना श्रेष्ठ है। ऐसे कर्म, जो मनुष्य को पशुत्व में ढकेल दें, जो मनुष्यत्व की श्रेणी से गिरा दें, जिसे करके उसे स्वयं ग्लानि का अनुभव हो, जो शास्त्र द्वारा निषिद्ध हों, जो धर्म के विपरीत हों, जिस कार्य से समाज की व्यवस्था में बाधा पड़ती हो, जिस कार्य से ईश्वर को प्रसन्नता न हो-ईश्वरीय प्रसन्नता की कसौटी कार्य के बाद स्वयं की प्रसन्नता है,- जिस कर्म को हम पूजा के रूप में भगवान् को अर्पण न कर सकें-ऐसे सभी कर्म विकर्म कहलाते है तथा वे त्याज्य है। चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण विकर्म हैं। इन्हें नहीं करना चाहिये।

विकर्म-विकृतिपूर्ण कर्म करने की अपेक्षा, काम्य कर्म करना अच्छा है। काम-क्रोध-लोभ आदि विकारयुक्त कर्म तो नहीं ही करने चाहिये। काम्य कर्म की अपेक्षा शास्त्रविहित काम्य कर्म अच्छा है। शास्त्रविहित काम्य कर्म से श्रेष्ठ, निष्काम कर्म है। कहा है कि-

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

किये हुए शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना होता हैं। इसका कारण कर्त्तृत्वभाव से तथा फल की आशा रखकर कर्म करना है। मैं कर्त्ता हूँ- यह अहङ्कार तथा फलेच्छा हमको कर्म से बाँधती है। जबतक हम कर्म से बँधे रहेंगे, तब तक संसार के आवागमन=जन्म-मृत्यु से छुटकारा सम्भव नहीं, चाहे करोड़ों जन्म बीत जायँ। भगवान् के अवतार लेने का स्थूल कारण तो दुष्टों का नाश तथा धर्म की स्थापना है, परन्तु एक मुख्य कारण लोगों को अपने आचरण, अपने कर्म से यह दिखाना है कि कर्म करते हुए किस प्रकार कर्म-बन्धन से मुक्त रहा जा सकता है।

भगवान् ने 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मों में कुशलता को योग कहा है। कुशलता से तात्पर्य यहाँ कार्य में दक्षता प्राप्त करना नहीं है। कुशलता से तात्पर्य यह है कि कर्म किस प्रकार किया जाय कि जो कर्म का दोष- कर्मबन्धन है, उससे मुक्त रहा जा सके। अर्थात् हमारा कर्म, अकर्म हो जाय। इस हेतु उन्होंने स्वयं अपना उदाहरण दिया है। चारों वर्णो की सृष्टि करके भी वे अकर्त्ता तथा अव्यय हैं, क्योंकि उन्हें न तो कर्तृत्व का भाव है, और न उन्हें कर्मफल की स्पृहा है। अतः यदि हम भी कर्तृत्वासक्ति और फलासक्ति से रहित होकर कर्म करें, तो हम कर्म के दोष-बन्धन से मुक्त रह सकेंगे। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि शास्त्रविहित कर्म-यज्ञादि करने से शुभ फल की प्राप्ति होगी, परन्तु बन्धनमुक्त नहीं हो सकेंगे। विकर्म तो अधोलोक में ले जाते हैं। अकर्म बन्धनकारी नहीं होते है। अकर्म क्या है?

अपने नियत कार्यों को छोड़कर बैठ जाना अकर्म नहीं है। निरन्तर कार्य करते हुए भी पुरुष के ऐसे सारे कर्म अकर्म हैं, जो कर्त्ता की भावना तथा फल की आशा रखकर न किये जायँ। इसके अतिरिक्त जिसके सभी कर्म कामना के सङ्कल्प से रहित हों, जिसने कर्मफल की स्पृहा से अपने को मुक्त कर लिया हो, जिसने अपने को अकर्त्ता मान लिया हो, जो अपने में सन्तुष्ट रहता हो, जो किसी पर आश्रित न हो; जिसे किसी चीज़ की आशा न हो, जिसने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली हो, जो शरीर यात्रा चलने मात्र को ध्यान में रखकर न्यूनतम परिग्रह रखता हो, जो विना कामना अपने आप प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट हो, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि से ऊपर उठ गया हो, ईर्ष्यारहित हो, सिद्धि-असिद्धि में सम रहता हो, उसके कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो चुके हैं। वह निरन्तर कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। भगवान् ने उस मनुष्य को बुद्धिमान, योगी तथा कर्मयोगी माना है,जो कार्य को करते हुए उससे असङ्ग रहे तथा कर्म न करते समय कर्त्तापन के सूक्ष्मभाव को देखे। ऐसे मनुष्य का कर्म, अकर्म है। कर्म को अकर्म बनाने हेतु भगवान् ने एक बहुत प्रभावशाली, सरल तरीका बताया है कि अपने सभी कर्मों को यज्ञ बना दें।

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।' (गीता 4/23)

यज्ञ के लिए किया गया कर्म पूर्णतः विलीन हो जाता है। अतः हमें लोकहित के लिए अकर्तृत्वभाव से, अनासक्त रहकर, फल की इच्छा से रहित होकर, समबुद्धि से अपने सभी

कर्म करने चाहिये। इस प्रकार से किये गये कर्म बन्धनकारी नहीं होंगे। हमारे सभी कर्म अकर्म हो जायेंगे। जो कर्म को अहङ्काररहित, फलाशारहित, चेतना को शुद्ध रखते हुए, उससे अलिप्त रहकर यह अनुभव करता हुआ कि प्रकृति कार्य कर रही है, मैं नहीं कर रहा, मेरे माध्यम से भगवती शक्ति काम कर रही है, भगवान् की कर्मशक्ति मेरे माध्यम से कार्य कर रही है, मैं उसका उपकरण मात्र हूँ, कार्य करता है, तो उसका यह कर्म 'अकर्म' हैं।

अहङ्कार में काम छोड़ देना, गैरिक वस्त्र धारण कर लेना, काम का चिन्तन करते रहना-यह अकर्म में कर्म है। किसका कर्म, अकर्म होता है- जिसके सारे कर्म कामना के सङ्कल्प से रहित होते हैं। जब अकर्ता, कर्मफल की स्पृहा से मुक्त हो जाता है तो ज्ञान की अग्नि में उसके कर्म जल जाते हैं। अकर्ता, कामनारहित तथा प्रकृति की लीला में साक्षीमात्र होता है। आत्मतृप्त ही तृप्त हो सकता है।

यदृच्छा- विना प्रयास, कामना के जो स्वयं प्राप्त हो, सिद्धि-असिद्धि में सम। बन्धन की क्षमता जिस कर्म में न हो वह अकर्म है। ऐसे कर्म में असङ्गतता होगी, फलाशा नहीं होगी, अकर्तृत्व होगा। दर्पण की तरह अनासक्ति। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानी नहीं। जिसका चित्त ज्ञान में अवस्थित होकर कार्य करता है, नाम-रूप में नहीं, परमात्मा में स्थित होकर कर्म करता है उसका कर्म 'अकर्म' होता है। कर्मयोग का सबसे महत्वपूर्ण श्लोक है-

"यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।" (गीता 4/23)

कर्त्ता

'कर्त्ता' कौन है- जिसके द्वारा सभी क्रियायें हो रही हैं? आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, शाश्वत, अजन्मा, अविनाशी है। वह तो कोई कार्य करता नहीं। शरीर, मन बुद्धि, अहङ्कार सभी जड हैं। इस कारण कार्य कर नहीं सकते। तो कार्य कैसे होता है? कार्य होता है चित् आत्मतत्त्व तथा जड अन्तःकरण की ग्रन्थि से। यद्यपि ये दोनों विजातीय है, और ग्रन्थि तो सजातीय पदार्थों, तत्वों में स्वभाविक रूप से होती है, परन्तु भगवान् की लीला, माया का कमाल कि चित्-जड़ ग्रन्थि पड़ जाती है और उसी के द्वारा सब कार्य किये जाते हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। लोहे का एक चौकोर टुकड़ा प्रज्वलित अग्नि में थोड़ी देर रहने पर लाल हो जाता है। उसमें दाहकता शक्ति, जो अग्नि का गुण है, आ जाती है। अग्नि का गुण प्रकाश भी उसमें आ जाता है। अर्थात् काला तथा ठण्डा लोहा, लाल तथा गर्म हो जाता है जिसका अर्थ है कि लोहे ने अग्नि से सम्पर्क के कारण अग्नि का गुण ले लिया। अग्नि का कोई रूप नहीं होता, परन्तु वह भी चौकोर दिखाई देती है, अर्थात् अग्नि ने लोहे का रूप ले लिया। इस प्रकार आत्म तत्त्व के सम्पर्क में हमारा अन्तःकरण सक्रिय हो जाता है और यह आभास ही कार्य करता है। चित्-आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर पहले 'अहं' खड़ा हो जाता है, जिसे हम छुद्र अहङ्कार या 'मैं' के नाम से जानते हैं। जब इस 'मैं' का तादात्म्य शरीर से होता है तो हम कर्त्ता, जब मन से होता है तो भोक्ता-सुखी-दुःखी और जब बुद्धि से होता है, तो बुद्धिमान् हो जाते हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के बाह्य करण हैं तथा मन-बुद्धि चित्त-अहङ्कार अन्तःकरण कहलाते हैं। एक ही अन्तःकरण, सङ्कल्प करने पर 'मन', दृढ़ निश्चय करने पर

'बुद्धि', अनुभव कोष को सञ्चित मानने पर 'चित्त' तथा पृथक् अस्तित्व मानने पर अहङ्कार कहलाता है।

भगवान् ने कहा है कि सभी क्रियायें प्रकशति के गुणों द्वारा सम्पन्न होती हैं। अहङ्कार के वशीभूत होकर हम अपने को कर्त्ता मान लेते है। वास्तव में क्रियायें तो चित् आत्म-तत्त्व के अन्तःकरण में पड़े आभास के द्वारा होती हैं, चित्-जड़ ग्रन्थि द्वारा होती है। यद्यपि ग्रन्थि झूठी है, परन्तु आत्मतत्व के ज्ञानके विना इसका अनुभव नहीं होता है। इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है -

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।। (रा०च०मा०-उ० 116/4)

यहाँ ज्ञान से तात्पर्य इस दृढ़ विश्वास से है कि सर्वत्र-सदा सब चीजों में एक ही तत्त्व परमात्मा व्याप्त है या सबको अलग-अलग देखते हुए भी यह समझना है कि सब कुछ एक दूसरे पर निर्भर है, स्वतन्त्र कुछ नहीं। मनुष्य के शरीर, वाणी तथा मन से जो भी कर्म किये जाते हैं, उनकी सिद्धि के लिए पाँच कारण हैं, जिनमें कर्त्ता एक है। अन्य कारण हैं- शरीर, इन्द्रियादिकरण, पृथक-पृथक चेष्टाएं तथा इन्द्रियों के देवता, जिनके अनुग्रह के विना इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः अपने को किसी कार्य का कर्त्ता मान लेना अहङ्कार ही है। कर्तृत्त्व के अभाव में मनुष्य को किसी प्रकार का वन्धन नहीं होता।

कर्त्ता भी तीन तरह के होते हैं-ऐसा पुरुष जिसका दृढ़ निश्चय है कि कोई उपलब्धि अकेले पुरुष की नहीं हो सकती, जिसने अपने अहङ्कार को ईश्वर को समर्पित कर दिया है; जो कर्म के फल, व्यक्तियों, वस्तुओं से आसक्ति से रहित है; जो धैर्य तथा उत्साह से युक्त है, जो सिद्धि-असिद्धि में हर्ष-शोक आदि विकारों से मुक्त है- उसे सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं। सभी कर्मफल का इच्छुक, लोभी, हिंसक स्वभाव वाला, अशुद्ध एवं हर्ष-शोक से युक्त कर्त्ता राजस तथा असभ्य, असंस्कृत बुद्धिवाला, नम्रता के भाव से रहित, मायावी, दूसरे की आजीविका नष्ट करने वाला, आलसी, उदासीन रहने वाला, कार्य को टालने वाला कर्त्ता तामस कहलाता है। वह किसी व्यक्ति के पद, पैसा, नाम तथा ख्याति आदि को महत्व देता है।

सङ्कल्पित शक्ति भी कई प्रकार की है। सबसे उत्तम कोटि की सङ्कल्पशक्ति, जिसे सात्त्विकी कहते हैं, की दशा यह है कि मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य के प्रति योग के द्वारा संयम रखते हुए सदैव जाग्रत है। मध्यम कोटि की सङ्कल्पशक्ति, जिसे राजसी कहते हैं, में मनुष्य अपने निर्णय को अलग-अलग समय पर बदलता रहता है। निम्न कोटि की सङ्कल्पशक्ति, जिसे तामसिक कहते हैं, करने वाला मनुष्य असत्य-अधर्म की स्थिति में रहता है। गलत तरीकों के प्रति उसकी आसक्ति रहती है तथा दोषपूर्ण कार्यों को ही अच्छा समझकर करने में वह संलग्न रहता है।

इसी प्रकार मनोभाव की भी तीन दशायें हैं। प्रारम्भ में भले ही कष्टप्रद परन्तु परिणाम में उत्तम स्थिति सर्वोत्तम है। इस भाव को सात्त्विक कहते हैं। मध्यम कोटि का मनोभाव जिसे राजस कहते है, प्रारम्भ में इन्द्रियों के अनुकूल तथा उन्हें सुख देने वाला, परन्तु अन्त में दुःखद होता है और इस प्रकार के कार्य के लिए व्यक्ति पश्चात्ताप भी करता है। निम्न कोटि का मनोभाव, जिसे तामसिक कहते है, यह मनुष्य जीवन के मूल्यों की कोई परवाह न करके समझ तथा तर्क पर आधारित न होकर केवल इन्द्रियों के भोग में संलग्न रहता है।

अनासक्ति-असङ्गता

आसक्ति कहते हैं सङ्ग-सम्बन्ध को। किसी चीज से इस प्रकार सट जाना कि छोड़ न सके, अर्थात् किसी व्यक्ति, अवस्था, वस्तु आदि से इतना प्रेम हो जाना कि छूटना मुश्किल हो जाय- आसक्ति कहलाता है।

राग-द्वेष हमारे जीवन के दोष हैं। राग के कारण किसी पर आश्रित हो जाने, अधिक प्रेम करने तथा द्वेष के कारण किसी से दूरी बनाकर रखने की परिस्थितियों में समता का भाव बनाकर रखना अनासक्ति है। अनासक्त व्यक्ति किसी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। शास्त्रों में वैराग्य-भाव का जो वर्णन है, उसे ही गीता में अनासक्ति का नाम दिया गया है। अन्तर यह है कि जहाँ वैराग्य, निवृत्ति मार्ग वालों के लिए था, संन्यास आश्रम के लिए था, एक वर्ग विशेष के लिए था, जिसमें त्याग की प्रधानता थी तथा घर छूट जाता था, परन्तु अनासक्ति में घर नहीं छोड़ना पड़ता, तथा प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए, वैराग्यभाव का पूरा लाभ मिलता है। अनासक्ति बिना किसी भेदभाव किसी एक वर्ग विशेष के लिए न होकर सबके लिए है। निवृत्त होकर असङ्ग रहना या समाज में होकर असङ्ग रहना गीता को मान्य नही है। अपने कर्त्तव्य कर्मों को पूरी ईमानदारी से करना, भीड़ में रहकर कार्य करना, युद्ध करना, जीवन के अन्तिम क्षण तक सब कुछ करते रहना, परन्तु अन्दर से- मन में-असङ्गता का भाव बना रहे-यह गीता की अनासक्ति है। हमें अनासक्त रहकर धन कमाना, पूर्ण-कार्य करना, सिद्धि-असिद्धि में सम रहते हुए कार्य करना है।

आसक्ति किसी विषय को अनुकूल, सुखदायक, सुन्दर मानकर उसका निरन्तर चिन्तन करने से उत्पन्न होती है। कुछ अनुकूल पाकर बहुत प्रसन्न न होना तथा प्रतिकूल प्राप्ति पर शोक न मनाना 'अनासक्ति' का लक्षण है। जीवन में किसी गड़बड़ी का प्रारम्भ आसक्ति से होता है, जिसकी पूर्णाहुति विनाश से होती है। गीता में व्यक्ति के विनाश के क्रम को बताते हुये भगवान् ने कहा है-

विषयों के चिन्तन से उसमें आसक्ति होती है। आसक्ति से इच्छा, इच्छा पूरी न होने पर क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृति के भ्रमित होने पर बुद्धि का नाश तथा इससे मनुष्य का नाश हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामना, क्रोध तथा मोह का मूल कारण आसक्ति ही है। बुद्धिनाश तथा मनुष्य के नाश के मूल में भी आसक्ति ही है। बुद्धिनाश होने पर मनुष्य का व्यवहार पशुवत् हो जाता है। नाश होने का तात्पर्य है कि मनुष्य का जीवन ही व्यर्थ चला जाता है; क्योंकि मनुष्य जीवन के पास परम पुरुषार्थ-मोक्ष को प्राप्त करने की कोई सम्भावना शेष नहीं रहती।

शान्ति प्राप्त करना गीता का मुख्य लक्ष्य है। शान्ति किस तरह से प्राप्त की जा सकती है- इसका उपाय बताते हुए भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष सब कामनाओं तथा विषयों के प्रति लालसा-आसक्ति, ममता तथा अहङ्कार रहित होकर विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त कर लेता है। वे कर्मबन्धन से मुक्ति-हेतु अनासक्त होकर कर्म करने का आदेश देते हैं।

अनासक्ति का यह अर्थ नहीं है कि हम घर, परिवार तथा अपने स्वधर्माचरण को छोड़ दें। जीवन में एक लक्ष्य रखना ठीक है। पूरे मन से उसके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। अनासक्ति का बहाना लेकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को छोड़ देना, अन्तःकरण में राग-द्वेष तथा

बुराइयों को लिये हुए ही तथा बिना कुछ पुरुषार्थ किये संसार से पलायन करना उचित नहीं है। परन्तु कार्य के फल की आशा रखकर कार्य करना तथा उस फल का चिन्तन करते रहना ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि किसी भी कर्म के पूर्ण होने में पाँच कारण-शरीर, जीव, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा दैव है। यदि कार्य इच्छानुसार पूर्ण हो जाता है तो अहङ्कार पैदा होता है तथा व्यक्ति अहङ्कार युक्त दूसरा कार्य प्रारम्भ कर देता है। यदि कार्य पूर्ण नहीं होता हैं, तो मनुष्य अवसाद में पड़ जाता है। फलाशा रखकर कार्य करने में व्यक्ति अपनी पूरी ऊर्जा भी नहीं लगा पाता; क्योंकि कार्य की सफलता के बारे में वह सोचता रहता है।

ज्ञानमार्ग में आत्म-अनात्म का विवेक जागृत करके अर्थात् यह भाव जागृत कर कि-हम शरीर-मन-बुद्धि के द्रष्य हैं-इनसे असङ्ग हैं, आत्मा सबसे असङ्ग है-समता में स्थित रह सकते हैं। राग-द्वेष के दोष से मुक्त हो सकते हैं।

भक्तिमार्ग में जैसे-जैसे हम भगवान् से प्रीति बढ़ाते जाते हैं, उनके प्रति समर्पित होते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी आसक्ति संसार से कम होती जाती है, तथा हम राग-द्वेष से मुक्त होते जाते हैं।

जब हम कर्मयोगी रहते हैं तो समता के भाव में स्थित रहने के कारण राग-द्वेष से मुक्त रहते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति के स्वरूप पर विचार करने पर भी हमारी आसक्ति कम हो जाती है।

अनासक्ति का यह भी अर्थ नहीं है कि हम जीवन का आनन्द न लें, अपने जीवन को नीरस बना दें। परन्तु हमारा लक्ष्य सांसारिक उपलब्धियों की अपेक्षा सन्तोष एवं शान्ति का होना चाहिये। आसक्तियुक्त, स्वार्थपूर्ण, फलाशा के साथ किये गये कार्य की सिद्धि पर हमें सुख की अनुभूति होती है, परन्तु अनासक्त होकर बिना फल की कामना लिये, दूसरों के कल्याण हेतु कार्य करने में हमें आनन्द की अनुभूति होती है। आनन्द की तुलना सुख से नहीं की जा सकती।

अनासक्ति, दूसरों के हित के लिये त्याग में, ईश्वर शरणता में प्रमुख कारण है। भगवान् सब कुछ करते हुए कहीं लिप्त नहीं होते। हमें भी ऐसा ही करना चाहिये। संन्यासी के लिए भी नैष्कर्म्य सिद्धि-स्वरूप में सम्यक् स्थिति-प्राप्त करने हेतु आसक्तिरहित होना आवश्यक है। संन्यासदीक्षा के समय मुण्डन-क्रिया, आसक्तिरहित होने की क्रिया है। गीता में प्रथम बार योग को परिभाषित करते समय जहाँ 'समता' को योग कहा गया, वहाँ भी सिद्धि-असिद्धि में सम रहते हुए तथा आसक्तिरहित रहकर कर्म करने को कहा गया है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। (गीता 2/48)

अतः संन्यास-आश्रम में वैराग्यभाव का आश्रय लेकर परमात्म-प्राप्ति करनी हो, चाहे मनुष्य जीवन के एक प्रमुख दोष=राग-द्वेष से मुक्ति पानी हो, चाहे मन की शान्ति प्राप्ति करनी हो, चाहे किसी व्यक्ति को अपने स्वधर्म का निर्वहन बिना उद्विग्न हुए सफलतापूर्वक करना हो-सबके लिए अनासक्त होकर कर्म करना श्रेयस्कर है।

यज्ञ भावना

यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ देवपूजन, इकट्ठा करना तथा समर्पण के सन्दर्भ में अलग-अलग होता है। सामूहिक रूप से त्याग तथा समर्पण के भाव से देवताओं का पूजन यज्ञ कहलाता है। वैदिक कर्मकाण्डों में यज्ञ का बहुत महत्त्व है। यह स्थूल यज्ञ है। इसमें अहङ्कार तथा भूलवश अपनी मानी हुई वस्तु पर अपना अधिकार हटाकर, लोक कल्याण की भावना से परमशक्तियों को अर्पित किया जाता है। वैदिक दृष्टि इस स्थूल क्रिया को, जीवन की प्रत्येक क्रिया में सूक्ष्म रूप से करने की रही है, ताकि हमारा सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय हो जाय।

आत्म-अनात्म विवेक के द्वारा अनात्म वस्तु का निषेध तथा परमात्मा के पारमार्थिक सत्यस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना यज्ञ के अन्तर्गत है।

जब इन्द्रियाँ ऐसे विषयों पर केन्द्रित होती है, जो इच्छाओं के उच्चीकरण में मदद करती है, तो उच्चतर आदर्श-अच्छाई के लिये किया गया यह कार्य 'यज्ञ' कहलाता है। जब मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ एक साथ आत्मा-आन्तरिक चैतन्य पर केन्द्रित होते हैं तो यह क्रिया एक 'यज्ञ' है।

जब प्राण-शक्ति का श्वास-प्रश्वास के माध्यम से पूरक, कुम्भक, रेचक के रूप में नियमन होता है तो एक 'यज्ञ' की पूर्ति होती है। कोई कर्म जिसके द्वारा बाह्य इन्द्रियों तथा मन को अन्तर्मुखी होने की प्रेरणा मिले तथा जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण चेतना को अपने अस्तित्व, चेतन तत्त्व पर केन्द्रित करने का हो, एक महान् 'यज्ञ' है। जब भी हम अपनी प्रसन्नता को एक दूसरे के साथ बाँटते है, तो यह क्रिया एक 'यज्ञ' है।

समग्र भूत मात्र के कल्याण के उद्देश्य से स्वार्थरहित किये गये कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं।

कर्म प्रारम्भ करते समय कर्मयोगी के मन में ऐसे प्रश्न रहते हैं कि जो कर्म मैं करने जा रहा हूँ, क्या उनसे हमारी चित्तशुद्धि होगी? क्या मेरे द्वारा किये गये कार्य से लोक कल्याण होगा? क्या ईश्वर मेरे कार्य से प्रसन्न होंगे? ईश्वर की प्रसन्नता की कसौटी यह है कि कार्य के सम्पन्न होने पर कर्त्ता के मन को शान्ति, प्रसन्नता मिली या नहीं।

पूरी सृष्टि यज्ञभाव-त्यागभाव पर टिकी है। हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग अपने लिए नहीं, वल्कि पूरी शरीर के लिए कार्य करता है। प्रकृति में सूर्य, चन्द्रमा, वृक्ष, नदियाँ, पृथ्वी आदि सभी दूसरे के लिए कार्य कर रहे हैं। अतः हमें भी सबके हित को ध्यान में रखकर सहयोग की भावना से कार्य करना चाहिये, तथा प्राप्त फल में से अपने आवश्यकतानुसार ग्रहण कर दूसरों में वितरित करना चाहिये। इसमें कृतज्ञता का भाव भी होना चाहिये। यदि हमारे अन्दर केवल प्राप्त करने का भाव रहेगा, देने का नहीं रहेगा, तब तो हम सृष्टि-सञ्चालन में बाधक बनेंगे। जैसे पृथ्वी हमारे लिए अन्न, जल, फल आदि देती है, तो उसकी उर्वराशक्ति, जिसे हम 'देव' कहते हैं- को बनाये रखने के लिए हमें भी खाद-पानी देना चाहिये। प्रकृति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर हमें रहना चाहिए। यह यज्ञ-भावना है। इस भावना से कार्य करते हुए हम अपने परमलक्ष्य-ईश्वर साक्षात्कार को प्राप्त कर सकते है।

वैदिक यज्ञ-क्रिया जिसमें कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित कर मन्त्रों के साथ आहुति दी जाती है, उससे हमारा त्यागभाव विकसित होता है। सामूहिक कार्य करने की भावना का विकास होता है। प्रकृति से जो कुछ हम प्राप्त करते रहते हैं, जिन पर हमारा जीवन टिका है-उनके बदले में उनकी शक्तियों को देवता के रूप में मानकर, उन्हें आहुति देकर हम अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते है। इसमें महत्त्वपूर्ण बात प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन जीने की प्रेरणा है। यहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बात तनिक भी नहीं है। विजय प्राप्त करने की वात तो केवल निम्नस्तरीय मानसिक भाव में स्थित-काम, क्रोध-लोभ आदि के सम्वन्ध में है। प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कार्य करके हम केवल अपने को दुःखी करते हैं।

पूर्वकाल में बहुत राजाओं-इक्ष्वाकु, मनु, जनक आदि-ने यज्ञ भावना से ईश्वर की पूजा समझकर निःस्वार्थ कर्म किया तथा चित्तशुद्धि प्राप्त की, जिसके फलस्वरुप वे आत्म-साक्षात्कार कर सके। इस सम्वन्ध में महर्षि रमण की उक्ति है- 'जब हम निःस्वार्थभाव से ईश्वर के प्रति समर्पित होकर कर्म करते हैं तो चित्तशुद्धि होती है और यह चित्तशुद्धि मुक्ति की ओर ले जाती है।

ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम्।
चित्तशोधकं मुक्तिसाधकम्।। (उपदेशसार-3)

अतः यह दृढ़तापूर्वक मानकर कि प्रकृति द्वारा सभी क्रियाएँ यज्ञभाव से सम्पन्न हो रही हैं तथा अस्तित्व का स्वामी-सर्वलोकमहेश्वर सभी यज्ञों का भोक्ता है, और वह सभी यज्ञों में प्रतिष्ठित है, हमें अपने सभी कार्य, स्वयं को परमलक्ष्य की ओर अग्रसर करने के उद्देश्य से, लोकहित की भावना रखकर यज्ञभाव से करने चाहिये।

संसार में तीन प्रकार के मनोभावों से युक्त होकर लोग कर्म करते हैं। एक प्रकार के लोग अपने सभी कर्म स्वार्थ से प्रेरित होकर, अहङ्कार के भाव में, अपने व्यक्तिगत सुख-प्रसन्नता के लिए करते हैं। ऐसे लोग जीवन के उद्देश्य, उपयोगिता तथा परमसत्य से वञ्चित रह जाते हैं। ऐसे लोगों के सम्वन्ध में गीता में कहा गया है कि इन्द्रियों के तृप्ति तक अपने को सीमित रखने वाले ऐसे पापी लोग व्यर्थ ही जीते हैं। दूसरे प्रकार के लोग यज्ञ तो करते हैं, परन्तु उस यज्ञ को करने में उनकी कामना लौकिक तथा पारलौकिक सुख की रहती है। तीसरे प्रकार के लोग किसी प्रकार का कार्य, कामना तथा आसक्ति से रहित होकर करते हैं। ऐसे कर्मों में लोककल्याण का भाव रहता है तथा कर्म करते हुए कर्त्ता में अहङ्कार नहीं रहता। ऐसे कर्म को यज्ञ भावना से किये जाने वाले कर्म कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार यज्ञ केवल वैदिक कर्मकाण्ड ही नहीं बल्कि वे सब कर्म जो अहङ्कार तथा स्वार्थ से रहित सेवाभावपूर्वक किये जाते हैं 'यज्ञ' कहलाते हैं। गीता के अनुसार पूजा, पूज्य तथा पूजक को भी यज्ञ कहते हैं। यहाँ यज्ञ का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड रूप यज्ञ से भिन्न है। जिसकी पूजा की जानी चाहिये या जिसके लिए त्याग किया जाना चाहिये, उसे पूज्य कहते हैं। पूजा या त्याग करने वाले को 'पूजक' कहते है। पूजा के कार्य को भी यज्ञ कहते हैं। पूज्य वह होता है जो किसी अर्थ में श्रेष्ठ हो। किसी व्यक्ति की पूजा हम उसके विशिष्ट ज्ञान, धन, सम्मान, शक्ति, त्याग, तपस्या आदि के कारण करते हैं।

सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पत्ति, गुणों का स्रोत तो ईश्वर है, इसलिये सबसे पूज्य ईश्वर है। सर्वप्रथम हमें यह ध्यान रखना है कि हमारे पास जो कुछ भी है, उन सबका कारण ईश्वर है। हमारा अस्तित्व उसी पर टिका है, अतः हम उसके प्रति किस प्रकार कृतज्ञ हो सकते हैं, किस प्रकार उसे प्रसन्न कर सकते हैं। उसके द्वारा प्रदत्त सामग्री से हम उसकी पूजा किस प्रकार कर सकते हैं। उसकी पूजा करते हुए हमारा लक्ष्य क्या रहे। इन बातों के प्रति हमें सचेत रहना चाहिये। पूजक के रूप में हम हैं, जिन्हें भगवान् ने शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि दी है, प्रत्येक प्राणी को कुछ विशेष गुण दिया है, जिसका उपयोग करके अपने कर्मों से हम उसकी पूजा कर सकते हैं। पूजा करते समय राग-द्वेष, आसक्ति, फलाकाङ्क्षा के कारण या उद्देश्य ठीक न रहने के कारण हमारे कर्म बन्धनकारी हो जाते हैं, इसका ध्यान रखना चाहिये।

गीता के अनुसार कुछ प्रमुख यज्ञ निम्न हैं।

ब्रह्म यज्ञ- ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही हैं, इस दृष्टि का बने रहना ब्रह्म यज्ञ है। नये कल्याणकारी उच्च विचारों का चिन्तन एवं पालन 'ब्रह्म यज्ञ' है। अच्छे विचारों से ही संसार टिकता है।

देवयज्ञ- अपनी प्रतिभा के संवर्धन हेतु चेष्टा। ईश्वर के निमित्त किये गये कार्य भी इसके अन्तर्गत आते है।

योगयज्ञ-निम्नस्तरीय प्रवृतियों से मुक्त होने तथा उच्चस्तरीय प्रवृतियों को धारण करते हुए उत्कृष्ट जीवन जीने हेतु सतत प्रयास योगयज्ञ के अन्तर्गत आता है।

द्रव्य यज्ञ-ईमानदारी से अर्जित किये गये धन तथा किसी रूप में ईश्वर द्वारा प्रदत्त सम्पदा का दूसरे की सेवा में अर्पित करना द्रव्य यज्ञ हैं।

ज्ञान यज्ञ- ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर अज्ञान की आहुति देना। विषयों को इन्द्रियों में हवन करना। जब बड़े सत्य की सामूहिक चर्चा, बड़े ज्ञान का सामूहिक विवेचन, श्रद्धा-निष्ठा से किया जाय।

अनासक्त भाव से कर्म, योग है। वह यज्ञ होता है। सारे यज्ञ कर्म हैं, परन्तु सारे कर्म यज्ञ नहीं हैं। यज्ञ भावना से सम्पन्न होने वाले कर्म बन्धनकारी नहीं होते। जब हम अपने कर्मों को इस भाव से करते हैं कि हम उनके द्वारा ईश्वर की पूजा कर रहे हैं और हमारा लक्ष्य यह होता है कि हमारे कर्म से ईश्वर प्रसन्न हों, उनकी प्रसन्नता का भाव हमारे कर्मों को प्रेरित करता है, तो हमारे कर्म यज्ञ भावना से किये गये कर्म बन जाते हैं। इसमें मूलभाव यह रहता है कि सब कुछ ईश्वर का है, हमारा कुछ नहीं है। वैदिक यज्ञ सम्पन्न होते समय मन्त्रों के साथ आहुति देकर हम बोलते है कि यह अमुक देव-अग्नि के लिए है, मेरा नहीं है-' इदं अग्नये इदं न मम'। ऐसे भाव से किया गया प्रत्येक कार्य यज्ञ है जैसे- हम किसी व्यक्ति को इस भाव से दान दें कि इस व्यक्ति के रूप में ईश्वर ही हमारे सामने प्रकट हैं, हम उसकी सेवा कर रहे हैं तो यह दानक्रिया- यज्ञ हो जायेगी। इस प्रकार देने वाला अहङ्कार रहित होकर, इस भाव में डूबकर प्रसन्न होगा कि ईश्वर ने मुझे सेवा का अवसर दिया है।

ज्ञान-विज्ञान

जानने योग्य बहुत सी बातों की जानकारी हमें इन्द्रियों के माध्यम से होती है। आँखें देखने का तथा कान सुनने का कार्य करते हैं। एक दूसरे के क्षेत्र में वे अधिकार नहीं रखते। कान देख नहीं सकते। विज्ञान ने इन्द्रियों की क्षमता को बढ़ा दिया है। टेलीविजन के माध्यम से हम बहुत दूर की चीज को देख सकते हैं। दूरभाष पर हजारों मील दूर के किसी व्यक्ति से बात की जाती है। परन्तु इनकी सीमायें हैं। बिना देखे हम नहीं बता सकते कि हाथ किस चीज से जला है। बहुत सी बातों की जानकारी हमें मन के द्वारा होती है, जिसे इन्द्रियाँ बताने में असमर्थ हो जाती हैं। मनोतीत बातें बुद्धिगम्य हो जाती हैं। परन्तु ऐसी बहुत सी बातें रह जाती हैं, जिन्हें बताने में इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि असफल हो जाते हैं। जैसे प्यार के आधिक्य में जो अनुभूति होती है, वह किसी के द्वारा जानी नहीं जाती, पर कुछ होता अवश्य है, जिसे हम व्यक्त नहीं कर सकते। विज्ञान ने इन्द्रियगम्य, मनोगम्य तथा बुद्धिगम्य बातों में बहुत सी कमियों को पूरा किया है, परन्तु जब कुछ अकल्पित कार्य होता है, तो विज्ञान उसके सम्बन्ध में लाचार हो जाता है। जहाँ विज्ञान व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है, वहीं से अध्यात्म प्रारम्भ होता है। पहाड़ों पर बृक्ष कैसे उग आते हैं, शरीर में बाल कहाँ से उग आते हैं, बालों में जुएँ कहाँ से आ जाते हैं- आदि प्रश्नों का उत्तर विज्ञान नहीं दे पाता। जो प्रत्यक्ष नहीं है, वह है ही नहीं, ऐसा हम नहीं कह सकते। उल्लू को सूरज नहीं दिखता तो क्या निष्कर्ष निकाल सकते है कि सूरज़ नहीं है? इसलिये विज्ञान महत्त्वपूर्ण है, इसने हमारे जीवन में बहुत सुविधायें बढ़ाई हैं, परन्तु इसकी मर्यादा हमें नहीं भूलनी चाहिये। भगवान् शङ्कराचार्य ने शास्त्रोक्त पदार्थों के परिज्ञान को ज्ञान तथा ज्ञानतत्त्व के स्वानुभव को 'विज्ञान' कहा है।

ज्ञान= आत्म-ज्ञान और विज्ञान के भेद को बताते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने आठ जड तत्त्वों- 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार' - से बनी अष्टधा प्रकृति को अपरा प्रकृति कहा है। यह परिवर्तनशील है। इसका अधिष्ठान, परमतत्त्व-चेतन है। आँखों से दिखाई पड़ने वाली चेतनसृष्टि को तो विज्ञान मानता है, परन्तु 'चैतन्यशीलता' के बारे में कुछ कहने में विज्ञान असमर्थ है। इसे तो 'ज्ञान' द्वारा ही जाना जा सकता है। इससे भिन्न चेतनसृष्टि जो ज्ञानगम्य है, जो सत्य, अपरिवर्तनशील है, जिसे 'विद्या' कहते हैं, को भगवान् ने अपनी 'परा प्रकृति' कहा है। परा प्रकृति के कारण ही हमारे शरीर, मन, बुद्धि चेतन की भाँति कार्य करने में सक्षम होते हैं। इन दोनों प्रकृतियों के मिलन से ही सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। विज्ञान के माध्यम से अपरा प्रकृति तथा ज्ञान से परा प्रकृति को हम जानने में समर्थ होते हैं। ईशोपनिषद् में विद्या तथा अविद्या दोनों को एक साथ समझने की बात कही गयी है। अनुभवज्ञान, कर्मयुक्तविज्ञान तथा पर्यावरण के विज्ञान को ईशोपनिषद् में 'अविद्या' कहा गया है। आत्मज्ञान तथा चैतन्यशीलता की जानकारी 'विद्या' है।

जडसृष्टि तथा चेतनसृष्टि दोनों कृष्णतत्त्व में समायी हुई हैं। इसलिये उन्होंने कहा है कि सृष्टि को पैदा करने वाला तथा इसका प्रलय करने वाला 'मैं' ही हूँ। आत्मज्ञान हो जाने के बाद ही अपरा तथा परा प्रकशति के रहस्य को जाना जा सकता है। जब आत्मज्ञान से सृष्टि के विविध रूपों में स्थित एक परम तत्त्व की अनुभूति हो जाती है, तो जानने को कुछ बाकी नहीं रह जाता है। जानने योग्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

ज्ञान, तीन प्रकार का होता है- उच्चतम, निम्नतम तथा मध्यमवर्गीय। सबसे उत्तम प्रकार का ज्ञान उस अवस्था को कहते हैं, जब इन्द्रियों के अनुभव में आने वाली अनेक चीजों में, सबमें उपस्थित एक सिद्धान्त, तत्त्व की उपस्थिति का भान हो। जब किसी व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु, रूप तथा घटना में एक ही तत्व की उपस्थिति की अनुभूति होती है, तो वह व्यक्ति ज्ञान की उच्चतम अवस्था में स्थित होता है। इस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। सात्त्विक व्यक्ति सबसे, बिना किसी कारण के प्रेम करता है। सेवा तथा प्रेम उसके स्वभाव में होता है। ऐसे व्यक्ति के लिये किसी जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र या किसी प्रकार का भेद नहीं होता। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव से वह ओत-प्रोत होता है। यद्यपि इन्द्रियों से अनेक चीजों का अनुभव हो रहा है, तथापि निश्चित तौर पर इन विभिन्नताओं के पीछे एक ही तत्त्व कार्यरत है। वस्तुतः एक ही चीज अनेक प्रकार से विभिन्न रूपों में प्रतीत होती है। जब हम इस बात से आश्वस्त हो जाते हैं, हमारी दृष्टि इस प्रकार की हो जाती है, तो हम ज्ञान की उच्चतम अवस्था में स्थित होते हैं।

जब हमारा विचार तार्किक, बुद्धिपरक होता है, हम यह स्वीकार करते है कि यद्यपि अनेक चीजों का अस्तित्व है, लेकिन वे स्वतन्त्र नहीं हैं। सभी आपस में सम्बन्धित हैं, सब कुछ एक दूसरे पर निर्भर करता है, तो यह मध्यम दर्जे का ज्ञान है। इस अवस्था में यद्यपि हम चीजों के आपसी सम्बन्ध को मान्यता देते हैं, लेकिन उनके अलग-अलग रूपों को भी मानते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को राजसिक ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान 'मैं' तथा 'मेरे' पर अधिक निर्भर करता है। चूँकि ये दोनों सदा बदलते रहते हैं, इसलिये राजसिकज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति, सदा सक्रिय तथा अशान्त रहता है। इनमें महत्त्वाकाङ्क्षा, ईर्ष्या-भाव तथा प्रतियोगिता का भाव होता है।

निम्नतम स्तर का ज्ञान वह है, जिसमें व्यक्ति किसी विशेष वस्तु को ही सब कुछ मानकर आसक्त हो जाता है। किसी की आसक्ति पैसे में, किसी की पद में, किसी की अपने नाम तथा प्रतिष्ठा में तथा किसी की अनेक प्रकार की शक्ति अर्जित करने में इस प्रकार हो जाती है कि व्यक्ति अपने जीवन के सम्पूर्ण मूल्यों का तादात्म्य इसी के साथ कर लेता है। किसी की अत्यधिक कामना तथा उसके लिये अपने को समर्पित कर देना, निम्नतम ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार के ज्ञान को तामसिक ज्ञान कहते हैं। ऐसे व्यक्ति शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, आत्मा को नहीं मानते। वे बहुत स्वार्थी होते हैं तथा उन्हें आध्यात्मिक प्रगति से कोई लेना-देना नहीं होता। इस ज्ञान में स्थित व्यक्ति दूसरों का अहित करके भी अपना हित सोचता तथा करता है।

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

जीवन के सङ्ग्राम में मोहग्रस्त हो जाने के कारण, किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुन को पहले तो भगवान् ने शरीर की नश्वरता एवं आत्मा की अमरता के बारे में बताया। पुनः समता में स्थित बुद्धि वाले पुरुष के महत्त्व का दर्शन कराया तथा समत्व को योग कहा- 'समत्वं योग उच्यते'। इस पर अर्जुन ने ऐसे पुरुष के लक्षण जानने के उद्देश्य से तीन विशेषणयुक्त शब्दों- स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः तथा समाधिस्थ- का प्रयोग कर पूछा कि ऐसे पुरुष के लक्षण क्या है?

आत्मतत्त्व को जानने तथा उसके साथ एकत्त्व स्थापित करने में तीन बातें होती हैं। इसके सम्बन्ध में अज्ञान, सन्देह का होना तथा पूर्वार्जित वासनाओं तथा आदतों के कारण गलत सोच का जारी रहना। इनके निराकरण हेतु श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की तीन आध्यात्मिक साधनाएँ बतायी गयी हैं।

शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित एकमात्र परम सत्य = आत्मतत्त्व है और जीव तथा ब्रह्म एक ही हैं-के बारे में सद्गुरु से सुनना, श्रवण कहलाता है। उपनिषद् के इस ज्ञान को स्थितप्रज्ञ-स्थिर बुद्धि वाले ने अच्छी तरह जान लिया है। वह ब्रह्म के साथ एकत्व में स्थित हैं; क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दूसरी श्रेणी के वे लोग होते हैं, जो जानने की सामर्थ्य तो रखते हैं, परन्तु उनके मन में अनेक शङ्कायें होती हैं। बार-बार मनन द्वारा सभी सन्देह दूर करने वाले पुरुष को 'स्थितधीः' कहते हैं। अतः मनन करने की साधना, शङ्काओं को निर्मूल करने हेतु बतायी गयी है। मननशील व्यक्ति को 'मुनि' कहते हैं। निष्कर्ष के रूप में वेद शास्त्रों के अर्थतत्त्व को जानने वाले मुनि पदवाच्य होते हैं-

'मन्तारो वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्तारो मुनयः'।

आत्मतत्त्व का सन्देहरहित ज्ञान होने पर भी पूर्व वासनाओं तथा आदतों के कारण बुद्धि स्थिर नहीं रह पाती। पुराने विचारों के बार-बार मन में आ जाने के कारण हम आत्मस्थ-समाधि में नहीं रह पाते। इस हेतु ध्यान की प्रक्रिया बतायी गयी है। देश तथा काल से परे जाने के लिए, ध्यान में प्रयास होता है, फिर उसमें स्थिरता प्राप्त होती है। जिसने ध्यान का अभ्यास अच्छी तरह किया है तथा उसके द्वारा समाधि में स्थापित हो गया है-उसे 'समाधिस्थ' कहते हैं।

भगवान् स्थित प्रज्ञ के बारे में बताते हैं कि जब मनुष्य सब कामनाओं को त्याग देता है और उसकी सन्तुष्टि किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं रहती, बल्कि वह स्वयं आत्मा से ही, आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, तो ऐसे पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। संसार में हम देखते हैं कि एक सांसारिक कामना के समाप्त होते ही अन्य कई कामनायें उत्पन्न हो जाती हैं। इनका कभी अन्त नहीं होता। अतः कामना को नष्ट करने का सर्वोत्तम तरीका सांसारिक कामनाओं के स्थान पर परमात्म प्राप्ति की केवल एक कामना मन में रखना है। इसे भगवान् को अपना मानकर, उनसे उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ाकर किया जा सकता है। यह निश्चित है कि मनुष्य कामनाओं का त्याग पूर्णतः तभी कर सकता है, जब उसे अपने अन्दर -अपनी आत्मा में पूर्ण आनन्द मिलने लगे। अपने में ही पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त होने लगे।

स्थितधीः वह मनुष्य है जो किसी दुःख के प्राप्त होने पर उद्विग्न नहीं होता। राग, भय तथा क्रोध से पूरी तरह रहित हो गया है। अन्य मनुष्यों की भाँति सांसारिक सुखों की प्राप्ति में उसे कोई रस नहीं मिलता। सम तथा निर्दोष है। समत्व दृष्टि रखने वाले मन से ही संसार पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यदि हम इन्द्रियों पर निग्रह करने में सफल हो गये, परन्तु मन में भोगे हुए सुखों का चिन्तन चलता रहा, उसकी स्पृहा बनी रही तो, भगवान् के अनुसार हम पाखण्डी, ढोंगी होंगे।

जो मनुष्य समता के भाव में स्थित है, जिसे आत्मा का अपरोक्ष अनुभव हो चुका है- ऐसे पुरुष की बाह्य क्रियाएँ कैसी होती हैं तथा उसके अन्तःकरण की स्थिति किस प्रकार की होती है? इस प्रकार की जिज्ञासा किसी साधक के मन में स्वाभाविक होती है। मनुष्य के मन में उठने वाले इन प्रश्नों को अर्जुन ने भगवान् से पूछा। यद्यपि ऐसे पुरुष के लक्षण बताना कठिन है; क्योंकि यह मन-बुद्धि के भाव-विचार पर अधिक निर्भर करता है। किसका अन्तःकरण किस प्रकार कार्य कर रहा है- इसे बाह्य क्रियाओं से पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। परन्तु भगवान् ने निम्न प्रकार से इसे स्पष्ट किया।

ऐसा नहीं है कि आत्मसाक्षात्कार करने वाला पुरुष या समाधिस्थ पुरुष चेतनारहित हो या उसे बाह्य परिस्थितियों का ज्ञान न रहता हो। परन्तु स्वाभाविक रूप से वह अन्दर की तरफ खिंचा रहता है। उसे अन्दर से कोई कामना नहीं होती। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि मानों उसने कामनाओं का समूल नाश कर दिया है। कामनाएँ ही सब दुःखों, अनर्थों की जड़ हैं। ऐसे पुरुष की सन्तुष्टि के लिये बाहर से कुछ नहीं चाहिए। वह स्वयं में स्वयं से ही सन्तुष्ट रहता है।

मनुष्य के दुःखों का कारण राग-द्वेष, 'मैं' तथा 'मेरा' का भाव, अहङ्कार है। स्थितप्रज्ञ पुरुष इन दोषों से मुक्त रहता है; क्योंकि वह शान्ति प्राप्त कर चुका है। बाह्य रूप से ऐसे पुरुष की क्रियाएँ सामान्य पुरुष की भाँति रहती है, परन्तु उसका मन आत्मकेन्द्रित होता है। उसका ध्यान सदा ईश्वर पर रहता है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों में तत्पर रहती है, परन्तु वे पूर्ण नियन्त्रण में रहती हैं। उसके मन में आसक्ति का भाव किसी के प्रति नहीं होता। मन सदा स्थिर रहता है। जो दुःखों के आने पर उद्विग्न नहीं होता, सुख में बने रहने की जिसकी कामना नहीं है, विषयों से राग, भय तथा क्रोध की निवृत्ति जिसकी हो चुकी है, जिसके मन में अच्छाई-बुराई के प्रति प्रसन्नता या घृणा का भाव नहीं रह गया है-ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

स्थिर बुद्धि वाला पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाने में समर्थ होता है। इन्द्रियों को उनके विषयों के संसर्ग में न आने का अन्य कारण भी हो सकता है, परन्तु संसर्ग में प्राप्त रस की निवृत्ति नहीं हो पाती। प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियों के विषयों से उनके अलग रहने पर भी मन रस लेता रहता है। इस रस की निवृत्ति तो तभी होती है, जब साधक का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर रहता है, उसकी आत्मा का परम तत्त्व के साथ एकत्व स्थापित हो जाता है। इसलिये भगवान् ने इन्द्रियों को संयमित कर, ईश्वर के परायण होकर योग में स्थित होने के लिये कहा है-

'युक्त आसीत मत्परः' (गीता 2/61)

स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष में बाह्य विषयों से वैराग्य के साथ, सभी परिस्थितियों का सामना करने हेतु मन का सन्तुलन होता है। उसके अन्दर शुभ-प्राप्ति में हर्षातिरेक तथा अशुभ-प्राप्ति में द्वेष-विषाद नहीं होता। ऐसे पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह जब चाहे विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा ले। इसी क्षमता को योगशास्त्र में प्रत्याहार तथा वेदान्त में उपरति कहते हैं, जिसे जिज्ञासु साधक अपने विवेक से प्राप्त करता है। भक्त भगवान् की रूप-माधुरी में डूबकर विषयों को त्याग देने में समर्थ होता है।

ज्ञानी पुरुष की चेतना आत्मतत्त्व के प्रति सदैव जगी रहती है। जिसके प्रति सांसारिक मनुष्य वेपरवाह है, सांसारिक विषयों में आसक्त होकर व्यवहार करने वाले तथा दुःख भोगने वाले मनुष्यों के विपरीत, ज्ञानी इन्हें रात्रि- अज्ञान की अवस्था समझते हैं। आत्म संयम तथा मननशीलता -ये गुण ज्ञानी होने के लिये आवश्यक हैं। परम शान्ति में बने रहने की अर्थात् व्रह्म-भाव में टिके रहने की स्थिति को भगवान् ने व्राह्मीस्थिति कहा है। इस स्थिति को एक बार प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुरुष कभी भ्रम-मोह में नहीं पड़ता। एक बार जान लेने के बाद इसका ज्ञान सदा बना रहता है। वह ज्ञानी शरीर छोड़ते समय भी इस स्थिति में रहता है। यह ज्ञान की अवस्था है। इसे निर्वाण की दशा भी कहते हैं।

भगवान् ने इस स्थिति को प्राप्त पुरुष को अन्यत्र 'योगी', 'भक्त' या 'गुणातीत' की संज्ञा दी है। नाम अलग-अलग होने पर भी ये सभी एक ही पुरुष हैं।

गुह्यतमबात- परमलक्ष्य

जीवन का परम पुरुषार्थ इसमें है कि हम यह जानें कि हमारा परम लक्ष्य क्या है? इसे प्राप्त करने हेतु हमें क्या करना है? इसकी विधि क्या है? भगवान् द्वारा अर्जुन को निमित्त बनाकर कही गयी गुह्य, गुह्यतर तथा गुह्यतम बातें क्या हैं? उनकी किस बात से प्रभावित होकर अर्जुन ने अन्त में कहा कि मेरा मोह चला गया; सभी सन्देह समाप्त हो गये, और अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। अर्जुन जैसी स्थिति प्राप्त करने के लिये हमें क्या तथा कैसे करना चाहिये?

गुह्य रहस्य क्या है? गुह्य रहस्य हमारे अन्दर स्थित आत्मा है। हमारा मन तथा वाह्य प्रकृति इसी का प्रकटीकरण है। सभी आध्यात्मिक ज्ञान इसी के रहस्य को उद्घाटित करने हेतु हैं। यह रहस्य प्रकृति तथा पुरुष के सम्बन्ध के बारे में है। यह रहस्य हमारे अन्दर स्थित ईश्वर के सम्बन्ध में है। यही वह एकमात्र सत्य है, जिसे जानने हेतु योग के अनेक मार्ग हैं। योग के माध्यम से मन शान्त होता है, चित्त-शुद्धि होती है, जो उस रहस्य को उद्घाटित करने में सहायक होती है। योग हमारे तथा ईश्वर के बीच का सम्बन्ध है। इससे हम चेतना को जागृत कर, अपनी चेतना को वैश्विक चेतना के साथ सामञ्जस्य बनाकर रह सकते हैं, और अपने स्वयं के अस्तित्व को समाप्त कर शाश्वत सत्य में विलीन हो सकते हैं।

गीता में वर्णित 'पुरुषोत्तम' के सम्बन्ध में जानना तथा उसकी शरण ग्रहण करना, गुह्यतर वात है। वह सभी लोकों में सब कुछ है। वह क्षर प्रकृति से अतीत तथा अक्षर प्रकृति से उत्तम है। वह अपनी विभूतियों के रूप में व्यक्त है। वही सभी कार्यों के मूल में स्थित दिक्-काल के रूप में तत्त्व है, जिसके कारण सभी कार्य करने को विवश हैं। सभी ज्ञानों का वह सूर्य है। सभी कार्यों एवं यज्ञों का नियन्ता है। वह सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस सर्वव्यापक ईश्वर की शरण ग्रहण करना गुह्यतर रहस्य है।

गुह्यतम बात- यद्यपि परमात्मा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत संसार का सञ्चालक, नियन्ता है। मनुष्य के ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, सही-गलत आदि सभी के मूल में वही है, वह हमारे शारीरिक, प्राणिक, बौद्धिक, भावनात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी कार्यों का पथ-प्रदर्शक है, परन्तु सब कुछ होते हुए, वह सबसे परे है। हमारी सबसे बड़ी युक्ति, हमारे स्वभाव तथा अस्तित्व की पूर्णता, इसमें है कि हम सभी धर्मों का सहाय

छोड़कर, केवल उसके सामने अपने को खुला छोड़ दें; उसमें अपना सब कुछ समर्पण कर दें। अपने अन्दर स्थित उस प्रकाश-आनन्द-शक्ति पर विश्वास करके, निर्भय होकर, केवल उस अन्तर्यामी के निर्देश का पालन करें। यदि हम ऐसा करने में सफल होते हैं, तो वह सर्वज्ञ, चैतन्य हमारी कमियों को, हमारे ज्ञान-अज्ञान को, सत्य-असत्य को अनन्त प्रकाश से भर देगा। हमारे कार्य उसके कार्य हो जायेंगे। हमारी समस्या का मूल हमारे अहङ्कार में है, अपना व्यक्तित्व उससे अलग रखने के कारण है, मोह के कारण है, अपनी वास्तविक स्थिति न समझने के कारण है, उस पर पूर्ण समर्पण न करने के कारण है, अनेक सन्देहों से घिरे होने के कारण है। अतः दैवी शक्तियों के सहारे, स्वभाव के अनुसार स्वधर्म का पालन करते हुये, चित्त-शुद्धि करें तथा सम्पूर्ण भाव से अन्त में सब धर्मों को छोड़कर- जिसका अर्थ है शरीर, मन, बुद्धि के साथ मिथ्या तादात्म्य को छोड़ना तथा अपने धन, बल, साधना, ज्ञान आदि का अहङ्कार छोड़ना- उसकी शरण ग्रहण कर निश्चिन्त हो जायँ। फलासक्ति और अहङ्कार रहित होकर, ईश्वर को केन्द्र में रखकर, अपने कर्म करते रहना उसकी शरण में रहना है। इससे अधिक हमें कुछ नहीं करना है, शेष कार्य तो हमारा शरणागतवत्सल ही करेगा।

श्रीमद्भगवद्गीता

अर्जुनविषादयोग-

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने को था, दोनों ओर कौरवों तथा पाण्डवों की सेना जब आमने-सामने खड़ी थी, तब अर्जुन के सारथी का दायित्व सँभालने वाले भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन ने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य स्थापित करने को कहा, ताकि वह देख सके कि उसे किससे लड़ना है। भगवान् ने रथ उसके कथनानुसार स्थापित कर दिया। जब उसने लड़ने हेतु तत्पर पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य तथा अपने ही स्वजनों सम्बन्धियों को देखा, तो उसे अचानक मोह पैदा हो गया। वह अपने क्षात्र-धर्म को भूल गया। वह भूल गया अपने कर्तव्यों को, वह भूल गया कि वह तथा उसके भाई धर्म-न्याय के पक्ष में लड़ने हेतु तत्पर हैं तथा कौरव अन्याय, अधर्म के पक्ष में खड़े हैं। वह भूल गया कि धर्म का राज्य स्थापित करने के लिये, उसको अपना न्यायपूर्ण हक पाने के लिये यह युद्ध आवश्यक है। वह यह भी भूल गया कि उसने स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण से, अपना सारथी बनने हेतु प्रार्थना की है। वह अपनी बात भूल गया कि पाण्डवों के अज्ञातवास के अन्तिम दिन जब राजा विराट पर कौरवों के आक्रमण के समय वह राजकुमार उत्तम का सारथी बना था और वह डरकर लड़ाई के मैदान से भागने लगा था, तो अर्जुन ने कहा था कि तुमने मुझे सारथी बनाया है, तुम भाग नहीं सकते और उसे रथ में बाँधकर स्वयं लड़ने लगा था। अपने सभी कर्तव्यों को भूलकर वह पूर्णरूपेण मोहग्रस्त हो गया। उसका बदन काँपने लगा। गाण्डीव हाथ से छूट गया तथा लड़ाई में भाग न लेने हेतु भगवान् श्रीकृष्ण से अनेक तर्क देने लगा। वह पूरी तरह विषादग्रस्त हो गया।

यह स्थिति अर्जुन की ही नहीं है, हम सबकी है। हमारे अन्तःकरण में आसुरी तथा दैवी शक्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। चूँकि सृष्टि का आविर्भाव प्रकृति से हुआ है, जो त्रिगुणात्मिका है। अतः धर्म को धारण करने की योग्यता रखने वाले मनुष्य के अन्तःकरण

में दैवी एवं आसुरी सेनाओं के मध्य द्वन्द्व-युद्ध सर्वदा चलता रहता है। रजोगुण तथा तमोगुण आसुरी भाव के तथा सत्त्वगुण दैवीभाव के जनक हैं। आसुरी भाव में आसुरी सम्पत्ति के गुण-काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि निवास करते हैं जिनके कारण हमारा संसार में बार-बार आवागमन होता रहता है। दैवी भाव में दैवी सम्पत्ति के गुण-सत्य, अहिंसा, दया एवं परोपकार आदि निवास करते हैं जो सुख, शान्ति देते हैं, तथा मोक्ष की तरफ ले जाते हैं।

दैवी सम्पत्ति के सहारे जीव जब आसुरी सम्पत्ति पर विजय पाने का प्रयास करता है, तो वह अर्जुन की तरह मोहग्रस्त हो जाता है तथा वह काम, क्रोध, लोभ आदि को न मारने हेतु अनेक तर्क देने लगता है। यह मोह ही आसुरी सेना को हमारे अन्तःकरण में सुरक्षित स्थान देने का कारण होता है। जीवन-संघर्ष में ऐसी परिस्थितियाँ प्रायः उपस्थित होती रहती हैं। हम 'किंकर्त्तव्यविमूढ' हो जाते हैं। अपने स्वधर्म का निर्णय नहीं कर पाते हैं और विषादग्रस्त हो जाते हैं।

ऐसी मोहावस्था को प्राप्त होने पर मनुष्य के पूर्व जन्मों के संस्कार, सत्सङ्ग, शास्त्राध्ययन, सत्त्वगुण में अधिकतम समय रहने हेतु किया गया पुरुषार्थ, उसे भगवान् की शरणागति की तरफ ले जाते हैं और वह अकिञ्चन होकर अपने अहंभाव को छोड़कर उचित मार्ग-दर्शन हेतु उनसे प्रार्थना करता है।

अर्जुन बहुत सरल, निष्कपट, किसी से ईर्ष्या-द्वेष न रखने वाले, किसी में कमी न देखने वाले, भगवान् के अनन्य भक्त, उनके प्रति समर्पण के भाव से भरे हुए थे। इसलिये अपनी बुद्धि पर भरोसा न करके वह कहते हैं कि मैं कृपणता के दोष से घायल हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ, मेरे लायक जो श्रेष्ठ कर्तव्य हो, वह बताइये जिसको मैं सम्पन्न करूँ? इस प्रकार वह धर्माधर्म के गूढ़तत्व को समझने में अपने को अयोग्य पाते हैं तथा मार्गदर्शन हेतु उनसे प्रार्थना करते हैं। भगवान् शरणागत अर्जुन के माध्यम से हम सबको कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, बुद्धियोग की बात बताते हैं। अर्जुन का विषाद समाप्त हो जाता है। वह कहते हैं कि आपकी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया। 'करिष्ये वचनं तव', जैसा आप कहते हैं वैसा ही मैं करूँगा। इस प्रकार भगवान् की सम्मुखता के कारण अर्जुन का विषादयोग अनासक्ति भाव में परिवर्तित हो गया तथा उनका विषाद भगवान् से नित्य सम्बन्ध का अनुभव कराने वाला हो गया।

अहङ्कार की प्रमुखता के कारण अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, बल पर भरोसा रखने के कारण, हमारा विषाद 'योग' में नहीं बदल पाता और हम विषादग्रस्त रहकर ही अपना जीवन बिताते हैं।

इस अध्याय के प्रथम श्लोक में दो महत्वपूर्ण शब्द 'धर्मक्षेत्र' तथा 'कुरुक्षेत्र' आये हैं। विश्व, विस्मयकारी कार्य, संघर्ष तथा युद्ध का क्षेत्र है। इसके साथ ही न्याय तथा विधान का क्षेत्र है। कुरुक्षेत्र, धर्मक्षेत्र है और यह विधान प्रत्यक्ष संघर्षरत दिखाई पड़ने वाली शक्तियों को उसी प्रकार जोड़ता है, जैसे हमारे अन्दर एक नियम कार्यरत है, जो शरीर के सभी अवयवों को सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए कार्य करने हेतु लागू है। हमारी मानसिक तथा शारीरिक संरचना में एकात्मरूप है और यह धर्म (विधान) है, जो सभी को सुव्यवस्थित करता है। जैसे हम प्रतिदिन हजारों विचार रखते हैं, एक विचार दूसरे विचार से अलग है फिर भी हम सभी विचारों को रखने वाले वही हैं।

इस अध्याय का सार यह है कि मनुष्य के दुःखों का कारण उसके भावों तथा विचारों में सामञ्जस्य का न होना है, अर्थात् उसके हृदय तथा मस्तिष्क में तालमेल का अभाव है। मनुष्य के दुःखों का कारण उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक स्तर पर विरोधाभास है और यह विरोधाभास आन्तरिक-सामञ्जस्य के न होने के कारण है। अर्जुन की अशान्ति, उद्विग्नता का कारण यह था कि उसका मस्तिष्क स्वधर्मपालन हेतु, अर्थात् अपने कर्त्तव्य के पालन हेतु आज्ञा दे रहा था और उसका हृदय मस्तिष्क से तालमेल न रखकर अपने स्वजनों के प्रेम से अभिभूत था, जो कर्त्तव्य पालन में बाधक था। इसलिये आइये हम भी अर्जुन की तरह ऋजु बनें और उसी तरह से भगवान् की शरणागति ग्रहण करें। दृढ विश्वास रखें कि अन्तर्यामी के रूप में, वे हमारे हृदय में विराजमान हैं। हमारे निकटतम वे ही हैं। वे हमारे शुभेच्छु हैं, सुहृद हैं। हमारा भला करने हेतु वे सदा तत्पर हैं। अतः हम अपना हृदय, विना किसी भेद-भाव के, उनके सामने खोल दें तथा उनसे कहें कि भगवान् मैं तेरी शरण में हूँ। तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू दिखायेगा, मैं उसी पर चलूँगा। तव हमारा विषाद, विषाद न रहकर विषादयोग वन जायेगा। यदि हमारे जीवन में विषाद की स्थिति उत्पन्न होती है, हम निश्चय नहीं कर पाते कि क्या करें, तो हमें सरल हृदय से, उचित मार्ग दिखाने हेतु, दीनभाव से भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये, जैसा अर्जुन ने किया। ऐसी स्थिति में हमारा 'विषाद' भगवान् से 'योग' कराने वाला हो जायेगा। चूँकि अर्जुन का 'विषाद' ही, इस अध्याय में 'योग' का कारण बना है, अतः इस अध्याय का नाम 'अर्जुनविषादयोग' रखा गया है।

गीता का प्रथम श्लोक

धृतराष्ट्र उवाच-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।। (गीता 1/1)

धृतराष्ट्र ने पूछा- हे सञ्जय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

गीता का यह प्रारम्भिक श्लोक अन्धे राजा धृतराष्ट्र द्वारा कहा गया है। उनके द्वारा कहा गया मात्र यही श्लोक है। शेष सभी श्लोक उनके न्यायप्रिय सारथी, तथा महर्षि व्यास द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त सञ्जय द्वारा कहे गये हैं। धृतराष्ट्र ने सञ्जय से पूछा-

धर्मक्षेत्रे-धर्म उसे कहते हैं जिससे अभ्युदय-धर्म, अर्थ, काम तथा आध्यात्मिक निःश्रेयस-मोक्ष की प्रगति हो। धर्म के मार्ग से हम स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं, अपने दुःखों का निवारण कर सकते हैं, सांसारिक जीवन में धर्म के माध्यम से हम ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकते है जिसमें हमें दुःखों से छुटकारा मिल जाय, मन पवित्र एवं शान्त हो जाय तथा हम सुखी हो जायँ। उचित अनुचित के निर्णय की क्षमता ही मनुष्य को पशुओं की श्रेणी से ऊपर रखती है। यह क्षमता हमें धर्म से प्राप्त होती है। हितोपदेश में कहा है-

आहारनिद्राभयमैथुनं च समान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषाम् अधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन- ये कार्य तो मनुष्यों तथा पशुओं में समान रूप से देखे जाते है। धर्म ही मनुष्य को पशु से विशेष या भिन्न बनाता है। धर्महीन व्यक्ति तथा पशु में कोई अन्तर नहीं है।

यह संसार धर्मक्षेत्र है। नैतिकता, आदर्शों एवं जीवन मूल्यों को हम यहीं प्राप्त करते हैं। इसलिये यह धर्मक्षेत्र है। यह इसलिये भी धर्मक्षेत्र है; क्योंकि धर्म के रक्षक भगवान् की इसमें सक्रिय भागीदारी है। उन्हीं की इच्छा तथा उनके नियन्त्रण में संसार की सम्पूर्ण क्रियाएँ चल रही हैं। हमारा शरीर भी धर्मक्षेत्र है क्योंकि सभी प्रकार के धर्म इसी के द्वारा किये जाते हैं।

चन्द्रवंशीय किसी राजा ने स्वर्णिम हल से जिस भू-भाग का कर्षण किया था, उसे कुरुक्षेत्र कहा गया है। 'कुरुक्षेत्र' कुरुवंशीय राजाओं की कर्मस्थली तथा तपःस्थली रही है। क्षेत्र, शरीर को भी कहते है। कुरु कहते हैं, करने के साधन को। करणों का नाम कुरु है। अतः हमारा शरीर-अन्तःकरण कुरुक्षेत्र हुआ। जीवन का वास्तविक संघर्ष जो प्रतिदिन, प्रतिपल किया जाता है, हमारे अन्तःकरण में ही किया जा रहा है। दैवी तथा आसुरी सम्पद् की लड़ाई सदैव चल रही है तथा एक दूसरे पर विजय-पाने-हेतु ये उद्यत हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार आदि आसुरी सम्पद, दैवी सम्पद्- जैसे अहिंसा, सत्य, त्याग, क्रोध का अभाव, दया, शान्ति आदि पर हावी होने हेतु आतुर हैं।

युयुत्सवः- युद्ध के इच्छुक कौरव तथा पाण्डव सेनाओं के वीरों से तात्पर्य है। हमारे अन्तःकरण में भी आसुरी तथा दैवी सम्पत्तियाँ लड़ने हेतु आपने सामने खड़ी है।

'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय'

धृतराष्ट्र पूछ रहे हैं कि हे सञ्जय! मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? पाण्डु पुत्र भी कुरुवंशीय थे। (अपनी विशेपताओं के कारण वे 'पाण्डव' कहे जाने लगे।) राजा धृतराष्ट्र ने 'कुरुवंशियों ने युद्ध में क्या किया?' यह न पूछकर पाण्डवों से अपने को अलग कर पूछ रहे हैं कि मेरे पुत्रों तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? उनकी भेद दृष्टि स्पष्ट है जो सभी अनर्थों की मूल है। दो ही शब्द 'मैं' और 'मेरा' बन्धनकारी है और 'मैंनही' 'मेरानहीं' यह भाव सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा दिलाने वाला मुक्तिदायक है। अपने अन्तःकरण में निरन्तर चलने वाले युद्ध को साक्षीभाव से हमें देखते रहना चाहिए तथा वास्तविकता का ज्ञान होते ही सद्गुरु अथवा परमात्मा की शरण में जाना चाहिये। हमारा उद्देश्य आसुरी सम्पत्तियों पर विजय प्राप्त कर सद्गुणों की छत्र-छाया में जीवनयापन करने का है। अतः आइये हम तमोगुण तथा रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित होने का प्रयत्न करें। सत्त्वगुण का भी अहंकार न हो। इसलिए शुद्ध सत्वगुण में अपनी स्थिति सुनिश्चित करें ताकि हम गुणातीत हो सकें और भगवान् के प्रिय बन सकें।

राजा धृतराष्ट्र के सारथी थे-सञ्जय । वे उन्हें, भीष्म पितामह के बॉणो की शय्या पर पड़ जाने के पश्चात्, जबकि अभी युद्ध चल ही रहा था, महाभारत-युद्ध का वर्णन कर रहे थे। तभी उन्होंने कहा-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। (गीता 18/78)

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ पर धनुर्धारी अर्जुन हैं वहीं पर श्री, विजय, विभूति तथा ध्रुव नीति भी स्थित रहती है, ऐसा मेरा मत है। जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं अर्थात् जहाँ लोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रमाद-आलस्य रहित होकर तत्पर हैं; जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं अर्थात् जहाँ लोग अपने आत्मतत्व के प्रति जागरूक हैं। (पूरी गीता में श्रीकृष्ण चैतन्य स्वरूप आत्मा के प्रतीक हैं और यह आत्मतत्त्व ही अधिष्ठान है जिस पर सम्पूर्ण खेल चल रहा है) वहाँ के लोग अर्थात् ऐसे समाज-राष्ट्र के लोग समृद्धि, विजय, लक्ष्मी का विशेष विस्तार तथा दृढ़-नीति निश्चित रूप से प्राप्त करते हैं।

अतः आइये हम सब अपने शरीर-अन्तःकरण, जो धर्म करने का साधन है तथा कर्त्तव्य कर्म करने का माध्यम है, के अन्तर्गत दैवी-आसुरी शक्तियों के बीच निरन्तर चल रहे युद्ध पर निगरानी रखे तथा भगवान् में दृढ़ विश्वास रखने वाले (सञ्जय) सद्गुरु-ज्ञानी-भक्त के सम्मुख अपनी कमियों का वर्णन करें तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर अपना कल्याण करें।

सांख्य योग

यह अध्याय शाश्वत ज्ञान का प्रारम्भिक स्रोत है। जब मोहग्रस्त अर्जुन ने भगवान् की प्रपन्नता ग्रहण की तथा शिष्यत्व स्वीकार कर, शिक्षा देने हेतु-उचितमार्गनिर्देशनहेतु प्रार्थना की, तो भगवान् ने देह को क्षणभङ्गुर, मरणधर्मा, विकारयुक्त, जड तथा आत्मा को अजन्मा, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सदा एकरस रहने वाला बताया। उन्होंने देह-देही में भेद-बुद्धि रखते हुए कर्त्तापन के अभिमान से मुक्त होकर, बिना फल की कामना किये, आसक्ति रहित होकर, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि में सम रहकर, कर्म करने को कहा। उन्होंने यह भी बताया कि बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते रहना बहुत श्रेष्ठ है, अतः जीवन पर्यन्त स्वधर्म का पालन करते रहना चाहिये।

जैसे बचपन, जवानी, बुढ़ापा शरीर की विभिन्न अवस्थाएं है, वैसे ही मृत्यु भी शरीर की एक अवश्यम्भावी घटना है। इससे आत्मा प्रभावित नहीं होती। जिस प्रकार जन्मप्राप्त किसी की मृत्यु निश्चित है, वैसे ही मृत्यु के बाद पुनर्जन्म भी निश्चित है।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अथवाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।। (श्रीमद्भगवद् 10/1/38)

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः।। (श्रीमद्भगवद् 10/1/39)

वसुदेव जी ने कंस से कहा- वीरवर! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीर के साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्ष के बाद- जो प्राणी हैं, उसकी मृत्यु होगी ही। जब शरीर का अन्त हो जाता है, तब जीव अपने कर्म के अनुसार दूसरे शरीर को ग्रहण करके अपने पहले शरीर को छोड़ देता है। उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। कहा गया है-

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।। (पञ्चतन्त्र)

विद्वान् को विद्या तथा अर्थ का चिन्तन अपने को अजर-अमर मानकर करना चाहिये, परन्तु धर्म का आचरण उसे यह मानकर करना चाहिये, जैसे-मृत्यु द्वारा उसके केश पकड़ लिये गये हैं। आने वाली सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ पहले नहीं थी और न बाद में ही रहेंगी, उनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। इस प्रकार विवेक-बुद्धि जाग्रत कर शोकमुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिये। यदि विवेक के सहारे हम काम-क्रोध-लोभ आदि आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा कर सकें तो हम प्रसन्नचित्त रहकर आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं। हम समता में स्थिर रह सकते हैं। यदि हम मोह ग्रस्त हो जाते हैं, सद्विवेक खो देते हैं तो इसका अर्थ है कि हम अपने को आक्रमणकारियों हेतु खुला छोड़ देते हैं और परिणाम यह होता है कि हम स्वयं नष्ट हो जाते है तथा अपने सम्पर्क में आने वाले को भी नष्ट होने हेतु मौका देते हैं।

अतः फलाकाङ्क्षा तथा अहङ्कार न रखते हुए केवल स्वभाव प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्म का पालन करना तथा उसके द्वारा चित्तशुद्धि करते रहना हमारा कर्त्तव्य है। यही कर्मयोग है। इसमें महत्त्व भावना का है। कर्मयोगी सदा कर्म में लगा रहता है, सदैव तृप्त रहता है, अतः नीरोगी रहता है।

स्थित प्रज्ञ- ज्ञानी पुरुष आत्मस्थित रहता है। सुख-दुःख में सम बुद्धि रखता है। आसक्ति रहित रहकर स्वभावानुसार स्वयं प्राप्त कर्त्तव्य कर्म करता रहता है। ऐसे कर्म उसे बन्धनकारी नहीं होते हैं और न उसे करने में आसक्ति होती है। इसके विपरीत कामनायुक्त पुरुष जन्म-जरा-मरण, आधि-व्याधि आदि दुःखों को भोगते हुए अनेक जन्म लेता रहता है।

इस अध्याय में चार बातों के बारे में विस्तार से बताया गया है। पहली बात यह है कि हम नश्वर शरीर नहीं हैं बल्कि अजन्मा, अविनाशी आत्मा हैं। कार्य जड शरीर, मन, बुद्धि से नहीं होते और न आत्मा द्वारा किये जाते हैं। कार्य होते हैं अन्तःकरण में आत्मतत्त्व के आभास से। दूसरी बात-अपने स्वभाव तथा परम्परा से प्राप्त कर्मों-स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। दूसरे के धर्म-यदि वह श्रेष्ठ भी हो तो-उसका पालन हमारे लिये उचित नहीं है। तीसरी बात बुद्धियोग की है। हमें समता में स्थित रहकर सभी कर्म करने चाहिये। समता को यहाँ 'योग' कहा गया है। कर्मों को इस कुशलता से करना चाहिये कि हम कर्म-बन्धन में न पड़ें। कर्मों में कुशलता को भी 'योग' कहा गया है। चौथी बात 'स्थित-प्रज्ञ' के विषय में बतायी गयी है। जिसकी प्रज्ञा स्थित है, जो ज्ञानी है; जिसकी बुद्धि निश्चयात्मिका है; जिसकी बुद्धि एकमात्र परमात्मा में लगी है, जो सभी सांसारिक कामनाओं को छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमण करता है-पूर्ण सन्तुष्ट है, जिसे इन्द्रियों तथा उनके विषय के संयोग प्रभावित नहीं करते; ऐसे व्यक्ति को इस अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया हैं। उनका व्यवहार समुद्रवत् होता है। जैसे अनेक नदियाँ दिन-रात समुद्र में गिरती रहती हैं, परन्तु समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित रहता है, वैसे ही ज्ञानी आत्मसंयम योग में स्थित रहता है, इन्द्रियों के विषय उसे प्रभावित नहीं करते। इस अध्याय में प्रयोग किया गया 'सांख्य' शब्द ज्ञान हेतु है। पूरे अध्याय में बुद्धि-ज्ञान की प्रधानता है और यह ज्ञान भगवान् से योग का माध्यम है। अतः इस अध्याय का नाम 'सांख्ययोग' रखा गया है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (गीता2/7)

महाभारत के युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व, अर्जुन के कथनानुसार रथ के सारथी, भगवान श्रीकृष्ण ने जब रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दिया, तो अपने सगे सम्बन्धियों, गुरु, पितामह भीष्म आदि को देखकर अर्जुन को मोह हो गया। उसे क्षत्रिय धर्म का ज्ञान नहीं रहा। अपनी सेना से बड़ी कौरवों की सेना, उनकी ब्यूह रचना आदि देखकर उसे घबराहट हो गयी तथा अनेक तर्क देकर सिद्ध करने लगा कि उसका न लड़ना ही श्रेयस्कर है। भगवान् धैर्यपूर्वक उसकी सब बातें सुनते रहे। पुनः उसके मन में विचार आया कि जो कुछ उसने कहा, युद्ध में भाग न लेने हेतु उसने जो तर्क दिये– वह सब कहीं अज्ञान तो नहीं। अतः अपनी कमी को स्वीकार करते हुए वह भगवान् से प्रस्तुत श्लोक में प्रार्थना करता है–

वह कहता है कि मैं कार्पण्यदोष से घायल हो गया हूँ। कायरतारूपी दोष से उसका क्षात्रस्वभाव दब गया है। वह मोह–ममता को छोड़ने में असमर्थ हो गया है। वह स्वीकार करता है कि वह कायरता के दोष से अभिभूत तथा अपने कर्तव्य पथ पर संभ्रमित हो गया है। उसे धर्म–कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहा। (किसी वस्तु का वह गुण, जिसके कारण उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, उसका धर्म कहलाता है जैसे प्रकाश तथा गर्मी अग्नि का धर्म है इनके बिना इसका अस्तित्व नहीं)। वह धर्म–संमूढ़ हो गया है। धर्म–अधर्म के निर्णय करने में भटक गया हैं। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में उसे सही रास्ता नहीं सूझ रहा है। वह मोहितचित्त है। वह भ्रम के जाल में ऐसा पड़ गया है कि उसे अपने हित का ज्ञान नहीं रहा। अतः वह भगवान् से धर्म–कर्तव्य के सम्बन्ध में पूछ रहा है।

पुनः वह कहता है कि मुझे केवल वह धर्म जो श्रुति द्वारा बताया गया है, ही नहीं चाहिए, बल्कि मेरे लिए जो श्रेयस्कर साधन हो, वह बताइये और निश्चित बात बताइये ताकि हमें कोई सन्देह न रह जाय। वह कहता है कि आप इसलिए बताइये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ अर्थात् मैं आपके द्वारा शासन करने योग्य हूँ। अतः गलत रास्ते पर जाने से मुझे रोकिये। मुझे शिक्षा दीजिये। इतना कहकर उसे लगा कि उसका कहना शायद पर्याप्त नहीं है। अतः वह यह कहकर भगवान् का प्रपद जोर से पकड़ लेता है।

प्रपद कहते हैं पैर के पञ्जे के ऊपर वाला भाग। उसे जोर से पकड़ने का भाव यह है कि जब तक नहीं बतायेंगे तब तक वह छोड़ेगा नहीं। अभी शरणागत पूरी तरह नहीं हुआ है। इसीलिये वह बाद में भी अनेक शङ्कायें करता रहता है। यदि वह शरणागत हो गया होता, तो अन्त में भगवान् 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर केवल मेरी अनन्य शरण में आ जाओ, ऐसा न कहते। इसीलिये तो अर्जुन बन्दरिया के बच्चे की तरह भगवान् के चरण पकड़ता है, बिल्ली के बच्चे की तरह वह उन पर पूरी तरह छोड़ नहीं देता। बिल्ली का बच्चा अपने को पूरी तरह माँ पर छोड़ देता है और उसकी माँ उसे अपने दाँतों से इस तरह पकड़ती है कि बच्चे पर असर नहीं होता।

अर्जुन का मोहग्रस्त होना, अपने धर्म-कर्तव्य के सम्बन्ध में निर्णय न कर पाना, कायरता के कलुष से घायल होना... आदि बातें केवल अर्जुन के ही सम्बन्ध में सत्य नहीं है। जीवन संग्राम में हम सबके सामने प्रतिदिन ऐसी परिस्थितियाँ आती रहती हैं, तथा हम भ्रम में पड़ जाते हैं और निर्णय नहीं कर पाते कि क्या करें। ऐसे समय में हमको अपने इष्ट-भगवान्-सद्गुरु-ज्ञानी के शरण में जाना चाहिए तथा दीनभाव से अपनी समस्या बताकर यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हमारे लिए जो श्रेयस्कर हो, वह बतायें। हमको उचित मार्ग दिखायें। यदि हम सच्चेभावसे, आर्तभाव से प्रार्थना करेंगे तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमको सत्प्रेरणा मिल जायेगी। हमारी समस्या का निदान सर्वोत्तम तरीके से हो जायेगा। ऐसी अवस्था में यह भी तय है कि यदि हमारी सद्भावना है, हमारा साधन पवित्र है, उद्देश्य न्यायपूर्ण है तथा इससे किसी का अहित नहीं होने वाला है, प्रारब्ध बाधक नहीं है और परमात्मा की इच्छा के अनुरूप है तो वह कार्य अवश्य सम्पन्न हो जायेगा।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। (गीता-2/14)

हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रियों के विषय सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख देने वाले हैं। वे आने-जाने वाले तथा अनित्य हैं। हे अर्जुन! उनको तुम सहन करो।

जिनसे ज्ञान होता है, उन ज्ञान के साधन इन्द्रियों को मात्रा कहते हैं। पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत पैदा होते है। तन्मात्राएं है- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द। महाभूत हैं- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश। इन ज्ञान के साधनों से जिन शब्द आदि विषयों का ज्ञान किया जा सके, उन्हें 'स्पर्श' कहते हैं। गर्मी-सर्दी से तात्पर्य अनुकूलता तथा प्रतिकूलता से है। जब मन के साथ इन्द्रियोंका विषयों से संयोग होता है जैसे- आँख का रूप से, कान का शब्द से, रसना का स्वाद से, त्वचा का स्पर्श से तथा घ्राणेन्द्रिय (नाक) का गन्ध से तो अनुकूल होने पर सुख तथा प्रतिकूल होने पर दुःख का अनुभव होता है।

अनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।।

यहाँ जब इन्द्रियों तथा अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार) की विषयों से संयोग की बात कही गयी है तो विषयों का पदार्थो से सम्बन्ध की बात नहीं कही गयी है; क्योंकि पदार्थो के नष्ट हो जाने पर भी उनसे सम्बन्ध कभी-कभी बना रहता है। पदार्थो की तो एक दिन उत्पत्ति हुई है तथा उनका विनाश भी एक दिन निश्चित है। वे आदि-अन्त वाले हैं। ये पदार्थ अपने अस्तित्व काल में भी निरन्तर बदलते रहते हैं। ये कभी एक समान नहीं बने रहते। पदार्थो को भगवान् ने 'अनित्य' कहा है, क्योंकि पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व नहीं थे और कुछ काल बाद वे उस रूप में नहीं रहेंगे। ये पदार्थ तो आने-जाने वाले तथा अनित्य ही हैं। हमारी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे हमारी उम्र बढ़ती जाती है, हमारी पसन्द भी तदनुसार बदलती रहती है। प्रतिदिन जागृत अवस्था के अन्त में अन्तःकरण की स्थिति वैसी नहीं रहती जैसी प्रातःकाल सुषुप्त्यावस्था से जागने पर रहती है। अतः सभी इन्द्रियों के विषय (पदार्थ) इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण सभी परिवर्तनशील हैं, आते-जाते हैं। कोई स्थायी रहने वाले नहीं है। अतः हमें जब अनुकूल परिस्थिति में सुख की अनुभूति हो या प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख की तो मन में यह दृढ़ विचार करना चाहिये

कि कोई भी परिस्थिति रहने वाली नहीं है। सुख के दिन भी बीत जायेंगे और दुःख के दिन भी बीत जायेंगे। बुद्धि को साम्यावस्था में रहने की आदत डालनी चाहिये। परिस्थितियों को आने-जाने वाली समझकर जबसाम्यावस्था में रहने लगेंगे, जब बुद्धि साम्यावस्था में रहने लगेगी तथा मन इन्द्रियों के अनुसार न भागकर बुद्धि के नियन्त्रण में रहेगा अर्थात् मनबुद्धि के अनुसार चलने लगेगा तो हमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होगा। हम शान्त हो जायेंगे। तव चैतन्यशीलता हमारे अन्दर प्रकाशित हो जायेगी। उस अवस्था में हम प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को आने-जाने वाली समझकर शान्ति को वनाये रख पाने में समर्थ होंगे। हम प्रसन्नतापूर्वक हर परिस्थिति को स्वीकार करेंगे।

भगवान् ने इन आने-जाने वाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति के कारण होने वाले सुख-दुःख को सह लेने के लिये कहा है। इसका भाव यह है कि परिस्थितियाँ तो जब तक शरीर है, आयेंगी ही, परन्तु इनके उपस्थित होने पर हमारे अन्दर राग-द्वेष के भाव नहीं आने चाहिये अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में मन निर्विकार रहना चाहिये। इन्द्रियों का तथा अन्तःकरण का विषयों के साथ संयोग होने पर तथा संयोग की अवस्था में मन का निर्विकार रहना ही उनको सहना है।

दूसरी बात, हमारा आत्मस्वरुप अजन्मा, नित्य, अपरिवर्तनीय, निर्विकार है। हमारा स्वरुप इन आने जाने वाली परिस्थितियों के संयोग से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं से अप्रभावित है। इन्हें हम जानने वाले हैं। इनके साक्षी हैं। अतः हम अपने स्वरुप का चिन्तन कर, स्वरुप से एकाकार होकर सभी अवस्थाओं- क्रियाओं में निर्विकार वने रहें, यही हमारा परम पुरुषार्थ है। यही जीवन का परम् लक्ष्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (गीता 2/47)

तेरा अधिकार कर्म में ही है, कर्मफल में नहीं। कर्मफल प्राप्ति का कारण तू मत वन। कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति-प्रीति नहीं होनी चाहिए।

सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त सभी योनियाँ-कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि भोग योनियाँ हैं। वे पूर्व के अपने अच्छे-बुरे कृत कर्मो का फल भोगती हैं। उन्हें कर्म करने का अधिकार नहीं है। देवता भी अपने द्वारा किये गये अच्छे कर्मो के कारण सुख भोगते हैं। कर्म करने की सामर्थ्य होते हुये भी वे भोगों के आनन्द में ही लिप्त रहते हैं, कर्म नहीं करते। भगवान् ने केवल मनुष्य को यह अधिकार दिया है कि वे अपने द्वारा पूर्व में किये गये कर्मो का फल भी भोगते रहें तथा साथ-साथ कर्म भी करते रहें।

वौद्ध-दर्शन में पशु-पक्षी-देव आदि आठ योनियों को 'अक्षण' कहा गया है। अर्थात् ये स्वतः स्वेच्छया-शुभ कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होते। मानवजीवन क्षणकोटि में आता है। अतः वह स्वेच्छसे शुभ कर्म करने में समर्थ होता है। इस सम्बन्ध में निम्न उक्ति है-

क्षणसंपदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।

कर्म का अधिकार हमें भगवान् ने दिया है। कर्म किस तरह किया जाय, इसकी स्वतन्त्रता भी हमें मिली है। हम दैवी गुणों को धारण करते हुए अपने स्वभाव के अनुसार लोकसङ्ग्रह हेतु आसक्ति-अहङ्कार से रहित होकर, निष्काम कर्म करके जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं, या सकाम कर्म करते हुए अपने वासना समूह को विस्तार देकर अनेक योनियों में बार-बार जन्म लेकर दुःख भोगते रह सकते हैं। श्रेय और प्रेय, दो मार्गों में किसी एक को चुनना तथा उसके अनुसार कर्म करने हेतु हम स्वतन्त्र हैं। व्यवहारजगत् में कुछ महापुरुष दोनों ही मार्गों का आश्रय लेते हैं।

ईशोपनिषद् में भी कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष जीने की इच्छा करने को कहा गया है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' (ईशोपनिषद् -2)

प्रस्तुत श्लोक में चार बातें बतायी गयी हैं। कर्म करने में हमारा अधिकार है, फल की प्राप्ति में हमारा अधिकार नहीं है, निश्चित फल का आग्रह रखकर कर्म नहीं करना चाहिये तथा अकर्म के प्रति हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

किसी कर्म का फल कर्त्ता, करण, अधिष्ठान, कार्य के प्रति चेष्टा तथा दैव के अधीन है। फल सर्व समर्थ परमात्मा या कर्म के अधीन है। इसमें किसी अन्य का कोई वश नहीं है। दूसरी बात जब हम फल की चिन्ता करते हैं तो कार्य के पूर्ण होने या न होने के भय से युक्त हो जाते हैं। मन की शक्ति का बिखराव हो जाता है। अनुत्पन्न भविष्य की चिन्ता मन को अशान्त रखती है। यदि हम भविष्य के फल की चिन्ता न कर पूरे मन से, केवल वर्तमान में किये गये कर्म के प्रति समर्पित रहते हैं, तो सफलता निश्चित रहती है। अच्छी तरह से वर्तमान में किया गया कर्म ही भविष्य बनकर सामने आता है। असफलता का मूल कारण मन की अस्थिरता है। अतः हमें वैयक्तिक या सामाजिक किसी कर्म को ईश्वरार्पण बुद्धि से, निष्काम होकर करना चाहिये। कर्म करते हुए आनन्द प्राप्ति हमारा उद्देश्य होना चाहिये। फल जो भी प्राप्त होता है उसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त उपहार मानकर प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना चाहिये तथा सन्तुष्ट रहना चाहिये।

भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि जब मनुष्य कर्म फल की कामना से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है, तब वह कर्मफलरूप पुर्नजन्म का हेतु बन ही जाता है। शास्त्र वचन है- 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इसलिए कर्म का प्रयोजन होना चाहिये, परन्तु फल की कामना नहीं। ध्यान रखना है कि हम किसी कर्मफल का निमित्त न बन जायें।

कर्म करने के अनेक पक्षों के बारे में विचार कर ऐसी बात भी मन में नहीं आनी चाहिये कि कर्म करें ही नहीं। अर्थात् अकर्म के प्रति आसक्ति का भाव पैदा नहीं होना चाहिये। शरीर से कर्म छोड़ देने पर भी मन से तो कर्म होते ही रहेंगे। शरीर यापन हेतु भी कर्म तो करने ही पड़ेंगे। अकर्म के प्रति आसक्ति होने पर हम तमोगुण के दुर्गुणों से युक्त हो जायेंगे, हम पतनोन्मुख हो जायेंगे।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। (गीता 2/71)

गीता का दूसरा अध्याय एक तरह से सार है। गीता में प्रस्तुत होने वाली सभी बातें संक्षेप में इसमें आ गयी है। सबके वर्णन करने के बाद, श्रीकृष्ण ने कहा कि श्रुतियों के अनेक सिद्धान्तों के सुनने से विचलित बुद्धि जब अचल हो जाती है, ठहर जाती है, तब व्यक्ति योग की पराकाष्ठा-अमृतपद को प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्ति को जिसकी प्रज्ञा-समझ-अकल स्थिर हो गयी हो, स्थितप्रज्ञ कहते हैं। यह सुनकर अर्जुन ने ऐसे पुरुष के लक्षणों के बारे में पूछा तब भगवान् ने अनेक लक्षण गिनाये तथा अपनी बात समाप्त करने के पूर्व वे कहते हैं कि शान्ति की ऐसी अवस्था जिसमें सांसारिक सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं, वही पुरुष प्राप्त करता है, जिसने सभी कामनाएं छोड़ दी हैं तथा बिना किसी लालसा के सभी कार्य करता रहता है। शान्ति प्राप्ति हेतु भगवान् कामनाओं से रहित होना आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में कामनाओं का त्याग कितना महत्वपूर्ण है वह इस बात से स्पष्ट है कि वे इस बात को बार-बार कहते हैं। स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताने हेतु वे प्रारम्भ ही कामनाओं के त्याग से करते हैं।

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्" (गीता 2/55)

जब मनुष्य मनमेंस्थित सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर देता है, कामनाओं को समूल नष्ट कर देता है। अन्य स्थान पर वे कहते हैं-

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्" (गीता 3/43)

हे अर्जुन! तुम इस दुर्जेय कामरूप शत्रु को मारो। पुनः वे लोभ तथा मोह के साथ, कामना को नरक के द्वार की संज्ञा देते है। अतः इन तीनों को त्याग देने को कहते हैं-

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (गीता 16/21)

भगवान् उसी मनुष्य को योगयुक्त एवं सुखी मानते हैं जो शरीर त्याग के पूर्व काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ हो गया हो। परमपद को प्राप्त करने वाले साधकों के लक्षणों में भी उन्होंने एक लक्षण 'विनिवृत्त कामाः' जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से निवृत्त हो चुकी हैं- कहा है।

शास्त्र कहते है कि हमारा मन, बन्धन या मुक्ति का हेतु है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।' (ब्र०वि०उ०)

चञ्चल मन बाँधता है तथा स्थिर या वशीभूत मन मुक्त करता है। कामनाओं से रहित मन ही वशीभूत कहलाता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शान्ति प्राप्ति हेतु सांसारिक दुःखों से निवृत्ति हेतु, हमको-किसी भी साधक को- कामना रहित होना है। यहाँ मन में शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि क्या ईश्वर प्राप्ति हेतु परोपकार की कामना, यज्ञार्थ किये जाने वाले दैनिक कार्यों तथा निष्काम कर्म आदि से भी मुक्त होना है। किन कामनाओं को छोड़ना है? इसे भगवान् स्वयं बताते है कि ममता तथा अहङ्कार से उत्पन्न कामनाओं से रहित होना है। ममता रहित होना है। ममता के कारण जो भी कार्य होगा, वह बन्धनकारी होगा। कार्य का फल अनुरूप न होने पर कष्ट होना स्वाभाविक है। अतः आवश्यक पदार्थों के संग्रह में भी 'मेरेपन' की भावना से रहित होना है। हमको विचार करना है कि हमारा

शरीर अन्तःकरण, कोई दृश्य या मन में आई वस्तु हमारी नहीं है। शास्त्रवचनानुसार दो अक्षर का 'मम' शब्द वन्धनकारी तथा तीनअक्षर का 'न मम' शब्द मुक्त करने वाला है। इसीलिए निष्कामकर्म, यज्ञार्थ कर्म की आज्ञा भगवान् ने दी है। निष्काम कर्म में ममता नहीं जुड़ी होती।

कामनाओं से रहित होने के लिए हमको अहङ्कार रहित होना भी आवश्यक हैं। अर्थात् पद, धन, अधिकार, बल, सौन्दर्य, विद्वत्ता आदि के सम्बन्ध से होने वाले अभिमान से रहित होना आवश्यक है। जिसने अहङ्कार तथा स्वार्थ का विवेकपूर्वक त्याग करना जीवन जीना सीखा लिया है, उसे ही सही अर्थ में संन्यासी कहते हैं। मात्र गेरुआ वस्त्र धारण कर लेने से कोई सन्यासी नहीं हो जाता।

जब अहङ्कार से प्रेरित इच्छाएँ होती है, तो मन तथा बुद्धि अलग-अलग हो जाते हैं। व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है। अतः विक्षेप होते हैं। विक्षेपों का होना दुःख तथा शान्ति ही सुख है। कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश हो जाता है, तथा व्यक्ति बुद्धिनाश हो जाने पर नष्ट हो जाता है। कामनाओं से रहित व्यक्ति 'मैं' तथा 'मेरे' जैसे स्वार्थपूर्ण विचारों से मुक्त रहता है। इस सम्बन्ध में महर्षि रमण अपने उपदेशसार में कहते है-

'ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम्,
चित्तशोधकं मुक्तिसाधकम्।। (उपदेश सार-3)

यदि कामना को छोड़कर तथा परमात्मा को अर्पित करके कर्मानुष्ठान किया जाय तो वह अन्तःकरण का शोधक और मोक्षमार्ग में सहायक हो जाता है। कामना से युक्त होकर कियेगयेसभीकार्य लौकिक, अनित्य फलदायक होते हैं।

इस प्रकार जब व्यक्ति ममता तथा अहङ्कार रहित हो जाता है, तो उसके पास जो कुछ है वह बना रहे-ऐसी लालसा नहीं रहती अर्थात् वह प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति के प्रति निर्मम रहता है। वह सोचता है कि जैसे यह हड्डी-माँस का शरीर कार्य कर रहा है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में अहङ्काराभास-बाधितअहङ्कार अपना कार्य कर रहा है और वह स्वयं मात्र साक्षी है। ऐसा व्यक्ति परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है। शान्ति न कहीं से आती है न निजस्वरूप में पैदा होती है, बल्कि जो शान्ति पहले से ही हृदय में विद्यमान है उसे वह प्राप्त या प्रकाशित कर लेता है। उसके सभी दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह पुरुष एक स्थान पर शान्त होकर बैठ नहीं जाता, बल्कि जीवन निर्वाह के लिए चेष्टा करने वाला होकर विचरता रहता है जैसा कि वेद की आज्ञा है "चरैवेति-चरैवेति" चले चलो- चले चलो। आगे बढ़े चलो।

कर्मयोग

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि में सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर महानतम कल्पनीय आकाशगङ्गा में कोई चीज ऐसी नहीं है जो स्थिर हो, तथा कार्यशील न हो। इसका कारण यह है कि प्रत्येक चीज असीम सत्ता, परमात्मा का अंश है और इसलिये वह अपनी सीमितता को तोड़कर अपने मूल स्वभाव को प्राप्त करना चाहती है। ब्रह्माण्ड की निरन्तर कार्यरत

अवस्था के कारण किसी के लिये यह सम्भव नहीं है कि वैश्वीय नियमों के विपरीत, कोई एक क्षण भी स्वतन्त्र रहकर बिना कार्य किये रह सके। वाह्यरूप से निष्क्रिय तथा मानसिक रूप से सक्रिय रहना तो ढोंग है। मानसिक कार्य शारीरिक कार्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और यही हमारे बन्धन या मुक्ति के कारण हैं।

फल की कामना से रहित, आसक्तिरहित एवं कर्त्तापन के अभिमान से रहित होकर मात्र सृष्टिचक्र चलने के उद्देश्य से, स्वधर्मानुसार किये गये कार्य बन्धनकारी नहीं होते, बल्कि वे परमात्म-प्राप्ति के माध्यम बनते हैं। यद्यपि ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों से श्रेय की प्राप्ति होती है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से कर्मयोग पालन करने में सरल है।

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार ज्ञान को कर्म का आधार बनाया जाय। अर्थात् कर्मयोग का आधार बुद्धियोग को किस प्रकार बनाया जाय। किस प्रकार कर्म किया जाय कि वह बन्धनकारी न हो। यह भी बताया गया है कि किस प्रकार कर्म वास्तव में हमारे कर्म नही हैं। किसी के द्वारा किया गया कार्य या व्यवहार का निश्चय वैश्वीय विधानों के अन्तर्गत होता है, स्वतन्त्र नहीं है।

सृष्टिकर्ता प्रजापति ने मनुष्य को कर्त्तव्य के साथ पैदा किया। वह कर्त्तव्य, यज्ञ के रूप में है। यज्ञ के रूप में किया गया कर्म बन्धनकारी नहीं होता।

यज्ञ क्या है? वेदों में, यज्ञ के रूप में, सामूहिक कर्म का विचार हैं। किसी कार्य का कर्त्ता मात्र कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, इसलिये किसी एक को उसके फल का अधिकार भी नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी कार्य के कर्त्ता और उसकी फल प्राप्ति के बीच में उस कार्य को करने का प्रयोजन तथा आदर्श है, जिसे ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है। इसे आध्यात्मिक निर्देशक तत्व भी कह सकते हैं। कर्त्ता तथा इसके कर्मफल के बीच वर्तमान इस सिद्धान्त को ही देवता या ईश्वर कहते हैं। कर्म के उद्देश्य की पूर्ति की असफलता का कारण यही आध्यात्मिक, अनुबन्धीय तत्त्व की अज्ञानता है। ये देवता अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही ईश्वर की विभिन्न अवस्थाओं के प्रकट रूप हैं।

ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन न होने का कारण हमारी इच्छाशक्ति है। कर्म नहीं बल्कि इच्छा बन्धनकारी है। ईश्वर परम चेतनतत्त्व है और हमारी चेतना इच्छाशक्ति के कारण इच्छित वस्तु की तरफ तेजी से चली जाती है। वह हमें ईश्वर से दूर कर देती है। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिये सीमित इच्छाओं के बारे में सोचना या उनकी पूर्ति के लिये प्रयत्न करना अनुचित तथा अशोभनीय है।

गीता के अनुसार योग के अभ्यास से हम सीमितता के निम्न स्तर से उच्च स्तर की तरफ बढ़ते हुए अपनी सीमितता को घटाने में उत्तरोत्तर सफल होते हैं। हमारी उच्चस्तरीय चेतना ही देवता के रूप में है। महाभारत के अठारह दिन के युद्ध की तरह, हम अपने वर्तमान स्तर को, समर्पण के रूप में, यज्ञ कर रहे होते हैं। भगवान् का कथन है कि जब हम अपनी सीमितता के परे जाकर उच्चस्तरीय वास्तविकता का अनुभव करते हैं, तो हमें निम्नस्तरीय चेतना के उच्चस्तरीय चेतना से संयोग के रूप में, देवों का आशीर्वाद प्राप्त होता हैं। चूँकि

यह कर्म समर्पण के रूप में होता है, बाह्य परिणाम की पूर्ति हेतु नहीं, इसलिये यज्ञ के रूप में ये कर्म या कर्त्तव्यपूर्ति हमें दुःखों से परे ले जाती है।

प्रकृति सदैव सामञ्जस्य बनाये रखना चाहती है। प्रकृति के तीन गुण आपस में स्वयं सन्तुलन स्थापित करना चाहते हैं, और इसीलिये इन्द्रियों के गुण बाहय वस्तुओं के गुण से मिल जाना चाहते हैं। ये किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। ज्योंही हम कामनापूर्ण कर्म के रूप में प्रकृति से जुड़ते हैं, यह अपना आक्रोश व्यक्त करती है, और इसका फल हमें दुःख या पुनर्जन्म के रूप में प्राप्त होता है।

हमारा अस्तित्व प्रकृति की दिव्य संरचना के उद्देश्य की पूर्ति के लिये है, प्रत्येक चीज का अस्तित्व दूसरे के लिये है, अपने लिये नहीं। भगवान् के अनुसार काम, क्रोध तथा लोभ जो कि व्यक्ति के अहङ्कार की विभिन्न कार्यप्रणालियाँ हैं, हमारे उच्चत्तर स्थिति की तरफ अग्रसर होने में बाधक हैं। इच्छाओं का दमन कोई उपाय नहीं हैं; क्योंकि इसकी दूसरे रूप में प्रतिक्रिया होती है। योग के माध्यम से कामनाओं का उदात्तीकरण ही एक मात्र उपाय है।

वास्तव में हमारे कर्म, हमारे कर्न नहीं, बल्कि वैश्वीय शक्तियों, प्रकृति के गुणों-सत्व, रज, तम-के कारण हैं। वैश्वीय उद्देश्य से, अवैयक्तिक रूपसे, कर्म होते रहते हैं। इसलिये गीता के अनुसार, योगी का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, बल्कि वह एक साधक के रूप में वैश्वीय आत्मा से सामञ्जस्य स्थापित करता है। हमारा उद्देश्य भी अस्तित्व के महान् उद्देश्य के साथ एकता स्थापित करना है।

ध्यान की प्रक्रिया, अपने निम्नस्तरीय परिस्थिति से उच्चस्तरीय परिस्थिति पर, अपने को स्थापित करने की प्रक्रिया है। यह तरीका उदात्तीकरण कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा है कि हमें इन्द्रियों का उर्घ्वीकरण कर, अपने मन को बुद्धि या तर्क में तथा अन्तिम रूप से बुद्धि को आत्मा में स्थापित करना चाहिये। यदि हम अपने को आत्मा, जो ब्रह्माण्ड की आत्मा है, में स्थापित करने में समर्थ होते हैं, तो हम इन्द्रियों तथा मन के कार्य, क्रोध, इच्छा आदि से अपने आप मुक्त हो जायेंगे।

इस अध्याय में कर्म करने की विधि बतायी गयी कि किस प्रकार समता में स्थित रहकर, आसक्ति-अहङ्कार-फलाशा रहित होकर, परमात्मा को केन्द्र में रखकर, निश्चयात्मिका बुद्धि से हमें अपने स्वधर्म का पालन कुशलता पूर्वक करना चाहिये। इस प्रकार से किया गया कर्म भगवत्-प्राप्ति का हेतु है। इसलिये इस अध्याय का नाम 'कर्मयोग' है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (गीता 3/27)

प्रकृति की ईश्वर से स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ईश्वर से संयुक्त होकर, उसकी अध्यक्षता में प्रकृति कार्य करती है। वह चेतन परमात्मा ही ज्योंकात्यों रहता हुआ, प्रकृत्याकार होकर जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर की शक्ति ही प्रकृति है। भगवान् ने कहा है-

"मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गीता 9/10)

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् की सृष्टि करती है।

पञ्चमहाभूत– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश,पाँच ज्ञानेन्द्रियां– आँख,कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा, पाँच कर्मेन्द्रियाँ– हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ तथा पायु तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति से उत्पन्न गुणों (सत्व, रज, तम) का कार्य होने के कारण प्रकृति के कार्य कहे जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि सभी समष्टिगत या व्यक्तिगत क्रियायें प्रकृति के गुणों द्वारा ही की जाती हैं, स्वरूप के द्वारा नहीं। 'मैं-पन के बोध' या अहङ्कार को हम 'अहं' भी कहते है। अनेक स्थानों पर अहङ्कार के स्थान पर अभिमान, घमण्ड, गर्व आदि का प्रयोग किया जाता है। वेदान्त में कर्तापन एवं भोक्तापन के भाव को अहङ्कार कहते है। जब शरीर के साथ अहङ्कार का तादात्म्य हो जाता है, तो कर्त्तापन का भाव होता है और जब मन-बुद्धि के साथ तादात्म्य हो जाता है तो भोक्ता का भाव होता है।

वास्तव में कार्य (पाँच महाभूत तथा पाँच तन्मात्राएँ–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) तथा करण (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अंहकार) के संघात रूप शरीर में अहं–भाव की प्रतीति अहङ्कार है। उस अहङ्कार से जब अन्तःकरण मोहित हो जाता है, तो ऐसा देहाभिमानी पुरुष अविद्या के वशीभूत होकर, प्रकृति के कर्मो को अपना मानते हुए 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मान लेता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है –

> दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
> वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्धयते।।
>
> (श्रीमद्भागवत 11/11/10)

'यह शरीर प्रारब्ध के अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणों की ही प्रेरणा से होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठ-मूठ अपने को उन ग्रहण–त्याग आदि कर्मो का कर्ता मान बैठता है, और मिथ्या अभिमान के कारण बँध जाता है।'

कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अहङ्कार के सङ्कल्प ही बन्धन हैं; क्योंकि कर्तृत्व की भावना होने पर फलाशा, व्याकुलता, आसक्ति आदि का होना स्वाभाविक है और हम इससे कर्म-बन्धन में फँस जाते हैं। सभी अनर्थों का मूल जीव का अहंभाव ही है। किसी उपाय से अहं–भाव के नष्ट होने पर जब अपना स्वरूप प्रकाशित होने लगता है तो इस दशा को मोक्ष कहते हैं।

अतः मुक्त होने हेतु यह आवश्यक है कि मनुष्य आत्मा को निष्क्रिय, निर्विकार, असङ्ग, सर्वगत तथा गुणातीत समझे तथा प्रकृति के गुणों के कार्य (अपने सभी कर्म) देह के अभिमान से युक्त होकर न करे।

अहङ्कार का नाश कैसे हो? यदि हम ध्यान दें तो देखते हैं कि अहङ्कार का तादात्म्य हमारे शरीर से होता है, बाहरी किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं। चूँकि यह 'मैंपन' का भाव हमारे शरीर में ही होता है, इसलिये हम स्वार्थी हो जाते हैं। जब इसभावका विस्तार होता है, और इसका सम्बन्ध परिवार, जाति, समाज, देश, विश्व से हो जाता है अर्थात् हमारे अन्दर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव उदय होता है, तो यह 'मैंपन' का भाव विस्तार के अनुपात में कम होता जाता है। जब कोई व्यक्ति 'अहंभाव' का विस्तार करते-करते 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव में स्थित हो जाता है, तो उसके अन्दर स्वार्थ का भाव समाप्त हो जाता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का रूप समझता है और उसके अन्दर 'मैंपन' का भाव समाप्त हो

जाता है। शरणागति से भी अहङ्कार नष्ट होता है। दो वृत्तियों के बीच में ईश्वर को रखने से भी अहङ्कार नष्ट होता है।

मनुष्य से गलती यह हो जाती है कि वह अहङ्कार से मोहित होकर, अज्ञानवश एक ही समष्टि शक्ति से, अपने आप होने वाली क्रियाओं, जैसे भोजन पचना, शरीर में रक्त बनना तथा उसका संचार, नींद आना, जग जाना आदि को तो अपना नहीं मानता, परन्तु ज्ञानपूर्वक होने वाली क्रियाओं जैसे देखना, बोलना आदि को अपने द्वारा की हुई मान लेता है। उनका वह कर्त्ता बन जाता है। कुछ क्रियाओं को बिना किये, वह कर्त्ता कैसे हो सकता है? उसके स्वयं को कर्त्ता मानने के दो कारण है-

1- अन्तःकरण की एक वृत्ति, अहङ्कार को वह अपने से तादात्म्य कर लेता है और उसे अपना स्वरूप मान लेता है।

2- जैसे शरीर 'यह' से सम्बोधित होता है वैसे अहङ्कार भी 'यह' पद से व्यक्त होता है। यह 'मैं' नहीं हो सकता परन्तु वह व्यक्ति 'यह' को 'मैं' मान लेता है।

अहंता सर्वथा नष्ट नहीं हो सकती। वह व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है। यह दो प्रकार की होती है-मनोगत तथा आत्मगत। जब अहम्-भाव मनोगत होता है तब आत्मा में अहम्भाव नहीं होता और जब मनोगत अहम्भाव नहीं रहता तब आत्मा प्रकाशित होता है। अतः एक अहम् के नाश होने पर हृदय में शुद्ध 'अहम्-अहम्' स्फुरित होता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।
एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।। (गीता 3/42-43)

स्थूलदेह की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन तथा मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है। बुद्धि का द्रष्टा सबसे श्रेष्ठ है। हे महाबाहो! बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को जानकर, शुद्ध मन से आत्मा को समाधिस्थ करके इस कामरूप दुर्जय शत्रु का नाशकर।

तीसरे अध्याय के इन श्लोको में भगवान् ने बताया है कि किस प्रकार साधक अपने महान् शत्रु काम का नाश कर सकता है। इसके पूर्व अर्जुन के यह पूछने पर कि किस कारण न चाहते हुए भी मनुष्य पाप-कर्म अर्थात् न करने लायक कर्म में प्रवृत्त हो जाता है, भगवान् ने इसका मूल कारण कामना को बताया था। जड़ संसार से होने वाले सुख की चाह या अप्राप्त को प्राप्त करने की चाह को 'काम' कहते हैं। जब किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति में हमारी बुद्धि संलग्न हो जाती है, तो उसे प्राप्त करने की इच्छा पैदा होती है। जो हम चाहते हैं वैसा न होने पर तथा जो नहीं चाहते हैं वैसा होने पर हमें दुःख होता है, अर्थात् हमारे सभी दुःखों का कारण कामना ही है। यदि हम कोई कामना न रखें तो कोई दुःख नही होगा। 'काम' के अनेक रूप है। हमारे अन्तःकरण की सूक्ष्म कामनाएँ ही वासनाओं के रूप में जन्म लेती हैं। किसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होना 'स्पृहा, उसमें उत्तमता या प्रियता प्रतीत होना 'आसक्ति', अधिक मिल जाने की इच्छा होना लोभ-आदि सभी काम के ही विभिन्न रूप हैं।

संसार के आवागमन का मुख्य हेतु कामना ही है। महाभारत में वर्णन है-

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते।। (मभा0 शान्तिपर्व 251/7)

जगत् में कामना ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामना के बन्धन से छूट जाता है वह ब्रह्मभाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद जी ने श्री नरसिंह भगवान् द्वारा वर देने की बात पर कहा -

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते।। (श्रीमद्भागवत 7/10/9)

'कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मन में रहने वाली कामनाओं का परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। भगवान् के अनुसार कामना सात्त्विक पुरुष के विवेक को वैसे ढक लेती है जैसे धुआँ अग्नि को। हवा के झोंके से अग्नि स्पष्ट हो जाती है। रजोगुणी मनुष्य के विवेक को कामना वैसे ढक लेती है, जैसे दर्पण को मैल ढके रहता है। थोड़ा परिश्रम करके साफकरनेपर दर्पण स्पष्ट चित्र दिखाता है। तमोगुणी व्यक्ति को तो कामना इस प्रकार ढके रहती है जैसे गर्भ जेर के द्वारा ढका रहता है। कुछ काल प्रतीक्षा करने के बाद बुद्धि निर्मल होने पर विवेक जागृत हो सकता है। भगवान् ने इस हेतु इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान (तत्त्वज्ञान) और विज्ञान (अनुभव ज्ञान) के नाशक इस पापी काम को नष्ट करने की आज्ञा दी है।

प्रस्तुत श्लोकों में वह उपाय बताया गया है कि कैसे हम इच्छा का त्याग कर सकते हैं। इन्द्रियाँ शरीर तथा विषयों से श्रेष्ठ, बलवान, सूक्ष्म, व्यापक तथा प्रकाशक है। इन्द्रियाँ बलवान हैं। दूरबीन की सहायता से हम बहुत दूर स्थित तारे को भी देख सकते हैं। इन्द्रियाँ विषयों तथा शरीर को प्रकाशित करती है। विषय तथा शरीर इन्द्रियों को प्रकाशित नहीं कर सकते। अतः इन्द्रियाँ उनकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा व्यापक है। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है। मन इन्द्रियों को जानता है, इन्द्रियाँ मन को नहीं जान सकती। मन ही इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। मन इन्द्रियों से सूक्ष्म है। जहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है वहाँ मन की गति है। अतः मन इन्द्रियों की अपेक्षा व्यापक है। मन से परे- श्रेष्ठ बुद्धि है। बुद्धि मन को जानती है। मन बुद्धि को नहीं जानता। बुद्धि नई चीज की खोज कर सकती है, मन नहीं कर सकता। बुद्धि मन को, इन्द्रियों तथा उनके विषयों को जानती है। अतः यह मन से श्रेष्ठ है। बुद्धि से श्रेष्ठ अहं है। हम अपनी बुद्धि को भी जानते हैं। हम कहते हैं कि हमारी बुद्धि। इसलिये अहं, बुद्धि से श्रेष्ठ है।

अहं में जड़ और चेतन दोनों अंश हैं, वैसे तो अहं के जड़अंश में काम रहता है परन्तु जड़ अंश से तादात्म्य हो जाने के कारण 'काम चेतनअंश में प्रतीत होता है। चेतन परमात्मा का अंश है। यह शुद्ध निर्विकार है। इसमें काम नहीं रह सकता। सजातीयता के कारण 'काम' का सम्बन्ध जड़ संसार से है। चेतन का सम्बन्ध अपने अंशी परमात्मा से है। परमात्मा का अंश होने के कारण हम सत्-चित्-आनन्द चाहते हैं अर्थात् हम सदा अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। हम सदा ज्ञान की खोज में रहते हैं तथा सदा सुख चाहते हैं। भ्रमवश इनकी पूर्ति की आशा हम सांसारिक कामनाओं के द्वारा करना चाहते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है।

सासांरिक पदार्थ अनित्य हैं। या तो वे प्राप्त नहीं होते और यदि प्राप्त होते है तो ठहरते नहीं। अतः हम दुःखी रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति होने पर नई कामनायें पैदा हो जाती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेनाशाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभि वर्धते।। (श्रीमद्‌भागवत 9/19/14)

विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोग वासनायें भी भोगों से प्रबल हो जाती है।

अतः बुद्धि से परे इस काम को हमें अच्छी प्रकार से जानना चाहिये। यह काम हमारे स्वरुप में नहीं रहता। यह अहं में रहता है। यदि हमारे स्वरुप में काम रहता तो इसका नाश सम्भव नहीं था। यह जड अहं में रहता है इसलिये इसका नाश सम्भव है। बुद्धि से परे इस काम को जानकर इसका नाश हमें करना चाहिये।

काम को मारने का उपाय भगवान् बताते हैं- अपने द्वारा अपने आप को वश में करना। इसका अर्थ है कि हमें अपना सम्बन्ध जडसंसारसे हटाकर अपने अंशी परमात्मा से रखना है। वास्तव में हमारा सम्बन्ध परमात्मा से ही है क्योंकि हम उसके अंश हैं। संसार से हमारा सम्बन्ध माना हुआ है। चेतन का सम्बन्ध जड़ से सम्भव ही नहीं है। यदि हम पारमार्थिक इच्छा, तत्त्व के प्रति, जिज्ञासा संसार-सागर से छूटने तथा परमात्मा के प्रति प्रीति की इच्छा तीव्र करते जाय तो संसार अपने आप छूटता जायेगा तथा हमारी कामनायें भी समाप्त होती जायेंगी। लौकिक इच्छायें मिटने पर नित्यप्राप्तपरमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। भगवान् ने कामनाओं को नाश करने का आदेश देते समय अर्जुन को महाबाहो! कहकर सम्बोधित किया। इसका अर्थ है कि कामनाओं को नाश करने वाले को उसके बारे में ठीक से जानना तथा उनसे सतर्क रहना चाहिये। कामनाओं का नाश करने से तात्पर्य कामनारहित-कामनाओं से अनासक्त-होना है। कामना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। कामनायें उत्पन्न होती हैं और उत्पन्न होने वाली चीज़ का नाश होना भी निश्चित है। यदि हम नयी कामनायें न करें तो पहले की कामनायें स्वयं नष्ट हो जायेंगी। अतः कामनाओं को नष्ट करने से अभिप्राय नयी कामनाओं को उत्पन्न न होने देना है।

यदि हम प्रत्येक क्रिया परमात्म-प्राप्ति के उद्देश्य से, दूसरों के हित के लिये निष्काम भाव से करें तथा यह भाव रखें कि संसार से हमें जो कुछ मिला है, हमारा नहीं है बल्कि संसार की सेवा के लिये मिला है तो कामनाओं का नाश सुगमता से हो जायेगा।

इच्छा, अज्ञान का परिणाम है। इच्छाएँ हमारी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि में रहती हैं। यदि हम ध्यान के अभ्यास से स्वयं को शरीर, मन, बुद्धि से अलग करके अपने को स्व-स्वरुप में स्थित करते है तो कामनारहित हो जाते हैं। इन्द्रिय नियमन से काम का क्षीण होता है और आत्मज्ञान से काम समूल नष्ट हो जाता है। अनिच्छा के रूप में भी काम रहता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छा-अनिच्छा से मुक्त हो जाता है तथा दुर्जय काम पर विजय प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में ज्ञान को कर्म का आधार बनाने तथा ज्ञानयुक्त क्रिया को जीवन के दैनन्दिन व्यवहार में लाने का उपाय बताया गया है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि किस प्रकार कर्म तथा ज्ञान में आधाराधेय के रूपमें ऐक्य स्थापित किया जाय।

यदि हम त्याग-भावना से युक्त होकर स्वधर्माचरण नहीं करते, यदि हम कामनायुक्त होकर, आसक्ति की डोर से बँधे हुए तथा कर्तृत्वाभिमान से लदे हुए, सकाम कर्मों को करते हैं तो हम आत्मा-परमात्मा के ज्ञान से दूर ही रहते हैं। ऐसी अवस्था में निश्चित है कि हम वर्तमान जीवन के दुःखों को भोगते हुए बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेते रहेंगे। इसके विपरीत यदि हम ज्ञानयोग का अभिमानरहितहोकर आश्रय लेते हैं तथा इसे आधार बनाकर कर्मों को यज्ञस्वरूप सम्पन्न करते हैं तो मोक्षस्वरूप परम पद को प्राप्त कर सकते हैं। कर्मयोग तथा ज्ञान के रहस्य को भली-भाँति समझना महत्त्वपूर्ण है। कर्मयोग से कर्मों में अनासक्ति का भाव पैदा होता है और ज्ञानयोग से सन्देह समाप्त हो जाता है।

जडता से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना तत्त्वज्ञान है। तत्वज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है। मोह नष्ट हो जाता है। सङ्कल्प तथा कामना के नष्ट होने पर, सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। कर्म-फल से निर्लिप्त रहकर कर्म करते रहने से कर्म बन्धनकारी नहीं होते। अतः हमें काम-क्रोधादि पर विजय प्राप्त करते हुए लोकहित के लिये, कर्तृत्वाभिमान तथा आसक्ति से रहित होकर कर्मफल की आशा का त्याग करते हुए स्वधर्माचरण करते रहना चाहिये। यही ज्ञानयुक्त कर्म है। इससे चित्त का संशोधन होता रहता है। चित्त-संशोधन के लिए किये जाने वाले कर्म को कुछ ज्ञानी, विशेषकर्म-विकर्म कहते हैं। कर्म में विकर्म उड़ेल देने से अर्थात् संशोधित चित्त से कर्म करने पर कर्म, अकर्म बन जाता है।

इस अध्याय में यह सन्देश है कि ईश्वर की अनुकम्पा, सम्पूर्ण विश्व के प्रत्येक मनुष्य पर रहती है। ईश्वर से दूरी होने पर भी, अर्थात् ईश्वर से विमुख होने पर भी, ईश्वर हम पर कृपा करता है, भले ही हम उसे सजा के रूप में लें या प्रस्तुत प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमें खराब लगें।

इस अध्याय में दो मुख्य बातें ये हैं। ब्रह्माण्ड की संरचना में, इसका जैसा अस्तित्व है, उसके अनुसार कार्य करने को हम विवश हैं। जब हम ईश्वर की अनुभूति करते हैं और उसकी पूर्णता में स्थापित हो जाते हैं तब कर्म, ज्ञान हो जाता है। कर्म, हमारा अस्तित्व, स्वभाव हो जाता है और स्वभाव ही कर्म।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस संसार में ईश्वर, अनन्त अवतारों के रूप में प्रकट होता है। संसार की प्रत्येक घटना एक दिव्य चमत्कार है। यह दिव्य चमत्कार अवतारों की क्रिया है। सभी अवतार समान उद्देश्य की पूर्ति के लिये होते हैं और सबका मूल स्रोत एक ही है। इस अध्याय के अन्त में ज्ञान को जाग्रत कर, सभी सन्देहों को दूर कर, कर्म को योग में बदल कर, स्वयं को उच्चतर चेतना में स्थापित करने हेतु शिक्षाप्रद उपदेश है।

यहाँ ज्ञानयुक्त कर्म करने अर्थात् कर्म इस प्रकार करने है कि वह ज्ञान का आधार बने- की शिक्षा दी गयी है। कर्म को यज्ञभावना से करना है। यज्ञ-त्याग पर ही पूरी सृष्टि टिकी है। हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग अपने लिये कार्य नहीं करता, पूरे शरीर के लिये कार्य करता

है। सूर्य, पृथ्वी, वायु, वृक्ष, नदियाँ सभी निरन्तर बिना फल की आशा तथा अहङ्कार रहित होकर कार्य कर रहे हैं। यज्ञभावना से किया गया ज्ञानयुक्त कर्म, भगवान् से योग करानेवाला होता है। अतः इस अध्याय को 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' कहा गया है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। गीता 4/19

जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना तथा उसके कारणरुप सङ्कल्प से रहित हो गये हैं तथा ज्ञानाग्नि में पाप-पुण्यरुप सम्पूर्ण कर्म दग्ध हो गये हैं, ऐसे पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

इस श्लोक में भगवान् ने बताया है कि विद्वान् लोग किसे 'पण्डित' कहते हैं। पण्डित कहलाने हेतु व्यक्ति में कौन-सी योग्यता होनी चाहिये। इसके पूर्व बताया गया था कि किस प्रकार कर्म 'अकर्म' बन जाता है तथा अकर्म 'कर्म' बन जाता है। यदि प्रवृत्ति मार्ग में अकर्त्ताभाव बना रहे तथा निवृत्ति मार्ग में दैन्य न आवे तो प्रवृत्तिमार्ग का कर्म 'अकर्म' बन सकता है और निवृत्तिमार्ग का अकर्म 'कर्म' बन सकता है। जो कर्म में अकर्म देखता है तथा अकर्म में कर्म देखता है उसे भगवान् ने बुद्धिमान कहा था। ऐसा व्यक्ति योगी है तथा उसने सम्पूर्ण कर्मो को कर लिया है।

सच्ची पण्डा ब्रह्मविद्या है। ऐसी विद्या जिसे प्राप्त है, वह पण्डित है जिसमें सत्-असत् का विवेक जागृत हो गया है, जिसमें यह विवेक जागृत हो गया है कि असत्, मिथ्या है, उसका कोई अस्तित्व है ही नहीं तथा सत् तो केवल एक परमात्म-तत्त्व है, उसे बुद्धिमान लोग पण्डित कहते हैं। ऐसे व्यक्ति की ज्ञानाग्नि में कर्त्ता-कर्म-कर्मफल का भाव जल चुका होता है, उसके कर्मों में फल देने की शक्ति नहीं रहती। उसके सञ्चित तथा प्रारब्ध दोनों कर्म जल जाते हैं। प्रारब्धकर्म के उपस्थित होने पर भी चूँकि वह समता में स्थित रहता है, अतः सुख-दुःख का भोक्ता नहीं रहता। उसकी निर्लिप्तता के कारण सञ्चित कर्म भी उसे प्रभावित नहीं कर पाते। उसके कर्म तो वैसेही होते रहते है, जैसे किसी ढाल जमींन पर मोटर गाड़ी का इञ्जिन बन्द रहे तथा गाड़ी ढाल के कारण चलती रहे। यदि गाड़ी खड़ी है तो न कर्म है न फल है, यदि इञ्जिन चल रहा है, गाड़ी नही चल रही है तो कर्म हो रहा है, फल नहीं है। यदि गाड़ी चल रही है तो कर्म तथा फल दोनों है और यदि इञ्जिन बन्द हो परन्तु ढाल के कारण गाड़ी चल रही है तो कर्म नहीं हो रहा है परन्तु फल-प्राप्ति हो रही है। कर्म की यह अन्तिम अवस्था सर्वोत्तम अवस्था है। इस प्रकार के कर्म करने वाले को ही बुद्धिमान लोग 'पण्डित' कहते हैं। उसके द्वारा सम्पन्न होनेवाले सभी कर्म कामना तथा सङ्कल्प से रहित होते हैं। उसके द्वारा किये जाने वाले सभी कर्म लोक-सङ्ग्रह हेतु चेष्टा मात्र होते हैं। उनके कर्मो को कोई कामना या सङ्कल्प प्रेरित नहीं करते। वह कर्म में 'अकर्म' तथा अकर्म में 'कर्म' देखता है। ऐसा व्यक्ति सङ्कल्परहित तथा निर्विकल्पावस्था में रहते हुये यह अनुभव करता है कि वह अकर्त्ता, अभोक्ता, असङ्ग तथा निर्विकार है तथा उसके द्वारा सम्पन्न विहित, अविहित कर्म से वह निर्लिप्त है। ज्ञानमार्ग में स्थित व्यक्ति सब कर्मो को प्रकृति के गुणों द्वारा किया जाता हुआ देखता है। भक्त, सभी कर्मों, कर्मफल का प्रेरक तथा कर्त्ता भगवान् को मानता है। कर्मयोगी के कर्म तो फलाशा तथा अहङ्कार से रहित होने के कारण कर्म हैं ही नहीं। कर्मयोगी में कामना तथा सङ्कल्प दोनों नहीं रहते।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। गीता 4/22

जो पुरुष अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ से सन्तुष्ट है, द्वन्द्वों से परे है, ईर्ष्यारहित तथा प्राप्त लाभ की सिद्धि-असिद्धि में सम है, वह सब कुछ करते हुए भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता।

यहाँ भगवान् ऐसे पुरुष का लक्षण बता रहे हैं जो कर्म करता हुआ भी बन्धन से मुक्त रहता है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वर सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है। कोई भी कर्म बन्धनकारी नहीं होता, वल्कि कर्म के प्रति स्वार्थ का भाव, कर्तृत्वाभिमान, फल की चाह, यह भाव कि ऐसा करने पर हमें इस प्रकार का फल प्राप्त होगा, कर्म के प्रति आसक्ति आदि वन्धनकारी होते हैं। इस प्रकार के भाव अज्ञान के कारण होते हैं। इनके कारण हम मानने लगते है कि हम परिच्छिन्न, स्वतन्त्र है तथा हमारा अलग अस्तित्व है।

विना माँगे, अपने आप प्राप्त पदार्थों से जो सन्तुष्ट रहता है, शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, जय-पराजय सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका है, अर्थात् इनका उस पर प्रभाव नहीं पड़ता, अनुकूलता में हर्ष तथा प्रतिकूलता में जिसे विषाद नहीं होता, जिसमें किसी के प्रति ईर्ष्या का भाव नहीं है, अर्थात् सवके प्रति निर्वैर है, सवको आत्मस्वरूप समझता है तथा जो सिद्धि या असिद्धि की प्राप्ति में सम रहता है वह कर्म करता हुआ भी कर्म से नहीं बँधता।

'लाभ'शब्द से यहाँ तात्पर्य किसी भी प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने से है। किसी कर्त्तव्य कर्म के निर्विघ्न रूप से पूर्ण होने को सिद्धि तथा किसी विघ्न के कारण पूर्ण न होने को असिद्धि कहते हैं। ईर्ष्या वहुत वड़ा दोप है। इस दोप के कारण मनुष्य किसी को अपने से आगे वढ़ने नहीं देना चाहता। अपने से आगे देखकर उसे कष्ट होता है। यह इतना सूक्ष्म दोप है कि दो अत्यन्त करीवी मनुष्यों में भी एक दूसरे के प्रति हो जाता है। जैसे दो मित्रों में किसी का व्यापार अधिक चल जाय, कोई अधिक धन कमा ले, किसी की ख्याति अधिक हो जाय, आध्यात्मिक प्रगति हो जाय तो दूसरे मित्र में ईर्ष्या का भाव आ जाता है। यह इतना वड़ा दोप है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति को श्रीमद्भागवत सुनने तक का अधिकार नहीं है। जिसके प्रति ईर्ष्या की जाती है उसे तो पता भी नहीं रहता, परन्तु ईर्ष्या करते ही ईर्ष्या करने वाले के हृदय में घाव हो जाता है। वह जलने लगता है और धीरे-धीरे यह घाव विषाक्त हो जाता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति को वहुत पीड़ा होती है।

भक्तिमार्ग में, भक्त के जीवन में जो कुछ अपने आप प्राप्त होता है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती हैं, उसे वह भगवान् के द्वारा प्राप्त प्रसाद के रूप में स्वीकार करता है, सवको भगवान् का ही स्वरूप देखता है। अतः सवसे निर्वैर रहता है। सिद्धि-असिद्धि की प्राप्ति पर वह समता में स्थित रहता है। अपने नियत कर्मों को वह भगवान् के ही कर्म समझकर करता है और इस प्रकार वह कर्म-वन्धन से वच जाता है। तत्त्वज्ञानी समझता है कि भगवान् तो कारणोपाधिक हैं। उनमें कोई इच्छा नहीं है। अतः कोई कर्म करवाने की इच्छा उनमें नहीं है। सभी कर्म प्रकश्ति के गुणों द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता 3/28) अतः ज्ञानी पुरुष द्वारा क्रियाएँ तो होती रहती हैं परन्तु उसमें यह भाव सदा विद्यमान

रहता है कि वह कोई कर्म नहीं कर रहा है। वह जैसे है, जहाँ है, उसी में पूर्ण सन्तुष्ट है। आनन्द में है। वह जहाँ भी जिस परिस्थिति में भी है, आत्मस्वरूप में स्थित है। उसकी कोई कामना नहीं है और जहाँ कामना नहीं है वहाँ फल का अर्थ ही क्या है? अतः वह कर्म-वन्धन से मुक्त है। जिस प्रकार नाटक में अभिनय करने वाला व्यक्ति (नट) सम्वन्धित पात्र के गुणों से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार कर्मयोगी, प्रकृति के कार्यों से निर्लिप्त रहता है, उनसे अपना सम्वन्ध नहीं मानता। इसलिये वह समता में स्थित रहता है। समता में स्थिति होना 'योग' है। 'समत्वं योग उच्चते' (गीता 2/48) कर्मयोगी मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से अतीत होता है। इन द्वन्द्वों के कारण होने वाले प्रभाव से अछूता रहता है। इस कारण कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी सांसारिक वन्धन में नहीं पड़ता।

वाह्य विषयों का चिन्तन न करके, नेत्रों की दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करके, नासिका के भीतर आने-जाने वाले प्राण-अपान को समान करके जिसने अपनी इन्द्रिय, मनबुद्धि को वश में कर लिया है-ऐसा इच्छा, भय, क्रोध से रहित मोक्षपरायण मुनि सदामुक्त ही है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। गीता 4/24

इस श्लोक में सम्पूर्ण वेदान्त का सार छिपा है। बहुत से लोग भोजन करने के पूर्व इसे मन्त्र के रूप में पढ़ते हैं। किस प्रकार कर्म किया जाय ताकि वह वन्धन का कारण न वन सके। इस हेतु भगवान ने इस श्लोक से प्रारम्भ करके, जो अनेक यज्ञ वताये हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ यज्ञ इसी श्लोक में वर्णित है। यहाँ वैदिक यज्ञ का व्यापक और आध्यात्मिक भाव प्रकट किया गया है। यज्ञ क्या है? सभी साधन जव साध्य रूप हो जाते है अर्थात् साधनों का उपयोग जव साध्य के रूप में किया जाता है तो 'यज्ञ' कहलाते है। सव कुछ भगवान के लिए करना यज्ञ है। कारण में कार्य को लय कर देना यज्ञ है। निःस्वार्थ भाव से केवल दूसरों के हित के लिए कर्म करना यज्ञ है। ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है-सव कुछ ब्रह्मही है। इस दृष्टि का जाग्रत होना तथा कार्य करते हुए इस दृष्टि का उद्‌वुद्ध रहना सवसे बड़ा 'यज्ञ' है।

ब्रह्म क्या है?

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म्' (तैत्तिरीयोपनिषद 2/1/2)

अर्थात जो सत्य है, ज्ञान है, अनन्त पारमार्थिक सत्य जो जगत् का अधिष्ठान है, वही ब्रह्म है। शरीर से परिच्छिन्न होने पर यही 'आत्मा' के रूप में जाना जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है-

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० 3/14/1)

निश्चित रूप से सवकुछ ब्रह्म है। विवेकी पुरुष जैसे मिट्टी के सभी वर्तनों में मिट्टी देखता है, सोने के सभी आभूषणों में सोना देखता है, समुद्र की लहरों में समुद्र देखता है वैसेही वह वैदिक यज्ञ में, हवन-कर्म, अग्नि, हवि, घृत, चरु, पुरोडाशादि होम्य द्रव्य, यजमान सभी को समाहित बुद्धि से अखण्डएकरस ब्रह्म ही समझता है। अर्थात् यज्ञकर्ता के लिए यज्ञ कार्य ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म द्वारा ही हवन किया जाता है।

भावरूपसे ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब नाशवान् है। अभावरूप संसार भावरूप ब्रह्म के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। सब कुछ ब्रह्म ही है। इस भाव को भगवान् ने 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता 7/19) यह सब वासुदेव है, कहकर व्यक्त किया है–

श्रीमद्भागवत् में कहा है–

> मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
> अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा।। श्रीमद्भागवत 11/13/24

अर्थात् मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो ग्रहण किया जाता है, वह सब मै ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक समझ लीजिये।

अतः सभी कर्म करते हुए ज्ञानी पुरुष की मनःस्थिति तथा उसकी अनुभूति परमसत्य पर टिकी रहती है, नाम-रूपात्मक जगत् पर नहीं। इस ज्ञान का निरन्तर स्मरण करता हुआ प्रारब्धवश सभी भोगों को भोगता हुआ साधक अनन्त स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उसके सभी कर्म, अकर्म बन जाते है। कोई कर्म उसके लिए बन्धनकारक नहीं रह जाता। उसके सभी कर्मो का ब्रह्म में विलय हो जाता है तथा उसे प्राप्त होने वाले भोग भी ब्रह्म के ही हो जाते हैं। वह केवल लोकसंग्रह हेतु बिना किसी आसक्ति कर्म करता रहता है।

भोजन के पूर्व इस श्लोक का मन्त्र के रूप में उच्चारण करने वाले ज्ञानी, साधक का भाव यह रहता है कि वह अपने ब्रह्म रूपी हाथों से, ब्रह्मरूपी भोज्य पदार्थ को, ब्रह्माग्नि में, स्वयं ब्रह्म रूप होकर आहुति दे रहा है। भोजन करने वाला ब्रह्म है, क्योंकि वह ईश्वर का अंश है। भगवान् ने स्वयं 'ममैवांशो' 'जीव मेरा अंश है' ऐसा कहा है। तुलसीदास जी ने भी 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कहा है। सभी भोज्य पदार्थ ब्रह्म है; क्योंकि सबका कारण वही है। गीता में 'अहं वैश्वानरः' कहकर भगवान ने स्वयं बताया है कि जठराग्नि भी वे स्वयं है, तथा भोजन पचाने का कार्य वे स्वयं करते है। अर्पण करने वाला हाथ भी ब्रह्म है; क्योंकि वे सब जगह हाथों वाले हैं। जठराग्नि में हाथों से भोज्य पदार्थ देने की क्रिया भी ब्रह्म है, वे स्वयं कहते है कि 'अहं हुतम्' हवन रूप क्रिया भी मैं हूँ।

अतः हमको भगवान् के आदेशानुसार– 'तस्मात्सर्वेपु कालेपु मामनुस्मर युध्य च।' गीता 8/7 इसीलिये तू हर समय मेरा स्मरण कर तथा स्वधर्मरूप युद्ध कर। इसलिये सब समय साधक को चाहिये कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करते हुए कामना, ममता एवं आसक्ति से रहित होकर, लोकसङ्ग्रह के सभी कार्य निष्काम भाव से करता रहे तथा किये हुये कार्य को भगवान् को समर्पित कर दें। इस प्रकार निरन्तर भगवान् का स्मरण करता हुआ, सभी में भगवान् को ही देखता हुआ, सभी कार्यों को सम्पन्न करने वाला पुरुष सर्वोत्तम यज्ञ करता है तथा वह कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता। वह 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' हो जाता है तथा फल के रूप में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

कर्मसंन्यासयोग

जब हमारा एकमात्र लक्ष्य मोक्ष होता है और हमारे सभी कर्म, अध्ययन, हमारी पूर्ण संलिप्तता या कोई चीज, जो हम किसी रूप में करते हैं- सबका एकमात्र उद्देश्य जीव की मुक्ति या स्वतन्त्रता हेती है, तो हम तत्त्वतः योग में स्थित होते हैं। अनुकूल परिस्थिति में हर्षित न होने वाला तथा प्रतिकूल परिस्थिति में उद्विग्न न होने वाला मनुष्य परमात्मा-समता में स्थित रहता है। गीता के अनुसार वास्तव में संन्यासी कपड़ा बदललेनेवाला या परिवार छोड़कर समाज से अलग हो जाने वाला नहीं है, बल्कि बिना राग-द्वेष अपने कर्त्तव्यों को, परिस्थितियों से अलिप्त रहकर, कार्य करने वाला है। अलिप्तता प्राप्त करने हेतु- कर्म करते हुए निर्मल होने हेतु उत्तरोत्तर प्रयत्न तथा मन को पूरी तरह लगाकर, वाह्य रूप से स्वधर्म का पालन करते रहना है। हृदय उड़ेल कर निर्मल मन से किया गया कर्म, अकर्म होता है।

हमें शास्त्र-विहित कर्मो के अनुष्ठान का फल, भगवान् को भोक्ता समझकर समर्पण करना चाहिये तथा स्वयं कर्मफलों से अलिप्त रहते हुए, कर्तृत्वाभिमान से अछूता रहकर तथा भगवान् को अपना निष्प्रयोजन सुहृद समझते हुए अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये। ऐसा करने वाला परमशान्ति का अनुभव करता है।

इस अध्याय का निष्कर्ष यह है कि यदि हम ईश्वर की तरफ ईमानदारी से कदम बढ़ाते हैं, उसको एकमात्र अपना मित्र तथा रक्षक समझते हैं, तो हम मन की शान्ति प्राप्त करते हैं। यदि हम अपने को उसके प्रति समर्पित कर देते हैं तो हो सकता है कि हम समझ न पायें, परन्तु वह अपने तरीके से हमारे हित के लिये कार्य करता है और ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने हमें आश्वस्त किया है कि जो मेरे ऊपर निर्भर है, अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता है तथा मेरी उपासना करता है, उसके योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा का जिम्मा मेरा है।

"अनन्याश्चिन्तयन्तोमां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गीता 9/22)

यहाँ भगवान् ने वताया है कि जो उन्हें सभी यज्ञों-तपों का भोक्ता, सर्वलोकों का महान् ईश्वर, सभी भूतों का सुहृद जानता है, अर्थात् उन्हें ऐसा दृढ़ता से मानता है, वह शान्ति प्राप्त करता है। शान्ति प्राप्त करने का अर्थ भगवान् से योग होना है; क्योंकि शान्ति भगवान् का ही स्वरूप है। इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने भगवान् से पूछा था कि संन्यासमार्ग तथा कर्मयोग में श्रेष्ठ कौन है? भगवान् ने वताया था कि व्यवहार की दृष्टि से कर्मयोग सरल है परन्तु फल की दृष्टि से दोनों 'योग' के माध्यम हैं। अतः इस अध्याय को 'कर्मसंन्यासयोग' नाम दिया गया है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। (गीता 5/27-28)

प्रस्तुत श्लोकों में ध्यानयोग की संक्षिप्त रूप-रेखा भगवान् ने प्रस्तुत की है। बाह्यविषयों से सम्बन्ध विच्छेद, कर्मयोग में सेवा द्वारा तथा ज्ञानयोग में विवेक से किया जाता है। ध्यानयोग में किस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय- इसका उपाय प्रस्तुत है। परमात्मा के अतिरिक्त सभी विषय वाह्य हैं। सभी वाह्य विषयों को हम बाहर ही छोड़ दें, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण में उन्हें जाने न दें। इनका चिन्तन छोड़ देना ही, विषयों को वाहर छोड़ना है। भगवान् शङ्कराचार्य के मतानुसार शब्द-रूपादि विषय जो अन्तःकरण में प्रविष्ट हो चुके हैं, उनका चिन्तन न करना ही विषयों को वाहर करना है। अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र पर केन्द्रित करके प्राण-अपान की गति को समान करने का अभ्यास करना चाहिये। दोनों भौंहो के मध्य ध्यानकेन्द्रित करना, बुद्धि के साथ तादात्म्य होने का प्रतीक है। यह आध्यात्मिक ज्ञान देता है। नासिका से जो वायु वाहर जाती है, उसे प्राण तथा जो अन्दर जाती है उसे अपान वायु कहते हैं। जितने समय में श्वास अन्दर जाय उतने ही समय में श्वास वाहर आवे, इसे समान गति कहते हैं। गति-सामान्य होने पर सुषुम्ना नाड़ी का सञ्चार होता है तथा कुम्भक (श्वास को रोकना) स्वयं लग जाता है। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि को नियन्त्रित करने के लिये ये क्रियायें वहुत प्रभावशाली हैं।

नासिकारन्ध्र से ली गयी श्वास भ्रूमध्य से चलकर शिरोभाग से होकर कण्ठ में आती है। वहाँ से हृदय भाग से होते हुये नाभि में आती है। इसी प्रकार श्वास नाभि से हृदय, हृदय से कण्ठ में, कण्ठ से आज्ञा चक्र और तत्पश्चात नासिका से बाहर जाती है। नासिका छिद्रों से बारह अङ्गुल दूर तक वायु जाती है। हम अपने मन को पूरी तरह श्वास के आने-जाने के साथ जोड़ दें। जब श्वास अन्दर जाय तो जिन-जिन स्थानों पर होते हुये श्वास नाभि तक जाय, मन भी श्वास के साथ जाय और जब नाभि पर पहुँच कर थोड़ी देर रुककर पुनः वही प्रक्रिया उलटे क्रम में प्रारम्भ करे। इस अभ्यास से इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि शीघ्र नियन्त्रित हो जाते हैं।

इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को वश में करने वाला तथा परमात्मा के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने वाला 'मुनि' है। जो मोक्षपरायण है- अर्थात् मोक्ष ही जिसका एकमात्र लक्ष्य है तथा जिसने सभी कुछ छोड़ दिया है, उसका परमात्मा के अतिरिक्त सबसे सम्बन्ध छूट गया है तथा उसमें कोई कामना शेष नहीं रह गयी है तो वह मुक्त ही है। कामना सभी अनर्थों का मूल है। यदि कामना भौतिक पदार्थ, किसी व्यक्ति, अनुकूल परिस्थिति आदि की होती है तो अप्राप्त होने पर दुःख प्राप्त होने पर खोने का भय और कामनापूर्ति में बाधा होने पर क्रोध होता है। यदि जीने की कामना रहती है तो मृत्यु का भय रहता है। दूसरों से इच्छापूर्ति का भाव या अपना अधिकार मानने पर इच्छापूर्ति में बाधा आने पर क्रोध होता है। अतः भय और क्रोध का कारण कामना ही है। यदि हमारी परमात्मा-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा न रहे तो न भय रहेगा और न क्रोध का कोई कारण रह जायेगा।

भगवान् कहते हैं कि ऐसा मननशील व्यक्ति, जिसकी इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि नियन्त्रित हैं, जिसकी कोई इच्छा शेष नहीं रह गयी है और जिसके परिणाम स्वरूप वह भय तथा क्रोधसेरहित है, मुक्त है, उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों के सम्बन्ध का त्याग होने पर उसे आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है। मुक्त तो हम सदा से हैं, परन्तु संसार से सम्बन्ध होने के कारण हम अपने स्वरूप को भूले हुए हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (गीता 5/29)

भगवान् कहते हैं कि जो सबके हृदय में स्थित मुझे, सभी यज्ञों तथा तपों का भोक्ता, सब लोकेश्वरों का ईश्वर, तथा सभी प्राणियों का सुहृद जानता है वह शान्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञ क्या है-बिना किसी स्वार्थ, सबके कल्याण हेतु, ईश्वर को अर्पण करने की बुद्धि से, बिना किसी अहङ्कार जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें यज्ञ कहते हैं। कामना से प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते है वे यज्ञ की श्रेणी में नहीं आते। अन्तःकरण को निर्मल करने हेतु जो कर्म किये जाते हैं वे यज्ञ हैं। नित्य तथा नैमित्तिक कर्म बन्धनकारी नहीं होते। अतः वे भी यज्ञ की श्रेणी में आते हैं। गीता में बारह प्रकार के यज्ञों का वर्णन चौथे अध्याय के चौबीसवें श्लोक से प्रारम्भ करके तीसवें श्लोक तक किया गया है।

आत्मसंयम द्वारा शक्तियों का सञ्चय 'तप' है। आत्मोन्नति हेतु किये जाने वाले सभी प्रयास तप की श्रेणी में आयेंगे। सभी प्रकार के यज्ञों तथा तपों के भोक्ता ईश्वर हैं। जब हम अपनी इन्द्रियों तथा मन से कोई कार्य अपने लिये करते है, तो हम स्वयं को, कर्म करने के कारण कर्त्ता तथा उसका फल प्राप्त करने के कारण, भोक्ता मान लेते है। जब हम देवताओं के निमित्त यज्ञ करते है तो स्वयं को कर्ता तथा इन्द्रादि को भोक्ता मान लेते है। परन्तु न हम किसी कार्य के कर्त्ता है और न तो उस कार्य के फल के भोक्ता है। वास्तव में यजमान या कार्य करने वाले में अन्तर्यामी रूप से भगवान् ही प्रेरणा देकर कार्य करा रहे है तथा भोगी रूपसे इन्द्रादि में स्थित होकर भोग कर रहे हैं। अतः वे ही सभी यज्ञों के कर्ता तथा भोक्ता दोनों है।

भगवान् सर्व लोकों के महेश्वर हैं। परमात्मा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में व्याप्त हैं। अतः वे सभी लोकों में तथा सभी भूतों के अन्दर स्थित हैं-सर्वभूतान्तरात्मा'(श्व0उप0 6/11) 'सब भूतों की आत्मा हैं'

तथा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता 18/61)

'हे अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित है।' वे सम्पूर्ण सृष्टि के परमेश्वर हैं।

'सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा' (बृ0 उ0 2/5/15)

'वे सब भूतों के अधिपति तथा सभी प्राणियों के राजा हैं।' यदि सम्पूर्ण सृष्टि का परमेश्वर एक नहीं रहेगा, और शरीर का स्वामी जीव नहीं रहेगा तो जीवत्व तथा ईश्वरत्व का त्याग कर देने पर, अखण्ड चेतन में एकता सम्भव नहीं होगी।

वे सभी प्राणियों के सहज स्वभाववश भलाई करने वाले हैं। जैसे सूर्य, बिना किसी भेदभाव से सबको गर्मी तथा प्रकाश देते हैं, वैसे ही परमेश्वर सबका हित करते हैं। वे हृदय में स्थित होने के कारण सभी भूतों के सबसे करीबी हैं। चूँकि वे सबसे करीबी सुहृद हैं, अतः उनसे बिना किसी सङ्कोच हम अपनी बात कह सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं।

हम गलती यह करते है कि हमारी चाह अपने लिए होती है, संसार को हम अपना मानते हैं। भगवान् से अपनापन नहीं जोड़ पाते। यदि हम भगवान् के लिये अपने सभी काम

करें, ममता-आसक्ति का त्याग कर दें, भगवान् के लिये अपने सुख का त्याग करें तथा आत्मीयता, भगवान् से रक्खें तो हमें परमशान्ति मिल जायेगी। हम सभी चिन्ताओं, द्वन्द्वों से मुक्त हो जायेंगे।

रामानुज के पूर्ववर्ती द्रविड़ाचार्य तथा शङ्कराचार्य ने अलग-अलग स्थानों पर एक कहानी का उल्लेख किया है, जिसका वर्णन प्रासंगिक है- एक राजा ने एक तेज, निर्धन, अनाथ विद्यार्थी की स्थिति को जानकर उसे आर्थिक मदद देना प्रारम्भ किया तथा उसकी शिक्षा पूर्ण होने तक उस पर ध्यान रखा। जब वह योग्य होकर निकला तो राजा ने उसे राजदरबार में बुलाया तथा अपनी कुर्सी के बगल में उसे बिठाकर, राज्य का भार उसे सौंप दिया। वह विद्यार्थी राजा के मन की बात न जानने के कारण, तबतक अपने भविष्य के बारे में चिन्तित रहता था जब तक वह राज्य का उत्तराधिकारी नहीं बन गया। वैसे ही भगवान् हमारा कल्याण करना चाहते हैं। सब प्रकार यथायोग्य स्थान पर बिठाकर निश्चिन्त करना चाहते हैं, परन्तु हम भविष्य की बात न जानने के कारण दुःखी रहते हैं।

इस श्लोक में कल्याणकारक भगवन्निष्ठा का वर्णन है। अतः ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से सम्पन्न पुरुष, सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म-परमात्मा को सम्पूर्ण यज्ञ-तप का भोक्ता, सर्वलोकों के ईश्वरों का ईश्वर तथा सब प्राणियों का सुहृद, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रकाशक, परम सत्य को जान जाता है। वह शान्ति तथा विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ध्यानयोग

यहाँ वैज्ञानिक तरीके से आत्म नियन्त्रण पर जोर है। यहाँ वर्णित योग कुछ हद तक महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग की तरह है। कभी-कभी जब परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल होती हैं, हम सृष्टि-नियन्ता के उद्देश्यों, उसकी प्रेरणा तथा उसके नियमों से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते, तो हम दुःखी होते हैं। हम सोचते है कि ईश्वर हमसे विपरीत हो गया है, जबकि वास्तविकता यह होती है कि ऐसा उसके शाश्वत नियमों के विपरीत चलने के कारण होता है।

जब हम अपने मन तथा बुद्धि के बीच सामञ्जस्य नहीं रख पाते, अपनी व्यस्तताओं तथा सम्बन्धों के बीच तालमेल न रखने के कारण, विपरीत इच्छाओं में जीते है; राग या द्वेष के प्रभाव में रहकर हम अपने मन की साम्यावस्था को बिगाड़ देते है, तो हम अशान्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में दुःखी होना स्वाभाविक है। इन सबका कारण मन की चञ्चलता है। अर्जुन ने मन के नियन्त्रण को, वायु को नियन्त्रण में रखने के समान दुष्कर बताया। भगवान् ने मन की चञ्चलता स्वीकार तो की परन्तु अभ्यास तथा वैराग्य से हमें नियन्त्रित करने को कहा। मन में सद्विचारों का बार-बार चिन्तन करना अभ्यास तथा अपने दुर्गुणों को घास की तरह उखाड़ फेंकना वैराग्य है। अभ्यास तथा वैराग्य से मन एकाग्र हो जाता है, चञ्चलता समाप्त हो जाती है।

जीवन की कठिनाइयों से, दुःखों तथा अशान्ति से, जब हम छुटकारा पाने हेतु अर्थात् सुखी, शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के लिये एक मात्र उपाय खोजते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर

पहुँचते है कि सभी समस्याओं का निदान 'योग' द्वारा सम्भव है। हम आश्वस्त हो जाते हैं कि जीवन की अन्तिम वास्तविकता के प्रति, योग के सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। यद्यपि ध्यान के प्रारम्भ में कठिनाई अवश्यम्भावी है; क्योंकि जब हम ध्यान का अभ्यास करते है, तो अपने अन्दर पूर्व संस्कारों के कारण एकत्रित कूड़े को साफ करते हैं।

गीता का योग अहं तथा परमतत्व के योग तक ही सीमित नहीं है। यह उच्चतम आदर्श या अपने इष्ट के साथ एक हो जाना तो है ही, साथ ही गीता के अनुसार हमें 'योग' का प्रयोग जीवन के प्रत्येक समय, प्रत्येक दशा, सामाजिक सम्बन्धों, व्यक्तिगत स्तर पर हर स्थिति में करना है।

यदि हम साधक हैं तथा ध्यान करना चाहते हैं तो हमें अपनी इच्छाओं का शुद्धभावसे उच्चीकरण करना चाहिये; क्योंकि हमारी अपूर्ण इच्छाएं ध्यान में वाधक होती हैं। जब हम अपनी पूर्ण या अपूर्ण इच्छाओं की प्रकृति को समझ जाते हैं, तो हमारा मन निर्वात स्थान में जलने वाले दीपक की लौ की भाँति, स्थिर हो जाता है। ऐसी दशा में जीवन की कोई प्रतिकूल परिस्थिति हमें विचलित नहीं कर पाती, और हम सबके मित्र हो जाते हैं। हमारे सभी दुःखों का कारण अहङ्कार भी तिरोहित हो जाता है। चञ्चल मन को नियन्त्रण में रखने, साधने का सबसे सशक्त साधन ध्यान है। अब प्रश्न है कि ध्यान की तैयारी हम किस प्रकार करें? इसे करने की विधि क्या हो? इसमें आने वाली कठिनाइयाँ क्या हैं। इनसे हम छुटकारा कैसे पा सकते हैं? ध्यातव्य वस्तु या हमारा इष्ट क्या हो? क्या तथा कैसे ध्यान करें कि हम योग में स्थित हो सकें?

ध्यान के लिये उचित स्थान तथा उचित समय का चुनाव तो महत्त्वपूर्ण है ही, परन्तु इससे महत्त्वपूर्ण बात ध्यान के लिये पूरी गहराई से मन को तैयार करने की है। मन का लगाव लक्ष्य की महत्ता के अनुसार होता है। यदि हमारा लक्ष्य परमतत्त्व को समझने, जानने तथा उसके साथ एक हो जाने का है, तो हमारे मन की भी तैयारी उसी लक्ष्य के अनुसार पूर्ण होनी चाहिये।

ध्यान की तैयारी के लिये हमें दूसरे के दोषों को देखना बन्द करना होगा। दूसरे का दोष देखते रहने से एकाग्रता नहीं सध सकती। हमारा प्रत्येक कार्य नपा तुला होना चाहिये। अपने जीवन में नियमितता का पालन करना होगा। कर्म को करते समय मन पूरी तरह उसमें लगा रहना चाहिये। कर्म करते हुये चित्तशुद्धि का प्रयास निरन्तर चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि हम अपने नकारात्मक विचार-भावनाओं को हटाकर सर्वत्र, सर्वदा, माङ्गल्य देखने लग जायँ तो चित्त अपने आप शान्त होने लगेगा। एकाग्रता सधेगी। एकाग्रता हेतु समता का भाव रखना बहुत महत्वपूर्ण है। भगवान् ने समता को 'योग' कहा है। समता के बिना निर्विकारिता नहीं आ सकती। अतः हमारा उद्देश्य, किसी भी साधन से, अन्तःकरण में समता लाने का होना चाहिये।

ध्यातव्य वस्तु में इष्ट देवता का चुनाव विशेष महत्त्व रखता है। उसके प्रेम में उसके परम आदर्श के साथ तथा उसके नाम-रूप-लीला में अपने मन को पूरी तरह डुबा देना हमारा योग है। ध्यातव्यवस्तु, इष्ट का चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है; क्योंकि मन पूर्णरूप से उसी पर केन्द्रित होता है, जिससे वह प्रत्येक इच्छित वस्तु प्राप्त करने की आशा रखता है। चूँकि ध्यान का

उद्देश्य मन को एक इष्ट, एक वस्तु, एक स्थान पर केन्द्रित करना है, इसलिये ध्यान के लिए हमें ऐसी वस्तु का चुनाव करना चाहिये जो हमारी दृष्टि में सबसे अच्छा हो। तभी मन केन्द्रित होगा।

गीता का योग सफलता या असफलता पर केन्द्रित नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण जीवन में, अपने व्यवहार को करने के प्रति लगन तथा उद्देश्य को ईमानदारी के मूल में केन्द्रित करना है। ईश्वर व्यवहार में हमारी ईमानदारी, लगन, सद्भाव तथा निष्कपटता को महत्त्व देता है, वाह्य सफलता को नहीं।

भगवान् ने यहाँ बताया है कि यदि किसी का शरीर योग की लक्ष्य-प्राप्ति से पूर्व ही छूट जाता है, तो उसका जन्म पूर्व के अभ्यास को पूर्ण करने में या आगे बढ़ने में सहायक परिस्थितियों में होगा। ऐसे व्यक्ति के अन्दर पूर्व अभ्यास तथा अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु स्वतः प्रेरणा स्फुरित होती है, तथा उसके उद्देश्य की पूर्ति स्वतः होती रहती है।

यह निश्चित है कि यदि हम अपने हृदय की गहराई से, अपने विचार में तनिक भी दोहरापन न रखते हुए पूर्ण ईमानदारी से ईश्वर से जुड़ते हैं, तो किसी परिस्थिति में हम उसके द्वारा छोड़े नहीं जा सकते। चूँकि ईश्वर दिक्-कालातीत है, इसलिये उसकी कृपा हमें किसी भी स्थान तथा किसी भी समय निश्चित रूप से प्राप्त होती है। ईश्वर की स्पष्ट उक्ति है- "वह जो प्रत्येक में मुझे देखता है तथा प्रत्येक चीज को मुझमें देखता है उसके लिए न मैं दूर हूँ, न वह मुझसे दूर है, तथा जो कोई अपनी आत्मा से तुलना करके प्रत्येक को स्वयं की आत्मा के रूप में ही देखता है, उसे उच्चतम योगी समझना चाहिये।"

जो स्वयं को आत्मस्वरूप मानकर उत्तरोत्तर उच्चतर स्तर में स्थित होने की अभिलाषा रखता है, उसके आत्मा की एकात्मकता तब पूर्ण होती है जब उसमें ध्यान द्वारा स्वयं से परे जाने तथा सर्वव्यापक परमात्मतत्त्व से मिलकर एक हो जाने की योग्यता आती है। इस अध्याय में, ध्यान का विस्तृत वर्णन कर, इसे ईश्वर-साक्षात्कार का मुख्य साधन बताया गया है, इसलिये इसका नाम 'ध्यानयोग' है।

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गीता 6/35

अर्जुन ने जब भगवान से मन को अति चञ्चल, साधक को अपनी स्थिति से विचलित कर देने वाला, वलवान और दृढ़ बताते हुए इसके निग्रह को वायु के समान दुष्कर बताया तब भगवान ने महावाहो! कहकर उन्हें सम्बोधित किया; क्योंकि भगवान् अर्जुन को एक वीर योद्धा, साहसी, कर्मशील और एक असामान्य पुरुष के रूप में मानते थे। इस सम्बोधन से अर्जुन को उत्साहित करना था। उसके उत्साह को कम न होने देने हेतु ही भगवान् उसकी बात को स्वीकार करते हैं, तथा कहते हैं कि निश्चितरूप से तुम्हारी बात सत्य है। मन बड़ा चञ्चल तथा उसको वश में करना कठिन कार्य है, परन्तु उसे 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' के द्वारा वश में किया जा सकता है। वैराग्य की बात कहने के पूर्व वे उसे पुनः कौन्तेय- कुन्तीपुत्र कहकर सम्बोधित करते हैं; क्योंकि कुन्ती में वैराग्य पूर्णरूपसे भरा था। इसका एक उदाहरण भगवान् द्वारा वरदान माँगने की जिद्द करने पर, उन्होंने केवल दुःख माँगा था तथा इसे माँगने का कारण उसने केवल दुःख के दिनों में भगवान् के स्मरण का होना बताया था। अतः

भगवान् उसे कौन्तेय कहकर यह बताना चाहते हैं कि तुम वैराग्य पूर्ण माँ के पुत्र हो। उसी वैराग्य तथा अभ्यास का सहारा लेकर तुम मन को वश में कर सकते हो।

मन हमारी इन्द्रियों का राजा है। विना मन के सहयोग के कोई इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। मन के सम्वन्ध में शास्त्र का कथन है-

'मन एव मनुष्याणां कारणं वन्ध मोक्षयोः' व्र०वि०उ० 2

अर्थात् मन ही मनुष्यों के वन्धन और मोक्ष में कारण है। मन है क्या ?

मन विचारों के प्रवाह का आश्रय है। यदि हम गहराई से विचार करेंगे तथा विचारों को ध्यानपूर्वक देखने लगेंगे तो स्पष्ट होगा कि मन का कोई विचार 'अहं' विचार पर निर्भर करता है। नींद में मन का अस्तित्व नहीं होता, अतः संसार का भी अस्तित्व नहीं रहता। नींद खुलने पर पहले 'मैं' विचार आता है तभी मन खड़ा होता है। जैसे प्राण, भगवान् की क्रिया शक्ति है, वैसेही मन उनकी सङ्कल्प शक्ति है। मन सङ्कल्प-विकल्प करता रहता है। बिना किसी आधार यह टिक नहीं सकता। अतः इसे नियन्त्रित करने हेतु किसी आधार का होना आवश्यक है अर्थात् इसे किसी प्रकार व्यस्त रखना है। जैसे किसी हाथी की सूँड़ में कोई जञ्जीर पकड़ा दें, तो वह उसे लेकर चलता रहता है, छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार मन को अभ्यास के द्वाय हमें संयत करना है ताकि उसकी चञ्चलता छूट सके। 'अभ्यास' कहते है किसी वस्तु, इष्ट, ध्येय आदि पर वार-वार चित्त लगाने के प्रयत्न को। भगवान शङ्कराचार्य के अनुसार 'ध्येय-विषयक चित्त-वृत्ति की पुनरावृत्ति ही 'अभ्यास' है। अभ्यास के द्वारा मनोनिग्रह के अनेक उपाय हैं-

अन्तः तथा वाह्य कुम्भक से तथा प्राणायाम् से मन का लय होता है। श्वाँस के आने-जाने को ध्यानपूर्वक देखते रहने से मन शीघ्र नियन्त्रित होता है।

मन को नियन्त्रित करने हेतु सरल अभ्यास वताते हुए भगवान ने कहा है-

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। (गीता 6/26)

अर्थात् यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ अपने विषयों में विचरण करता है वहाँ-वहाँ से उसे संयमित करके आत्मा में स्थिर करना चाहिये। वे पुनः कहते हैं-

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (गीता6/25)

अर्थात् मन को आत्मा में स्थित करके अन्य कुछ भी सोचना नहीं चाहिये। योगवासिष्ठ में निम्न प्रकार का अभ्यास कहा गया है-

विद्वान् लोगों ने सच्चिदानन्दघनब्रह्म के चिन्तन, उसके वारे में कथन परस्पर वोधन तथा अद्वितीयसत्ता से निरन्तर संयोगरूपी ब्रह्म के अभ्यास को वताया है।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेक परत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।। यो०वा० 3/22/24

मन को उद्वेलित करने वाली सबसे प्रवलशक्ति कामना है। अतः (निष्कामकर्म में) कामनाओं के पूर्णरूपेण क्षीण होने तक हमको अभ्यासरत रहना है।

ध्येय में महत्त्वबुद्धि रखकर तथा अन्य की उपेक्षा कर हमें सतत मन को इष्ट में लगाने का अभ्यास करना चाहिये। इसका दूसरा तरीका है कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ 'वासुदेवः सर्वम्' सब कुछ भगवान ही हैं-ऐसी भावना करने का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास से हर जगह इष्ट-परमात्मा ही दिखायी देगा।

जप, ध्यानादि से उत्तरोत्तर मन नियन्त्रित होता जाता है।

निरन्तर सत्-चित्-आनन्द के रूप में अपने स्वरूप का चिन्तन करने से, मन शीघ्र नियन्त्रित होता है। यह मनोनाश का भी हेतु है जो जीवन का परमपुरुषार्थ है। मनोनाश के पश्चात् सहजावस्था आती है, जिसमें साधक सहज समाधि में रहता है।

अभ्यास के पश्चात् ही वैराग्य सधता है। वैराग्य के उत्तरोत्तर विकास से कामनाओं का नाश होता जायेगा। फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति आदि से छुटकारा होता जायेगा। सब कुछ त्यागने की भावना प्रवल होती जायेगी। संसार की नश्वरता का दर्शन करते-करते वासनाओं का नाश होगा। वासनाओं के नाश से शान्ति की प्राप्ति होगी। साधक ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जायेगा।

वैराग्य से हमारे दुर्गुण, दुराचार समाप्त होते जायेंगे। मन निर्मल होता जायेगा। हमें राग-द्वेष दोनों से मुक्ति मिलेगी। राग-द्वेष दोनों से मुक्ति एक साथ ही आवश्यक है; क्योंकि यदि हमने राग का विसर्जन कर दिया और द्वेष रह गया, तो यह हमें जलाता रहेगा, और हम शान्त नहीं हो सकते। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राग-द्वेष पूर्णतः नष्ट नहीं होना है परन्तु हमें इन्हें शिथिल करते जाना है ताकि उसका चिन्तन न रह जाय। यह महत्वपूर्ण है कि वैराग्य विवेकजनित हो। किसी कारण से होने वाला वैराग्य अस्थायी होगा तथा यह उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगा। अतः हमें दुर्गुण-दुराचार से वैराग्य करना है। जो अभीष्ट नहीं है, उसे हटाना है। सद्गुणों का आवाहन करना है।

इस प्रकार अभ्यास तथा वैराग्य से मन की चञ्चलता समाप्त होगी। मन में सन्तुलन स्थापित होगा। दोनों आत्मिक उन्नति के साधन बन जायेंगे। मन काबू में हो जायेगा। योग की प्राप्ति हो जायेगी। अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा। यह हमारा साध्य है; क्योंकि जब अन्तःकरण निर्मल हो जायेगा, तो यह गलत कार्य करने ही नहीं देगा।

ज्ञानविज्ञानयोग

गीता के प्रारम्भिक छह अध्यायों में व्यक्ति के कर्त्तव्य, उसके शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक एकात्मकता पर जोर दिया गया है। यहाँ वैश्विकसत्ता के साथ व्यक्ति की एकता स्थापित की गयी है।

संसार में हम देखते हैं कि अधिकतर मनुष्य अहङ्कार पूर्ण, स्वार्थयुक्त कर्म करते हुए अपना व्यावहारिक जीवन व्यतीत करते हैं, तथा उसी में सन्तुष्ट रहते हैं। हजारों में किसी एक की जिज्ञासा स्वयं के बारे में जानने की होती है। किसी कारणवश जब प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्तिमार्ग की तरफ व्यक्ति मुड़ता है तब उसे स्वयं, संसार, परमात्मा तथा उसके आपसी सम्बन्ध के बारे में जानने की इच्छा होती है। प्रारम्भ में भगवान् ने कहा है कि ईश्वर प्राप्ति की आकाङ्क्षा, परमतत्व की विचारणा, उसके स्वभाव तथा उसके साथ स्वयं के सम्बन्ध आदि

के बारे में यदि कोई व्यक्ति जानने की उत्कट इच्छा रखता है तो वह भाग्यशाली है। ऐसा उसके कई जन्मों के पुण्यों के उदय होने पर तथा भगवान् की कृपा से सम्भव होता है। इसे भगवान् द्वारा प्रदत्त वरदान समझना चाहिए, जो अनेक जन्मों के उत्तम संस्कारों, पुण्यों के एकत्रित होने पर तथा सभी पापों के नष्ट हो जाने पर, साधन-पथ पर निरन्तर चलते हुए, कार्यरूप जगत् में सर्वत्र, सर्वदा एक वासुदेव भगवान् को ही देखता है, वही उत्तम भक्त है। ऐसा भक्त भगवान् को, माला के मनकों को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में समझता है। उसकी दृष्टि में जीव, संसार, ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, चन्द्र आदि सबमें भगवान् ही हैं, अर्थात् तत्त्व से सब कुछ भगवान् ही हैं।

पूरे विश्व की संरचना पाँच महाभूतों-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश तथा मन, बुद्धि एवं अहङ्कार से हुई है। गीता में मन को संस्कश्त के अनुसार 'मनस्' शब्द से भी प्रकट किया गया है। मन से तात्पर्य, वैश्विक मन से है। व्यक्तिनिष्ठ मन से तो हम किसी चीज को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं देखते। मन के परे, वैश्विकबुद्धि तथा इसके परे वैश्विक अहंवृत्ति है। यही आठ भगवान् की निम्न स्तरीय अष्ट्धा प्रकृत है। इसके परे एक उच्चस्तरीय तत्त्व है जो उपर्युक्त तत्त्वों के कार्यों को सञ्चालित, नियन्त्रित करता है। अनोखे तरीके से नियन्त्रित करने वाले इस तत्त्व को ही 'ईश्वर' या 'ईश्वर का सिद्धान्त' कहते हैं।

प्रत्येक चीज का नियन्त्रण तथा संचालन ईश्वर, जो सबका सर्जक, रक्षक तथा विनाशक है, की इच्छाशक्ति से होता है। गीता इस बात पर बल देती है कि ईश्वर-परमतत्त्व ही सब कुछ है। वह बाह्य किसी चीज़ से प्रभावित या सीमित नहीं है; क्योंकि उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। सांख्य में वर्णित दो तत्त्व पुरुष तथा प्रकृति इस परमतत्त्व के पूरक हो जाते हैं और इसलिये उसका द्वैत समाप्त हो जाता है।

जैसे-जैसे हमारा प्रेम-हमारी भक्ति ईश्वर के प्रति बढ़ती जाती है, उसके साथ हमारा तादात्म्य गहरा होता जाता है, वैसे-वैसे उस परमतत्त्व का अनुभव अधिक होता जाता है। हम उत्तरोत्तर उच्चतर स्थिति में अपने को स्थापित करने में सफल होते हैं। इसी को आत्मा की यात्रा भी कहते हैं।

चूँकि ईश्वर ब्रह्माण्ड का मूल तत्त्व है, प्रत्येक अनुभव के पीछे चेतना का आधार है, इसलिये उससे दूरी बनाकर अपना अलग अस्तित्व रखना सम्भव नहीं है। इसलिए हमारा पुरुषार्थ-हमारा परमलक्ष्य- यह होना चाहिये कि हमारी उसके प्रति भक्ति, उसके प्रति प्रेम पराकाष्ठा पर पहुँचे और हम उसके भाव में पिघलकर अपने अस्तित्व को समाप्त कर दें। अर्थात् हमारा अहं समाप्त हो जाय तथा हमारा उसके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाय। ऐसी दशा ध्यानी-ध्येय-ध्यान के एक हो जाने पर होती है। इसे ही आत्म-साक्षात्कार कहते हैं।

किसी भी बहाने या कारण से भगवान् से जुड़ने को भक्ति कहते हैं। भगवान् ने चार प्रकार के भक्त आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी-बताये हैं। किसी प्रकार के दुःख की निवृत्ति या अपनी किसी कमी की पूर्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करने वाले को 'आर्त' कहते हैं। सत्य को जानने तथा उसमें प्रवेश कर सत्यपूर्ण जीवन जीने की इच्छा रखकर जो ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, उन्हें जिज्ञासु कहते हैं, जो चारों प्रकार के पुरुषार्थ- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-की कामना रखकर भक्ति करते हैं, उन्हें 'अर्थार्थी' कहते हैं।

सबसे उत्तम 'ज्ञानी' भक्त वे हैं, जो ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहते। ऐसे भक्त कार्य से कारण को बड़ा मानकर अर्थात् ईश्वर द्वारा बनायी गयी किसी चीज से ईश्वर को बड़ा मानकर और कुछ भी नहीं, बल्कि ईश्वर से स्वयं उसी को माँगते हैं। सबसे उच्चकोटि का आध्यात्मिक अनुभव वह है जब ज्ञान 'अस्तित्व' से अलग न रह जाय। ईश्वर अनुभूति की यह दशा ईश्वर-साक्षात्कार की दशा कहलाती है। ज्ञानी भक्त भगवान् को बहुत प्रिय है और वे उसे अपनी आत्मा कहते हैं।

भक्ति दो प्रकार की होती है। जिस भक्ति में ईश्वर की महत्ता, सामर्थ्य तथा शक्ति पर बल दिया जाता है, उसे सबका मालिक, सबसे बड़ा समझा जाता है, उसे 'ऐश्वर्यप्रधानभक्ति' कहते हैं। दूसरी माधुर्यप्रधानभक्ति वह होती है जब भक्त ईश्वर को अपने अन्दर स्थित सबसे अधिक प्रिय, किसी भी परिस्थिति में अपने से अलग न समझता हुआ, उसे अपना सर्वस्व समझता है।

यदि भक्त सर्वव्यापक परमात्मा के विचार मात्र से आह्लादित हो जाय, आनन्दातिरेक में उसे अश्रुपात होने लगे, उसके रोंगटे खड़े हो जायँ, ईश्वर के अस्तित्व में डूबकर सबकुछ भूल जाय, तो समझना चाहिये कि भक्त को वह सब कुछ मिल गया जो उसे चाहिये।

संसार चक्र में घुमाने वाली माया से पार पाने हेतु हमें मायापति की शरण में जाना चाहिये तथा अपने जीवन के परमपुरुषार्थ को साधने के लिये प्रभु को अपना सर्वस्व समर्पण करके, उसके आश्रित रहकर, स्वयं को अकिंचन, परतन्त्र समझते हुए अपना जीवन-यापन करना चाहिये।

इस अध्याय में वास्तविक 'ज्ञान' क्या है, तथा इसे जानकर, किस प्रकार इसे व्यवहार में लाया जाय, ताकि यह परमात्मा से 'योग' कराने का माध्यम बन सके। इसके बारे में बताया गया है। इसलिये इस अध्याय का नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' रखा गया ह।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। 7/19

'यह सब वासुदेव ही है' इस दृढ़ मान्यता वाला ज्ञानी-भक्त-बहुत जन्मों के अन्त में मुझे प्राप्त होता है, और ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।

डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार, सृष्टि के विकास में करोड़ों वर्ष लगे। किसी पत्थर-जड़-में चेतना पूर्णरूप से सुप्त रहती है। वृक्षों की अवस्था इसकी तुलना में चेतनायुक्त है 'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः' मनुस्मृति के अनुसार इनमें अन्तः संज्ञा होती है तथा सुख-दुःख से ये समन्वित होते हैं। जानवर श्वाँस लेते हैं तथा उनमें मन-बुद्धि भी होते हैं। वे सर्दी-गर्मी से बचाव हेतु प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनमें विवेक नहीं होता। मनुष्य उनकी अपेक्षा विकसित है। उसमें मन-बुद्धि के साथ विवेक भी होता है। भगवान् द्वारा बनायी गयी सभी कृतियों में मनुष्य का निर्माण सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत में वर्णन है जब

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय।
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।। श्रीमद्भागवत 11/9/28

भगवान् ने वृक्ष, रेंगनेवालेजन्तु, पशु-पक्षी, मछली आदि की रचना की, तब उनको सृष्टिरचनासे सन्तोष नहीं हुआ। इस कारण उन्होंने मनुष्य शरीर की रचना की। यह मनुष्य, ऐसी बुद्धि से युक्त है जो ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकती है। मनुष्य की रचना करके वे आनन्दित हो गये। तथा

'सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुष रत्नमलङ्करणं भुवः।'

नीतिशतककार ने मनुष्य को सर्वगुणसम्पन्न तथा भूलोक का अलङ्कार माना है।

मनुष्य चूँकि ईश्वर का अंश है, और भगवान का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है, अतः प्रत्येक मनुष्य दुःख-निवृत्ति तथा आनन्द प्राप्ति हेतु प्रयास कर रहा है। इसी आनन्द की खोज में वह अनेक कामनाएं करता है, तथा कर्त्ता-भोक्ता बनता है परिणामस्वरूप वह जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है। यदि कभी उसका विवेक जगता है, या सदगुरू मिल जाता है या किसी तरह सत्सङ्ग मिलता है, या उसके किसी अच्छे कार्य के कारण भगवान की कृपा हो जाती है तो उसे ज्ञान होता है कि उसे शान्ति केवल मायापति की शरण में जाने से मिलेगी। तब वह सत्य जानने का प्रयास करने लगता है। 'मैं कौन' तथा 'मेरा कौन' ये दो प्रश्न उसके अन्तरतम को मथने लगते हैं, और उनका उत्तर पाने हेतु किसी विधि का वह सहारा लेता है। कुछ लोग, व्याधि-रोग के वशीभूत होकर, कुछ लोग धन की कामना से, कुछ तत्त्व जानने की इच्छा से तथा कुछ लोग कई जन्मों की साधना फलीभूत होने पर ज्ञानी भक्त के रूप में भगवान की भक्ति करते हैं। इन्हें हम आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी कहते हैं। परन्तु ज्ञानीभक्तों की संख्या बहुत कम हैं। भगवान् कहते हैं-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। गीता 7/3

हजारों मनुष्यों में कोई सिद्धि हेतु प्रयत्न करता है और प्रयत्न करके सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्धों में कोई मुझे तत्त्व से जान पाता है।

यह किसी के सौभाग्य की बात है कि उसे अध्यात्म के मार्ग में रस आवे तथा उस ओर वह उन्मुख हो। उसे अनुकूल अवसर मिल जाय, तो उसका महाभाग्य है, तथा सिद्धि मिलना परम सौभाग्य। जब वह शास्त्रों का अध्ययन करता है या सदगुरू से सम्पर्क हो जाता है और निष्काम कर्म से धीरे-धीरे कामनाएं शान्त हो जाती हैं, मन निर्मल हो जाता है; श्रवण-मनन-निदिध्यासन (ध्यान) से ज्ञान हो जाता है, तो उसे शास्त्रप्रमाण से यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि ब्रह्म-परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। सब कुछ ब्रह्म ही है। भागवत में महाविष्णु ने ब्रह्मा को परम ज्ञान का उपदेश देते हुये कहा है-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।। श्रीमद्भागवत 2/9/32

'सृष्टि के प्रारम्भ में केवल मैं–ही–मै था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न ही उनका कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है वहाँ मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूँ। इससे जो कुछ बचा रहेगा वह भी मैं ही हूँ।'

पुराणों में कहा है– 'न वासुदेवात्परमस्ति किञ्चित'

अर्थात् मुझ वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं। कृष्ण ही भगवान्, पूर्ण ब्रह्म हैं। 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'। भगवान् श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य बताते हुए सखा उद्धव से कहा है–

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति।। श्रीमद्भागवत् 11/21/43

हे उद्धव! सभी श्रुतियां कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्ड में उपास्य देवताओं के रूप में मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में आकाशादि रूप से मुझमें ही अन्य वस्तुओं का आरोप करके निषेध करता हैं। सम्पूर्ण श्रुतियां मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती है, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती है तथा अन्त में सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती है। अन्ततोगत्वा केवल अधिष्ठान रूप में मैं ही शेष रह जाता हूँ। अर्थात् जैसे घड़ा मिट्टी ही है। आभूषण सोना ही है अर्थात् घड़े का मिट्टी में तथा गहने का सोने में अभाव है वैसेही सर्वाधिष्ठान सबके आश्रय ब्रह्म में जगत् अध्यारोपित है।

ईशावास्योपनिषद का पहला ही मन्त्र है –

'ॐ ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किञ्चजगत्यां जगत्।' ईशा० उ०–1 अखिल ब्रह्माण्ड मे जो कुछ भी जडचेतन रुप है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है अतएव त्यागपूर्वक भोग करो। किसी के धन पर लोभ दृष्टि न करो।

यहाँ उपनिषद् परमसत्ता के वैश्वभाव को प्रस्तुत करता है; क्योंकि हम जो कुछ भी देखते, सुनते या जो कुछ हम है या किसी तरह जिसका हम अनुभव करते हैं उसमें हमें प्रभु की उपस्थिति का अनुभव करना चाहिये।

भगवान् की दृष्टि में उनके अतिरिक्त अन्य कोई तत्व है ही नहीं। वे कहते है–

मत्तः परतरं नान्यात्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। गीता 7/7

हे धनञ्जय! सृष्टि में मेरे सिवाय किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। डोरे में पिरोये मनकों के समूह की भाँति सब कुछ मेरे में पिरोया हुआ है। वे अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि– अर्जुन! सवभूतोंके हृदय में स्थित आत्मा मैं ही हूँ। जल में रस मैं हूँ। चन्द्र–सूर्य की प्रभा में मैं हूँ। वेदों में प्रणव, पुरुषों में पुरुषत्व, प्राणियों में जीवन मैं हूँ। सत्, रज, तम मुझमें है परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

मनुष्य का परम स्वार्थ क्या है? इसे बताते हुए भक्त प्रह्लाद अपने दैत्य मित्रों से कहते हैं–

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंस स्वार्थः परः स्मृतः
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणाम्।। श्रीमद्भागवत 7/7/55

इस संसार में या मनुष्य शरीर में जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एक मात्र प्राप्तव्य परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति प्राप्त करे। उस भक्ति का स्वरूप है, सर्वत्र, सर्वदा सबमें भगवान का दर्शन। भगवान् के प्रति अपने को समर्पित कर देना सभी में परमात्मा का दर्शन करना परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार है। इसी से मानव जीवन सार्थक होता है।

सभी उद्धरण विष्णु पुराण वर्णित 'सकलमिदमहं तु वासुदेवः' तथा विचाराधीन श्लोक का 'वासुदेवः सर्वमिति'- इत्यादि उद्धरणों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि 'वासुदेव' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है परन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि ऐसा भाव कब तथा किसको आयेगा? भगवान् कहते है कि बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानी भक्त को इस भाव की प्राप्ति होती है। 'सकलमिदमहं' में 'यह' और 'मैं' जो अलग-अलग मालूम पड़ता है- वह सब परमात्मा का स्वरूप है। ज्ञान का अर्थ है कि सब कुछ परमात्मा है, परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। भक्त ज्ञानी कब होगा? ताकि उसे सबमें परमात्मा का दर्शन हो सके। जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं। यदि कोई शूद्र बुराईरहित, सेवा भाव सहित जीवन जीता है, तो वैश्य के रूप में उसका विकास होता है।

वैश्य यदि नैतिकतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह क्षत्रिय के रूप में विकसित हो जाता है। क्षत्रिय यदि अपने कर्तव्य का पालन करेगा तो वह ब्राह्मणत्व की दिशा में अग्रसर होगा। ब्राह्मण पहले यज्ञ-निष्ठ, फिर योगी होगा। यदि उसके प्रारब्ध, सञ्चित तथा क्रियमाण कर्म जल चुके हैं, कामनाएं समाप्तप्राय हैं तो दो-तीन जन्मों में, साधना के पश्चात् ज्ञान का उदय हो जायेगा और ऐसे ही ज्ञानीभक्त को सर्वत्र, सर्वदा, सबमें प्रभु का ही दर्शन होगा। नाम रूपात्मक जगत की विभिन्नता में उसे 'एक' दिखाई देगा। वह शरीर से सभी व्यवहार करता हुआ, अपने मन को सदैव परमात्मा में ही लगाये रखेगा। ऐसे ज्ञानी भक्त के लिए भगवान् कहते हैं- "ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्।" गीता 7/18

ज्ञानी साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है। ऐसे तत्त्वदर्शी पुरुष को भगवान् अति दुर्लभ बताते हैं तथा 'महात्मा' कहकर सम्बोधित करते हैं।

'अक्षरब्रह्मयोग'

भगवान् ने 'ज्ञानविज्ञानयोग' के अन्त में कहा कि जरा-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने तथा परमात्म-प्राप्ति के उद्देश्य से साधना करने वाले साधक ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म को जान जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ को भी जान जाते हैं, वे अन्तकाल में उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। इसे सुनकर किसी मुमुक्षु, साधक या भक्त के मन में उठने वाले सात प्रश्नों को अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि हम ब्रह्म शब्द से क्या समझें? अध्यात्म तथा कर्म का क्या अभिप्राय है? अधिभूत तथा अधिदैव कहने से भगवान् का क्या तात्पर्य है? अधियज्ञ कौन है तथा वह इस देह में कैसे रहता है? अन्तिम प्रश्न अर्जुन का था कि भगवान् में निरन्तर अनन्य भाव से लगा हुआ साधक अन्त काल में उन्हें किस प्रकार जानने में समर्थ होता है? प्रथम छः प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने कहा कि परमतत्त्व सभी

शरीरधारियों, सभी यज्ञों, सभी देवों, सभी कार्यों में समान रूप से व्यापक है। ये सभी उस एक परमृतत्व के विभिन्न प्रकटीकरण हैं, अलग-अलग नहीं हैं।

हमारा उद्‌देश्य ब्रह्माण्ड की संरचना तथा वैश्विक स्थिति में परमतत्त्व की स्थिति के बारे में जानना है, ताकि हम वस्तुस्थिति से अवगत होकर सही दिशा में आगे बढ़ सकें तथा परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकें। अतः परमतत्त्व के सभी पक्ष कर्ता, विषय, इसके प्रकटीकरण की वैश्विक व्यवस्था जैसे अधिभूत, अध्यात्म, आधिदैव आदि विचारणीय हैं, अर्थात् हमें उन सभी चीजों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये, जो विषय के रूप में हैं, जो व्यक्तित्व के रूप में हैं, जो एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, जो क्रियाशील हैं, जो अनुभवातीत हैं; क्योंकि ज्ञान-प्राप्ति के अभाव में हम बार-बार गलती करेगें तथा संसार-चक्र में फँसे रहेंगे। ज्ञानावस्था में हमारी विवेक-दृष्टि जाग्रत रहेगी और हम अपने लक्ष्य से भटक नहीं पायेंगे।

ब्रह्म क्या है ? ब्रह्म अपरिवर्तनशील ऐसा अस्तित्व है जिसमें सब कुछ रहता है, गति करता है तथा जिसके आधार पर सब कुछ टिका है। यह सभी द्वन्दों से परे, विषय-विषयी से परे, महाचेतन, अविनाशी, सत-चित्-आनन्दस्वरूप परमतत्त्व है।

अध्यात्म क्या है ? जीव के होनेपन का भाव अध्यात्म कहलाता है। अपना स्वभाव, स्व-भाव अर्थात् अपना होना अध्यात्म है। वैसे तो आत्मा-सम्बन्धी बातें, आत्म-विद्या तथा वह मार्ग भी अध्यात्म कहलाता है, जिसमें इसका वर्णन हो।

ब्रह्मतत्त्व आकार ग्रहण करने पर भी विकार रहित रहता है तथा आकार के लोप होने पर उसका लोप नहीं होता। जो ब्रह्मतत्त्व अपनी स्वयं सिद्ध अवस्था में निरन्तर रहता है, उसी को अध्यात्म कहते हैं। जीवात्मा भी अध्यात्म नाम से जाना जाता है।

कर्म क्या है ? मनुष्य मात्र द्वारा विहित या निषिद्ध जितनी भी क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओं को 'कर्म' कहते हैं। वह सृजनात्मक शक्ति, जिसके कारण जीव अस्तित्व में आते हैं या जिस मनोयोग, प्रेरणा से जीव आकार ग्रहण करते हैं उसे 'कर्म' कहते हैं। यह गत्यात्मक सिद्धान्त है। बिना किसी कर्त्ता के ही निराकार ब्रह्म पर जो इन्द्रियगम्य आकार की छाप पड़ती है, उसे भी 'कर्म' कहते हैं।

अधिभूत क्या है ? भौतिक प्रकृति का संसार, महाभूतों का संसार अपनी पूर्णता में स्थिति प्रकृति को अधिभूत कहते हैं। जैसे बादल प्रकट होते है और कुछ समय बाद नष्ट हो जाते है, वैसे ही जो पंच महाभूतों के अंशों से मिलकर बनता है और नाम-रूपादि से विशिष्ट भूत-संयोग के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, उसे अधिभूत कहते हैं।

अधिदैव क्या है ? गहराई से विचार करने पर हम देखते हैं कि बाह्य किसी प्रकार के अनुभव में किसी इन्द्रियातीत-अनुभवातीत की उपस्थिति या दखल है। जीवन के इस रहस्य को अधिदैव कहते हैं। वह ईश्वर जो हमारे कार्यों को आकार देता है, हमारे भाग्य को नियन्त्रित करता है, तथा हमारी प्रत्येक बात में जिसका हस्तक्षेप है, उसे अधिदैव कहते हैं। यह प्रकृति से उत्पन्न वस्तुओं का भोक्ता है। अधिदैव नाम का पुरुष वास्तव में परमात्मा है जो हमारे शरीर में अहङ्कार तथा निद्रा के वश में रहता है। इसलिये हर्ष-शोक का अनुभव करता है। इसे जीव कहते हैं। वह इसी पंचभूतात्मक शरीर-पिण्ड का अधिदैवत है।

अधियज्ञ कौन है और इस देह में कैसे रहता है ?

भगवान् ने इस देह में अपने को 'अधियज्ञ' बताया है तथा कहा है कि इस शरीर में अन्तर्यामी रूपसे मैं ही हूँ। सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, वासुदेवादि नामों से अभिहित भगवान् को ही अधियज्ञ समझना चाहिए।

भेद-बुद्धि समाप्त होने पर अर्थात् अविद्या का परदा हट जाने पर, सब अधिभूत आदि, पर-ब्रह्म के साथ एक रूप हो जाते हैं। अहङ्कार के टूटने पर ऐक्य होता है। भगवान् ने कहा है कि जिसमें ऐक्य होता है वह अधियज्ञ मैं हूँ। वैराग्य की अग्नि प्रज्वलित होने पर जब सब विषयों की आहुति दे दी जाती है, ज्ञानाग्नि में सब कुछ भस्म हो जाता है, ज्ञेय ही शेष रह जाता है, तो यह ज्ञेय ही अधियज्ञ है।

जल के दृष्टान्त से यह समझने में आसानी होगी कि एक ही परमात्मा अनेक रूपों में किस प्रकार से है। जैसे स्वच्छ अन्तरिक्ष में परमाणुरूपसे जल-तत्त्व मौजूद रहता है। वही जलतत्त्व भाप के रूप में, बादल के रूप में, पानी की बूँदों तथा स्थूल रूप से बर्फ के रूप में मौजूद रहता है।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुदबुद-तरङ्गयान् विकारान्।
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्।। उ०रा०च० 3/47

जैसे एक करुण रस ही निमित्त भेद से भिन्न होता हुआ, पृथक-पृथक श्रृङ्गार आदि परिणामों को आश्रय करता है, जैसे एक जल ही भँवर, बुदबुद और तरङ्ग रूप विकारों का आश्रय करता है, वैसे ही निर्गुण-निराकार ब्रह्म, परमाणु रूप से जल तत्व है। आप के रूप में (व्यापक विष्णु के रूप में) 'अधियज्ञ', बादल के रूप में (हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा) 'अधिदैव', बूँद रूप से (अनन्त जीव) 'अध्यात्म', वर्षा की क्रिया रूप (सृष्टि-रचना रूप क्रिया) से कर्म तथा बर्फ रूप से जल (भौतिक सृष्टि) अधिभूत है।

यहाँ अर्जुन का अन्तिम प्रश्न भगवान् से यह था कि निरन्तर साधना में लगा हुआ साधक अन्तकाल में उन्हें किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। यदि हम अन्तकाल में ईश्वर का विचार-उनके नाम, रूप, लीला का स्मरण रख पाने में समर्थ होते है, तो हमारा उनके साथ योग हो जायेगा। यह सरल कार्य नहीं है; क्योंकि मृत्यु के समय का अन्तिम विचार, हमारे सम्पूर्ण जीवन में किये हुए, अनुभव किये हुए विचार का परिणाम है। अन्तिम विचार जिये हुए जीवनरूपी वृक्ष का फल है। इसलिये महत्वपूर्ण यह है कि जीवन में हम कर्म किस प्रकार करें? गीता की धारणा के अनुसार सभी कर्म जो हमारे द्वारा किये जाते हैं वे सब महान् वैश्विक उद्देश्य हेतु, वैश्विक प्रेरणा से किये जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में घटी कोई घटना समुद्र का कार्य है, इसी प्रकार हमारे सभी कर्म में ईश्वरीय इच्छा कार्य करती है।

हमें इस बात पर सचेत होना चाहिये कि हम जो कुछ भी गहराई से सोचते है, और चेतना में लगातार अनुभव करते हैं- जैसे कि यह हमारे अस्तित्व का हिस्सा हो गया है, तो यह निश्चित है कि वह अनुभव हमारे संसार छोड़ने के पश्चात् फलित होगा। इसलिये अपने जीवन में हमें कर्म इस प्रकार करना है जिसका सामंजस्य ईश्वर की इच्छा के साथ हो। यदि

हम स्वार्थपूर्ण कर्म करते हैं, तो कर्मफल की प्राप्ति भी निश्चित है। गीतादर्शन के अनुसार वैश्विक प्रेरणा से किया गया कोई कर्म दिव्य कर्म है, तथा यह बन्धनकारी नहीं, ऐसा विचार दृढ़ होने पर हम कर्म के कर्त्ता नहीं, बल्कि साधनमात्र या परमात्मा के हाथों के खिलौने मात्र रह जाते हैं। परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् ही सर्वस्वरूप एवं परमतत्त्व है। उनके नाम-रूप-लीला-धाम के सतत स्मरण तथा अभ्यास के कारण मृत्यु काल में भी उनकी स्मृति बनी रहती है। परमात्मा की उपस्थिति भूलकर हमारे द्वारा जो कर्म किया जाता है, उस परिणाम के हम भोक्ता हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य को हरदम सावधान रहना चाहिये, पाप से मुक्त होने हेतु मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, बीच-बीच में जीवन की जाँच-पड़ताल करते रहना चाहिए, ताकि मृत्युकाल में भगवान् की स्मृति बनी रहे। इस प्रकार कालक्षेप करने वाले तथा आत्मा-परमात्मा के संयोग हेतु उद्यत, अनन्य भक्त को परमपद की प्राप्ति निश्चित रूप में हो जाती हैं।

'अक्षरब्रह्मयोग' से तात्पर्य अक्षरब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग से है। भगवान् ने इस अध्याय में अपनी प्राप्ति के सरल उपाय का वर्णन करते हुये कहा है कि जो मेरा निरन्तर स्मरण करते हुए जीवन की चुनौतियों का सामना करता रहता है, तथा जिसने अपने मन तथा बुद्धि को मुझे समर्पित कर दिया है, वह निश्चित ही मुझे प्राप्त करता है। अर्थात् उसे परमगति की प्राप्ति होती है। परमगति को अव्यक्त, अक्षर तथा अक्षय आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया गया है। 'अक्षर' तथा 'ब्रह्म' शब्दों का प्रयोग, परमात्मा के तीनों स्वरूपों निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार तथा सगुण-साकार हेतु होता है। अतः परमात्मा के किसी स्वरूप का चिन्तन करते रहने से उनसे योग हो जाता है, इसलिये इस अध्याय का नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रखा गया है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। गीता 8/6-7

भगवान् कहते हैं कि हे कुन्ती पुत्र! (यह जीव) अन्तकाल में जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह सदैव उस भाव के चिन्तन के कारण, उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिये तुम सब कालों में मेरा ही निरन्तर स्मरण करो तथा युद्ध करो। निःसन्देह मन-बुद्धि को मुझमें अर्पित किये हुए तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे।

महान् ऋषियों द्वारा उद्घोषित सत्य को स्थापित करते हुए भगवान् कहते हैं कि अन्तकाल में जीव जिस किसी भाव का विचार करता हुआ शरीर का त्याग करता है वह भाव अग्रिम शरीर धारण करने के पूर्व तक बना रहता है और उसी भाव के अनुसार वह नवीन शरीर धारण करता है। इसका कारण यह है कि अन्तकालमें अभ्याससिद्ध भाव का ही उदय होता है। प्रयत्न-सिद्ध भाव का उदय नहीं होता है। उसकालमें हमारी पकड़ इन्द्रियों पर, मन पर नहीं रह जाती है, हम चाह कर भी कुछ नहीं कर सकते। कुछ करने की सामर्थ्य ही नहीं रहती। अतः यदि हम सोचें कि अन्त में जैसा हम उत्तम विचार चाहेंगे वैसा बना लेंगे तो यह सोचना सही नहीं है; क्योंकि अन्तकालमें हमारे विचार वैसे ही बनेंगे जैसा हमने जीवन

में अभ्यास किया है। हम भले ही न चाहें तो भी अन्तकाल में हमारी इच्छायें अभ्यास के अनुसार उठेंगी, तथा तदनुसार विचार मूर्तिमान हो जायेंगे।

श्रीमद्‌भागवत् में कहा है–

'यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरुपताम्।। श्रीमद्‌भागवत 11/9/22

प्राणी स्नेह से, द्वेष से या भय से जिस किसी का भी तन्मयतापूर्वक चिन्तन करता है वह उसी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मृत्यु के पूर्व चिर कालतक मनुष्य जिस किसी भावना से युक्त होता है, वही भावना मृत्युकाल में भी हवत् मूर्तिमती हो जाती है। अतः हमें चाहिये कि जीवनकाल में अपने मन को भगवान् के मन में मिलाकर आनन्दित हो जायँ। अपनी बुद्धि को उनकी बुद्धि में मिलाकर चित्स्वरूप हो जायँ तथा अपने सभी कार्य उनका स्मरण करते हुए, उनकी प्रसन्नता के लिए करें। इस प्रकार हम सत्स्वरूप हो जायेंगे।

भगवान् ने सवकाल में उन्हें स्मरण करने को कहा है। कोई भी कार्य सर्वदा नहीं होता। सबका समय अलग होता है, परन्तु भगवान् का स्मरण रखते हुए हम अपने सभी कार्य कर सकते हैं। अतः हम स्मरण करते हुए अपने सभी कार्य करें, तो भगवान् की स्मृति सदैव बनी रहेगी और हम उनसे जुड़े रहेंगे। अनुस्मरण शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका भाव है स्मरण के पीछे स्मरण, अर्थात् निरन्तर स्मरण। भगवान् तो हमसे मिलने हेतु तैयार बैठे हैं। हम उनकी तरफ ध्यान नहीं किये हैं, तब भी वह हमें देख रहे हैं। उनकी सत्ता में हम जी रहे है। उन्हीं की सत्ता में हमारी सारी क्रियाएँ हो रही है। उनके कारण हम देख, सुन रहे हैं। उसी के आनन्द में हम आनन्दित होते हैं। अतः हम उनके प्यार को, उनकी करुणा को देखें तथा हम भी उनसे प्यार करें। उनकी तरफ देखें। अपना ज्ञान, मन, जीवन एक बार तो उन्हें समर्पित कर दें।

'युद्ध' का भाव यह है कि हम भगवान् का स्मरण–चिन्तन करते हुए अपने कर्तव्य कर्म करते रहें; क्योंकि विना स्वधर्म का अनुष्ठान किये चित्त शुद्धि नहीं होती, और विना चित्तशुद्धि सतत स्मरण नहीं हो सकता। स्मृति, अनुभव के आधार पर ही होती है। जिसका अनुभव नहीं होता उसकी स्मृति भी नहीं होती। स्मृति तो भूतकालिक विषय की होती है। हाँ, साक्षात् परमात्मा का साक्षात्कार होजानेकेवाद स्मृति की अपेक्षा नहीं रहती। वे तो स्वयं हमारी आत्मा ही हैं, स्वयं प्रकाश हैं, सदा अनुभवस्वरूप हैं। यदि हमारा अभ्यास सदा परमात्मा से सम्बन्ध । का रहा है, उससे हम जुड़े हैं, तो यदि किसीकारण अन्तकालमें उनकी विस्मृत हो जाती है, तो इसकी जिम्मेदारी स्वयं भगवान् पर है। ऐसी हालत में वे या तो हमें स्मृति दे देंगे या कृपा करके हमसे स्मृति करा लेंगे। शर्त यह है कि हमने जीवन में अपना मन तथा बुद्धि पूर्णरूपेण उन्हें समर्पित कर दिये हैं। 'मय्यर्पित मनोबुद्धि' ऐसा वे कहते हैं। इसका अर्थ है कि हम उन्हें अपना मन माने हृदय–प्यार तथा बुद्धि माने विचार इन दोनों को भगवान् को अर्पित कर दें। उसीसेप्रेम करें तथा उसीकाविचार करें। उसी का चिन्तन करें। उसके प्रति साधक का प्रेम जैसे–जैसे बढ़ता जायेगा, वैसे–वैसे उनका चिन्तन भी बढ़ता जायेगा। इस प्रकार उनकी स्मृति भी बनी रहेगी। जीवन में संघर्ष तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी साधक को चाहिये कि वह आत्मस्वरूप तथा विश्व के अधिष्ठान–ब्रह्ममें एकता स्थापित करने का प्रयास करते हुए अपना जीवन यापन करें।

एकात्मभाव स्थापित करने का सरल तरीका है- जैसे रङ्गमंच पर कोई कलाकार किसी राजा या भिखारी का अभिनय करता हुआ भी अपनी असलियत नहीं भूलता। वह सदा याद रखता है कि वह क्या है? ज्योंही वह अपना अभिनय समाप्त करता है, अपना मूल जीवन जीने लगता है। जैसे कोई लड़की सिर पर घड़ा रखकर नाचती है लेकिन नाचते हुए भी वह अपना ध्यान सिर पर रखे घड़े पर ही रखती है। इसी प्रकार हमें भी प्रत्येक कार्य करते हुए अपना ध्यान परमात्मा पर केन्द्रित रखना चाहिये।

इस प्रकार यदि साधक निरन्तर भगवान् को हश्दय में धारण करके उन्हें स्मरण करता हुआ, अपना मन एवं बुद्धि भगवान में पूर्णरूपेण समर्पित करता हुआ, जीवन जीये तो निश्चित है कि अन्तकाल में भी उसे वही याद आयेंगे और वह निःसन्देह भगवान् को प्राप्त हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में नारद पञ्चरात्र में निर्देश है-

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यज्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुति शासनम्।। ना0प030 5/1

मनुष्य जिस जिस भाव का तन्मयतापूर्वक चिन्तन करते हुए अन्तकाल में शरीर का त्याग करता है, वह उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है- यह बात अन्यथा नहीं है, यह श्रुति का उपदेश है।

इस प्रकार भगवान् के कथन से तथा श्रुति के अनुसार भी यह प्रमाणित है कि- मनुष्य के शरीर छोड़ने के समय उसका जैसा विचार होगा वैसी ही उसकी गति होगी। अतः यदि हम चाहते है कि हम भगवान् को प्राप्त हों, जन्म-मृत्यु से हमारा छुटकारा हो जाय तो हमें भगवान् के कथनानुसार सदासतर्क रहकर अपने प्रत्येक कर्म के केन्द्र में भगवान को रखते हुए कर्म करना चाहिये ताकि उनका स्मरण सदा बना रहे। इसके साथ भगवान एक शर्त पूरी करने पर, अपनी प्राप्ति का जिम्मा लेते हैं तथा विश्वास दिलाते हैं कि इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। वह शर्त है- 'मय्यर्पित मनोबुद्धिः' मन-बुद्धि उनमें अर्पित करना।

मन तथा बुद्धि का अर्पण भगवान् को बड़ा प्रिय है, वे कहते है-

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। गीता 12/14

जिसने अपने मन तथा बुद्धि को मुझमें अर्पित कर दिया है, जो ऐसा मेरा भक्त है, वह मुझे अतिशय प्रिय है। मन और बुद्धि भगवान् को अर्पित करने का अर्थ है कि हमने अपनी इच्छाओं तथा विचारों को भगवान् की इच्छा तथा विचार के साथ जोड़ दिया है। अब हम स्वतन्त्र नहीं हैं। हमारे संकल्प उनके सङ्कल्प पर निर्भर करेंगे। हमारी इच्छाएं तथा विचार उनकी इच्छा तथा विचार के अनुसार होंगे। कुछ भी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व हम बुद्धियोग के सहारे, खूब सोचेंगे तथा ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जो उनकी इच्छा या विचार के विपरीत हो। यदि हम ऐसा करते है तो भगवान् हमें आश्वासन देते है कि निःसन्देह हम उन्हें प्राप्त करेंगे।

राजविद्याराजगुह्ययोग

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने दोष-दृष्टि से रहित अर्जुन से विज्ञान-सहित गुह्यतम ज्ञान को बताने हेतु कहा, तथा इस ज्ञान को संसार-बन्धन से मुक्त करने वाला बताया है। उन्होंने इस ज्ञान की महत्ता को बताने के लिए इसे 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' संज्ञायें प्रदान कीं तथा इसे पवित्र, उत्तम तथा धर्म के अनुकूल कहा है। यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग चेतनतत्त्व-आत्मा के लिये किया गया है, जो हमारा स्वरूप है। अतः इस अध्याय में वर्णित ज्ञान, मनुष्य के स्वरूप के ज्ञान के सम्बन्ध में है। यदि धर्म को सर्वोत्तम जीवन जीने की शैली या कला के रूप में लिया जाय, तो वेदान्त और उसका सार होने के नाते गीता सर्वोत्तम धर्म है। भगवान् ने यहाँ इस ज्ञान को अत्यन्त सरल तथा आत्मरूप में अनुभवगम्य भी बताया हैं।

इस अध्याय को 'राजयोग' की भी संज्ञा दी गयी है। कर्मयोग में भक्तियोग को मिला देने से राजयोग बनता है। अहङ्कार, फलेच्छा से रहित कर्म करना कर्मयोग है। भगवान् से प्रेम करना, उनका निरन्तर स्मरण बने रहना, उन्हीं को सर्वस्व समझना, भक्तियोग है। अतः ईश्वरार्पण बुद्धि से, सभी इन्द्रियों से काम लेना अर्थात् बिना फल की इच्छा के मात्र लोकसंग्रह हेतु कर्म करते जाना और सब कुछ भगवान् को समर्पित करते जाना 'राजयोग' है।

यहाँ भगवान् ने सबको भगवत्प्राप्ति का अधिकारी बताया है। इसमें सम्प्रदाय, देश, आश्रम, पापी-पुण्यात्मा का कोई भेद नहीं। सबसे बड़ा पापी भी, किसी समय उनकी ओर उन्मुख होकर उन्हें प्राप्त कर सकता है।

चूँकि हमारा जीवन देश-काल की सीमा से बँधा है, अतः हम इनकी सीमा में रहने हेतु बाध्य है। हम भूत, जो बीत गया तथा जिसमें हम कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तथा भविष्य, जो केवल हमारी कल्पना पर आधारित है-में अधिकतर जीते रहते हैं, परन्तु गीता हमें ईश्वर के सातत्य में जीवनयापन करने की शिक्षा देती है; क्योंकि ईश्वर, समय तथा स्थान से परे हैं।

चूँकि ईश्वर कार्य तथा कारण दोनों हैं, सृष्टि भी हैं तथा सृष्टिकर्ता भी हैं, इसलिये उसके क्षेत्र में वह सब कुछ समा जाता है- जो कुछ भी था, जो होगा या जो कुछ है। इसलिये ज्ञानी-जन एक मात्र परमतत्व-अस्तित्व-सत्ता के रूप में, विभिन्न रूप में बँटी हुई सृष्टि के रूप में, तथा प्रत्येक विशेष चीज के रूप में उसे ही देखते हैं। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं।

अतः हमें ईश्वर की पूर्णता में स्वयं को इस प्रकार डुबा देना चाहिये कि हमारा अलग अस्तित्व न रह जाय, हमारा अहङ्कार पूर्णरूपेण तिरोहित हो जाय, हमारा व्यक्तित्व सूर्य के सामने कोहरे की भाँति नष्ट हो जाय। परमतत्व-ईश्वर को ही सब कुछ समझते हुए यदि हम उससे एकत्व स्थापित करते हैं तो भगवान् ने आश्वासन दिया है कि वे हमारे योग-क्षेम का वहन स्वयं करेंगे। जिस किसी ने अपना मन-बुद्धि उन्हें समर्पित कर दिया है, एकमात्र उन्हीं पर भरोसा किया है, जिसकी उनके प्रति अनन्य भक्ति है, उसे तनिक भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति किसी भी स्थान, किसी भी समय

पर तत्क्षण होगी; क्योंकि वह समय तथा स्थान से परे है। उनकी उपस्थिति प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक समय से परे है।

अन्त में भगवान् इस अनित्य तथा सुखरहित लोक को प्राप्त कर, अर्जुन के निमित्त से हम सबको भजन करने अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चलने हेतु आदेश देते हैं। चूँकि अर्जुन ऐसे हम सभी का प्रतिनिधि है जो जीवन की समस्याओं का सामना करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, अतः ऐसी परिस्थितियों का सामना करते हुए हम किस प्रकार भजन करने में समर्थ हो सकेंगे, इस पर भगवान् के कथन के अनुसार हमें अपना मन भगवान् में स्थिर कर देना चाहिये। भक्ति के द्वारा उनकी पूजा करनी चाहिये अर्थात् उनके नाम-रूप-लीला-धाम का स्मरण सदैव करते हुए उनके किसी रूप को हृदय में धारण करना चाहिये; उनके उद्देश्य से अपने सभी कार्य करने चाहिये तथा सर्वत्र उनका दर्शन करते हुए उनको नमस्कार करना चाहिये। इस प्रकार अपनी आत्मा को भगवान् से युक्त करके कोई उनकी निश्चित प्राप्ति कर सकता है।

ब्रह्म में प्रवेश दिलाने वाले ज्ञान को 'विद्या' कहते हैं। ब्रह्म ही श्रीकश्ण तथा श्रीकश्ण ही ब्रह्म हैं। यहाँ दिया गया उपदेश, यथा-यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है; मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत् की रचना करती है; मैं ही सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाला, पालन करने वाला तथा मूल उद्गम हूँ आदि- सब विद्याओं का राजा अर्थात् 'राजविद्या' है। भगवान् द्वारा यहाँ कही गयी बात-'मेरे मन वाले हो जाओ, मेरी शरण में हो जाओ, मेरे उद्देश्य से काम करो तथा मुझे नमस्कार करो आदि' सब भावों में गुह्यतम बात है, अर्थात् यह 'राजगुह्य' है। चूँकि यह 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' बात भगवान् से योग कराती है, अतः इस अध्याय को 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नाम दिया गया है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। गीता 9/22

जो निष्काम, ज्ञानी एवं भक्त हैं, उनके सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करने वाले नित्ययुक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

उक्त श्लोक गीता के लगभग मध्य में आया है। गीता के कुल सात सौ श्लोको में प्रस्तुत श्लोक तीन सौ साठवाँ है। इस श्लोक में भगवान् ने अपने अनन्य भक्त के जीवन का पूरा जिम्मा ही ले लिया है, तथा सब तरह से निश्चिन्त कर दिया है। वे कहते हैं कि अनन्य भक्त उसको कहते हैं जिसके चिन्तन में भगवान् के अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं। यदि ऐसा पुरुष ज्ञानी है तो उसके लिए एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है, और यदि भक्त है तो वह सबमें परमात्मा का ही दर्शन करता है। अतः उसके लिए भी परमात्मा को छोड़कर दूसरा नहीं है। दोनों मानते हैं कि-

'न वासुदेवात्परमास्ति किञ्चित्' - पुराणपुरुष वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है। दोनों को भगवान् के कथन- 'सर्वमिदमहं च वासुदेवः' 'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ- पर पूर्ण निष्ठा है। उच्चकोटि के भक्त भगवान् को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं चाहते। श्रीमद्भागवत में कहा है कि-

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं मेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्।। श्रीमद्भागवत 11/14/14

जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न इन्द्र का। उसके मन में सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा नहीं होती। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ भी नहीं चाहता, और न वह मोक्ष की अभिलाषा ही रखता है।

साधन चतुष्टय- विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व-से सम्पन्न समाहित पुरुष भेद दर्शन से उपरत होकर, सर्वत्र अद्वैतदर्शी होकर जीता है। यही अनन्य भक्ति है। ऐसे पुरुष के अन्दर केवल भगवान् की महत्ता रहती है। वह समझता है कि जो कुछ सृष्टि में घटित हो रहा है सब उसकी लीलामात्र है। ऐसे पुरुष अपने सभी कर्म भगवान् की प्रसन्नता हेतु ही करते हैं। वे अपने कर्मों द्वारा उनकी पूजा ही करते हैं। सब जगह सब रूपों में उनके लिए परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं।

आध्यात्मिक या भौतिक क्षेत्र में यदि हम विचार तो पूर्णतया करें परन्तु तदनुसार कार्य न करें, तो कार्य सफल नहीं हो सकते। अतः ऐसे भक्तों के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि वे कार्य-सिद्धि हेतु पूर्ण प्रयत्न भी करते है। सफलता प्राप्ति हेतु वे कोई सम्भव प्रयत्न नहीं छोड़ते। उनके सङ्कल्प में सततता होती है अर्थात् वे अपने सङ्कल्प को सदा याद रखते हैं। लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वे अपना सर्वस्व अर्पण करने हेतु तैयार रहते हैं। इसके साथ ही सिद्धि प्राप्ति तक मार्ग में आने वाली किसी कठिनाई से विचलित नहीं होते। इस हेतु उनमें आत्म संयम होता है। यही 'पर्युपासते' का भाव है।

ऐसे भक्त 'नित्याभियुक्त' होते हैं। नित्याभियुक्त पुरुष में तीन बातें होती हैं। उनकी संसार में बहुत कमी होती है,-वे संसार से विमुख रहते है। संसार के चिन्तन में वे अपना समय बर्बाद नहीं करते। उनकी अनन्यता केवल भगवान् के प्रति रहती है। दूसरी बात वे भगवान् के सम्मुख सदा रहते हैं अर्थात् उनके नाम-रूप-गुण, लीला आदि का चिन्तन करते रहते हैं। तीसरी बात वे उपासना-पूजा करते रहते हैं। अपने सभी कार्यों को वे पूजा समझकर करते हैं तथा उन्हें समर्पित कर देते हैं।

ऐसे नित्याभियुक्त, निरन्तर उनका चिन्तनकरनेवाले तथा उनकी सब प्रकार उपासना करनेवाले भक्त के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि ऐसे भक्त के लिये जो प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति का तथा उसे प्राप्त की रक्षा का भार उन पर स्वयं है। आध्यात्मिक साधना में जो कमी है उसे वे पूरा करते हैं। यह उनका 'योग' है तथा साधना की किसी प्राप्तस्थिति से नीचे न गिरने देना उनका 'क्षेम' हैं। मनुष्य के तनावपूर्ण जीवन के दो कारण मुख्य हैं- अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त के संरक्षण के लिए संघर्ष। यही बातें उसकी शान्ति तथा आनन्द को समाप्त करती रहती है। भगवान् अपने भक्त को आश्वासन देते है कि वह इन दोनों से मुक्त है और वे उसे पूर्णकरनेका पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं।

यहाँ किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि भक्त यदि ऐसी चीज चाहेगा जो उसके हित में नहीं है तो वे उसे भी पूरा करेगें। यहाँ मुख्य बात भक्त के कल्याण की है। यदि उसकी किसी कामना की पूर्ति से उसका अहित होने वाला है, तो उसे वे पूरा नहीं करेंगे। यह भी योग है क्योंकि भक्त का कल्याण ही वे चाहते हैं। यदि कोई चीज अहितकर भक्त को प्राप्त हो गयी है या किसी के प्राप्त हो जाने से उसका अहित होने वाला है तो वे उसे नहीं देंगे तथा प्राप्त वस्तु को ले भी लेंगे। यह उनका क्षेम है। देवर्षि तथा महान् भक्त नारद ने किसी सुन्दर लड़की के स्वयंबर में जाने हेतु, सुन्दर मुख की याचनाको भगवान् ने पूरा नहीं किया क्योंकि उससे उनका पतन हो जाता। यदि कोई भक्त प्राप्त वस्तु के मोह के कारण अपने उद्देश्य से भटक रहा है तो उसके न चाहते हुए भी भगवान् उसकी प्रिय वस्तु छीन सकते हैं, यह उनका क्षेम ही है।

जिसने सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक अपने को भगवान् को अर्पित कर दिया है तथा जगत् में प्रतिक्षण होने वाली घट्नाओं के पीछे, उनके द्वारा नियन्त्रित शाश्वतनियमों का पूर्ण पालन करते हुए जीवन-यापन कर रहा है, तो उसपर उनका ध्यान वैसे ही बना रहता है, जैसे चिड़िया अपने बच्चे की देखभाल तबतक करती रहती है जबतक उसके पंख नहीं उग जाते तथा वह पूर्णरुपेण स्वतन्त्र नहीं हो जाती। भगवान् तो ज्ञानमार्गी को ज्ञान तथा भक्त को प्रेमदान कर देते हैं। वे कहते है -

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। गीता 6/30

जो पुरुष मुझे ही सर्वत्र देखते हैं और सबको मुझमें देखते है उसके लिए मैं नष्ट नही होता अर्थात उन अनन्योपासक सर्वस्व त्यागी भक्तों के लिए जो मैं अप्राप्त था, योग के रूप से सर्वत्र सर्वदा प्राप्त हो जाता हूँ और क्षेम के रूप से सदा विद्यमान रहता हूँ।

विभूतियोग

यहाँ अर्जुन ने भगवान् से एक जिज्ञासा प्रकट की, यह जिज्ञासा किसी साधक के मन में स्वभावतः उठती है कि विभिन्नताओं से भरे हुए, इस संसार को देखते हुए तथा व्यवहार करते हुए हम किस प्रकार ईश्वर का चिन्तन तथा स्मरण रख सकते है? इस प्रश्न के समाधान हेतु ही, भगवान् ने अपनी विभूति का अर्थात् अपने ऐश्वर्य तथा परमतत्व की सर्वव्यापकता का वर्णन किया है। विभूतिवर्णन का अर्थ यह है कि संसार में जहाँ कहीं विलक्षणता दिखायी देती है, जिस किसी में सुन्दरता दिखाई देती है, बल, बुद्धि, सामर्थ्य या विशेषता आदि दिखाई देती है, वह भगवान् की ही है। इसके अनुसार आत्मा पूरी सृष्टि का सार तत्त्व है। इसके बिना संसार में किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सभी वर्ग के प्राणियों का सर्वश्रेष्ठ प्रमुख तत्त्व यही है। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से बना है, उन्हीं में स्थित तथा कार्यरत है तथा उन्हीं की सत्ता के कारण टिका हुआ है। अतः हमें प्रत्येक जगह, प्रत्येक गुणयुक्त या गुणहीन लगने वाली वस्तु में, प्रत्येक व्यक्ति, सज्जन या दुर्जन आदि में, पूरे ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त, सबकी एक-सी चिन्ता करने वाले परमसामर्थ, कृपालु, पावन तथा ज्ञानमूर्ति परमात्मा का दर्शन करना चाहिये। इस ज्ञान से युक्त होकर, उनमें प्रेम से भरपूर होकर, सर्वत्र सर्वरूप में उनका दर्शन करते हुए हमें व्यवहार करना चाहिये।

कभी-कभी अत्यन्त दुःख या प्रसन्नता के क्षणों में, हमें इस प्रकार का अनुभव होता है कि हम अपने शरीर-मन की सीमाओं से परे हो गये हैं। हमारी स्थिति ऐसी हो जाती है, जैसे हमारा भौतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। हम या तो परमानन्द की स्थिति में होते हैं या दुःख के सागर में डूबे रहते हैं। हमारी ऐसी अवस्था कभी-कभी ईश्वरीय अवतारों के, उच्चकोटि के साधु-सन्तों के, महात्माओं के दर्शन मात्र से भी हो जाती है। ऐसी कोई चीज जो हमको अपनी तरफ इस प्रकार आकर्षित कर लेती है कि हम उससे मुँह मोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं, ईश्वर के प्रकटीकरण की एक किरणमात्र है। कोई भी चीज, जो हमारी आत्मा के भाव को अन्दर से इस प्रकार भर दे कि हम भावसमाधि में हो जायँ, आनन्दातिरेक से परिपूर्ण हो जायँ या हमें अनिर्वचनीय, कल्पनातीत आनन्द की अनुभूति हो तो हमें समझना चाहिये कि हमारे अन्दर परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा ही एक अंश में प्रकट हुआ है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिये तथा चिन्तनशील रहना चाहिये कि सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा अपनी योगमाया के एक अंश से धारण किये हुए हैं। सभी भूत-प्राणियों में वे स्थित हैं, उनके बिना किसी का अस्तित्व ही नहीं है। परमात्म-स्वरूप का वर्णन करते हुए उनकी कथा, लीला का आपस में वर्णन करते हुए जो उनका गान करता है तथा दूसरों को इसका गान करवाता है, वह उनकी कृपा का भागी हो जाता है तथा उन्हें अवश्य प्राप्त कर लेता है।

इस अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों को अपार बताते हुए कहा है कि संसार में जो कुछ भी सुन्दर, ऐश्वर्ययुक्त, तेजयुक्त है, वह सब मेरे तेज के अंशमात्र में स्थित है। जहाँ कहीं भी, जो कुछ विशेषता दिखायी देती है, वह सब भगवान् की ही विभूति है। जब साधक-मुमुक्षु-भक्त, सर्वत्र सबमें भगवान् को ही देखने लगता है तो उसका भगवान् से 'योग' हो जाता है। इसलिये इस अध्याय को 'विभूतियोग' कहा गया है। सबमें, सर्वत्र, सर्वदा एक परमात्मा का दर्शन करना, उसकी उपस्थिति की अनुभूति प्राप्त करना ही इस अध्याय का सार है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। गीता 10/10

इसके पूर्व भगवान् ने कहा था कि ऐसे भक्तजन जिन्होंने अपने चित्त को मुझमें स्थिर कर दिया है तथा अपनी इन्द्रियों को मुझे ही अर्पित कर दिया है, वे परस्पर मिलने पर मेरे ही विषय में कथन करते हुए आनन्दित होते हैं और पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करते हुए मेरे में ही रमण करते हैं। यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे भक्तों को, जो मुझसे नित्ययुक्त होते हुए प्रेम-पूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें 'बुद्धियोग' प्रदान कर देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

माया प्रकृति भगवान् की अनिर्वचनीय शक्ति है। श्रुति कहती है- 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' 'ब्रह्मसत्य है, जगत् मिथ्या है। ब्रह्म पारमार्थिकसत्य होते हुए भी अनुभव में आसानी से नहीं आता। स्वप्न में देखी हुई बातें जगजानेपर मिथ्या होती हैं। परन्तु वह 'प्रतिभासिक सत्य' है। अंधेरे में रस्सी में साँप का दिखाई देना ज्ञान होने तक प्रतिभासिक सत्य है। यद्यपि 'गहना' सोने के अतिरिक्त कुछ नहीं है- गहना मिथ्या है सोना वास्तविक सत्य है परन्तु गहना पहना जाता है अतः वह व्यावहारिक सत्य है। भगवान् की सृष्टि में इतना आकर्षण है कि जीव इससे

बाहर नहीं निकल पाता। निष्काम कर्म, सत्सङ्ग, दान आदि से जब मन निर्मल होता है, तो वह भगवान् की तरफ मुड़ता है। संसार से उसे वैराग्य होने लगता है। विवेक जागृत हो जाता है तथा वह धीरे-धीरे अपने को भगवन् के प्रति समर्पित करता जाता है। चूँकि भगवान् दिव्य है और हम मायिक है। इसलिये हमें भगवान् से योग होने के लिये प्रकृति के अङ्ग तीन गुण सत्व-रज-तम के परे जाना आवश्यक हो जाता है। गुणातीत पुरुष भगवान को प्रिय हो जाता है। श्रुति कहती है कि जब भगवान् की अहैतु की कृपा हो जाती है तब

'भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशायः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे।। मु०उ० 2/2/8

उसपर (उत्कृष्ट, सत्य, ईश्वर और अवर (निकृष्ट, मिथ्या, जीव) रूप से भासमान हो रहे ब्रह्म को जान लेने पर इस जीव की हृदय-ग्रन्थि (अविद्या, उत्पन्नकाम तथा कर्म का समुच्चय) टूट जाती है। सम्पूर्ण संशय (सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म आदि के बारे में) नष्ट हो जाते है और उसके सभी कर्म (संचित प्रारब्ध क्रियमाण) क्षीण हो जाते हैं।

ऐसी अवस्था में साधक जिस (परमात्मा) की इच्छा करता है उसे यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है। इसी बात को श्रुति कहती है-

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम्। मु०उ० 3/2/3

परमात्मा जिसका वरण कर लेता है उसे वह प्राप्त हो जाता है तथा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। यह स्थिति प्राप्त कैसे हो? भगवान् कहते है कि जो मुझसे सततयुक्त हैं। निरन्तर मेरा ही चिन्तन करते हैं तथा प्रीतिपूर्वक (किसी अन्य कारण से नहीं) मेरा भजन करते हैं, ऐसे भक्त आत्मानन्द में ही संतुष्ट रहते हैं, अपने स्वरूप में रमण करते हैं, उन्हें किसी वाह्य व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं रहती। वे कुछ पाने हेतु भजन नहीं करते। भजन करना उनका स्वभाव है। ऐसे भक्त को भगवान् 'बुद्धियोग' प्रदान कर देते हैं। 'बुद्धियोग' पाप-पुण्य से छुड़ा देता है। कर्मजन्य फल से मुक्ति प्रदान कर देता है। बुद्धियोग प्राप्तहोनेपर पुरुष का मन परमात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का नाम सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि है तथा ऐसी बुद्धि से युक्त होना'बुद्धि योग' है।

आत्मा के अनन्तस्वरूपपर निदिध्यासन द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना भी 'बुद्धियोग' है। बुद्धियोग प्राप्त व्यक्ति आत्मरुप परेश्वर को आत्मरुप से समझ लेते हैं। अर्थात् वे अपने स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर उसमें स्थित हो जाते हैं। बुद्धियोग की प्राप्ति होने पर पुरुष द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। समता में उसकी स्थिति हो जाती है। समता में स्थित होने का अर्थ है कि उसे प्रत्येक जड़-चेतन में परमात्मा ही दिखायी देता है। उसके लिए परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

इस प्रकार जब भक्त, भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते रहने, प्रीतिपूर्वक उनको भजने, संसार को भूलकर एक मात्र भगवान में रमण करने आदि के कारण, बुद्धियोग में स्थित रहता है, और उसे प्रतिक्षण सृष्टि में होने वाले सर्जन, स्थिति तथा विनाश के पीछे, एकमात्र परमात्मा का दर्शन होता है तो ऐसे बुद्धियोग से भक्त, साधक, भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। उनका भगवान् से तादात्म्य हो जाता है। वे प्रेमस्वरूप हो जाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। गीता 10/11

अपने भक्तों पर अनुग्रह करके, मैं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर उनके अज्ञान को बुद्धिरुप ज्ञानदीप द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

यहाँ भगवान् अपने भक्तों के हृदय में स्थित अज्ञान को उनके अन्तःकरण में स्थित होकर ज्ञान से नष्ट करने की बात कह रहे हैं। इसके पूर्व उन्होंने कहा था कि जो भक्त प्रेमपूर्वक सतत भजन में लगे रहते हैं, जिन्हें मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये-ऐसे भक्तों को मैं प्रेमपूर्वक बुद्धियोग प्रदान कर देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। बुद्धियोग का अर्थ है ऐसी बुद्धि जिससे भक्त केवल भगवान् को ही चाहते हैं। ऐसी बुद्धि से भक्तों में समता आ जाती है। समता आने पर वैराग्य हो जाता है तथा आत्मस्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है। प्रस्तुत बातें साधारण भक्त के सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि ऐसे भक्तों के सम्बन्ध में है जिन्हें मोक्ष तक की कामना नहीं रहती। भक्तियोग की महिमा का वर्णन करते हुए भगवान् ने अपने प्रिय सखा उद्धव से कहा है-

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं।
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।।
न योग सिद्धिरपुनर्भवं वा।
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्।। श्रीमद्भागवत 11/14/14

जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है जो मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का, उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न वह स्वर्ग से श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता।

भक्ति अज्ञान को नष्ट कर देती है। हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। अज्ञान का नाश होने पर हृदय में स्थित ईश्वर प्रकट हो जाता है। हृदय में ज्ञान-प्रेम प्रकट होने पर ईश्वर की उपस्थिति की अनुभूति होती है। भक्ति ज्ञान का साधन भी है। इसके द्वारा ईश्वर कृपा प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप बुद्धियोग प्राप्त हो जाता है। समता आ जाती है, तत्त्वज्ञान हो जाता है। भक्त को कुछ पता भी नही चलता। भक्त की इतनी महिमा है कि भगवान् भक्त को सब कुछ देकर भी अपने को उनका ऋणी ही मानते है। भगवान् ने गोपियों से कहा है-

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां,
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः।
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।। श्रीमद्भागवत 10/32/22

'मेरी प्यारी गोपियों! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नही तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से अनन्तकाल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नही चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से (प्रेम से) मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

ऐसे भक्त के सम्बन्ध में सोचकर भगवान् का हृदय विचलित हो जाता है। वे उसे कुछ देना चाहते है। परन्तु भक्त उनसे कुछ लेना नहीं चाहता। तब भगवान् उसे बुद्धियोग प्रदान करते हैं, ताकि उसे आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाय। उसमें कोई कमी न रह जाय। बुद्धियोग प्रदान करने की प्रक्रिया क्या है? इस हेतु वे उसके अन्तःकरण में स्थित होकर उसके अविवेकजन्य मोहमय अन्धकार को विवेकपूर्ण बुद्धि रूपी प्रकाशमान ज्ञानदीप द्वारा नष्ट कर देते हैं। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। आत्म-स्वरूप की अनुभूति हो जाती है। स्वरुप तो नित्य प्राप्त है। केवल अज्ञान के कारण वह ढका था। अज्ञान का परदा हटते ही वह प्रकट हो जाता है। वह स्वयं प्रकाश है। उसे प्रकाशित नहीं करना है। केवल अज्ञान को दूर करना है। यह ऐसे ही है जैसे किसी कमरे में रखी प्रकाशमान मणि किसी मोटे कपड़े से ढकी हो, जिसका ज्ञान हमको न हो परन्तु जैसे ही कपड़ा हटाया जायेगा, वह मणि स्वयंप्रकाशसे प्रकाशित हो उठेगी।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। (गीता 10/20)

हे निद्राविजयी अर्जुन! सब प्राणियों के हृदय में स्थित अन्तरात्मा में हूँ. मैं ही सब भूतों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ।

प्रस्तुत श्लोक 'विभूति योग' नामक अध्याय का बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक है। इस श्लोक को महर्षि रमण ने ज्ञानयोग का प्रमुख श्लोक माना है। 'विभूति' कहते हैं, चिन्तन करने योग्य पदार्थो के विस्तार को। अर्जुन ने मानव-जाति के प्रतिनिधि के रूप में ईश्वरोन्मुख किसी के मन में उठने वाले प्रश्न को पूछा कि हे योगेश्वर! हे भगवन्! मैं किन-किन वाह्य रूपों भावों- में आप का चिन्तन करूँ? संसार के रण-क्षेत्र, में व्यावहारिक जीवन में मैं किस प्रकार आपको जानूँ? भगवान् की योगशक्ति तथा विभूतियों के बारे में जानने हेतु अर्जुन ने जिज्ञासा प्रकट की। इस पर भगवान् ने अपनी अनन्त विभूतियों की बात कहकर कुछ दिव्य विभूतियों का वर्णन करने हेतु आश्वासन दिया। इसके पश्चात् भगवान् ने कुछ ऐसी विभूतियों का वर्णन किया, जिनमें कुछ विशेष है तथा जो हमें आकर्षित करती हैं। भगवान् ने ऐसे दृष्टान्त दिये, जिनमें दिव्यता की अभिव्यक्ति के साक्षात् दर्शन होते हैं। उन विभूतियों का वर्णन करने के पूर्व उक्त श्लोक में मूलभूत सत्य को बता रहे हैं।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान् की सर्व-व्यापकता का दर्शन होता है तथा उत्तरार्ध में इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा गया है कि सबकी - उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश - (आदि, मध्य तथा अन्त) में भगवान् ही हैं।

भगवान् कहते हैं कि हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन! सब प्राणियों की आत्मा मैं ही हूँ। सबके सोने-जागने के समय मैं ही रहता हूँ। जो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति में रहता है तथा इसके अतिरिक्त भी रहता है, वह आत्मा है। सब प्राणियों का सार-तत्त्व आत्मा है और उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सब प्राणियों की आत्मा भगवान् हैं, इस कथन का भावार्थ यह है कि जब साधक की दृष्टि किसी प्राणी पर जाय, तो उसका ध्यान उसके आत्मा के रूप में स्थित भगवान् पर जाना चाहिये। इसतरह उसे भगवान् का चिन्तन करना चाहिये। यदि साधक का ध्यान सृष्टि पर जाय, तो उसके आदि तथा अन्त में भगवान् ही हैं तथा जब

सृष्टि की उत्पत्ति तथा समाप्ति के समय भगवान् हैं तो उसके बीच में उसकी स्थिति में भी वे ही हैं। इस प्रकार साधक भगवान् का चिन्तन कर सकता है। आत्मा के रूप में ध्यान करने की अपेक्षा किसी की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश के सम्बन्ध में चिन्तन करना सरल है।

साधक के लिये भगवत् प्राप्ति के दो मार्ग हैं। वह अपना ध्यान अभ्यास द्वारा सब ओर से हटाकर अपने इष्ट भगवान् पर केन्द्रित करे या उसका ध्यान जहाँ भी जाय उसमें भगवान् की उपस्थिति की अनुभूति करे। तत्त्वसे सबकुछ परमात्मा ही हैं। उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसी को बताने के लिये विभूतियों का वर्णन किया गया है। चूँकि अर्जुन का प्रश्न यह था कि वह भगवान् का चिन्तन किस रूप में करे इसलिये महत्त्वपूर्ण बात किसी विभूति की महत्ता, सुन्दरता, विशेषता आदि से प्रभावित होने की नहीं है, परन्तु उसमें महत्ता, सुन्दरता आदि भगवान् की है, उनसे ही वह प्रकट हुई है- ऐसा चिन्तन होना चाहिये।

विश्वरूपदर्शनयोग

'विभूतियोग' के अध्याय में यह दिखाया गया कि एक ही परमात्मा सबमें स्थित है, तथा किसी चीज का अस्तित्व परमात्मा के बिना सम्भव नहीं है। भगवान् की विभूतियों का वर्णन सुनकर अर्जुन के मन में उनके विराट रूप को देखने की प्रबल इच्छा हुई तथा इस हेतु उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की। इस अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक परमात्मा में स्थित देखने को कहा परन्तु यह भी बताया कि उनके ईश्वरीय योग को कोई अपने प्राकृत नेत्रों से देखने में समर्थ नहीं हो सकता। इसे भगवान् द्वारा प्रदत्त दिव्यचक्षु के द्वारा ही देखा जा सकता है। इसलिये भगवान् ने अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान किया।

ईश्वर को देखने की दृष्टि वह है जो ईश्वर स्वयं सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रखता है। ईश्वर को उसकी आँखों से देखा जाना है जो सृष्टि की आत्मानुभूति के रूप में है। वहाँ इन्द्रियाँ कार्य करने में असमर्थ हैं। ईश्वर-दृष्टि की अनुभूति स्थान तथा समय से परे है, शाश्वत रूप में है। प्रत्येक चीज यहाँ और अभी है, बाद में या अन्यत्र नहीं हैं। ईश्वर की उपस्थिति न हमारी बुद्धि समझती है और न हमारी भावनायें, बल्कि उसकी अनुभूति आन्तरिक प्रेरणा के ऐसे उद्गार से होती है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक साथ दृष्टिगत होता है, टुकड़े-टुकड़े में नहीं। समय तथा स्थान से सम्बन्धित शरीर-मन यहाँ समाप्त हो जाता है। मन पिघलकर परमतत्त्व में मिल जाता है। ईश्वर ऐसा कल्पनातीत अनन्त दिव्य प्रकाश है जहाँ प्रत्येक चीज अपने मूल स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। किसी का रूप अपने भद्दे, टूटे-फूटे या प्रतिबिम्बित रूप में नहीं रह जाता जैसा इसे हम देखते हैं। भगवान् ने अर्जुन को इसी प्रकार की दृष्टि प्रदान की, जिससे वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक परमात्मा में देख सके।

ऐसी दृष्टि की प्राप्ति धार्मिक रूप से जागरूक होकर तथा आध्यात्मिक रूप से केन्द्रित होकर हमारे प्रयास करने से सम्भव नहीं है। शास्त्रों का अध्ययन या कठिन तप भी इसकी प्राप्ति का आश्वासन नहीं दे सकता; क्योंकि कहीं न कहीं, किसी स्तर पर हम अपने अहं से चिपके रहते हैं। हमारा अहं ईश्वरीय दिव्यता को प्राप्त करने में सबसे बड़ा बाधक है। जबतक रोमांचित करने वाले श्रद्धापूर्ण विस्मय में हमारी स्थिति न हो जाय; जबतक हमारा व्यक्तित्व- अहं परम-आत्मा में पिघल न जाय; जबतक ईश्वर के भाव में डूबकर हम अपने

अस्तित्व को खो न दें तबतक इस दृष्टि की प्राप्ति असम्भव है। इस अहं को समाप्त करने में कर्त्ताभाव बहुत बड़ा बाधक है। इसे समाप्त करने हेतु ही भगवान् ने अर्जुन से कहा कि व्यक्ति का यह भाव कि वह कुछ करता है; भ्रामक है। महाभारत के सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि युद्ध पहले ही घटित हो चुका है। विजय भी पहले ही प्राप्त हो चुकी है। किसी के द्वारा कुछ किया जाना शेष नहीं है। जो कुछ किया जाना है वह अनन्तता के प्रकाश में स्वयं उनके द्वारा किया जा चुका है। अर्जुन को तो केवल निमित्त बनना है। भगवान् का यह कथन अर्जुन के बहाने हम सबके लिये है। सब कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। हम अहङ्कार के वशीभूत होकर अपने को कर्त्ता मान लेते है और जब कर्त्ता हो जाते हैं तो भोक्ता भी होना पड़ता है। इस कारण हम बँध जाते हैं।

अतः इस दिव्य दृष्टि को प्राप्त करने का, ईश्वर-साक्षात्कार का एक मात्र रास्ता सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पण है। ऐसा समर्पण जिसमें हमारा अहं पिघलकर अपना अस्तित्व खो दे, हमारा व्यक्तित्व समाप्त हो जाय, हम अवैयक्तिक हो जायँ, हमें सबमें ईश्वर की उपस्थिति की अनुभूति हो तथा एक परमात्मा में स्थित सबको देखें, उसके अतिरिक्त किसी दूसरे का अस्तित्व न रह जाय। ऐसी स्थिति की प्राप्ति तभी सम्भव होगी जब हमारी खोज केवल ईश्वर की होगी। हम राग-द्वेष से मुक्त होकर, समता में स्थित हो जायेंगे; उसी के उद्देश्य से अपना सब कार्य करेंगे; अपना मन पूर्णरूपेण उसे समर्पित कर देंगे तथा हमारा एकमात्र लक्ष्य परमात्मा ही रह जायेगा।

भगवान् के द्वारा दिव्य दृष्टि पाकर अर्जुन की प्रार्थना का सार यह है कि हमें अपने को ऐसी स्थिति में स्थापित करना है जिसमें हमारा पूर्ण व्यक्तित्व, अविभाज्य आत्मा की भव्यता में केन्द्रित हो जाय। ऐसी स्थिति में हमारी आत्मा, परम-आत्मा के साथ एक हो जाती है। आत्म-चेतना परमतत्त्व में विलीन हो जाती है।

भगवान् ने इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में अपनी प्राप्ति के पाँच उपाय बताये हैं। ये उपाय हैं- ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना, अर्थात् हम जो भी कर्म करें सब ईश्वर को समर्पित करते जायँ। ईश्वर को ही अपना परम लक्ष्य मानना, अर्थात् हम अपने सभी कर्म ईश्वर को लक्ष्य करके करें, उनका स्मरण रखते हुए उनके उद्देश्य से करें। ईश्वर की भक्ति करना। आसक्ति रहित होकर कर्म करना अर्थात् सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर जीवनयापन करना। पाँचवाँ उपाय भूतमात्र के प्रति वैरभाव से रहित होकर अर्थात् सबको आत्मस्वरूप जानकर व्यवहार करना। इन उपायों को करने वाला उन्हें प्राप्त कर लेता है, ऐसा आश्वासन भगवान् ने दिया है।

यद्यपि भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया परन्तु, इस अध्याय का नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' है। इससे स्पष्ट होता है कि विश्व तथा विराट की एकता है। एक ही आत्मा जब व्यष्टि स्थूलदेह को प्राप्त कर जाग्रत अवस्था की घटनाओं का अनुभव करता है तो विश्व तथा जब समष्टि स्थूल देह अर्थात् ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य करता है तो 'विराट' कहलाता है। इस अध्याय का नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' इस कारण रखा गया है कि जब साधक सम्पूर्ण सृष्टि के प्रत्येक चीज को एक परमात्मा में देखने लगता है, उसका अनुभव करने लगता है, तो उसके साथ योग-सम्बन्ध की अनुभूति हो जाती है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। गीता 11/54, 55

भगवान् कहते हैं कि हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं तत्वतः जानने, देखने तथा प्रवेश करने में शक्य हूँ, अर्थात् अनन्य भक्ति के द्वारा मुझे जाना जा सकता है, देखा जा सकता है तथा प्राप्त भी किया जा सकता है।

हे पाण्डव! मेरे लिए कर्म करने वाला, मुझे ही परम लक्ष्य मानने वाला, आसक्ति रहित मेरा भक्त, जो निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

प्रथम श्लोक में भगवान ने अनन्य भक्ति की महिमा बतायी है। श्रीमद्भागवत में भगवान् उद्धव से कहते है-

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।। श्रीमद्भागवत 11/14/20

उद्धव! योगसाधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप पाठ, तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं, जितनी दिनों दिन बढ़ने वाली प्रेमपूर्ण भक्ति।

अनन्य भक्ति का अर्थ है ऐसी भक्ति, भगवान् से ऐसा प्रेम जिसमें एकमात्र सहारा, आशा, विश्वास केवल भगवान् का ही रह जाय, दूसरे किसी का नहीं। इसमें भक्त उन्हें पाने के लिए तड़पता है, उनके प्रेम में अश्रु बहाता है, उनके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। वह अपने को ईश्वर के प्रति इस रूप में समर्पित कर देता है कि उसे अपनी कोई चिन्ता नहीं होती। वह तो केवल ध्येय ईश्वर की ही चिन्ता किया करता है। उसके सभी प्रयत्नों की परिसमाप्ति प्रेम में होती है। यह भक्ति कैसे की जाती है, इसके सम्बन्ध में भागवत में वर्णन है-

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां,
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्।। श्रीमद्भागवत 10/10/38

वाणी से गुणगान, कानों से कथाश्रवण, हाथ से सेवा, मन से भगवत्-चरणों में तल्लीनता, सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का निवास-स्थान समझकर सिर से नमस्कार तथा आँख से आपके प्रत्यक्ष-शरीर रूप सत्पुरुषों का दर्शन निरन्तर होता रहे।

भगवान् को प्राप्त करने के लिए जितने साधन हैं उनमें भक्ति का स्थान सर्वोपरि है। उद्धव से भगवान् कहते हैं-

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ।। श्रीमद्भागवत 11/29/19

मेरी प्राप्ति के सभी साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन है- समस्त प्राणियों और पदार्थों में मन, वाणी तथा शरीर की समस्त वृत्तियों से मेरी ही भावना करना। इस प्रसङ्ग में रावण का वह कथन अवश्य स्मरणीय है, जिसमें कहा गया है कि भक्ति से भगवान् शीघ्र प्रसन्न नहीं होते, अतः विरोध करके उन्हें प्राप्त करूँगा।

"विरोधबद्ध्यैव हरिं प्रयामि द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत्।"

ऐसा अनन्य भक्त भगवान् को तत्व से जान जाता है अर्थात् उसे यह ज्ञान हो जाता है कि-

"वासुदेवः सर्वमिति' गीता 7/19

यह सव वासुदेव ही है, तथा भगवान के निम्न कथन में उसे दृढ़ आस्था हो जाती है-

'मत्तः परतरं नान्यात्किञ्चिदस्ति' गीता 7/7

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है।' तथा 'पतिं पतीनाम्' (श्वे०उ० 6/7)

मैं ही पतियों का पति अर्थात् परमपति हूँ।

अनन्य भक्त को दृढ़ विश्वास हो जाता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आश्रय भगवान् ही हैं। देखने का भाव है कि अनन्य भक्त को सम्पूर्ण जड-चेतन में भगवान् के ही दर्शन होते हैं। 'प्रवेश' का अर्थ है कि वह भगवान् से अभिन्नता का अनुभव करने लगता है। उनकी नित्यलीला में उसका प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर से अनन्यभक्ति-प्रेम हो जाने पर वह शास्त्रों के अध्ययन तथा सद्गुरुओं की वाणी के श्रवण एवं भगवान् की कृपा से वह तत्त्व को जान जाता है। 'मनन' से उसके सभी सन्देह मिट जाते हैं तथा सत्य उसे दिखाई देने लगता है। (निदिध्यासन-ध्यान से एकात्मभाव प्राप्त करता है) यही उसका भगवान् में प्रवेश है।

इसके पूर्व भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि जिस प्रकार उसने उनका दर्शन किया है, उस प्रकार उन्हें देखना वेदों के ज्ञान-द्वारा, तप-द्वारा, दान तथा यज्ञ-द्वारा सम्भव नहीं है और प्रस्तुत श्लोक में बताया कि अर्जुन, इस रुप (विश्वरुप) को देखने में, अनन्य भक्ति के कारण समर्थ हो सका है। सन्दर्भगत द्वितीय श्लोक में भगवान् ने बताया है कि वे कैसे प्राप्त हो सकते हैं? इस श्लोक में मनुष्य के कल्याण को ध्यान में रखकर, कर्तव्य रुप से पाँच बातें बताकर भगवान् ने गीता का सार ही रख दिया है। इन पाँच आवश्यक गुणों में आत्म संयम की सम्पूर्ण साधना का तत्त्व छिपा है। इनमें दो बातों- आसक्ति तथा वैरभाव- का त्याग करने को कहा गया है तथा तीन बातें करणीय बतायी गयी हैं। वे तीन बातें है- ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना, भगवान् पर ही पूरा भरोसा रखना तथा उन्हीं से एक मात्र प्रेम अर्थात् उनके अतिरिक्त किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदि से प्रेम का न होना।

'मत्कर्मकृतः' इस एक शब्द में गीता के कर्मयोग का पूर्ण सार छिपा है। कोई भी काम यदि भगवान् का काम समझ कर किया जायेगा तो उसमें नीरसता नहीं रहेगी। करते हुए प्रसन्नता का अनुभव होगा। कर्ता के लिए यह काम उसकी पूजा बन जायेगा। कर्म करने में भाव की ही प्रधानता है। एक सन्त को रास्ते में पत्थर तोड़ते हुए तीन व्यक्ति मिले। पूछने पर एक ने कहा कि भाग्य खराब थी तो दिन भर उसे पत्थर तोड़ना पड़ता है। दूसरे ने कहा

कि वह परिवार का भरण-पोषण करने हेतु मजदूरी करता है। तीसरे व्यक्ति ने कहा कि मैं भगवान् के लिए पत्थर तोड़ रहा हूँ। ये पत्थर किसी मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे के निर्माण में काम आयेंगे, और इस प्रकार मैं भगवान् की पूजा कर रहा हूँ। काम एक ही है परन्तु भाव बदल जाने से एक रो रहा है, एक समय बिता रहा है और एक आनन्द का अनुभव कर रहा है। अतः किसी कार्य को भगवान् का कार्य समझकर करने वाला आनन्दित हो सकता है। भगवान् किसी कार्य को करते हुए उनको ध्यान में रखने तथा उन्हीं का कार्य समझते हुए करने को कहते हैं।

मत्परमो भवः इस शब्द में ज्ञानयोग का भाव भरा है। भगवान् पर पूरा भरोसा वही रख सकता है, जो समझता है कि नाम-रुपात्मक विविध रुपों से भरे संसार के पीछे एक भगवान् ही कार्य कर रहे हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। कृष्ण परायणता आने पर उसे सर्वत्र कृष्ण-दर्शन ही होता है। सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म कृष्णभाव ही ज्ञानी का विश्वरुप-दर्शन है। अतः भगवान् के लिए कर्म करना है तथा उन्हीं पर पूरा भरोसा रखना है।

मद्भक्तः तीसरी करने योग्य बात भक्ति है। भक्ति साधारण नहीं, अनन्य भक्ति।

शास्त्र कहते हैं- 'भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते।'

भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान कदापि सम्भव नहीं। इसलिये 'सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिं आश्रय' सभी उपायों को छोड़कर भक्ति का सहारा ग्रहण करना चाहिये। अतः हमें अन्दर से रिक्त होकर भगवान् की पूर्ण शरणागति ग्रहण करनी चाहिये।

भक्ति के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य जी कहते हैं कि 'सभी मोक्ष-साधनों में भक्ति ही श्रेष्ठ है। अपने आत्मस्वरूप का बार-बार स्मरण ऊँची भक्ति है। 'अहंभाव को आत्म स्वरुप में प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न' अर्थात् ईश्वर से 'एकात्म भाव की स्थापना का प्रयास' भक्ति है। सर्वदा आत्मभाव में स्थित रहना तथा आवश्यकता पड़ने पर, व्यवहार-हेतु शरीर, मन, बुद्धि का प्रयोग करना तथा पुनः आत्मस्वरुप में स्थित हो जाना-यह भक्ति तथा ज्ञान की पराकाष्ठा है।

सङ्गवर्जितः आसक्ति से बचने का सरल उपाय है- धीरे-धीरे व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदि में जो हमारी आसक्ति है उसे कम करते जाना तथा भगवान् में अपनी आसक्ति को बढ़ाते जाना। जैसे-जैसे हम भगवान् में प्रेम बढ़ाते जायेंगे, संसार छूटता जायेगा। यदि हम निरन्तर भगवान् का ही स्मरण-चिन्तन करेंगे, प्रत्येक कर्म को उनका ही कर्म समझते हुए करेंगे तो संसार से स्वतः हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा और हम एकमात्र उनसे जुड़ जायेंगे।

निर्वैरः सर्वभूतेषुः वैरभाव पराये से होता है। जिसे हम अपना समझते हैं, उससे वैरभाव नहीं होता। जब भक्त सबमें कृष्णदर्शन ही करने लगता है, सबको आत्मस्वरुप ही समझने लगता है, तो वैर किससे करेगा। आत्मभाव का विस्तार तभी सम्भव है, जब अहङ्कार गल जाय। जैसे-जैसे अहङ्कार घटता है व्यक्ति निर्वैर होता जाता है।

उपर्युक्त पाँचो लक्षणों के प्रकट होने पर कृष्ण के अन्दर हमारा प्रवेश सम्भव है। जब तक हमारा अहङ्कार पूरी तरह पिघल नहीं जाता, (जैसे अर्जुन का अहङ्कार विश्वरुप दर्शन के पश्चात पिघल गया), तबतक हमें आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती अर्थात् भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते।

इस प्रकार साधक की यात्रा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करते हुए प्रारम्भ होती है। तत्पश्चात् ईश्वर ही उसके जीवन का परम लक्ष्य बन जाता है। परिणाम स्वरूप ईश्वर के प्रति परमप्रेम हो जायेगा। जब ईश्वर के प्रति अनन्यभक्ति हो जायेगी, तो संसार से आसक्ति अपने आप छूट जायेगी और साधक सबमें अपनी आत्मा का दर्शन करने लगेगा। ऐसा होने पर किसी से वैर-भाव कैसे रह सकता है?

अन्त में भगवान् कहते हैं कि 'यः स मामेति पाण्डवः' उपर्युक्त पाँचों लक्षणों वाला मेरे पास आ जाता है। वह मुझे जान जाता है। वह संसार से मुक्त हो जाता है। तीनों बातें 'एति' शब्द में छिपी है।

अतः वैर-भाव, राग-द्वेष, आसक्ति हम छोड़ दें, तथा भगवान से प्रेम करें, उन्हीं का भरोसा करें और भगवान् की ही सेवा करें- अर्थात् इन तीन बातों को भगवान् से जोड़ लें, तो वे प्राप्त ही हैं- ऐसा समझना चाहिये।

भक्तियोग

विभूतियोग में भगवान् ने अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हुए यह बताया है कि एक ही आत्मा का अस्तित्व सभी व्यष्टि उपाधियों में विद्यमान है। भगवान् के इस वर्णन से अर्जुन के मन में यह उत्सुकता हुई कि जब एक ही आत्मा सबमें विद्यमान है तो उस एकमें मैं सबको देखूँ। इस हेतु उनकी प्रार्थना पर अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर भगवान् ने उसे अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराया तथा अन्त में यह भी बताया कि उस परमतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग पूर्ण समर्पण के साथ अनन्य भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनन्यभक्ति के द्वारा उस परमतत्व को देखा जा सकता है; जाना जा सकता है, तथा उसमें प्रवेश किया जा सकता है। इस पर अर्जुन की यह महत्त्वाकांक्षा हुई कि वह भक्ति के द्वारा आत्मा को पूर्णतया जानकर स्वयं आत्मस्वरूप बन जायँ। अर्जुन यह जानते थे कि पारमार्थिकसत्य नाम और रूप से रहित है तथा वह इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के परे है, परन्तु भगवान् की कृपा से अर्जुन ने स्वयं ही श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का अनुभव किया इसलिये उन्होंने अपने मन में उठे स्वाभाविक प्रश्न को भगवान् के समक्ष रखा कि शक्ति के अव्यक्त स्वरूप का ध्यान करना श्रेष्ठ है या भगवान् के द्वारा दिखाये गये व्यक्त रूप का। दूसरे शब्दों में उसने पूछा कि सगुण उपासना, जिसमें भक्त अपने इष्ट का सतत स्मरण करते हुए, आन्तरिक या बाह्य आँखों से निरन्तर देखते हुए, उसके प्रेम में डूबा रहता है या निर्गुण उपासना, जिसमें भक्त आत्मसंयम रखते हुए स्वावलम्वी होता है, सब भूतों के हित में लगा रहता है, समाज की निष्काम सेवा करते हुए मस्त रहता है- इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? अर्जुन की शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा- यद्यपि दोनों ही मार्ग उसी लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, परन्तु साधना की दृष्टि से भक्तिमार्ग सरल है।

भक्तिमार्ग में भक्त स्वयं को इष्ट के समक्ष विनम्रतापूर्वक पूर्ण समर्पण कर निश्चिन्त रहता है, जबकि निर्गुणोपासना में ज्ञान के द्वारा कठिन प्रयास द्वारा, स्वयं को परमतत्त्व के स्तर तक उठाने का प्रयास करता है। उसका प्रयास व्यक्तित्व का ईश्वरत्व के साथ योग कराना, दूसरे शब्दों में आत्मा का परम-आत्मा से मिलन कराने हेतु होता है। अतः भगवान्

का निर्णय है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना से सगुण ब्रह्म की उपासना निरापद तथा सहज है।

भगवान् का आदेश है कि 'अपने मन तथा बुद्धि को मुझे समर्पित कर दो, तो मुझे निश्चित ही प्राप्त कर लोगे। अतः भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य रखने वाले को अपना शरीर संसार की सेवा में लगाना चाहिये तथा किसी परिस्थिति में रहकर जीवनयापन करते हुए मन से ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिये। भक्तिमार्ग में सबसे उत्तम आध्यात्मिक साधना यह है कि हम सदैव ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करते रहें; उसके प्रति जाग्रत रहें तथा उसके प्रेम-भाव में अपने को इस प्रकार डुबा दें कि मन में अन्य विचार को स्थान न मिले। यदि यह सम्भव नही हो पा रहा है तो प्रतिदिन कम से कम कुछ समय ध्यान में बैठने का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने में असमर्थ रहने वालों को भजन-कीर्तन, ईश्वर के किसी नाम का उच्चारण यथा सम्भव करना चाहिये। यदि हम कर्मयोगी हैं तथा साधना के तीन साधनों-शरीर मन, बुद्धि जो क्रमशः कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का साधन है, में हम शरीर को प्रमुखता देते हैं तो अपने कर्म को ही हम पूजा के रूप में करें। पूजा का एक प्रकार फूलों द्वारा है तथा एक प्रकार सत्कर्मों द्वारा। यहाँ यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि हम कर्त्ता न बन जायँ। अपने को भगवान् के हाथ का खिलौना समझकर अपने को निमित्तमात्र समझते हुए कर्म करें तथा कर्म के फल को ईश्वर को समर्पित कर दें; क्योंकि किसी कार्य का परिणाम कई बातों पर निर्भर करता है, जिसपर हमारा नियन्त्रण नहीं है।

अन्त में भगवान् ने कहा है कि ऐसा भक्त मुझे प्रिय है जो अहन्ता-ममता से रहित हो; जिसमें उद्विग्नता का अभाव हो; जो प्राणिमात्र के प्रति मित्रता तथा करुणा का भाव रखता हो; अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में तथा मान-अपमान में समभाव रखने वाला हो; कर्मों के आरम्भ का त्यागी हो तथा निरन्तर सन्तुष्ट रहने वाला हो। भागवतधर्म को अपनी जीवन पद्धति अपनाकर भगवान् को प्रसन्न करने में लगे रहना ही इस अध्याय का सार है।

इस अध्याय में केवल भक्ति की चर्चा की गयी है, जहाँ ज्ञान की चर्चा है, वहाँ भी भक्ति की, किसी रूप में ज्ञान से श्रेष्ठता बताने हेतु की गयी है। यहाँ भक्ति को ही भगवान् से 'योग' कराने का हेतु बताया गया है। अतः अध्याय का नाम 'भक्तियोग' है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। गीता 12/15

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जिससे किसी व्यक्ति या जीव को उद्वेग प्राप्त नहीं होता, जिसको स्वयं किसी अन्य से उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय तथा अन्य किसी कारण होने वाले उद्वेग से रहित है, वह मुझे प्रिय है।

प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि किसी साधक को किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिए। इसलिये यह साधकों के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस श्लोक में भगवान् ने तीन बार 'उद्वेग' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे इसकी महत्ता प्रकट होती है। अर्थात् भगवान् के प्रिय भक्त को इस प्रकार रहना चाहिए कि उसके किसी बात, व्यवहार से किसी को उद्वेग न हो; वह स्वयं इतना सहनशील, शान्त हो कि किसी के वैरभाव, कटुवचन, व्यवहार आदि से उसे किसी प्रकार की उद्विग्नता न होने पाये तथा अन्य किसी कारण-जैसे

साधक के सिद्धान्त, उद्देश्य के विपरीत कोई कार्य या परिणाम हो जाय या भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदा आ-जाय तो भी उसके मन में हलचल न हो।

मन का शान्त स्थिति में न रह जाना तथा उसमें हलचल हो जाना 'उद्वेग' कहलाता है। किस प्रकार के साधक, भक्त से किसी को उद्वेग नहीं प्राप्त होगा? जब व्यक्ति किसी को पराया नहीं समझेगा; सबमें उसकी भगवद्-दृष्टि रहेगी; वह इस भावना से ओत-प्रोत रहेगा कि-

'वासुदेवः सर्वमिति' गीता 7/19

यह सब वासुदेव ही है। तब किसी से वह ऐसा व्यवहार कैसे करेगा, जिससे किसी को उद्विग्नता पैदा हो। ऐसा साधक सोचता है कि सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् चला रहे हैं, उसे किसी विशेष कार्य हेतु भगवान् ने उसे निमित्त बनाया है। उसे अपना कर्त्तव्य पूरा करना है, उसे अपने व्यवहार, बात से किसी को उत्तेजित करने का कर्त्तव्य अधिकार नहीं है।

ऐसा साधक, भक्त सोचता है कि यह संसार भगवान् के द्वारा रची गयी एक लीला मात्र है और वह उसका साक्षी है। जो भी उसके अनुकूल-प्रतिकूल घटित होता है, उसे वह बिना प्रभावित हुए साक्षीभाव से देखता रहता है। उसे ज्ञान हो जाता है कि सभी कर्म प्रकृति जन्य गुणों के कार्य हैं। वह अछूता है। अतः किसी के दुर्व्यवहार या कटु वचन आदि से वह उद्विग्न नहीं होता। उसे यह भी दृढ़ विश्वास रहता है कि कुछ लोग पूर्व जन्म के बुरे संस्कारों के कारण अनायास ही सन्तों से भी वैर-भाव रखते हैं। नीतिशतक में राजा भर्तृहरि ने कहा है-

मृगमीन सज्जनानां तृणजलसन्तोष विहित वृत्तिनाम्। नी०श०
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।।

हरिण, मछली और सज्जन पुरुष क्रमशः तृण, जल और सन्तोष पर जीवन-निर्वाह करते हैं, परन्तु व्याध, मछुआरे और दुष्टलोग अकारण ही इनसे बैर किया करते हैं।

अतः ऐसे साधक किसी के कटुवचन या दुर्व्यवहार से उद्विग्न नहीं होते। इसके अतिरिक्त किसी अनचाही परिस्थिति के आजानेपर अथवा ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर जो उनके सिद्धान्त, इच्छाओं के विपरीत हो, तो भी वे उद्विग्न नहीं होते।

उद्विग्नता की इन तीन परिस्थितियों के अतिरिक्त ऐसे साधक अनुकूल परिस्थिति आ जाने पर या किसी कामना की पूर्ति हो जाने पर हर्षोन्मत नही हो जाते अर्थात् वे अनुकूल परिस्थिति में हर्ष का, प्रतिकूल परिस्थिति में शोक का अनुभव नहीं करते। वे समता में स्थित रहते हैं। प्रिय वस्तु की प्राप्ति से, किसी कामना की पूर्ति होने पर, किसी श्रद्धेय गुरु या अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के मिलने पर, अन्तकरण में जो उल्लास होता है- उसे हर्ष कहते हैं। रोमाञ्च हो जाना, अश्रुपात होने लगना आदि इसके लक्षण हैं।

ऐसे साधक ईर्ष्यारूपी दुर्गुण से ऊपर उठ चुके हैं। ईर्ष्या जिसके प्रति की जाती है, उसका अहित नहीं करती। बहुत बार तो उसे पता भी नहीं होता कि कोई उससे ईर्ष्या कर रहा है, परन्तु जो ईर्ष्या करता है, उसका वह बहुत अहित करती है। ऐसा व्यक्ति अकारण अपने मन को सन्ताप देता रहता है और कष्ट भोगता है। ईर्ष्या इतना बड़ा दोष है कि श्रीमद्भागवत महापुराण सुनने का अधिकारी ईर्ष्यालु व्यक्ति को नहीं माना जाता।

भविष्य में अनिष्ट की आशङ्का तथा प्राप्त वस्तु के खो जाने का विचार भय उत्पन्न करता है। जीवन जितना सादा होगा, कामनाएँ कम होंगी, विशेष वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से आसक्ति कम होगी, उतना ड़ी भय भी कम होगा। जब साधक, भक्त को पूर्ण भरोसा होगा कि भगवान् द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का पालन-पोषण हो रहा है, उसे भगवान् द्वारा कही गयी बात

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। गीता 9/22

'उन नित्ययुक्त पुरुषों का योग क्षेम मैं वहन करता हूँ,'– पर साधक की पूर्ण विश्वास रहता है। अतः वह निश्चिन्त रहता है। उसे भय का कोई बाहरी कारण दिखाई नहीं देता। मौत का भय, आन्तरिक भय है परन्तु भक्त को यह ज्ञान रहता है कि वह शरीर नहीं है। शरीर का जन्म हुआ है और शरीर की ही मृत्यु होनी है। वस्तुतः पुरुष तो अजन्मा, अविनाशी, नित्यमुक्त आत्मा है अतः उसे मृत्यु का भी भय नहीं होता। वह तो किसी क्षण आने वाली मृत्यु का स्वागत करने हेतु तैयार रहता है। अतः वह मृत्यु-भय से पूर्णरूप से मुक्त है।

अतः भगवान् को ऐसा भक्त जो हर्ष, अमर्ष-असहिष्णुता, भय तथा किसी प्रकार के उद्वेग से सर्वथा मुक्त है, बहुत ही प्रिय है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

यहाँ क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का ज्ञान तथा उसे दृढ़ करने के साधन एवं ज्ञेय के बारे में मुख्य रूप से बताया गया है। यहाँ भगवान् ने बताया है कि परमपुरुष ही इस देह में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर तथा परमात्मा कहा जाता है। जो मनुष्य गुणों सहित प्रकृति तथा इस पुरुष को जान कर व्यवहार करता हुआ जीवनयापन करता है वह पुनर्जन्म से मुक्ति पा जाता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं इनके द्वारा अनुभव किया जाने वाला संसार 'क्षेत्र' कहलाता है। इसे प्रकृति, विषय, दृश्य, पदार्थ आदि के नाम से भी जानते हैं। यह चेतनारहित, क्षण-क्षण बदलने वाला विनाशशील, विकारयुक्त तथा बन्धन में डालने वाला है। इस क्षेत्र को प्रकाशित करने वाला चैतन्यस्वरूप परमात्मा इन्द्रियादि उपाधियों की दृष्टि से 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् क्षेत्र को जानने वाला कहा जाता है। आत्मा का क्षेत्रज्ञत्व स्वाभाविक नहीं है। जब वह क्षेत्र को प्रकाशित करता है तभी उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह चेतन, अविनाशी विकाररहित, अपरिणामी तथा सच्चिदानन्द घनस्वरूप है। यह सम्पूर्ण प्राणियों में विभक्त सा रहता हुआ भी, विभाग रहित है। नष्ट होते हुए प्राणियों में अविनाशी होकर रहता है। वह स्वयं इन्द्रियों से रहित है, परन्तु उन्हें प्रकाशित करता है। गुणों से रहित होने पर भी, भोक्ता है तथा बिना किसी आसक्ति के सबका पालन करता है।

यहाँ दार्शनिक विषय, द्रष्टा तथा दृश्य, विषयी तथा विषय, चैतन्य तथा पदार्थ या पुरुष तथा प्रकृति के बीच के सम्बन्ध के बारे में बताया गया है। पुरुष सब जीवों की आत्मा है और अवतार के रूप में श्रीकृष्ण स्वयं का तादात्म्य इस आत्मा से करते हैं। जो कुछ जानने में आता है उसे क्षेत्र तथा जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ स्वयं ईश्वर हैं। हमारे शरीर

के अन्दर स्थित आत्मा हमारे शरीर तक सीमित नहीं है। यह सभी शरीरों में समान रूप से वर्तमान है। वही हममें तथा सभी में कर्त्ता के रूप में है। वही वैश्विक कर्त्ता है।

ज्ञान से तात्पर्य ऐसे अन्तःकरण से है जो आत्मज्ञान के लिये आवश्यक गुणों से सम्पन्न हो। चूँकि शुद्ध अन्तःकरण के विना आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं है, अतः भगवान् इस हेतु वीस गुणों के पालन का आदेश देते हैं। ईश्वर-साक्षात्कार की अभिलाषा, उसकी तरफ चलने की प्रवृत्ति ज्ञान हैं। परमज्ञान इस दृढ़ धारणा में है कि सब कुछ ईश्वर ही है, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस विचार के अतिरिक्त यदि हम किसी अन्य निर्णय पर पहुँचते है तो यह हमारी अज्ञानावस्था है। गीता के अनुसार ज्ञान का विषय केवल परमतत्व है। कोई असत्य चीज ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। इसलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा कि –'मैं तुम्हें परमलक्ष्य, जो ज्ञान का विषय है, के बारे में बताऊँगा।'

अनुभवगम्य सभी प्रकार की वस्तुओं की नश्वरता तथा क्षणभङ्गुरता का अनुभव उत्तरोत्तर होते जाना, बाह्य परिस्थितियों से मन को धीरे-धीरे समेटते जाना, सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे कार्यरत शाश्वत परमतत्व के अस्तित्व के प्रति आश्वस्त होते जाना, ईश्वर-भक्ति का दृढ़ होते जाना, यह सब ज्ञान के अन्तर्गत आता है। हमारा प्रत्येक व्यवहार, कर्म या विचार जो हमें ईश्वर की तरफ ले जाय; उसके पूर्णत्व या सर्वस्व होने की ओर इंङ्गित करे-उसे ज्ञान कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अज्ञान है।

स्वयं को पूजनीय न मानना; अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन न करने का स्वभाव; शरीर, मनवाणी से किसी को कष्ट न पहुँचाना; सहनशक्ति; व्यवहार में कुटिलता रहित होना; गुरु की शारीरिक सेवा के साथ उसके ज्ञान को आत्मसात करना; अन्तः-बाह्य शुद्धि; दृढ़ निश्चय और लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एकनिष्ठ प्रयत्न; आत्मसंयम-जगत् के साथ व्यवहार करते समय इन्द्रियों तथा मन पर संयम होना; इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य; अहङ्कार रहित होना; जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था- व्याधि और दुःख में दोष दर्शन; पुत्र, पत्नी, गृह आदि में आसक्ति तथा पुत्र, पत्नी मे तादात्मय का अभाव; संयम अर्थात् मन-बुद्धि को नियन्त्रित करना; इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में समान भाव; अनन्य भावपूर्वक भक्ति; एकान्त में रहने का स्वभाव; असंस्कृत लोगों की भीड़ से अरुचि; अध्यात्म ज्ञान में स्थिरता; आत्मा-परमात्मा के तत्त्वानुसंधान में निमग्न रहना, इन वीस गुणों को ही 'ज्ञान' कहा गया है।

यह आत्मा ही ज्ञेय है जो एकमात्र 'जानने योग्य वस्तु' है। परमज्ञान का यह विषय 'समय' तथा 'स्थान' से परे है। भूत, भविष्य, वर्तमान की बात इसके सम्बन्ध में लागू नहीं होती; क्योंकि यह अनादि तथा अनन्त है। चूँकि यह सबको व्याप्त किये हुए है, यह स्थान की सीमा से परे है। इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा के हाथ, पैर, सिर, आँखें तथा कान प्रत्येक स्थान पर हैं। वह किसी स्थान पर स्थित प्रत्येक वस्तु को प्रत्येक समय जानता है। इसमें अनेक प्रतीयमान विरोधी बातें एक साथ ही होती हैं। यह सत् तथा असत्, पास तथा दूर, आसक्ति एवं गुण-रहित होते हुए भी सबका भोक्ता तथा भर्त्ता, चर तथा अचर एक साथ, अन्तः तथा बाह्य स्थित, अविभक्त होते हुए भी विभक्त सा प्रतीत होने वाला, उत्पत्तिकर्ता तथा संहारकर्त्ता है। वह ज्योतियों की ज्योति है। वह ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता तीनों है। वह ब्रह्म, ज्ञान-चैतन्य स्वरुप है। ब्रह्म ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। जन्म-मृत्यु से छुटकारा उसके

ज्ञान से ही सम्भव है। वह ब्रह्म ज्ञानगम्य है; क्योंकि उपरोक्त वर्णित सदाचार तथा नैतिक नियमों के पालन से शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है।

परमात्मतत्त्व ही जानने योग्य है। तत्त्वतः उसे जान लेने पर जानने वाले की परमात्मा से अभिन्नता हो जाती है। इस हेतु पूरे मन से हम स्वधर्माचरण करते रहें तथा उस कर्म के फल को भगवान् को अर्पित करते हुए, चित्तशुद्धि करते रहें। चित्तशुद्धि ही कर्म की आत्मा है। उसका फल तो कर्म का शरीर है। अतः हमें कर्मफल रूपी शरीर को छोड़कर उसकी आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। विवेक जाग्रत कर, आत्म-अनात्म पर विचार निरन्तर करते रहना चाहिये। यदि हम नैतिक जीवनयापन करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन ईमानदारी से करते रहेंगे, मन के मैल को धोते रहेंगे एवं साथ ही ईश्वर से प्रार्थना करते रहेंगे, तो हमारी देह में स्थित अनुमन्ता के रूप में स्थित परमात्मा हमारा भर्त्ता हो जायेगा अर्थात् सब तरह हमारा सहायक हो जायेगा। इसके बाद कर्म का फल उसे अर्पित कर देने पर वह भोक्ता हो जायेगा तथा परमेश्वर-परमात्मा के रूपमें स्थित रहेगा।

इस अध्याय में एक ही महत्त्वपूर्ण बात को प्रकृति तथा पुरुष के रूप में, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रूप में बताया गया है। भगवान् ने यह भी बताया कि क्षेत्रज्ञ को जानने के लिये हमारे अन्दर एक विशेष योग्यता होनी चाहिये, जो उनके द्वारा बताये गये, बीस सदाचार तथा नैतिक नियमों के पालन करने से प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त ज्ञान क्या है तथा एकमात्र जानने योग्य क्या है? इस पर भगवान् ने प्रकाश डाला। यदि हमारे अन्दर क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग समझने का विवेक हो जाय; यदि हम भगवान् द्वारा बताये गये बीस गुणों का पालन कर, क्षेत्रज्ञ को ठीक से जानने में समर्थ हो जायँ, तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से तथा उसका अनुभव करने से हमारा योग-सम्बन्ध परमात्मा से हो जायेगा। इसीलिये इस अध्याय का नाम 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (गीता 13/22)

परमपुरुष ही इस शरीर में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता महेश्वर तथा स्वरूप से परमात्मा कहा जाता है। यह देह में रहता हुआ भी देह से परे है अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीर से सम्बन्ध रहित है।

भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्य के अनुसार पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ तथा भोक्ता पर्यायवाची शब्द है। ये परमात्मा के औपाधिक रूप को बताने वाले हैं, निरुपाधिक स्वरूप को नहीं बताते। एक ही परमात्मा शरीर में स्थित होकर, इन्द्रियादि से भी पास होने के कारण स्वयं कोई क्रिया न करता हुआ, मात्र देखने वाला होने के कारण 'उपद्रष्टा' कहलाता है। यज्ञ-कर्मों को निकट से देखने वाले पुरोहित की भाँति शरीरस्थ सभी घटनाओं का अनुभव करने वाला होने के कारण भी यह उपद्रष्टा है अथवा मन-बुद्धि, चक्षु आदि द्रष्टाओं की अपेक्षा अन्तर्द्रष्टा होने के कारण उपद्रष्टा है। यह आत्मा सभी शुभाशुभ कर्मों का समीपस्थ साक्षी है। कर्मों को करने में लगी हुई इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की क्रियाओं में सन्तोषरूप अनुमोदन करने का नाम 'अनुमनन' है। उसको करने वाले को 'अनुमन्ता' कहते हैं। अनुमन्ता कार्य करण की प्रवृत्ति

में स्वयं प्रवृत्त न होकर भी प्रवृत्त होता हुआ सा दिखता है। बुद्धि आदि की प्रवृत्ति निवृत्ति को जानने वाला होने के कारण भी वह अनुमन्ता कहलाता है।

अपनी माया से अपने में ही व्यक्त-अव्यक्त समस्त अध्यस्थ जीवों को सत्ता-स्फूर्ति देने के कारण भर्त्ता है। अपने को भरण पोषण करने वाला मानने के कारण वह भर्त्ता है। यह व्यष्टि शरीर के साथ तादात्म्य करके अन्न-जल आदि के द्वारा शरीर का भरण-पोषण करता है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से उसकी रक्षा करता है। अतः इसका नाम भर्त्ता है। समस्त विषयों में सुख-दुःख, मोह रुपी बुद्धि में जितनी प्रतीतियाँ मालूम पड़ती हैं वे सब आत्मा द्वारा ग्रस्त सी दीखती हैं, अतः आत्मा को भोक्ता कहते हैं।

यह शरीरस्थ पुरुष अनुकूल परिस्थितियों में अपने को सुखी मानता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में दुःखी मानता हैं। अतः इसे भोक्ता कहते हैं। जीवरुपसे सभी भोगों को भोगने वाला होने के कारण भी इसे भोक्ता की संज्ञा दी गयी है।

यह अपने को शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, सम्पत्ति आदि का मालिक मानता है अतः इसे 'महेश्वर' कहते हैं। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के कारण तथा सबका आत्मा होने के कारण यह महान् है। अतः महेश्वर कहा जाता है। श्रुति कहती है-

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वे0 उ0 6/7)

म्हान् से महान्, व्रह्मा-शङ्करादि का भी ईश्वर होने के कारण महेश्वर है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। (गीता 13/27)

जो विनाशशील समस्त प्राणियों में (शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा) अविनाशी परमेश्वर को समभाव से देखता है, उसी का देखना सही अर्थ में देखना है।

सम्पूर्ण सृष्टि जड-चेतन के संयोग से वनी है। विविध रङ्ग-रुप-आकार के पदार्थ हम देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि सभी पदार्थों का आदि-अन्त है तथा अपनी स्थिति काल में भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। इन सभी पदार्थों को व्याप्त किये हुये एक तत्त्व है जो हमें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता है। यह तत्त्व अनादि-अनन्त, अपरिवर्तनशील, एक समान रहने वाला, सभी परिवर्तन शील पदार्थों का अधिष्ठान-आधार- तथा अति सूक्ष्म है। इन्हीं दोनों प्रकारों को भगवान् ने इस अध्याय में 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' नाम से कहा है। भगवान् ने शरीर को 'क्षेत्र' कहा है। शरीर उसे कहते हैं जो यह-यह के रुप में भासता है। हर समय बदलता रहता है। फटता रहता है। यह शरीर भोगायतन है। सभी प्रकार के सुख-दुःख शरीर में रहकर ही भोगने होते हैं, यद्यपि इससे कर्म तथा धर्म भी किये जाते हैं। हमें याद रखना चाहिये कि यह हमारा स्थायी निवास नहीं है। अतिथि की भाँति रहने के लिये यह हमें मिला है। क्षेत्र को जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यद्यपि अलग-अलग शरीर में क्षेत्रज्ञ भिन्न प्रतीत होता है परन्तु क्षेत्रज्ञ एक ही है। परमात्मा ही क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र के सन्दर्भ के कारण इसे क्षेत्रज्ञ की संज्ञा दी गयी है। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की अवस्था में, अनेक योनियों में प्राप्त ऊँच-नीच गति में, परिवर्तनशील प्राणियों में परमात्मा एक रूप रहते हैं। काल-स्थान का उन पर कोई प्रभाव नहीं है। सभी प्राणी विषम हैं। सभी विषमताओं का आधार समता है। अपरिवर्तनशील

वस्तु के सापेक्ष ही परिवर्तन प्रतीत होता है। गतिशील पदार्थ की गति का वर्णन किसी स्थायी आधार के ही सापेक्ष होता है।

क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाला करोड़ों जन्मों में भी जन्म-मरण के चक्कर से नही छूट सकता। क्षेत्रज्ञ से सम्बन्ध रखना, मुक्ति का हेतु है। व्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सबमें, जिसकी दृष्टि इनकी प्रतिक्षण विनाशशीलता पर जाती है तथा सबमें केवल परमेश्वर ही जिसे दिखायी देता है- ऐसी अनुभूति जिसे होती है, वहीं सम्यक्-द्रष्टा है। वही ज्ञानी है। ऐसे व्यक्ति का देखना ही सार्थक है। शेष की दृष्टि विपरीत है। वह सही नही देखता, उसका देखना दृष्दिदोष को प्राप्त व्यक्ति के देखने जैसा है, जिसे आकाश में एक के स्थान पर कई चाँद दिखाई देते हैं। जिसकी दृष्टि नाना विकारी भूषणों में सोना पर, जल की तरङ्गों में जल पर, सभी प्रकार के मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी पर तथा इसी प्रकार सभी नाशवान भूतों में अविनाशी निर्विकार परमात्मा पर है, अर्थात् जिसने आत्म-रूप से सबका साक्षात्कार किया है, वही समदर्शी तथा मुक्तपुरुष है। ऐसे सम्यकदर्शी पुरुष के लिये परमात्म-सत्ता ही जगतरूप से प्रतीत होती है। उसे परमेश्वर के अधिष्ठन पर ही जगत् की सम्पूर्ण क्रीडा लीला, दुःखपूर्ण-संसार की प्रतीति होती है।

> यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
> सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। (गीता 13/32)

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण किसी प्रकार के सम्बन्ध से परे है वैसे ही आत्मा शरीर में सर्वत्र स्थित रहता हुआ भी उसके गुण-दोष से परे है।

इस श्लोक में भगवान् ने वताया है कि आत्मा जो सव काल में, सव स्थान पर, सभी देह में स्थित है, अर्थात् सवको व्याप्त किये हुये है, कैसे लिप्त नहीं होता। इराका कारण सूक्ष्मता है। इसे स्पष्ट करने के लिये आकाश का दृष्यन्त दिया गया है।

आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई है। वायु रो अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की। इस प्रकार वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी, आकाश के कार्य हैं। आकाश इन सवका कारण है। कारण कार्य से सूक्ष्म होता है। आकाश अपने सभी चार कार्यो को व्याप्त किये हुए है। पश्थ्वी जल को, जल अग्नि को, अग्नि वायु को तथा वायु आकाश को व्याप्त नही कर सकता। इसके अतिरिक्त चारों सीमित हैं। सान्त हैं, परन्तु आकाश असीम है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के गुणों-विकारों यथा गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श से आकाश प्रभावित नहीं होता। आकाश सवको अन्तःवाह्यरूप से व्याप्त किये हुये है, परन्तु किसी से वह लिप्त नहीं होता। सवसे अछूता रहता है।

आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म है। वह आकाश को व्याप्त किये हुए है। अतः आत्मा सर्वगत होते हुए भी सवसे निर्लिप्त है। आकाश, गाय, मनुष्य, देवता आदि के शरीर को अन्दर वाहर व्याप्त करके रहता हुआ भी गाय के दूधदेनेकी, मनुष्य के विचार करने की तथा देवों के भोगवाली सामर्थ्य को प्रभावित नही करता। वह सवसे परे है। इसी प्रकार आत्मा सवको व्याप्त करके भी निर्लिप्त रहता है। वह आकाश के समान ही किसी से लिप्त नहीं होता।

यहाँ भगवान् ने आत्मा के लिप्त न होने की बात कहकर भोक्तृत्व के त्याग पर जोर दिया है। किसी कार्य को करने के पूर्व कर्म के उद्देश्य तथा फल पर कर्त्ता का ध्यान जाता है। भोक्तृत्त्व का त्याग होने पर कर्तृव्य का त्याग तो स्वतः हो जाता है। फलेच्छारहित कर्म करने पर कर्तृत्व का भाव नहीं रह जाता।

यह अन्तर्यामी सूक्ष्मरुप आत्मा उपद्रष्य, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता तथा महेश्वर आदि लक्षणों से युक्त होता हुआ सबसे श्रेष्ठ होने के कारण परमात्मा कहा जाता है। यद्यपि यह देह में स्थित रहता है परन्तु देहाभिमान से पूर्णरुपेण मुक्त है और प्रकृति से परे भी है।

यद्यपि शरीर-प्राण-अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की सभी क्रियाएँ आत्मा के प्रकाश में ही सम्पन्न होती हैं और वह इन्द्रियादि के समीप स्थित भी है फिर भी वह साक्षी रूप से ही स्थित रहता है, उसका किसी क्रिया से कुछ लेना देना नहीं है। जव पुरुष का झुकाव ईश्वर की तरफ होता है, उस समय उसकी जो साधना प्रारम्भ होती है तो वह कार्यो के करने की अनुमति देने लगता है। ऐसी स्थिति में वह अनुमत्ता हो जाता है। साधक को उसकी स्वीकृति का अनुभव होने लगता है। जव साधना और आगे वढ़ती है और वह अपने को उसके करीब अनुभव करने लगता है तो वह भर्त्ता हो जाता है। उसका परिपोषण करने लगता है। साधक के योग-क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा) का भार वह अपने ऊपर ले लेता है। ऐसी अवस्था में वह साधक पुरुष के यज्ञ स्वरूप, कर्मो, तपों आदि को स्वीकार करता है और इस प्रकार वह भोक्ता बन जाता है। उसके उपर की उसकी अवस्था महेश्वर की है। वह महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। प्रकृति उसके वश में हो जाती है। आगे की अन्तिम अवस्था में वह परम से संयुक्त हो जाता है, इस दशा में वह प्रकृति से सर्वथा परे रहता है तथा परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा द्रष्य, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर की स्थिति को प्राप्त कर परम के साथ संयुक्त होकर परमात्मा के स्वरूप में होता है।

इस श्लोक में एक ही परमात्म-तत्व को उपद्रष्य, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर तथा परमात्मसंज्ञक भिन्न-भिन्न उपाधियों से सम्बोधित किया गया है। साधक की साधना के स्तर के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है।

जव तक देह स्थित आत्मा का विचार व्यक्ति को नहीं आता तव तक आत्मा उपद्रष्य कहलाता है। वह सवसे समीप का द्रष्य है।

जब पग-पग पर जीव उचित-अनुचित का विचार करने लगता है तव उसकी नैतिक भूमिका प्रारम्भ होती है और ईश्वर अनुमन्ता हो जाता है अर्थात् हृदय में स्थित ईश्वर जीव को कार्य करने की अनुमति देने लगता है।

नैतिक जीवन में कार्य करते हुए जव जीव मन या चित्त के मलों को धोने का अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध करने का प्रयत्न करने लगता है तथा स्थूल-सूक्ष्म मलों को धोने में अपने को असमर्थ पाकर प्रभु से प्रार्थना करने लगता है तो उस समय प्रभु भर्त्ता के रूप में कार्य करते हैं।

जब हम कार्यों को करते हुए उनका फल ईश्वर को अर्पित करते जाते है या ईश्वरार्पण बुद्धि से कार्य करते हैं तव प्रभु भर्त्ता हो जाते हैं। अन्त में हमें सभी संकल्प भी छोड़ देने हैं। उसकी शरण में होकर निःसंकल्प हो जाना है। संकल्पकर्ता भी परमेश्वर को ही जाने दें। इस प्रकार विकास करते-करते हमारा सम्पूर्ण जीवन परमेश्वर-मय हो जाता है। साधक को इसी स्थिति में पहुँचना है। यही हमारा चरम लक्ष्य है।

हमें यह ध्यान रखना है कि यद्यपि पुरुष शरीर में रहता है परन्तु इसका सम्बन्ध इससे नहीं है। इसका सम्वन्ध समष्टि प्रकृति के साथ भी नहीं है। पुरुष से गलती यह होती है कि इसका सम्वन्ध शरीर के साथ होने के कारण, यह अपने को कर्ता-भोक्ता मान लेता है जबकि वह न कर्ता है और न भोक्ता है। यह पुरुष शरीर में रहते हुए भी न कुछ करता है और न किसी कर्म से लिप्त होता है।

गुणत्रयविभागयोग

तेरहवें अध्याय में, प्रकृति और पुरुष का वर्णन, अर्थात् जड़ और चेतनतत्त्व का वर्णन किया गया है। इसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है। समष्टि वासनाओं, विचारों, भावनाओं एवं कर्मो के संघटित रुप को प्रकृति कहते हैं, जो त्रिगुणात्मिका है, और यह तीन गुणों-सत्व, रज, तम-से कार्य सञ्चालन करती रहती है। जड पदार्थ को चेतनता प्रदान करने वाला तत्त्व आत्मा है जो सर्वव्यापी और नित्य चैतन्यस्वरूप है। जिस प्रकार एक ही जल विभिन्न आकारों एवं वर्णो की बोतलों में रखा जाने के कारण विभिन्न आकार तथा रंगों वाला प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा विभिन्न उपाधियों में, विभिन्न जीवों के रूप में प्रकट होता है। किसी के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जव चैतन्यस्वरुप आत्मा एक ही है तथा प्रकृति के तत्व भी समान हैं, तो जगत् में इतनी विभिन्नताएँ क्यो हैं? इसका कारण प्रकृति के वे तीन गुण हैं जिनके विभिन्न अनुपात में होने के कारण विभिन्नता दिखाई देती है। 'गुण' शब्द का अर्थ उस भाव से है जिसके प्रभाव में मन कार्य करता है।

इस अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों-सत्व, रज, तम तथा वे किस प्रकार कार्य करते हैं, एवं मनुष्य के अन्तःकरण को प्रभावित करते है, का वर्णन किया गया है। इन त्रिगुणों के ज्ञान को भगवान् ने परमउत्तम ज्ञान कहा है; क्योंकि हम इस ज्ञान के अभाव में अपने आन्तरिक दोषों को सुधार नहीं पायेंगे। इसलिये साधक को इन गुणों के दुष्प्रभाव तथा इनसे छूटने के उपाय को जानकर पुरुषार्थ करना चाहिये और अपने परमलक्ष्य को प्राप्त करना चाहिये।

गुण का संस्कृत में अर्थ 'रस्सी' भी होता है। जैसे रस्सी बाँधने का कार्य करती है, ऐसे ही जवतक इन गुणों से संग है, जवतक इनके द्वारा हम प्रभावित हैं, तबतक जीवभाव को प्राप्त कर हम जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि द्वन्दों में फँसे रहेंगे तथा संसार के आवागमन के चक्कर से मुक्त नहीं हो पायेंगे। इसलिये हमारा लक्ष्य गुणातीत होने का है।

इन गुणों के लक्षण इस प्रकार है- जड़ता, आलस्य, निद्रा, प्रमाद आदि तमस् के गुण हैं। तामसिक व्यक्ति में आलस्य, निद्रा, भोजन की अधिकता रहेगी। उसकी सोच, उसके विचार सही नहीं होंगे। वह विस्मरण के रोग से ग्रस्त रहेगा, अर्थात् उसकी स्मरणशक्ति क्षीण रहेगी। अन्तःकरण में विवेक का अभाव, कर्म करने में रुचि का न होना तथा मोह से प्रभावित रहना इसके लक्षणों में है। वाह्य आकर्षण, क्रियाशीलता, बुद्धि में स्थायित्व न होना,

रजस् के गुण हैं। राजसिक व्यक्ति में उद्विग्नता, कामुकता, इच्छाओं की प्रचुरता, इधर-उधर भाग दौड़ की प्रवृत्ति, स्वयं में सदा अशान्त रहना तथा कुछ समय के लिए भी आराम की स्थिति में न हो पाना आदि प्रभाव का गुण रहेगा। पूर्ण सन्तुलन, सामंजस्य, स्थिरता, प्रकाश, सुबोध आदि सत्त्वगुण के लक्षण हैं। सात्त्विक व्यक्ति में ज्ञान होगा, उसका व्यवहार शान्त एवं मधुर होगा, उसके निर्णय, विवेकपूर्ण होंगे तथा धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता में वह रुचि लेगा।

प्रकृति अव्यक्त है। वह इन्हीं गुणों के माध्यम से कार्य करती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चाहे उसका वाह्यरूप लें या आन्तरिक, प्रकृति के इन्हीं गुणों से बना है। ये गुण साम्यावस्था में कभी नहीं रहते। रथ के पहिये के आरे की भाँति ऊपर-नीचे होते रहते हैं। कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी इन गुणों से अलग नहीं रह सकता, यद्यपि किसी गुण की प्रधानता किसी समय होती है तथा दूसरे समय दूसरे गुण की।

मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि शरीरत्याग के समय उस व्यक्ति में किस गुण की प्रधानता है। सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति स्वर्ग या अन्य उच्चलोक में जाता है। रजोगुण की स्थिति में शरीर छोड़ने वाला व्यक्ति भौतिक जगत् में, कर्मक्षेत्रमें नया शरीर धारण करेगा। तमोगुण में स्थित मनुष्य निम्न क्षेत्रों में जायेगा, अर्थात् पशु, पक्षी, कीटादि तथा वृक्षादि के रूप में शरीर धारण करेगा।

आवागमन से मुक्ति पाने हेतु हमारी आत्मा की यात्रा परमतत्त्व की ओर होना है। इस हेतु हमें शारीरिक श्रम द्वारा तमस् को तोड़कर रजस् में स्थित होना होगा। पुनः, पूजा, जप, ध्यान, निष्कामकर्म आदि द्वारा रजस् को ढीला कर अधिक से अधिक सत्त्व में स्थित रहने का प्रयत्न करना पड़ेगा। प्रमाद से मुक्ति पाने हेतु एक-एक क्षण का हिसाब रखना होगा। फल की आशा छोड़कर अपनी पूरी शक्ति स्वधर्म के पालन में लगाने से रजोगुण की भाग-दौड़ वाली वृत्ति कम होती जायेगी। सत्त्वगुण पर विजय का अर्थ किसी प्रकार के अभिमान तथा आसक्ति से मुक्ति पाना है। अच्छे कार्यों को बार-बार करके इसे अपनी दिनचर्या बना लेने से अभिमान मरता है, तथा सत्त्वगुण से प्राप्त फल को ईश्वर को अर्पित कर देने से आसक्ति समाप्त होती है। इन तीन गुणों की परीक्षा करके इनके प्रति सतत जाग्रत रहकर तथा इनसे मुक्त होने के उपायों को अपनाकर ही हम देह को देही से अलग करने में सफल हो सकते हैं। इसके लिये गुणातीत होना पड़ेगा। गुणातीत होने के लिये या तो हम इस ज्ञान में स्थित हों कि सभी क्रियाएं गुणों के द्वारा गुणों में ही हो रही हैं, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है या अनन्यभक्ति का आश्रय ग्रहण करें। भगवान् अनन्यभक्ति से हनें गुणों से मुक्त कर देगें। गुणातीत होने पर हम निश्चित ही परमात्मा में प्रवेश के अधिकारी हो जायेंगे।

इस अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व-रज-तम तथा वे किस प्रकार हमें बाँधते हैं, के बारे में बताया गया है। यदि हम इन गणों को ठीक से जानकर, तमोगुण को तोड़कर रजोगुण में, रजोगुण पर विजय प्राप्त कर अधिकतम समय सत्त्वगुण में स्थित रहें तथा अहङ्कार रहित होकर सत्त्वगुण से भी मुक्त होकर, गुणातीत हो सकें, तो हमारा योग भगवान् से हो जायेगा। इसी कारण इस अध्याय का नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रखा गया है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ट्याश्मकांचनः।
तुल्यप्रियोप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्ररिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। गीता 14/24-25

जो स्वस्थ धीर (बुद्धिमान्) पुरुष सुख-दुःख में सम रहता है, मिट्टी (ढ़ेला), पत्थर- स्वर्ण में समदृष्टि रखता है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा, आत्म-स्तुति को तुल्य समझता है तथा जो मान-अपमान में भी सम है जिसके लिए शत्रु-मित्र में कोई अन्तर नहीं तथा जो सभी आरम्भों का त्यागी है, उसे गुणातीत कहा जाता है।

इस अध्याय के यद्यपि देही, अविनाशी, शुद्ध मुक्त हैं, परन्तु प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व-रज-तम गुण उसे देह से बाँध देते हैं। जब ज्ञान होने पर साधक गुणों को कर्ता मानता है, अपने को गुणों से परे समझता है तब वह अपने स्वरुप को प्राप्त करता है। अर्थात् कर्म-बन्धन से मुक्ति तथा अपने स्वरुप में स्थिति प्राप्त करने के लिए उसे गुणातीत होना आवश्यक है। साधक धीरे-धीरे साधना करता हुआ तमोगुण को रजोगुण से रजोगुण को सत्त्वगुण से क्षीण करता हुआ शुद्ध सत्त्वगुण में रहते हुए गुणातीत होता है। प्रस्तुत श्लोकों में अर्जुन के पूछने पर भगवान गुणातीत पुरुष के आचरण के सम्बन्ध में बताते हैं-

गुणातीत पुरुष स्वस्थ तथा धीर होता है। ऐसा पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है। स्वरूपस्थिति में सुख-दुःख नहीं होता। अतः वह इनका भोक्ता नहीं होता। वह धैर्यवान् होता है, क्योंकि उसे सत्य, परमात्म तत्त्व सार वस्तु की तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति तथा उसके कार्यो की पहचान हो जाती है। सुख दुःख वृत्तियों पर निर्भर है। अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर सुख तथा प्रतिकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर दुःख होता है-

अनुकूलवेदनीयम् सुखम् प्रतिकुलवेदिनीयम् दुःखम्।

ऐसा पुरुष मानता है कि परिस्थितियाँ प्रारब्ध कर्म के अनुसार प्राप्त होती रहती हैं तथा ये अनित्य है-आने-जाने वाली है। अतः वह इनमें समभाव रखता है। इनसे प्रभावित नहीं होता।

उसकी दृष्टि पत्थर-मिट्टी के ढेले तथा स्वर्ण में बराबर होती है। ऐसा नहीं है कि उसे इनका ज्ञान नहीं होता। उसे पूर्ण ज्ञान रहता है तथा वह तदनुसार व्यवहार भी करता है परन्तु उसकी दृष्टि में किसी के प्रति न राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष (विकर्षण)।

उसके लिए कोई अधिक प्रिय तथा कोई कम प्रिय नहीं होता। कृत कर्मो के कारण प्राप्त फल में अर्थात् उनकी सिद्धि-असिद्धि में वह राय रहता है।

निन्दा तथा स्तुति का प्रभाव अहंकार के कारण होता है। गुणातीत पुरुष को अहंकार के आते ही अपने स्वरूप की स्मृति हो जाती है और परमात्मतत्व, अपनी स्वरुपस्थिति की स्मृति होते ही अहंकार नष्ट हो जाता है। अहंकार के नष्ट होने पर निन्दा और स्तुति का कोई अर्थ नहीं रह जाता। वह व्यक्ति निन्दा और (आत्म) संस्तुति में सम रहता है।

संसारी व्यक्ति सम्मान के प्राप्त होने पर सुखी होता है तथा अपमानित होने पर दुःखी होता है। देहाभिमानी के लिए मान-अपमान यथार्थ प्रतीत होते है। यदि देहाभिमान चला जाय

ऐसे व्यक्ति के लिए मान-अपमान का कोई महत्व नहीं रह जाता। वह दोनों में समभाव से अवस्थित रहता है। श्रुति भी कहती है –

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्दस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥

साधु पुरुषों से पूजित- मान के प्राप्त होने पर तथा दुष्ट जनों से तिरस्कृत-अपमानित होने पर भी जो हर्ष-विषाद से शून्य तथा सदा सम भाव से रहता है, वह जीवन्मुक्त ही है। गुणातीत पुरुष समझता है कि मान-अपमान तो बुद्धि के धर्म हैं तथा ये समय-समस पर तथा अलग-अलग स्थानों पर बदलते रहते हैं, अतः उनके लिए सम्मान तथा अपमान में कोई भेद-भाव नहीं रहता। वे इनमें तुल्य रहते है।

'मेद्यति मेद्यते वा इति मित्रम्' जो स्नेह करता है, द्रवित होता हैं (मक्खन लगाता, खिलाता है) अर्थात् जिससे आत्मीयता का लाभ होता है, उसे मित्र कहते हैं। जो कुछ नहीं देता, द्वेष करता है, वह अरि कहलाता है। ज्ञानी पुरुष सबको आत्म स्वरूप समझता है, अतः उसके लिए कोई मित्र-शत्रु नहीं होता। जैसे हम अपने सभी अङ्गों का बराबर ध्यान रखते हैं, कोई भेद-भाव किसी के साथ नहीं करते, वैसे ही आत्मैकत्व-प्राप्त व्यक्ति की किसी से शत्रुता या मित्रता नहीं होती, जो लोग किसी कारण वश उससे शत्रुता-मित्रता का भाव रखते हैं, उनके साथ भी वह सम रहता है।

भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार दृश्य-अदृश्य फल की प्राप्ति- हेतु किए जाने वाले कर्म को आरम्भ कहते हैं। ऐसे समस्त कर्मों के त्याग का स्वभाव जिसका है, अर्थात् जो पुरुष शरीर धारण के लिए आवश्यक कर्मों के अतिरिक्त सभी कर्मों का त्याग करने वाला है, उसे गुणातीत कहते हैं। ऐसा पुरुष बड़े-बड़े यज्ञ, उत्सव, संकल्पपूर्ण किये गये कार्यों में स्वार्थ मानता है। उसकी यह भी मान्यता रहती है कि ऐसे किये गये सभी कार्य दोषों से मुक्त नहीं रह सकते। जैसे अग्नि के साथ धुआँ भी रहता ही है। वह किसी कार्य में आसानी से हाँ नहीं कहता, क्योंकि वह जानता है कि एक बार हाँ कर देने पर बाद में किसी कारण नहीं कहने पर वह दुःख का कारण बन जाता है। हाँ करना दुःखों का मूल है, न ही करना छुटकारा है, ऐसी उसकी मान्यता रहती है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में विधी को स्वीकार कर लेना और निषेध को छोड़ देना ही उचित है इस प्रकार देहयात्रा के अतिरिक्त जो सर्व-कर्म परित्यागी है अर्थात् दृश्य-अदृश्य फलों को देने वाले जितने भी लौकिक या वैदिक कर्म हैं उन सब कर्मों का जो त्यागी है उसे गुणातीत कहते है। इसका यह भाव कदापि नहीं है, कि त्रिगुणातीत पुरुष निष्क्रिय हो जाता है कुछ करता ही नहीं, केवल अन्तर इतना होता है कि उसे कर्मों में कर्तापन का अभिमान नहीं रहता और उसके कर्मों में किसी फल की आकांक्षा नहीं होती। वह सदा ईश्वर का स्मरण करते हुए लोककल्याणार्थ कर्म अपने को निमित्त मात्र मानकर करता रहता है तथा उन कर्मों को भगवान को ही समर्पित कर देता है।

श्री शंकराचार्य का कहना है कि मुमुक्षु साधक को इन गुणों को धारण करना चाहिए। ज्ञान में निष्ठा प्राप्त कर लेने पर ये गुण उसके स्वभाव में आ जाते है। अतः वह सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान इन आठ परस्पर विरोधी परिस्थितियों तथा भावों की प्राप्ति पर भी स्वाभाविक रुप से सम रहता है। उसकी शान्ति कभी प्रभावित नहीं होती।

पुरुषोत्तमयोग

यहाँ प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की तुलना अश्वत्थ-पीपल के वृक्ष से की गयी है। विष्णु का भी एक नाम है-अश्वत्थ। अश्वत्थ (अ+श्व+त्थ) का अर्थ है जो नहीं, कल, (उसी स्थिति में) रहने वाला है। इस शब्द से संसार की क्षणभङ्गुरता की ओर इङ्गित किया गया है। वृक्ष की उपमा इसलिये दी गयी है; क्योंकि वृक्ष की तरह संसाररुपी वृक्ष को भी काटा जा सकता है। यह ऐसा वृक्ष है, जिसका मूल (जड़ें) ऊपर (परमात्मा) में है। शाखायें ऊपर-नीचे, (देवता, मनुष्य, पशु आदि योनियों में) फैली हुई है। ये सत्त्व, रज, तम गुणों से पोषित हो रही है। विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इस संसार वृक्ष के अङ्कुर हैं। इस संसार वृक्ष की मूल जड़ तो संसार का अधिष्ठान होने के कारण परमात्मा है, किन्तु इसकी अन्य जड़े भी हैं। जीव की वासनायें ही इस वृक्ष की अन्य जड़े हैं, जो उसे कर्मों हेतु प्रेरित करती रहती है। ये जड़ें नीचे (संसार में) फैली हुई हैं। यद्यपि इस संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप बताया गया है, वैसा देखने में नहीं लगता, क्योंकि इसका न आदि है और न अन्त। यह संसार-वृक्ष अनासक्तिरूपी शस्त्र से काटा जा सकता है। संसार वृक्ष को काटने का अर्थ है-इसकी संरचना को समझना तथा अपने अन्दर के अहङ्कार की जड़ को काटना। संसार वृक्ष आसक्ति से बढ़ता है, तथा अनासक्ति से सूखने लगता है। संसार का अस्तित्व हमारे अहङ्कार के कारण है जो इच्छाओं के पूर्ण करते रहने से हरा भरा रहता है। कामनारहित हो जाने पर संसार सागर भी सूख जाता हैं। भगवान् के द्वारा निर्मित सृष्टि को हम कुछ नहीं कर सकते, परन्तु जो सृष्टि अपने स्वजनों, सम्बन्धियों, मित्रों, पति-पत्नी-पुत्रादि तथा अन्यों में अहंता, ममता, स्वार्थ, कामना आदि के द्वारा हमने बनाई है, उसको हम अनासक्ति के शस्त्र से काट सकते हैं। अपने द्वारा निर्मित सृष्टि से निर्लिप्त होकर हम भगवान् की सृष्टि का आनन्द लेते हुए जीवनयापन कर सकते है। अतः हमें चित्तशुद्धि करके, आत्म-अनात्म विवेक को जागृत कर, परमात्मा की शरण ग्रहण कर, अपने आत्मस्वरूप से एकत्व का अनुभव करने वाले को संसार में पुनः नहीं लौटना पड़ता। उस अव्यय पद से प्राप्त करने की योग्यता की कसौटी, मान तथा मोह से रहित होना, अनासक्त होना, सतत आत्मानुसन्धान करते रहना, कामनाओं की पूर्णतः निवृत्ति हो जाना, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से प्रभावित न होना हैं।

परमतत्त्व को यहाँ पुरुषोत्तम कहा गया है। परमपुरुष भी वही है। इसे पूर्ण तथा सबसे महान् या उत्तम होने के कारण 'परमपुरुष' की संज्ञा दी गयी है। परमपुरुष क्षर प्रकृति (प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त होने वाली प्रकृति) तथा अक्षर अविनाशी जीवात्मा से उत्तम है। यह परमपुरुष दोनों को अपने में समेटे हुए सबको अपने में व्याप्त किये हुए है, जो चेतना के रूप में परिलक्षित होता है।

वेद वाक्य हैं- जो कुछ भी था या होगा, कहीं भी, किसी भी परिस्थिति, में वह केवल परमपुरुष है। इसके अन्तर्गत सभी (क्षर एवं अक्षर) पुरुष वैसे ही मिल जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में। परमतत्त्व के अन्दर द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं, केवल एक सामुद्रिक अनुभव है जिसे पृथक नहीं किया जा सकता। इस संसार में सबसे श्रेष्ठ और इस संसार के मूल आधार परमात्मा को जो संसार सहित जान जाता है, वह मनुष्य सर्ववित् हो जाता है। वह कृतकृत्य हो जाता है। उसे करने लायक कुछ करने को बाकी नहीं रह जाता। लोक एवं वेद में

पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध वह परमतत्त्व ऐसा अद्वितीय है, जिसके चैतन्य के प्रकाश में संसार के सभी प्राणी प्रकाशित होकर अपना सभी कार्य कर रहे हैं, उसी से सबका अस्तित्व है। वह सबको ओत-प्रोत किये हुए है।

चैतन्यस्वरूप परमपुरुष ही हमारी इन्द्रियों, मन की भावनाओं तथा बुद्धि के विचारों को प्रकाशित करता है, जिसे सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाले चन्द्रमा तथा अग्नि में उसी परमपुरुष का तेज कार्य कर रहा है। वही सर्वप्रकाशक चैतन्य के प्रकाश के रूप में पृथ्वी की उर्वराशक्ति के रूप में, समस्त प्राणियों में स्थित वैश्वानर अग्नि के रूप में, तथा सबके हृदय में स्थित आत्मा के रूप में विद्यमान है। केवल परमपुरुष ही पारमार्थिक सत्य है। दृश्य-द्रष्टा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जड-चेतन या क्षर-अक्षर पुरुष उपाधियों से युक्त उसी के रूप हैं, उससे अलग नहीं हैं। उपाधियों के अभाव में उत्तमपुरुष नित्य शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाला है। स्वयं को जानना तथा उससे परमात्मस्वरूप से ऐक्य स्थापित करना ही वास्तविक बोध है।

अन्त में भगवान् ने यहाँ भगवत्तत्व के बारे में दिये गये ज्ञान को गुह्यतम कहा, क्योंकि यह अर्जुन जैसे निष्पाप व्यक्ति की ही समझ में आ सकता है। अशुद्ध चित्तवाले, अहङ्कारी तथा ऐसी भावना, विचार रखकर कर्म करने वाले जिन्हें बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता हो, इस ज्ञान को आत्मसात नहीं कर सकते। भगवान् द्वारा दिये गये ज्ञान का बोध करके कोई बुद्धिमान् कृतकृत्य हो सकता है।

अतः हमें क्षर प्रकृति, अक्षर जीवात्मा से उत्तम, सबके धारक तथा पोषक, सेव्य परमात्मा तथा कभी न थकने वाले, सेवा हेतु सदातत्पर सेवक के रूप में क्षर प्रकृति की नित नयी-नयी सामग्री से सेवा करनी चाहिये, जिससे हमारी प्रत्येक क्रिया पुरुषोत्तम की सेवा हो जाय। हमारा जीवन ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के सामञ्जस्य से चले। जीवनप्रवाह का प्रत्येक कर्म, ज्ञान तथा भक्ति से ओत-प्रोत हो। यही पुरुषोत्तमयोग है।

इस अध्याय के अन्त में भगवान् ने इसे 'गुह्यतम्शास्त्र' कहा है। शास्त्र किसी विषय का निरूपण करते समय किसी की प्रशंसा करता है तथा कुछ निर्देश देता है। यहाँ भगवान् की प्रशंसा यह बताकर की गयी है कि वे किस प्रकार सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं तथा उसका सञ्चालन कर रहे है। उस पुरुषोत्तम को जानकर ज्ञान द्वारा वही हो जाने का या भक्ति द्वारा प्रत्येक समय, प्रत्येक में उसी को देखते हुये उसकी शरण में जाने का निर्देश दिया गया है। इस अध्याय में ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों का निरूपण है। गीता के मुख्य विषय का सार इस अध्याय में विद्यमान है। इसलिये यह अध्याय ही एक शास्त्र है। इस अध्याय के अन्तिम श्लोक के प्रारम्भ में 'इति' शब्द का प्रयोग भी यही दर्शाता है। पुरुषोत्तम से योग हेतु सभी बातें पूर्णरूप से यहाँ बतायी गयी है। अतः इस अध्याय का नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। (गीता 15/5)

जिनका मान और मोह निरस्त हो गया है, जिन्होंने सङ्ग दोष को जीत लिया है, परमात्मा के स्वरूप में जिनकी निरन्तर स्थिति है, जिनकी कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हैं, जो सुख-दुःख आदि द्वन्दों से विमुक्त हो गये हैं। ऐसे ज्ञानीजन अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक के पूर्व भगवान् ने संसार की तुलना अश्वत्थ (जो कल को टिकने वाला न हो) वृक्ष से की हैं तथा कहा है कि इस संसार रूपी वृक्ष को असङ्ग अर्थात् वैराग्य रूपी शास्त्र से काट देना चाहिए तथा इसके मूल परमात्मा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लौकेषणा आदि से उपराम का हो जाना असङ्ग कहलाता है। निरन्तर अभ्यास द्वारा सभी प्रकार की एषणाओं से मुक्त होकर पूर्ण वैराग्य प्राप्त कर लेने पर संसार से सम्बन्ध आसत्ति भाव अपने आप कट जाता है। उसके बाद साधक को परम पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन गुणों से युक्त साधक उस परम पद को प्राप्त करते हैं, उसका वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। जैसे सांसारिक जीवन में भी किसी लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु कुछ विशिष्ट गुण चाहिए, वैसे ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु भी साधक को जिन गुणो से सम्पन्न होना आवश्यक है उनका निर्देश यहाँ किया गया है। शरीर को मैं मानने से अहङ्कार का भाव परिलक्षित होता है तथा मेरेपन की भावना से ममत्व होता है। स्वयं को बड़ा, पूजनीय मानने से अहङ्कार दृढ़ होता है और अविवेक के कारण अर्थात् किसी वस्तु या विषय के यथार्थज्ञान के अभाव में मोह होता है। आसक्ति बाहर से आती है। संसार में आसक्ति जितनी ही अधिक रहेगी उतनी ही अधिक ममता, वासना, स्पृहा, आशा रहेगी। जब साधक भगवान् के शरणागत हो जायेगा तो संसार से उसका प्रेम नहीं रह जायेगा। उसका आकर्षण भगवान् में होता जायेगा। उसकी अहंता नष्ठ हो जायेगी। ऐसे साधक को मान प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहेगी अपने शरीर, रूप, गुण, धन, पद, जाति, कुटुम्ब आदि का अभिमान उसे नहीं रहेगा। यतः उसे सत्य को समझने का विवेक हो जायेगा। इस कारण उसे मोह नहीं रह जायेगा।

सङ्ग-दोष के कारण व्यक्ति वस्तु परिस्थिति, व्यक्ति का दास बन जाता है तथा दुःख पाता है। ऐसा व्यक्ति देह से तादात्म्य कर, इन्द्रियोपयोग को ही अपना लक्ष्य बना लेता है, परन्तु कुछ ही समय में परिस्थिति बदल जाती है, उसका सुख चला जाता है, क्योंकि संसार प्रतिक्षण बदल रहा है। कुछ भी स्थायी नहीं है। अतः उसे दुःख का अनुभव होने लगता है। आसक्ति के सम्बन्ध में श्रीमदभागवत में कहा है-

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो हार्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः।। भागवत 3/32/27

सम्पूर्ण संसार में आसक्ति का अभाव हो जाना ही सब प्रकार की योग साधना का एक मात्र अभीष्ट फल है। अतः साधक को सङ्ग-दोष से मुक्त होना आवश्यक है।

अध्यात्मनित्या – मन का स्वभाव विविध संकल्प करने का है- सङ्कल्पात्मकं मनः एक क्षण के लिए भी वह शून्य में नहीं रह सकता। इस को अच्छी तरह जानने के कारण साधक अपने मन को सदा भगवान में लगाये रहता है। वह या तो निर्गुण तत्व का चिन्तन करता है या सगुण साकार रूप से नाम, गुण, लीला आदि के चिन्तन में डूबा रहता है।

विनिवृत्त कामाः – जब तक किसी प्रकार की कामना है, तब तक मन शान्त नहीं रह सकता। मन कामनावियुक्त तभी हो सकता है, जब वह संसार के मिथ्यात्व को पूरी तरह समझ ले अर्थात् पुरुष को संसार से पूर्ण वैराग्य हो जाय तथा वह परमात्मा को ही एकमात्र सत्य समझ कर आन्तरिक तथा बाह्य अन्य सभी कामनाओं का त्याग कर दें। परमपद की प्राप्ति-हेतु साधक का सभी कामनाओं से निरस्त होना आवश्यक है।

द्वन्द्वों से मुक्ति – मुख्य रूप से आन्तरिक तीन द्वन्द्व हैं। पाप-पुण्य का द्वन्द्व। स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञादि तथा अन्य पुण्य कर्म करना तथा पाप से बचने के लिए प्रयत्न करते रहना। राग-द्वेष का द्वन्द्व। अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से राग तथा प्रतिकूल से द्वेष। तीसरा द्वन्द्व सुख-दुःख का है। सांसारिक जीवन में तो सुख-दुःख रहता ही है। यह मरने के वाद भी पीछा नहीं छोड़ता। स्वर्ग में सुख तथा नरक मे दुख। साधक को ईश्वर-प्राप्ति-हेतु सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होना आवश्यक है। द्वन्द्वों से मुक्ति हेतु हमें यह समझना आवश्यक है कि ये सभी अन्तःकरण में होते हैं, हमारे स्वरूप में नहीं। अन्तःकरण जड़ है। स्वरूप तो स्वयं प्रकाश है। अन्तःकरण से सम्बन्ध केवल मान्यता के कारण है।

स्वरूप के स्मरण तथा अहं वशित्व के त्याग से पाप-पुण्य से मुक्ति, समता के अभ्यास से राग-द्वेष से छुटकारा सम्भव है। दुःख से निवृत्ति यदि हम भगवान् की याद करके तथा उन्हीं के विधान को मानकर करते हैं तो यह हमारी भक्तिनिष्ठा है। यदि ध्यान-समाप्ति की मदद से करते हैं तो यह योगनिष्ठा है। यदि संसार के मिथ्यात्व को सोचकर करते हैं तो यह विवेक निष्ठा है और यदि हम अपने स्वरूप में स्थित होकर करते हैं तो यह स्वरूपनिष्ठा है। सुख आने पर इसकी अनित्यता का ध्यान रखना और हर्षित न होना आवश्यक है।

जो सही रास्ता भूल जाय या कहीं पर अटक जाय, उसे मूढ कहते हैं। संसार जैसा दिखाई देता है, उसे वैसा ही सत्य मान लेना मूढ़ता है। निर्गुण तत्व को जानने वाला तथा सगुण साकार को दृढ़तापूर्वक मानने वाला अमूढ (मोहरहित) होता है। उपर्युक्त गुणों से युक्त ऐसे सम्मूढ साधक-भक्त-ज्ञानी अविनाशी पद प्राप्त कर लेते हैं, जिसे प्राप्त कर पुनः संसार में नहीं आना पड़ता। अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक से वे छूट जाते हैं।

दैवासुरसम्पद्विभागयोग

पूर्व के अध्याय में भगवत्तत्व-ज्ञान के बारे में भगवान् ने बताया कि किस प्रकार एक ही 'सर्वज्ञ' पुरुषोत्तम, चैतन्यस्वरूप से तीनों कालो में सभी प्राणियों के अन्तःकरण तथा समस्त घटनाओं का प्रकाशक है। यहाँ दिये गये 'गुह्यतम ज्ञान' का बोध हो जाने पर ज्ञानी शरीर के दुःखों, मन के विक्षेपों तथा बुद्धिजनित अशान्ति से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। ऐसे ज्ञानी-भक्त का पुरुषोत्तम के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तथा उसे 'सर्ववित्' कहा गया है।

प्रायः देखा जाता है कि ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त हुए भक्त या ज्ञानी के जीवन में पूर्व से ही कुछ गुणों का उदय हो जाता है। ऐसे कौन से गुण हैं, जो उनमें प्रकट होते हैं तथा ऐसे जिज्ञासु, साधक को किन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। वह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा तथा कैसे वढ़ेगा? इसके साथ ही वे अवरोध कौन से हैं जिनके कारण

वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इस अध्याय में ऐसे गुणों के बारे में बताया गया है जो अपेक्षित ज्ञान प्राप्ति में सहायक हैं तथा ऐसे दुर्गुणों के बारे में भी बताया गया है जो इस ज्ञानको प्राप्त करने में बाधक हैं। इन्हें जानकर हम दुर्गुणों से छुटकारा पाकर तथा सद्गुणों को विकसित करके अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ मनुष्यों के विभिन्न स्वभाव का वर्णन किया गया है। हम देखते हैं कि किस तरह एक ही आत्मा अनेक उपाधियों में किन गुणों से सम्पन्न होती है। तदनुसार गुणों के कारण, व्यक्ति का व्यवहार किस प्रकार होता है तथा उसका परिणाम क्या होता है। यहाँ सद्गुणों को धारण करने वाले को देव या दैवी पुरुष, दुर्गुणों को धारण करने वाले को असुर या आसुरी पुरुष कहा गया है। यद्यपि स्वभाव के अनुसार एक श्रेणी के लोगों को 'राक्षस' कहते हैं। राक्षसों में दुर्गुणों की बहुलता के कारण सुधार की सम्भावनाएं कम होती हैं, लेकिन इस श्रेणी के लोगों की चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। स्वभाव के अनुसार यह विभाजन गुणों या दुर्गुणों के आधिक्य या न्यूनता के कारण है; क्योंकि महाभारत के अनुसार 'कुछ भी पूर्ण अच्छा या पूर्ण खराब' नहीं है।

प्राचीन काल से ही हमारे धार्मिक ग्रन्थों में देव-असुर संग्राम की चर्चा बार-बार हुई है। देव सद्गुणों तथा असुर दुर्गुणों के प्रतिनिधि हैं। महाभारत काल में पाण्डव- धर्म, सत्य, न्याय के पक्षधर है तथा कौरव- अन्याय, अधर्म, भौतिक शक्ति का सहारा लेकर सम्पत्ति को प्राप्त करने तथा उसे अपने स्वामित्व में रखने हेतु संघर्षरत हैं। रामायण काल में भी इस तरह का संघर्ष है। वर्तमान में भी किसी समाज में इस तरह के दो भिन्न विचार धाराओं वाले लोगों के बीच संघर्ष देखा जाता है।

अब भगवान् दैवी सम्पत्ति के लक्षणों का वर्णन कर रहे हैं, जो साधकों, मुमुक्षुओं, भक्तों के मोह को नष्ट करने तथा परमतत्त्व को प्रकाशित करने में सहायक है। एक दूसरे के लिए पोषक, अनेक पदार्थों को एकत्र करके प्राप्त की गयी वस्तु को ही लोक में 'सम्पत्ति' कहते है। वह दैवयोग से किसी-किसी को ही प्राप्त होती है। इसलिये इसे 'दैवी' कहते हैं। सुख-शान्ति प्रदायक दैवी सम्पत्ति के लक्षण इस प्रकार हैं-

अभय अर्थात् निर्भयता जो अविद्या के नष्ट होने पर आती है; अन्तःकरण की शुद्धिः ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति जो मन को निम्नस्तरीय प्रलोभनों में उलझने से रोकती है; दानः इन्द्रिय-संयमः यज्ञ अर्थात् त्याग की भावना; स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र-अध्ययन एवं आत्म-निरीक्षण; तपः आर्जव अर्थात् सरलता; अहिंसा अर्थात् शरीर-मन वाणी से किसी को कष्ट न पहुँचाना; सत्य; अक्रोध अर्थात् क्रोध का सर्वथा अभाव; त्याग जिसमें अहङ्कार एवं स्वार्थ के त्याग की प्रमुखता है; शान्ति अर्थात् मन का सदा सन्तुलित अवस्था में होना; अपैशुन्य अर्थात् किसी के दोष प्रकट न करना; जीवमात्र के प्रति दयाभाव; अलोलुपता अर्थात् इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले विषयों के सम्मुख भी मन का विकाररहित रहना; मार्दव अर्थात् कोमलता; लज्जा; चञ्चलता का अभाव; तेज-शारीरिक सौन्दर्य के साथ प्रतिभाशाली बुद्धिः कर्मों में सन्तुलन; प्राणिमात्र के प्रति प्रेम; क्षमाः धृति अर्थात् धैर्य; शौच अर्थात् अन्तः-बाह्य शुद्धि; अद्रोह अर्थात् मन में हिंसा का भाव कभी न उठना; अतिमानिता न होना अर्थात् स्वयं की पूजनीयता के विचार का अभाव। उपरोक्त वर्णित छब्बीस गुणों (दैवीसम्पदा) को धारण करते हुए जीवनयापन करना सम्यक् जीवन जीना है।

निम्न सम्पदायें आसुरी कहलाती हैं- दम्भ जिसका अर्थ शङ्कराचार्य जी के अनुसार वास्तव में अधार्मिक होते हुए भी स्वयं को धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रकट करना है; दर्प अर्थात् सौन्दर्य, ज्ञान, धन आदि का गर्व होना; अभिमान; क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान। आसुरी सम्पत्तियो का एक अशुभ पक्ष यह है कि वे हमें आत्मतत्त्व से दूर करती हैं। रहस्यमय तरीके से प्रत्येक चीज को विषय बना देती हैं जबकि हम शरीरधारी आत्मा हैं। हमारी आत्मा वैश्विक आत्मा का प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त संसार की नामरूपधारी प्रत्येक वस्तु विषय हैं। इस अध्याय का सन्देश है कि हमें दैवी शक्तियों के साथ एकत्व स्थापित करके कार्य करना चाहिये, आसुरी सम्पत्तियों के प्रभाव के अन्तर्गत नहीं। दुर्गुण-दुराचार, संसार में बार-बार जन्म लेने तथा दुःख भोगने का कारण बनते हैं तथा सद्गुण-सदाचार हमें संसार के जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त करते हैं। अतः हमें दैवी सम्पत्ति से युक्त होकर स्वधर्माचरण करते हुए जीवनयापन करना चाहिये, ताकि हम भगवत्प्राप्ति कर सकें।

इस अध्याय में दैवी तथा आसुरी गुणों का वर्णन भगवान् ने इस उद्देश्य से किया है कि इन्हें जानकर हम आसुरी गुणों से अपने को मुक्त कर सकें तथा दैवी गुणों को धारण कर सकें। दैवी गुणों को पूर्णतया धारणकर हम मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं। अर्थात् दैवी सम्पत्ति के सहारे हमारा योग भगवान् से हो सकता है। अतः इस अध्याय का नाम 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' रखा गया है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तमादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (गीता।6/21)

काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीन आत्मनाश करने वाले तथा नरक को ले जाने वाले तीन प्रकार के द्वार हैं, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

सोलहवें अध्याय में भगवान् ने दैवी तथा आसुरी सम्पदाओं का विस्तार से वर्णन किया है तथा दैवी सम्पदा को परमपद की प्राप्ति हेतु एवं आसुरी सम्पदा को बन्धन का कारण बताया है।

शास्त्रों के अनुसार स्वर्ग सुखस्वरूप है तथा नरक दुःख स्वरूप। पुण्यकर्म, यज्ञादि, परोपकार, दान आदि कर्म मनुष्य को स्वर्ग ले जाते है तथा पाप, हिंसा आदि नरक को प्रदान करते हैं, जिनमें मनुष्य अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। अपने सभी कर्मो को भोग लेने के पश्चात अवशिष्ट कर्मानुसार पुनः जन्म लेता है। वर्तमान जीवन में भी अपने विचारों, भावनाओं, इच्छाओं के अनुरूप तदनुरूप कार्य कर स्वर्ग तथा नरक का अनुभव कर सकता है। देखने में आता है कि कुछ लोग सत्य, अहिंसा, परोपकार, ईमानदारी आदि के रास्ते पर चलते हुए अर्थात् श्रेयस्कर मार्ग पर चलते हुए सुखी जीवन जीते हैं, स्वर्गीय सुख का अनुभव करते है तथा कुछ लोग केवल अपने सुख का ध्यान रखते हुए असत्य बोलने, हिंसा करने, पर पीड़ा करने, बेईमानी द्वारा धन अर्जित करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं तथा कुछ समय पश्चात् अनेक कष्ट झेलते हुए नारकीय जीवन बिताते हैं।

भगवान् ने आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन विस्तार से किया है तथा प्रस्तुत श्लोक में काम, क्रोध तथा लोभ को नरक का द्वार कहते हुए इन्हें आत्मनाशक बताया है। वास्तव में कामना ही क्रोध तथा लोभ की जनक है। यदि कामना की पूर्ति नही होती तो क्रोध होता है।

'कामात् क्रोधोऽभिजायते' (गीता) और यदि पूर्ति हो जाती है तो दूसरी कामनाएँ पैदा हो जाती हैं तथा उन्हें पूरा करने का लोभ हो जाता है। जैसे जलती हुई आग में हविष्य डालने पर अग्नि और प्रज्वलित होती है, वैसे ही कामना की पूर्ति होने पर और अधिक पाने का लोभ बढ़ता जाता है। लोभ से शक्ति का ह्रास होता है तथा मनुष्य क्षीण होता जाता है। चूँकि असन्तोष ही लोभ का लक्षण है, इसलिये लोभी पुरुष कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अशान्त पुरुष को सुख कहाँ से मिलेगा?

क्रोध जिस पर किया जाता है, उसका वह अहित करे ही– यह निश्चित नहीं है। विवेकी, भक्त, साधक पर क्रोध का असर नहीं भी हो सकता है, परन्तु क्रोध करने वाले पर तो उसका असर होना निश्चित है। दूसरों का अनिष्ट करने के लिए अन्तःकरण में जो ईर्ष्या जलन पैदा होती है उसे क्रोध कहते हैं। वह अन्तःकरण को दूषित करेगा ही। फलतः शान्ति नष्ट हो जायेगी। क्रोध के सम्बन्ध में कहा है–

क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां
देहास्थितो देहविनाशनाय।
यथा स्थितः काष्ठगतो हि वह्निः
स एव वह्निर्दहते शरीरम्।।

क्रोध ही मनुष्य का प्रथम शत्रु है, जो देह में स्थित उसी का विनाश करता है। जैसे लकड़ी में स्थित अग्नि उसी का विनाश करता है। जैसे लकड़ी में स्थित अग्नि लकड़ी को जलाती है, वैसे ही क्रोध रूपी अग्नि देह में स्थित रहकर देह को ही जलाती है।

क्रोध शान्त होने पर क्रोधी व्यक्ति पश्चात्ताप करता है। उसे अन्तःकरण में ग्लानि होती है। समाज में क्रोधी व्यक्ति की प्रतिष्ठा नहीं होती। घर वाले आत्मीय लोग भी क्रोधी व्यक्ति से बात करने में डरते हैं।

किस कारण से मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप करता है? अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने रजोगुण से उत्पन्न काम तथा क्रोध को ही इसका कारण बताया है–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (गीता 3/37)

रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला तथा महापापी है। इसे ही शत्रु जानो।

अनात्मा वस्तुओं को महत्व देने से ही काम, क्रोध तथा लोभ होते हैं। ये तीनों आसुरी सम्पत्तियाँ नरक को ले जानी वाली है। अतः सभी आसुरी दोषों के मूल कारण आत्मा की अधोगति करने वाले, सभी अनर्थों के कारण, विवेक, वैराग्य, मुमुक्षत्व आदि षट् सम्पत्ति तथा स्वानुभूति का विरोधी इन आसुरी सम्पत्तियों का त्याग कर देना चाहिए, इसके विपरीत दैवी सम्पत्तियों को अर्जित कर आत्मभाव विकसित करना चाहिए। आत्मभाव प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य है। इसे महावीर ने अहिंसा द्वारा, महात्मा बुद्ध ने करुणा का विकास करके, यीशू ने प्रेम द्वारा तथा वर्तमान में महात्मा गाँधी ने सत्य का प्रयोग करके प्राप्त किया।

श्रद्धात्रयविभागयोग

सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने बताया कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर अपने मन के अनुसार आचरण करता है, वह न तो इस लोक में सिद्धि-सुख को प्राप्त करता है और न परलोक में परमगति को। अतः मनुष्य को अपने कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के निर्णय में शास्त्र को जानकर तथा उसे ही प्रमाण मानकर अपने कर्म सम्पन्न करने चाहिये। प्रस्तुत अध्याय में अर्जुन द्वारा भगवान् से पूछे गये इस प्रश्न का उत्तर है कि जो लोग अज्ञानता के कारण या जानबूझकर शास्त्र विधि को छोड़कर पूर्ण श्रद्धापूर्वक भजन करते हैं तथा सदाचार का पालन करते रहते है, उनकी स्थिति कैसी होती है- सात्त्विकी, राजसी या तामसी? प्रायः मनुष्य में अपनी इच्छानुसार जीवन जीने की अपेक्षा, शास्त्र के सुरक्षित शासक नियमों, जो निश्चित हैं, के अन्तर्गत जीवनयापन करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। शास्त्र की स्वीकार्यता का कारण प्राचीन काल से स्थापित नियमों का प्रभुत्व, श्रेष्ठजनों के सुरक्षित अनुभवों से युक्त होना तथा उन्हें लागू कर जीने से प्राप्त सफलता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के पूर्व उस लक्ष्य के अस्तित्व तथा उसकी प्राप्ति के साधन में विश्वास को 'श्रद्धा' कहते हैं। श्रद्धा के अनुसार ही किसी मनुष्य के गन्तव्य का निश्चय तथा तदनुसार कार्य करने में उत्साह होता है। भगवान् ने अपने विवेचन के प्रारम्भ में ही गुणों के अनुसार तीन प्रकार की श्रद्धा बतायी-सात्त्विक, राजसिक, तामसिक तथा विस्तार से इनका वर्णन किया। इसके अतिरिक्त मनुष्य को तीन कर्म तो करने ही चाहिये-स्वयं के लिए तप, समाज के लिए दान तथा सृष्टि के अर्थ को समझते हुए यज्ञ के रूप में किये गये कर्म। इनमें तथा आचार में किस तरह श्रद्धा कार्य करती है-इसका भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

दृढ़ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान् द्वारा निर्देशित तीन प्रकार के अवश्य करने योग्य कर्मो-यज्ञ, दान, तप को अहङ्कार तथा फलाशा रहित होकर करते हुए भगवान् से योग हो सकता है। अज्ञान के कारण शास्त्रविहित कर्मो के न सम्पन्न होने या उनमें किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने पर भी दृढ़ श्रद्धा कार्य को सफल कर सकती है, परन्तु बिना श्रद्धा कोई भी कार्य न तो मङ्गलकारी होगा और न ही कोई शुभ फल देगा। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक-तीन प्रकार के स्वभाव के अनुसार यज्ञ, दान, तप तथा श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है। अतः इस अध्याय का नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रखा गया है।

भगवान् के उद्देश्य से श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञ, दान, तप तथा शास्त्रविहित कर्म इस लोक में सुखदायक तथा परलोक में कल्याणकारी होते हैं। अध्याय के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण असात्त्विक एवं विगुण यज्ञ, दान, तप आदि को सात्त्विक, सगुण एवं किसी प्रकार के दोष से रहित बनाने के लिये ब्रह्म के अत्यन्त पवित्र एवं श्रेष्ठतम तीन नामों का निर्देश कर रहे हैं, ताकि कार्य के प्रारम्भ में उन नामों में अन्तर्निहित भाव का स्मरण करते हुए एवं उनका उच्चारण करते हुए हम कार्य सम्पन्न करें।

यद्यपि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का कोई नाम नहीं है, परन्तु 'ॐ' 'तत्' 'सत्' इन तीन नामों से ब्रह्म को इङ्गित किया गया है। इनमें से प्रत्येक शब्द ब्रह्म का संकेत करता है। 'ॐ तत्सत्' यह तीन वर्णो वाला ऐसा मन्त्र है जिसके अर्थ का मनन तथा जप करने के कारण ब्रह्म में सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ्य हुई तथा उन्होंने ब्राह्मणों की रचना कर उन्हें वेदों के अनुसार यज्ञ कर्म करने का आदेश दिया था।

ब्रह्मवादियों, मुमुक्षु साधकों द्वारा 'ॐ' का उच्चारण तथा आत्मस्वरूप का ध्यान करके यज्ञादि क्रियायें प्रारम्भ की जाती हैं। आत्मा अजन्मा, अविनाशी तत्त्व का प्रतीक है, तथा हमारे शरीर मन, बुद्धि का अधिष्ठान है। ओङ्कार के उच्चारण तथा उसे आधार बनाकर किये गये कर्म शुभ तथा हितकारक होंगे। तत्पश्चात् कर्म के मध्य में हमें 'तत्' नाम का उच्चारण करना चाहिये तथा ब्रह्म के इस नाम से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारक ब्रह्म का स्मरण कर अपनी क्रिया के शेषरहित फल को 'न मम' के भाव से समर्पित कर देना चाहिये। अन्त में 'सत्' के उच्चारण से सर्वव्यापक सत्ता का स्मरण करते हुए आत्मैक्य भाव में डूब जाना चाहिये। इस भाव में हमारा अहङ्कार तिरोहित हो जायेगा तथा हमारी वासनायें नष्ट हो जायेंगी। हमारे कर्म अहङ्कार रहित, श्रेष्ठ हो जायेंगे। यज्ञादि कर्मों की न्यूनता या वैगुण्यता समाप्त हो जायेगी।

भगवान् द्वारा कहे गये 'ॐ तत् सत्' के इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि यदि साधक यज्ञादि कर्मों का प्रारम्भ इस मन्त्र का उच्चारण करके करे तो कर्म को सम्पन्न करने की प्रक्रिया में यदि कोई त्रुटि हुई है, तो उसका परिमार्जन हो जायेगा और वह कर्म श्रेष्ठ हो जायेगा। किसी कर्म को करने में महत्त्वपूर्ण बात पूर्ण श्रद्धा का होना है; क्योंकि श्रद्धारहित किया गया कर्म असत् हो जाता है। अतः श्रेष्ठ फल प्राप्ति हेतु कर्म के उद्देश्य में, स्वयं अपने तथा कर्म में पूर्ण श्रद्धा का होना आवश्यक है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। (गीता 17/23)

'ॐ तत् तथा सत्' ऐसा तीन प्रकार से ब्रह्म का निर्देश किया गया है। अर्थात् इन शब्दों से ब्रह्म की स्मृति होती है। आदिकाल में उसी से ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ रचे गये हैं। ब्रह्माण्ड की मूल शक्ति ब्रह्म है। इसी शक्ति से इसका सृजन होता है, इसी में यह स्थित रहता है तथा इसी में विलीन हो जाता है।

ब्रह्म – भगवान ने कहा है कि यह सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है, वह भ्रम है। वह सत्-चित् आनन्द स्वरूप है शेष उसकी शक्ति प्रकृति या माया की लीला है। वह अनादि, अनन्त, सनातन, अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी तथा स्वयंभू है। श्रुति भी कहती है– 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

यह सब ब्रह्म ही है तथा 'ब्रह्मैव आत्मा' ब्रह्म ही आत्मा है जिसे वेदान्त में 'ब्रह्म' कहा गया है, उसे ही हम परमात्मा भी कहते है तथा भक्त उसे भगवान कहते हैं। ब्रह्म को कौन प्राप्त करता है? इस सम्बन्ध में श्रुति कहती है–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। (कठ०उ० 2/3/14)

जब हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनायें समूल नष्ट हो जाती है, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं इसी संसार में इसी मनुष्य शरीर में ब्रह्म का साक्षात् अनुभव कर लेता है।

ॐ -

भगवान् ने कहा है कि- "प्रणवः सर्ववेदेषु" (गीता 7/8)

सम्पूर्ण वेदों में ओम् मैं ही हूँ-

इसके महत्व को बताते हुए उन्होंने अन्यत्र कहा है-

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाप्ति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।। (गीता 8/13)

'ओम्' यह अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका जप तथा मेरा स्मरण करता हुआ (जो) शरीर का त्याग करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

शास्त्रों के अनुसार वेदों के अस्तित्व में आने से पूर्व भी 'ॐ' का अस्तित्व था। ओम् सभी वैदिक तथा तान्त्रिक मन्त्रों का बीज मन्त्र है। सम्पूर्ण माण्डूक्य उपनिषद ओम् की ही व्याख्या है। गायत्री मन्त्र के मूल में ओम् है तथा गायत्री मन्त्र की तीन व्याहृतियाँ 'भूः, भुवः, स्वः' ओम् से आई है। ओम् शब्द अ-उ-म् से बना है। 'अ' से अभिप्रेत विष्णु (पालनकर्ता) 'उ' से शिव (संहारकर्ता) तथा 'म्' से ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) हैं। ओम् के ये तीन अक्षर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त अवस्था को भी बताते हैं। तुरीयावस्था का निर्देश ओम् के अमात्र से होता है।

तत् - 'तत्' पद से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है।

भगवान ने 'तमेव शरणं गच्छ' (गीता 18/62)

उसकी शरण में जाओ-कहकर 'तत्' पद की ही तरफ संकेत किया है। वेदों के चार महावाक्यों में एक 'तत्वमसि' (तत्-त्वम्-असि) में तत् पद से उसी परमात्मा को निर्देशित किया गया है। यह परमब्रह्म सूचक शब्द है। यह उस परम् सत्य को इंगित करता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का स्थान है।

सत्-ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप कहा गया है। सत् का अर्थ है ऐसी सत्ता जो समय तथा दूरी के सापेक्ष नहीं है। किसी भी चीज का अस्तित्व इस कारण है, क्योंकि अस्तित्व का सिद्धान्त है। यदि यह सिद्धान्त न होता तो पृथ्वी, वायु, आकाश आदि किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता था। यह सत्य स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

ॐ, तत्, सत् का तात्पर्य हुआ कि हम अपनी सभी क्रियाएँ-यज्ञ, दान, तप या किसी प्रकार का यज्ञ-ओम् अर्थात् ब्रह्म का स्मरण करते हुए ही करें। स्मरण करते हुए यह ध्यान रखें कि सभी क्रियाओं के मूल में, सबके कारण तथा सबको पूरा करने वाले वे ही हैं, ताकि कर्तृत्वाभिमान न होने पाये। साथ ही सत्यता का ध्यान रखे। 'ॐ से प्रारम्भ करके अर्थात् ब्रह्म को मूल में रखकर, उसी को समर्पित करके जब क्रियाएँ होगी तथा उनमें सातत्य का भाव बना रहेगा तभी ब्रह्मवादी हुआ जा सकता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म के इन्हीं तीन नामों - ॐ, तत्, सत्' से ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञों की रचना हुई। कर्मकाण्ड में वेद मन्त्रों तथा ब्राह्मणों की मुख्य भूमिका होती है, उन्हीं के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होते है। कितनी भी सावधानी रखी जाय, गलती होने की सम्भावना रहती है। कर्मकाण्ड को निर्दोषपूर्ण बनाने हेतु ॐ, तत्, सत्' का प्रयोग किया जाता है।

मोक्षसंन्यासयोग

इसमें सम्पूर्ण गीता का सार है। प्रारम्भ में अर्जुन ने 'त्याग' और 'संन्यास' के तात्त्विक स्वरूप को जानने की इच्छा व्यक्त की। यद्यपि इसके पूर्व त्याग तथा संन्यास शब्द का प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों में कई बार हुआ है, परन्तु विस्तृत विवेचन शेष है। इसके साथ कुछ प्रश्नों- जैसे मनुष्य द्वारा कृत कार्यों का कारण कौन है? कराने वाली प्रकृति है या स्वयं भगवान् कराते है- का समाधान प्रस्तुत किया है। सृष्टि में वर्णव्यवस्था के सम्वन्ध में भी विस्तृत विवेचन है। प्रकृति के तीन गुण-सत्त्व, रज, तम किस प्रकार अपनी विविधताओं द्वारा, व्यक्तियों के त्याग, कर्म, बुद्धि आदि को प्रभावित करते हैं, इसका भी विवेचन है। यहाँ हमारी प्रवृत्तियों, वासनाओं, भावनाओं एवं कर्मो का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है, जिससे हम अपने जीवन की वास्तविकता को समझकर, उनका विश्लेषण कर तथा उन पर चिन्तन-मनन कर आत्मोन्नति के मार्ग पर चल सकें।

गीता के अनुसार महत्त्वपूर्ण वात यह है कि कोई एक पल भी विना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि संसार कुरुक्षेत्र-कर्म की रणभूमि है। साथ ही यह 'धर्मक्षेत्र' भी है, अर्थात् यह विधि द्वारा नियन्त्रित कर्म का क्षेत्र है, स्वच्छन्द कर्म का क्षेत्र नहीं है। वहुत प्रकार के कर्मो में तीन कर्म यज्ञ, दान तथा तप ऐसे हैं जो किसी के लिए त्याज्य नहीं हैं। इन्हें सवको करना ही चाहिये।

कामना से मुक्त होकर कर्म करने को 'संन्यास' कहते हैं तथा समस्त कर्मो के फल की इच्छा के विना कर्म करने को 'त्याग' कहते हैं। त्याग की पूर्णता, तीन वातों पर निर्भर करती है। निषिद्ध कर्म या राजस-तामस कर्मो के फल-त्याग का महत्त्व नहीं है, फल-त्यागपूर्वक कर्म हों, परन्तु त्याग का अहङ्कार न हो। अवश्य करने योग्य तीन कर्म हैं- यज्ञ, त्याग, भावपूर्ण कर्म करना। सृष्टि त्याग पर टिकी है। अतः सृष्टि चलती रहे-इस हेतु हमें यज्ञ करना चाहिये। ईश्वर की सत्ता में स्थित रहना सवसे वड़ा त्याग है; क्योंकि इसमें व्यक्तित्व तथा अहङ्कार की समाप्ति हो जाती है। अहङ्कार शून्यता की सर्वोच्च स्थिति ही ईश्वरीय स्थिति है। 'यज्ञो वै विष्णुः' - नारायण स्वयं यज्ञस्वरूप हैं। दान-समाज के लिये तथा तप-स्वयं के लिये। शरीर मन, इन्द्रियों को भगवान् में लगा देना, सम्पूर्ण कर्मो को भगवान् को अर्पण करते जाना, अनन्य भाव से केवल भगवान् पर भरोसा करना, भक्तियोग है। नियत कर्त्तव्य कर्मो को फल, आसक्ति, अहङ्कार से रहित होकर सिद्धि-असिद्धि में समत्वभाव रखकर करना कर्मयोग है। सात्त्विकज्ञान, बुद्धि से युक्त, कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भाव से रहित होकर कर्म करना तथा अपने स्वरूप में स्थित रहना ज्ञानयोग है।

यदि हम अपने में कर्त्ताभाव न रखें, अपने को मात्र निमित्त समझें तथा कर्म का कारण शरीर, कर्त्ता, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियाँ तथा दैव को समझें, तो निश्चित ही ज्ञानावस्था प्राप्त हो जायेगी और हम मुक्त हो जायेंगे। इस अध्याय के साररूप में भगवान् ने अपनी प्राप्ति हेतु गुह्यतम रहस्यपूर्ण वात 'शरणागति' को वताया तथा कहा कि सव धर्मो को छोड़कर, सवमें आत्मा के रूप में स्थित उस एकमात्र परमतत्त्व की शरण ग्रहण करनी चाहिये। उस परमतत्त्व को हम जान लें, प्राप्त कर लें तथा मुक्त हो जायें। यही हमारा परम पुरुषार्थ है। भगवान् ने पहले ज्ञानयोग का सहारा लेकर, सवके हृद्देश में स्थित परमात्मा की शरण में जाने को कहा तथा अन्त में भक्तियोग का सहारा लेकर स्वयं अपनी शरण में जाने हेतु आदेश दिया।

तथा यह आश्वासन दिया कि वे सब पापों-अज्ञान, वासना समूह आदि से मुक्त कर देंगे; किसी प्रकार के शोक करने की आवश्यकता नहीं। अतः हमें सभी धर्मो-वर्णाश्रमधर्मों, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग या अन्य किसी सामर्थ्य का भरोसा छोड़कर, अकिञ्चन बनकर दीनभाव से तथा अनन्य भाव से केवल परमात्मा- श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करना चाहिये। भगवान् द्वारा दिया गया, अन्तिम उपदेश-आदेश-सम्पूर्ण गीता का सार यही शरणागति है।

संन्यास के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति या भगवान् से योग होने के कारण इस अध्याय को 'मोक्षसंन्यासयोग' कहा गया है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। गीता 18/14

अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, नानाप्रकार की चेष्टाएँ तथा दैव- ये पाँच कारण किसी कार्य की सिद्धि के हेतु हैं। चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि को छोड़कर सभी शेष योनियाँ भोग योनियाँ हैं। केवल मनुष्य-योनि ही ऐसी है जो भोग भोगने के साथ कर्म भी करती है। यद्यपि सभी कर्म प्रकृति द्वारा किये जाते है-गुणा गुणेषु वर्तन्ते। गीता-गुण ही गुणों में बरतते हैं- "परन्तु अहङ्कारवश मनुष्य अपने को कर्त्ता मान लेता है। कर्ता मानने के कारण वह सुख-दुःख भोगते हुये अनेक जन्म लेता रहता है। यहाँ भगवान् ने शास्त्रानुसार या शास्त्र के विरुद्ध जितने भी कर्म मनुष्य के द्वारा किये जाते हैं, उनके पाँच कारण बताये हैं। जब कर्म की सिद्धि के लिये पाँच कारण होगें तो मनुष्य अपने को कर्त्ता कैसे कह सकता है? अतः मनुष्य का दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि आत्मा- हमारे स्वरुप से तो कर्म का सम्वन्ध हैं ही नहीं। अपने अहङ्कारवश अपने को कर्ता मानना उचित नहीं है; क्योंकि कर्त्ता के साथ अन्य चार कारण और हैं, जिनके मिलने पर किसी कार्य की सिद्धि होती हैं। ये पाँच कारण इस प्रकार है-

हमारा देह अधिष्ठान कारण है, क्योंकि इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख तथा ज्ञान की अभिव्यक्ति का आश्रय यह शरीर ही है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति- इन तीन अवस्थाओं का आधार भी यह देह ही है। वन्धन-मुक्ति की अनुभूति का आधार भी यह देह ही है। अतः इस देह को ही अधिष्ठान कारण कहते हैं।

आधार के बाद कोई करने वाला चाहिये। अतः दूसरा कारण कर्त्ता, उपाधिस्वरूप भोक्ता जीव है। चैतन्य का अंश जीव ही कर्त्ता के रूप में कार्य करता है। तालाब में जिस प्रकार प्रतिविम्ब पड़ता है, वैसे ही चैतन्य का प्रतिविम्ब जब चित्त पर पड़ता है तो चैतन्य को आत्मस्वरुप का विस्मरण हो जाता है तथा देह का आभास होता है। इसे ही जीव कहते हैं। यही जीव भ्रमवश प्रकृति के कार्यों को अपना कर्म कहने लगता है और उनका कर्ता बन जाता है। उपाधिस्वरुप जीव ही भोक्ता के रूप में अपने को मानता है।

जिस प्रकार एक ही मनुष्य वृत्तिभेद से अलग-अलग रसों के प्रभाव में कभी उल्लसित, कभी दुःखी, कभी प्रेम-पूर्ण आदि रूप में भासित होता है, उसी प्रकार बुद्धि की जानने की शक्ति, यद्यपि भिन्न नहीं है, परन्तु आँखों द्वारा रूप ग्रहण करते समय, कानों द्वारा शब्द ग्रहण करते समय, भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। इन्हीं को 'करण' कहते हैं जो कर्म करने में तीसरे कारण के रूप में हैं।

वायु में अखण्ड एकरूप क्रियाशक्ति होती है। जैसे एक ही जल, समुद्र में लहरों के रूप में अलग-अलग जान पड़ता है, भिन्न-भिन्न नदियों में अलग जान पड़ता है, वैसे ही एक ही वायु शक्ति, शरीर में स्थानभेद से अलग-अलग जान पड़ती है। उस शक्ति के वाणी में प्रकट होने पर बोलने का, हाथों में प्रकट होने पर लेन-देन का, पैरों में प्रकट होने पर चलने आदि का कार्य सम्पन्न होता है। उसी शक्ति को नाभि से हृदय तक ओंकार के रूप में प्रकट होने पर प्राणवायु, गले में उदान वायु, समस्त शरीर में खून का सञ्चार करने के कारण व्यानवायु, नाभि में समान वायु तथा मल-मूत्र-विसर्जन क्रिया के सम्पन्न करने पर अपानवायु आदि का नाम दिया जाता है। भिन्न-भिन्न रीति से भिन्न रूप में प्रकट होने वाली वायु शक्ति कर्म का चौथा कारण है। इन्हें 'चेष्टा' भी कहते हैं।

पाँचवाँ कारण दैव है। किसी कार्य के पहले हम ज्ञानेन्द्रियों से विषय का ग्रहण करते हैं, मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निर्णय करती है, तब कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं। कर्म की सिद्धि में सबका सहयोग होता है। सभी इन्द्रियों के एक-एक देवता होते हैं जो इन्द्रियों को सामर्थ्य देते हैं। सूर्य के प्रकाश में कार्य सम्पन्न होते हैं तो सूर्य भी सहायक हुआ। आँखों के देवता सूर्य ही है। मन का देवता चन्द्रमा है। सभी क्रियाएं पृथ्वी पर होती हैं, पृथ्वी पर ही हम चलते हैं, तो क्या पृथ्वी का सहयोग नहीं हुआ? यह देवता मण्डल ही पाँचवाँ कारण है। संस्कारों को भी दैव कहा जाता है। हम जो भी कर्म करते हैं उनका अन्तःकरण पर संस्कार पड़ता है। संस्कार से ही कर्म करने की स्फुरणा होती है। संस्कार की तीव्रता के अनुसार कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। संस्कारों के अनुसार ही कर्त्ता कर्म करता हैं। इन्हें भी दैव कहते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (गीता 18/62)

हे भारत! तू सर्वभाव से अर्थात् शरीर, मन, वाणी द्वारा सब प्रकार से उस ईश्वर की ही शरण ग्रहण करें। उस ईश्वर की कृपा से उत्तम शान्ति तथा शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।

इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को 'भारत' कहकर सम्बोधित किया। भरतवंश में पैदा होने के कारण उन्हें भारत नाम से जानते हैं। परन्तु यह ज्ञानयोग से सम्बन्धित श्लोक है। यदि भगवान् का उपदेश यहीं समाप्त हो गया होता तो गीता की समाप्ति ज्ञानयोग में मानी जाती। इसलिये यहाँ 'भारत' शब्द का अर्थ भा-रत अर्थात् भा-प्रकाश (ज्ञान) में रत के भाव में लेना उपयुक्त होगा; क्योंकि इस श्लोक की शिक्षा आत्मसात करने हेतु उच्चस्तरीय बुद्धि, निर्मलचित्त की आवश्यकता है। यद्यपि श्रीकृष्ण तथा सबके हृदय में स्थित ईश्वर में कोई भेद नहीं हैं। भगवान् के निम्न कथनों

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' गीता 15/15

मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय में अच्छी प्रकार प्रविष्ट हूँ तथा

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' गीता 18/61

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है, से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण ही ईश्वर है तथा ईश्वर ही श्रीकृष्ण है। सर्वभाव का अर्थ शरीर द्वारा कर्मों को उसकी पूजा समझकर करने, मन द्वारा उसी के बारे में चिन्तन करने तथा अहङ्कार त्याग कर

प्रतिकूलता में भी प्रसन्न रहने से है। 'तत्' पदार्थ की दृष्टि से सब कुछ वही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नही। 'त्वं' पदार्थ की दृष्टि से जो कुछ भाव आता है, उसी के लिये है। सर्वरूप में वही भास रहा है। व्यवहार में भी सब वही है।

हृदय- उसे कहते हैं जो बाहर के संस्कारों को हरण करके भीतर लाये, रूप देखने पर उसका संस्कार जहाँ छिपा है, मन से कल्पना, मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार अन्तःकरण में जो चित्त है वह हृदय है, जो समस्त संस्कारों का आश्रय है, पोष्य है। ऐसा अन्तःकरण जहाँ सारे संस्कारों को हम सञ्चित करके रखते है- वह 'हृदय' के रूप में जाना जाता है। यह वेदान्त दृष्टि है।

यही बात नौ योगीश्वरों में दूसरे हरि जी ने राजा निमि से निम्न शब्दों में कहा है-

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।। श्रीमद्भागवत् (11/2/45)

आत्म-स्वरुप भगवान् समस्त प्राणियों में आत्मारुप से-नियन्तारुप से स्थित हैं। जो सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है, समस्त प्राणी तथा समस्त पदार्थ को आत्मस्वरूप भगवान् में ही आधेय या अध्यस्त रूप से स्थित है अर्थात् वास्तव में भगवत्स्वरूप ही है- ऐसी सिद्ध दृष्टि रखने वाला है, वह उत्तम भागवत है।

उसी ईश्वर, जो प्राणियों के हृदय में स्थित है की शरण में सर्वभावसे जानने हेतु भगवान् आदेश देते हैं। शरण का अर्थ है आश्रय। अभिमान, फलासक्ति का त्याग करके, ईश्वर का सतत स्मरण करते हुए अपने सभी कर्म करना, उसकी शरण में रहते हुए कर्म करना है। आत्मज्ञान की दृष्टि से शरण का अर्थ है-सभी अनात्म पदार्थो से तादात्म्य त्यागकर, आत्मस्वरूप, सबके हृदय में अन्तर्यामी रूपसे स्थित ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना। सभी द्वैतभाव छोड़कर अद्वैत परमेश्वर की शरण में जाने का भाव है, कि जो कुछ आँखों से दिखाई देता है या जो कुछ कानों से सुनाई पड़ रहा है, सबमें परमेश्वर की उपस्थिति का अनुभव होना।

यदि हम सर्वभाव से हृदयस्थ ईश्वर की शरण ग्रहण करते हैं तो हमें तत्त्वज्ञान हो जायेगा। हम ईश्वरानुभूति के अधिकारी हो जायेंगे। हमें परम-नित्य धाम की प्राप्ति हो जायेगी, परम शान्ति की प्राप्ति हो जायेगी।

मन्मना भव, मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। गीता 18/65

इस श्लोक में भगवत्प्राप्ति के चार उपाय बताये गये हैं। ये उपाय संसार के मनीषियों, विचारकों, विद्वानों तथा साधकों द्वारा सर्वमान्य उपनिषदों का सार तथा महाभारत के भीष्म पर्व के प्रारम्भिक अंश 'श्रीमद्भगवद्गीता' में अर्जुन के निमित्त बनाकर, मानवमात्र को श्रीकृष्ण के द्वारा प्रदत्तज्ञान में गुह्यतम बात के रूप में कहे गये है- 'मन्मना भव'। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! तू मुझमें चित्तवाला हो अर्थात् मेरे मन वाले हो जाओ। उनका मन क्या है? वे क्या कहना चाहते हैं? जो उनका मन है उसे तो उन्होंने गीता में ही बताया है। उन्होंने कहा है कि फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति, अकर्तृत्वासक्ति किसी प्रकार की

आसक्ति न रखो। फल में तो तुम्हारा अधिकार ही नहीं है, केवल कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है। अतः निष्काम कर्म जब तक तुम जीते हो तब तक करते रहो। लोकसंग्रह का कार्य करते रहो। सृष्टि को अच्छा बनाये रखने हेतु, पूर्णशक्ति से प्रयत्न करते रहो, परन्तु असङ्ग रहकर। उन्होंने जगह-जगह स्वयं असङ्गता का उदाहरण पेश किया। वृन्दावन में माता-पिता के प्रति, बाल सखाओं की मित्रता, गोपियों के प्रेम के उत्तर में आचरण, स्वयं राधा के साथ प्रेम की पराकाष्ठा आदि किसी को भी देखें तो लगता है कि वे किसी के बिना एक क्षण रह नहीं सकते परन्तु वहाँ से मात्र 17 किमी0 दूर जब वे मथुरा जाते हैं वहाँ रहते हैं तो एक बार भी किसी से मिलने का प्रयास नहीं करते। राधा से भी नहीं। इन सबसे उनकी मुलाकात तब होती है जब वे कुरुक्षेत्र में एक स्नान-पर्व के समय जाते हैं। यह असङ्गता का एक उदाहरण है।

वे चाहते हैं कि सभी परिस्थितियों में समता रखो। समता को वे 'योग' कहते हैं। 'समत्वं योग उच्यते'। इसकी एक झलक देखें उनके जीवन में। जब वे सन्धि का प्रस्ताव लेकर शान्तिदूत के रूप में धृतराष्ट्र की सभा में जाते हैं, तो दुर्योधन उन्हें अपमानित करता है, घेर लेने की चेष्टा करता है, लेकिन वही दुर्योधन जब युद्ध छिड़ जाता है और वह उनसे सहायता माँगने जाता है, तो वे कहते हैं कि एक तरफ मेरी एक अक्षौहिणी सेना रहेगी तथा दूसरी तरफ मैं स्वयं बिना किसी शस्त्र के। तब सेना लेकर दुर्योधन प्रसन्न हो जाता है।

वे कहते हैं कि हमेशा, हर परिस्थिति में प्रसन्न रहो। प्रसन्नचित्त व्यक्ति के सभी दुःखों का नाश हो जाता है। जन्म के समय से ही अनेक विपत्तियाँ आईं, परन्तु उनकी प्रसन्नता, मुस्कराहट ज्यों की त्यों। यहाँ तक कि गान्धारी ने जब यादव वंश के विनाश का शाप दिया, तब भी वे मुस्कराते रहे। बहेलिया का बाण उनके पैर के तलवे में लगा तथा परमधाम जाने का समय आया, तब भी वे मुस्कराते रहे।

श्रीकृष्ण के लिये, साधन से अधिक महत्वपूर्ण साध्य है। ऐसा कार्य जिससे धर्म की स्थापना हो; समाज समुन्नत हो; दुष्ट, अन्यायी, पापी, दुराचारी का नाश हो; वे किसी कीमत पर पूरा करते हैं। इस हेतु युधिष्ठिर से झूठ बोलवाने, कर्ण तथा दुर्योधन को मरवाने में युद्ध नियमों का उल्लंघन करने हेतु आज्ञा देने में भी वे नहीं झिझकते। फिर वे कहते हैं कि तुम जो भी करते हो, खाते हो, किसी को देते हो, तप करते हो, वह सब मुझे समर्पित कर दो। ताकि अहङ्कार न रहे। वास्तव में सब कुछ भगवान का है, हमारा कुछ नहीं है। हमें निमित्त बनाकर वे जो काम लेना चाहते हैं, ले रहे हैं, अतः समर्पण करने में हमारा जाता क्या है?

शरणागत की रक्षा, उसके अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त के रक्षा की जिम्मेदारी, उसको सब पापों से मुक्ति हेतु आश्वासन तथा उसे निश्चिन्त करने आदि सबका जिम्मा वे ले लेते हैं और दबी जुबान से नहीं, कड़ी, गम्भीर वाणी में जिम्मा लेते हैं। आवश्यकता है केवल पूर्ण मन से शरणागत होने की। वे कहते है-

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" गीता 18/66

कृष्ण 'बुद्धियोग' की बात करते हैं। वे चाहते हैं कि हम कोई काम प्रारम्भ करने के पूर्व, उसके सम्बन्ध में खूब सोच लें। ऐसा कार्य जिससे लोकसंग्रह हो, सृष्टि के किसी प्राणी को कोई हानि न पहुँचे, सृष्टि अच्छाई की तरफ बढ़े, हम स्वयं उस कार्य को करके प्रसन्नता का अनुभव करें, पश्चात्ताप करने की स्थिति न पैदा हो। उसे हम अच्छी तरह विचार कर ही करें और एक वार जो भी कार्य करने को तत्पर होते हैं, उसे पूरे मन से, पूरी शक्ति से, फल की आशा छोड़कर, आसक्ति छोड़कर, सिद्धि-असिद्धि में समता का भाव रखकर करें। हमारा ऐसा कोई कार्य उन्हें प्रसन्न करने वाला होगा। हम गुणातीत हो जायेंगे। हम माया से मुक्त हो जायेंगे और मायापति के पास पहुँच जायेंगे। वे कहते है कि –

यस्मान्नोदि्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। गीता 12/15

जिससे किसी जीव, व्यक्ति को उद्वेग प्राप्त नहीं होता और जिसे स्वयं किसी व्यक्ति से उद्‌वेग का अनुभव नहीं होता, तथा जो हर्ष, असहिष्णुता, भय तथा उद्‌वेगों से मुक्त है, वह व्यक्ति मुझे प्रिय है। अर्थात् उनके मन वाला होने के लिए हमें उक्त गुणों को धारण करना होगा।

श्रीकृष्ण के मन की सवसे बड़ी वात होगी, यदि जीव गोपी वन जाय, उनके साथ प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँच जाय। व्यवहार में चाहे कुछ भी करता रहे, परन्तु एक पल के लिये भी अपने को उनसे अलग न होने दें। उनके लिए सब कुछ छोड़ने को तैयार रहे और उनकी बाँसुरी की एक आवाज पर महारास में भाग लेने हेतु, अपनी अवस्था पर विना ध्यान दिये दौड़ पड़े। उनके साथ महारास में अहङ्कार त्याग कर भाग ले, परन्तु वे चाहते हैं कि हे जीव! यदि तुम महारास में भाग लेना चाहते हो तो अधिकारी शिष्य बनो। अपने कर्तव्यों को समझो और फिर उस ज्ञान को जीवन में उतारो। भागवत परमहंसों की जीवनशैली को अपनाते हुए, भगवान् के अनुग्रह पर विश्वास रक्खो। जो साधना करता है उसी पर प्रभु की कृपा होती है। असत् वासनाओं को नष्ट करना आवश्यक है। स्वधर्म का पालन अहङ्कार को त्यागकर कार्य करो।

जिस सीमा तक अहङ्कार किसी महान् एवं श्रेष्ठ आदर्श के प्रति समर्पित होता है, उस सीमा तक जाना एवं उपलब्धियाँ प्राप्त करना सरल है। संसार का अपने सुख के लिये उपभोग करना है। यही असत् वासना है। जो स्वयं दुःख उठाकर दूसरों को सुख देता है, वह सन्त है। अतः सन्त बनना है, तब रासलीला में प्रवेश मिलेगा। इसके बाद ही कृष्ण की महारास में प्रवेश मिलता है।

गोपी और कृष्ण का मिलन अर्थात् जीव और ईश्वर का मिलन, पिता-पुत्री के मिलन की अपेक्षा अनेक गुना शुद्ध है। रासलीला में काम-वासना का नामो निशान नहीं है। बुद्धि में तनिक भी काम होने पर श्रीकृष्ण का दर्शन, मिलन सम्भव नहीं है। श्री राम की मर्यादा का पालन करने वाला ही श्रीकृष्ण को समझ सकता है।

अतः श्रीकृष्ण के मन वाले होने के लिए हम पात्रता लायें। गोपी वनें। राम लीला में प्रवेश की योग्यता के पश्चात ही श्रीकृष्ण के महारास में भाग लेने के अधिकारी वन सकते हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् की प्राप्ति- हेतु, उनके पास पहुँचने हेतु उनके द्वारा बताये गये चार मार्गो में से द्वितीय मार्ग भक्तिमार्ग है, अर्थात् 'मदभक्तो' को ध्यान में रखते हुए भक्त-भक्ति-भगवान् की चर्चा कर अपने अन्तःकरण को निर्मल करेंगे। आज अभी हम हृदय की गहराईयों में उतरने का प्रयास करेगें ताकि भक्त-भक्ति-भगवान् एक हो जायें। भक्ति (द्वैत) ज्ञान (अद्वैत) को पा ले- दोनों का समन्वय हो जाय। जो भक्ति ज्ञान के बिना अन्ध ी थी और भक्ति के बिना जो ज्ञान लंगड़ा शुष्क था, वे दोनों एक दूसरे को पाकर पूर्ण हो जायँ। उसके बाद कुछ करना नहीं पड़ेगा, प्रेम अपने आप आ जायेगा। इसके सम्बन्ध में मनुष्य के सबसे बड़े स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ की बात करते हुए भक्त प्रहलाद जी ने अपने बाल सखाओं से जो कहा हैं-

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।। (श्रीमद्भागवत 7/7/55)

इस प्रकार मनुष्य-शरीर में जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ, (एक मात्र परमार्थ) इतना ही है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति प्राप्त करे। उस भक्ति का स्वरूप है सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना।

भक्ति को भक्तों-विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। मोटे रूप में पूर्ण मन से, भाव से, ईश्वर-इष्ट के प्रति समर्पण, इष्ट का तैल-धारावत् चिन्तन तथा दिन-प्रतिदिन उसके साथ एक हो जाने की उत्कण्ठा, 'भक्ति' कहलाती है।

भक्ति की प्रारम्भिक सीढ़ी भाव प्रीति, श्रद्धा तथा अन्तिम सीढ़ी आत्मीय आह्लाद है। मन का शुद्ध रूप श्रद्धा तथा आह्लाद आत्मा का आनन्दस्वरूप है। दैत्यराज हिरण्यकशिपु तथा उसकी धर्मात्मा पत्नी कयाधु, जिसने प्रहलाद को पेट में धारण करने के अवसर पर कामान्ध हिरण्यकशिपु को किसी बहाने एक सौ आठ बार राम राम कहलवाया था, के पुत्र महान भक्त प्रहलाद ने पिता के पूछने पर उनसे 9 प्रकार की भक्ति बताई थी, जो इस प्रकार है-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। (श्रीमद्भागवत 7/5/23)

अर्थात् नाम-गुण-लीलाओं का श्रवण, कीर्तन, स्वरूप-नाम का स्मरण, चरण सेवा, अर्चना, वन्दन, दासभाव, मैत्रीभाव तथा आत्म निवेदन। नवधा भक्ति इस प्रकार है-

सन्त तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में भगवान् श्रीराम द्वारा शबरी को नवधा भक्ति की शिक्षा का वर्णन किया है। सन्तों का संग; कथा में रति; गुरुचरणों की सेवा तथा अमान, निष्कपट होकर भगवान् के गुणों का वर्णन; मन्त्रजप तथा दृढ़ विश्वास; अच्छा चरित्र, वैराग्य तथा सन्तों के आचरण में लगे रहना; जगत् को भगवान् से ओत-प्रोत देखना तथा सन्तों को मुझसे अधिक जानना; जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तोष तथा दूसरे का दोष न देखना; कपट-रहित व्यवहार, भगवान् पर भरोसा तथा हर्ष-विषाद का न होना। अपने स्वभाव, रुचि के अनुसार अनेक लोग इनमें से भक्ति का कोई एक साधन या कई प्रकार अपनाकर अपने जीवन को सफल करते हैं। जहाँ बालक ध्रुव ने मन्त्रजप का सहारा लेकर तपस्याद्वारा छह माह के अन्दर भगवान् को अपने पास आने को बाध्य कर दिया, वहीं चैतन्य महाप्रभु

ने कीर्तन का रास्ता अपनाया और अपने को इस स्तर तक पहुँचा दिया कि उनका शरीर जगन्नाथपुरी के जगन्नाथ जी के विग्रह में समा गया। बहुत कम पढ़े लिखे रामकृष्ण परमहंस, कबीर, रैदास, नानक आदि ने ऐसी भक्ति की कि उसके सहारे वे ज्ञानयोग की पराकाष्ठा पर पहुँच गये।

राम-रावण युद्ध के समय जब विभीषण, शरण में आने हेतु, समुद्र के किनारे सेना के साथ पड़े भगवान् राम के समक्ष, राक्षसी माया से आकाश में आये तो उतरने के पूर्व प्रभु के इशारे पर सुग्रीव ने कहा कि यह दुश्मन का भाई है, इसे शरण में लेना उचित नहीं होगा। श्री राम के इशारे पर हनुमान् जी ने कहा कि नहीं मैं इसका घर देख आया हूँ। यह अच्छा आदमी है। इसलिये इसे शरण में ले लें। तब श्री राम जी ने कहा कि शरण में आये हुए के लिए कोई शर्त नहीं होती। अतः इसे शरण में ले लेते हैं। निर्णय का आधारभूत वचन इस प्रकार है-

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
न मत्समाः पितुः पुत्राः सुहृदो न भवद्विधा।। (वा०रा० 18/15)

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अनन्य चिन्तनयुक्त पुरुष के बारे में कहा है-

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। गीता 9/22
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम मेरा ऐसा चिन्तन करो कि उसमें दूसरा न रहे। सब समय जो मेरे में ही लगे रहते है, मुझे अभिन्न मानते है। ऐसे लोगों को अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त का संरक्षण करता रहता हूँ। अप्राप्त की प्राप्ति करा देना योग है और उस स्थिति से भ्रष्ट नहीं होने देना हमारा क्षेम है। इन दोनों का निर्वाह मैं भलीभाँति करता रहता हूँ।

अब तनिक व्यावहारिक पक्ष पर विचार करें। अधिकांश लोग मन्दिर में पूजा, सेवा करते हैं। अपने इष्ट की सेवा में रहकर आनन्द लेते हैं। हम कैसे पूजा करें? कैसे सेवा करें? कैसे हमारा भगवान् से योग हो? अधिकांश भक्त अपने को भगवान् से अलग रखकर भक्ति का आनन्द लेने में सन्तुष्ट रहते हैं। भक्ति की चार प्रक्रियाएँ है। चर्या, क्रिया, योग तथा ज्ञान। पूजा की तैयारी हेतु फूल चुनना, मन्दिर साफ करना, सामग्री जुटा देना चर्या कहलाता है। अगरवत्ती-कपूर जलाना, आरती की तैयारी करना आदि क्रिया के अन्तर्गत है। इसके बाद पूजा, सेवा की जाती है, पूजा सम्बन्धी स्तुति, स्तोत्र पाठ करना आदि। बाह्य इन्द्रियों वाणी, कर्ण तथा मन का योग होता है। जब हृदय की गहराईयों में भाव उठते है, रोमांच हो जाता है, अश्रुधारा प्रवाहित होती है, शरीर में कम्पन होने लगता है, भगवान् (इष्ट) के नाम, रूप-गुण-लीला में भक्त डूब जाता है, तब भगवान् के साथ योग हो जाता है। ऐसे समय में न्यास-विधान (कर न्यास, अङ्गन्यास) बड़ा उपयोगी होता है। न्यास में हम अपने अङ्गों को भगवान् के अङ्ग में, मन को भगवान् के मन में मिला देते हैं तब हमारा सङ्कल्प, हमारी इच्छा नहीं रहती। साथ ही साथ जब हम अपने प्रत्येक अङ्ग में भगवान् के अङ्ग को अध्यारोपित कर देंगे। हमारे मन में भगवान् का मन प्रवेश कर गया तो झूठ बोलने की, पाप करने की गुन्जाइश कहाँ रही। इस प्रकार भगवान् के साथ एक होने की प्रक्रिया में,

गहराई में उतरते जाना है, तब तक, जब तक पूर्ण योग न हो जाय। अपने अस्तित्व का स्मरण न रह जाय। छन्दोग्योपनिषद् में ऋषि सयुग्वा रैक्व (गाड़ीवाले) द्वारा वर्णित संवर्ग विद्या इसी भाव का विस्तार है। इस प्रकार भक्ति के माध्यम से भक्त भगवान् का प्रिय हो गया। वास्तव में जैसा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा– 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुण (सत्व, रज, तम) ही गुणों में बरत रहे हैं। तमोगुण के कारण हमारे अन्दर मल है, रजोगुण के कारण विक्षेप है और अविद्या के कारण आवरण है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा मल को, पूजा, जप, तप, उपासना द्वारा विक्षेप को तथा सद्गुरु का कृपापात्र बनकर एवं सद्ग्रन्थों द्वारा आवरण को नष्ट करना चाहिये। यह सब होगा कैसे? तो भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुम् च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परन्तप।। (गीता 11/54)

हे श्रेष्ठ तप वाले अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं तत्वतः जानने, देखने और प्रवेश करने के लिये भी शक्य हूँ।

अन्त में गीता में कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, बुद्धियोग इत्यादि का वर्णन करने के पश्चात भगवान् शरणागति की बात कहते हैं–

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

अर्थात् धर्माधर्म-सम्बन्ध वर्जित हो जाओ। सब कुछ छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में हो जाओ। कर्तापन, भोक्तापन, अविद्या, माया, संसारीपन, भ्रम इन सबसे मुक्त हो जाओ।

अन्त में आइए हम आदिगुरु शंकराचार्य की षट्पदी प्रार्थना के प्रथम श्लोक द्वारा भगवान् श्रीविष्णु जी की प्रार्थना करें तथा अन्तिम श्लोक द्वारा शरणागत हो जायें–

'अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः।।

हे विष्णु भगवान्! मेरे अन्दर से अविनय नष्ट कर दीजिए अर्थात् नम्रता दे दीजिए। मन, जिसके कारण सारी अशान्ति है, का नियमन कर दें। विषयों की मृगतृष्णा का शमन कर दें। जीवों के प्रति दयाभाव का विस्तार कर दें तथा हे नाथ! संसारसागर से पार लगा दें।

"नारायण ! करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।" (षट्पदी प्रार्थना-7)

हे दयालु- करुणामय नारायण! मैं आपकी शरण में हूँ, आपके चरणों की सेवा कर रहा हूँ। अतः प्रभु अपने दास पर कृपा करें। शरण में ले लें।

भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन! यदि तुम मेरे मन वाले नहीं हो सकते, मेरे भक्त भी नहीं हो सकते और तुम कार्य करने में विश्वास रखते हो तो 'मद्याजी' मेरे लिये काम करो। मेरे पूजक बनो। इस सम्बन्ध में जब हम विचार करना चाहते हैं, तो पहला प्रश्न उठता है कि हम कार्य करें ही क्यों? क्या बिना काम किये हम नहीं रह सकते? उत्तर है नहीं।

हमारा शरीर पञ्च महाभूतों की पञ्चीकरणप्रक्रिया से बना है। यह प्रकृति का कार्य है। प्रकृति के तीन गुणों सत्व, रज, तम से बँधा है। अतः हम उनके अनुसार कार्य करने को बाध्य है। सारे व्यवहार, सृष्टि की सारी क्रियाएँ इन गुणों के कारण ही हो रही है। प्रतिदिन सत्त्वगुण की अधिकता होने पर हमारे अन्दर शुभ विचार आते हैं। रजोगुण की अधिकता होने

पर काम करने की प्रेरणा होती है तथा तमोगुण के हावी होने के कारण प्रमाद, निद्रा आती है और प्रिय से प्रिय व्यक्ति वस्तु को छोड़कर हम सोने हेतु बाध्य हो जाते हैं। वास्तव में हमारे अनेक जन्म हो चुके है और उन जन्मों में हमारे सूक्ष्म शरीर में जो वासनायें डेरा डाल चुकी हैं, वे ही चैन से रहने नहीं देतीं। वारी-वारी से वे वासनायें हमारी बुद्धि में आती है, मन में विचार का रूप लेती हैं और यदि मन बुद्धि पर हावी है तो कठोपनिषद् में बताये गये दो मार्गो में एक मार्ग-प्रेय-मार्ग को चुनकर मन, इन्द्रियों को आदेश देकर कार्य कराता है। यदि बुद्धि के अनुशासन में मन ने कार्य करने की सहमति दे दी है तो दूसरे मार्ग-श्रेय मार्ग-उत्तम मार्ग, को व्यक्ति चुन लेता है और तदनुसार कार्य करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (गीता 3/5)

कोई भी व्यक्ति कभी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नही रह सकता; क्योंकि सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों के प्रभाव में विवश होकर कर्म करते हैं। अतः कर्म करने हेतु तो हम बाध्य हैं। प्रश्न केवल यह है कि हम क्या करें? कैसे करें? क्या न करें? दैनिक क्रिया करने को तो हम बाध्य हैं। अतः इसे तो हमें करना ही है। शास्त्रों की आज्ञा है कि निषिद्ध कर्म हमको नहीं करना है। आवश्यकतानुसार, इच्छानुसार काम्य कर्म हम करते रहते हैं। भगवान् ने आदेश दिया है-

'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (गीता 3/8)

तुम नियत अर्थात् नित्य कर्म करो। उन्होंने बारह प्रकार के यज्ञ-द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, योग ज्ञान, प्राणायाम, आत्मसंयम, श्रोत्रादिक इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में, शब्दादिक विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नि में, देव पूजन रूप यज्ञ, ज्ञानियों द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में, सबको ब्रह्मस्वरूप मानकर यज्ञ विधान का वर्णन करते हुए कहा कि यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इस यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, वह लोक का बन्धन है, कर्म नहीं। अर्थात् यज्ञ भावना के विना किये गये सभी कर्म बन्धनकारी हैं।

केवल लोकसंग्रह हेतु ऐसे कर्म, जिसमें अपना कोई स्वार्थ नहीं, अहङ्कार नहीं तथा अन्त में प्रभु को ही समर्पित किये जाने वाले कर्म बन्धनकारी नहीं होते। इनमें फल प्राप्ति की भी कामना नहीं होती। भगवान् पुनः कहते है-

'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय' गीता 2/48

हे धनञ्जय! सङ्ग दोष को त्याग कर योग-समता में स्थित होकर कर्म करो। भगवान् से सम्बन्ध जोड़े रहो, समता में स्थित रहकर निष्काम कर्म तुम सफलतापूर्वक कर सकोगे। प्रत्येक समय उनसे जुड़े रहने की बात पर वे कितना जोर देते हैं, देखें-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। गीता 8/7

तुम सब समय मेरा निरन्तर स्मरण करो और युद्ध अर्थात् कार्य करते रहो। अपने मन बुद्धि को मुझमें अर्पित करके तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे।

यशोदा माता द्वारा दधिमन्थन के मनोहारी दृश्य का अवलोकन करें –

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धम्,
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च,
स्विन्नं वक्त्रं कवरविगलन्मालती निर्ममन्थ।। (श्रीमद्भागवत् 10/9/3)

वे अपने स्थूल कटिभाग में सूतरो बाँधकर रेशमी लहँगा पहने हुए थीं, उनके स्तनों में से पुत्र-स्नेहकीअधिकता से दूध चूता जा रहा था और वे काँप भी रहे थे। नेती खींचते रहने से बाँहें कुछ थक गयी थीं। हाथों के कंगन और कानों के कर्णफूल हिल रहे थे। मुँह पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं। चोटी में गुँथे हुये मालती के सुन्दर पुष्प गिरते जा रहे थे। सुन्दर भौंहों वाली यशोदा इस प्रकार दही मथ रही थीं।

उक्त श्लोक में भक्त के स्वरुप का निरूपण है। शरीर से दधिमन्थन-सेवाकर्म हो रहा है, हृदय में स्मरण की धारा सतत् प्रवाहित हो रही है, वाणी में बाल-चरित्र का संगीत। इस प्रकार भक्त के तन-मन-वचन सब अपने प्यारे की सेवा में संलग्न हैं। हमारा भी यही ध्येय है। एक बार उबलते हुए दूध को गिरने से बचाने हेतु वे कृष्ण को गोद से उतार कर दौड़ी तो कृष्ण ने मटकी फोड़कर मानो हमको सीख दी कि कोई कार्य भगवान् से बड़ा नहीं, उसे छोड़कर कुछ नहीं करना है। अब प्रमुख प्रश्न यह है कि हम अपने सभी कार्य कैसे करें कि वे सभी भगवान् के लिए मान्य हो जायें।

हमारा जीवन स्वतन्त्र नहीं है। हम समाज पर निर्भर हैं। प्रारम्भ से ही माता-पिता, परिवार, समाज इत्यादि पर निर्भर हैं। शुद्धवायु, जल, धूप, अग्नि आदि पर निर्भर हैं। देश तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी हम एक दूसरे से जुड़े हैं। आधुनिक विज्ञान भी मानने लगा है कि हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक परमाणु ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु से जुड़ा है। सूक्ष्मतम विचार करने पर कोई वस्तु जड़ नहीं है सबमें एक ही चैतन्य कार्य कर रहा है। देशकाल के अन्तर्गत कार्यरत सम्पूर्ण नाम-रुपात्मक जगत् का प्रत्येक अणु ईश-चैतन्य-ओङ्कार से व्याप्त है, जिसे "ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंचं जगत्याम् जगत्' (ईशोपनिषद्-1) के रूप में ईशावास्योपनिषद् ने वर्णन किया है। भगवान् बुद्ध ने अपनी ध्यान की अन्तिम अवस्था में पाया कि खिड़की से आते हुए सूर्य के प्रकाश में दिखाई देने वाले धूल के छोटे कण के 46656 वें छोटे-छोटे भाग के रूप में शरीर के कण दिखाई दे रहे हैं और वह भी जड़ नहीं, बड़ी तेजी से चक्कर काट रहे है। अर्थात् शरीर जड़ नहीं चेतन-पारदर्शी है।

अतः हमें सृष्टि के प्रत्येक कार्य को भगवान् से जोड़ देने में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि हम चैतन्य हैं और पूरी सृष्टि ही नहीं, अनेक ब्रह्माण्डो में चैतन्यतत्व एक और केवल एक है।

'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद भी कहता है। इस प्रकार जब वह अनन्त है, तो उसके टुकड़े हो ही नहीं सकते। ईशावास्योपनिषद में वर्णित मुख्य रूप से चार बातों में एक प्रमुख बात अपने कर्तव्य को करने सम्बन्धित है। अतः अपना कर्तव्य इस प्रकार

करें कि हमारा कर्म दूसरों के हित से जुड़ा हो। हम अपने कर्तव्य को जितना ही त्याग की भावना से करते जायेंगे, उतनाही हमारा व्यक्तित्व निखरता जायेगा। हम परमात्मा के करीब होते जायेंगे। लोग अपने आप हमारी तरफ आकर्षित होते जायेंगे। जैसे अपने शरीर का प्रत्येक अङ्ग अपने लिये नहीं, पूरे शरीर के लिए कार्य करता है, परिवार का मुखिया पूरे परिवार के लिए त्याग करता है, वैसे ही हम जितना अधिक अपना कार्यक्षेत्र बढ़ा लेंगे, लोगों से एकात्मभाव स्थापित कर लेंगे, उतना अधिक हम आकर्षण के केन्द्र बनते जायेंगे। परमात्मा के प्रिय हो जायेंगे। भारत में ऐसे मनीषी, योगी, सन्त हैं जिन्होंने प्रत्येक व्यक्ति से एकात्मभाव स्थापित कर लिया है। पूरा विश्व उनका परिवार है। अतः वे सभी आत्माओं से और इस नाते परमात्मा से जुड़ गये हैं।

"अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।"

जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना स्थापित हो जायेगी तथा 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु' की भावना से जो ओत-प्रोत हो जायेगा, वह भगवान् का प्रिय हो जायेगा। अतः सबका प्रिय हो जायेगा। उसका प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा हो जायेगी।

अतः हमको अपने प्रत्येक कार्य को भगवान् से जोड़ देना होगा ताकि हम प्रत्येक कार्य को भगवान् का कार्य समझकर करें। हम किसी कार्य के पूर्ण होने में निमित्त कारण ही हैं। जैसे कुम्हार को घड़ा बनाने के लिए दण्ड, चाक, धागा, मिट्टी तथा स्वयं वह सभी कारण हैं। बिना कुम्हार (अभिन्न कारण) के घड़ा नहीं बन सकता। चाक जो निमित्त कारण है वह बदला जा सकता है। उसी तरह भगवान् सबको निमित्त बनाकर अलग-अलग कार्य ले रहे हैं। हमको केवल उसके हाथ की कठपुतली बन जाना है। काम तो वही पूर्ण करेगा जिसको निर्धारित कार्य के लिये वे निमित्त बनायेंगे। किसी कार्य के लिए उसे सामर्थ्य भी वही देंगे।

एक उदाहरण पर विचार करें। जैसे किसी भूखे को आपने भोजन दिया तो उसकी आत्मा प्रसन्न होगी। आप यह कार्य उसके लिए नहीं, अपने स्वयं के लिए कर रहे हैं; क्योंकि इससे आपकी आत्मा प्रसन्न होती है। जिस प्रकार एक तालाब में फेंकी गयी छोटी कंकड़ी तालाब में प्रतिक्रिया व्यक्त करती है, छोटी-बड़ी अनेक वृत्ताकार आकृतियाँ बनती हैं, वैसेही आप द्वारा दिया गया भोजन चैतन्य समुद्र को उद्वेलित करेगा और सभी आत्माओं का केन्द्र भगवान् प्रभावित हो जायेंगे, प्रसन्न हो जायेंगे और आप का यह कार्य उनकी पूजा हो जायेगी।

ब्रह्म चेतन है। वेद के चार महावाक्यों में एक 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'चेतनब्रह्म' है। ऐसा कहा गया है कि छान्दोग्य उपनिषद् में नारद ऋषि के पूछने पर सनत्कुमार ने बताया है कि नाम-रूपात्मक संसार देश-काल से बँधा है। देश-काल का विचार भी पहले चेतन में आया है। अतः वह उससे परे है। चेतन के परे कुछ नहीं है।

अतः हम अपनी दिनचर्या को बिना बिगाड़े, विधिपूर्वक करते हुए सभी कार्यों को भगवान से जोड़ दें और अपने प्रत्येक कर्म द्वारा भगवान् की पूजा करें। यही 'मद्याजी भव' का भाव है।

उक्त श्लोक में वर्णित ये चार पद-भगवान् को इतने प्रिय हैं कि वे इसका प्रयोग गीता के मध्य नवें अध्याय तथा अपना उपदेश समाप्त करने के पूर्व अठारहवें अध्याय के अन्त में दो बार करते हैं। इसे कहने के पूर्व वे अन्त में यह भी कहते हैं कि हे अर्जुन! चूँकि तुम मेरे प्रिय हो, अतः तुमसे गुह्यतम बात बताते हैं। यहाँ अर्जुन के लिए प्रिय शब्द का प्रयोग करना खटक सकता है; क्योंकि वे तो 'समत्वं योग उच्यते' समता ही योग है-ऐसा कह चुके हैं। भगवान् ने अर्जुन को ही प्रिय कहा कि हम भी प्रिय हो सकते हैं। उन्होंने कई बार बताया है कि हम कैसे प्रिय हो सकते है। एक उदाहरण देखें। यदि हम एक कपड़े में बाँध कर पत्थर का टुकड़ा पानी में डालकर निकालें तो उस पर कोई असर नहीं होगा। यदि खाली कपड़े के टुकड़े को डालकर निकाले, तो वह पूरी तरह पानी से तर रहेगा, परन्तु थोड़ी देर पश्चात् ज्यों का त्यों। यदि हम नमक के टुकड़े को इसी प्रकार डालें तो पानी में इस प्रकार मिल जायेगा कि उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। अर्जुन, नमक की तरह अपना अस्तित्व समाप्त कर चुके थे। इसलिये वे प्रिय हो सके। हम भी ऐसा करके प्रिय बन सकते हैं।

'मां नमस्कुरु' केवल नमस्कार करके हम कैसे भगवान् के समीप जा सकते हैं? भगवान् से हमारे योग होने में अहङ्कार बाधक है। यदि हम अपने को अहङ्कार शून्य कर लें, तो हम कर्ता नहीं रह जायेंगे। कर्ता-भोक्ता नहीं है तो मुक्त हैं। भगवान् से मिलन हो गया। वास्तव में हम कर्त्ता हैं नही, 'अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' अहङ्कार से विमूढ़ होकर हम अपने को कर्त्ता मान लेते हैं। ऐसा स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है।

हम विचार करें कि अहङ्कार कितना प्रबल है और कैसे नमस्कार से दूर जा सकता है? अहङ्कार समाप्ति का एक उपाय श्रीमद्भागवत में है। हिरण्यकशिपु, भक्त प्रह्लाद का पिता, अहङ्कार का प्रतीक है। उसने कठिन तपस्या करके वर प्राप्त कर लिया कि वह न रात में मरे न दिन में, न अस्त्र-शस्त्र से, न घर के अन्दर न बाहर, वर्ष के बारह महीने में भी न मरे, न जमीन पर न आकाश में इत्यादि। अहङ्कार न रात में मरता है न दिन में किसी तरह भी नही मरता। एक ही तरीका है जिह्वा (जो न अन्दर है और न बाहर) पर, दो वृत्तियों के बीच में, एक वृत्ति के समाप्त होने तथा दूसरी के प्रारम्भ होने के पूर्व कृष्ण विराजमान हो जायँ जैसे रास लीला के समय कृष्ण हर दो गोपियों के बीच में थे।

जब हम किसी को नमस्कार करते हैं तो किसी अर्थ में उसे बड़ा समझकर करते हैं। उस समय उसके सामने हमारा अहङ्कार नहीं रह जाता। जब किसी एक अर्थ में थोड़ा बड़ा होने पर ऐसा सम्भव होता है तो जब हम प्रत्येक तरह से बहुत बड़ा-असीमित, परमसमर्थ, ऐश्वर्यवान्, भगवान् को नमस्कार करेंगें तो हमारा अहङ्कार कैसे शेष रह सकता है?

अब सूक्ष्मतर स्थिति पर विचार करें। प्रतिक्षण सृष्टि में सृजन हो रहा है जिसे भगवान् ब्रह्मा के माध्यम से करा रहे है। ब्रह्मा जी को सृष्टि करने के लिये, बुद्धि की आवश्यकता थी। अतः वे सरस्वती से जुड़ गये। सृष्टि का रख-रखाव, पालन, भगवान् के आदेश से विष्णु जी कर रहे हैं। पालन के लिए उन्हें साधन चाहिये था। अतः वे लक्ष्मी से जुड़ गये। प्रतिक्षण माया-प्रकृति में विनाश हो रहा है। अतः उसका दायित्व भगवान् की इच्छा से शङ्कर जी कर रहे हैं, जिस हेतु उन्होंने उमा (प्रकृति) का सहारा लिया। इन सभी क्रियाओं में-प्रतिक्षण बदलने वाली क्रियाओं में एक चेतन तत्व ऐसा है जो अविनाशी है, कभी बदलता नहीं है,

अजन्मा है, चैतन्य है। 'सत्यंज्ञानमनन्तम् व्रह्म'। इसलिए प्रतिक्षण वदलने वाली वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों में एक ही तत्व परमात्मा को ध्यान में रखकर हम नमस्कार करते हैं। सृष्टि का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों वही हैं। उनके अतिरिक्त कुछ अन्य है ही नहीं। दूसरे शब्दों में सृष्टि का प्रत्येक अणु, जो हम छूते हैं, खाते हैं, देखते हैं सब उसी का रूप है। अतः उसे याद करते हुए हम सवको नमस्कार करें। सबमें वहीं चेतनतत्त्व आत्मा मौजूद है, जो हमारे में है। हमारे और उसमें कोई भेद नहीं है। इसी को सन्त तुलसीदास ने इस प्रकार कहा है-

सीय राम मय सब जग जानी,
करऊँ प्रनाम जोरि जुग पानी। रा०च०मा० 7घ/2

श्रीमद्भागवत् में महात्मा बालक ध्रुव, भक्त प्रहलाद, भीष्म पितामह, व्रह्म, वेद, देवताओं, माता कुन्ती द्वारा भगवान् की स्तुति के माध्यम से प्रणाम किया गया है। यहाँ तक कि असुर वृत्रासुर ने भी स्तुति की है। श्रीकृष्ण की परमप्रेमी भक्त गोपियों ने तो गोपीगीत गाकर अपने को धन्य कर लिया है। हम भी इनमें से किसी के द्वारा की गयी स्तुति को दुहराकर या भावपूर्ण अपने शब्दों में स्तुति कर सकते है, नहीं तो कम से कम सृष्टि के प्रत्येक कण में उसका दर्शन करते हुए तथा उसे नमस्कार करते हुए उसके समीप पहुँच सकते हैं। हमारा उनसे योग हो सकता है।

सन्दर्भित श्लोक में 'मन्मना भव' के द्वारा 'ज्ञान योग' 'मद्भक्तों के' द्वारा भक्तियोग, 'मद्याजी' के द्वारा कर्मयोग तथा 'मां नमस्कुरु' के द्वारा 'शरणागति' का भाव भगवान् ने दिया है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गीता 18/66)

सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर तू मुझ एक की शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक को मत प्राप्त हो।

प्रस्तुत श्लोक गीता का सार है। गूढ अभिप्रायों से पूर्ण यह श्लोक गीता का उपसंहार है। इसमें कर्मयोग के फलस्वरूप प्राप्त आत्मदर्शन का वर्णन किया गया है। यही उपनिषदों का सार है। रामानुजाचार्य में इसे चरम श्लोक-सर्वश्रेष्ठ श्लोक कहा है। इसे कहने के पूर्व भगवान ने अर्जुन से कहा कि चूँकि तुम मेरे अधिक सबसे प्रिय हो, मेरे इष्ट हो, अतः तुमसे सर्वगुह्यतम बात बताने जा रहा हूँ।

'कर्मयोग से भगवत् प्राप्ति हो सकती है' इस बात को उन्होंने 'गुह्य' बताया। इससे अधिक महत्व की बात जिसे 'गुह्यतर' कहते हैं, वह है जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद तथा निराकार परमात्मा की शरण में जाना। 'सम्पूर्ण जगत मेरे से व्याप्त है' क्षर से अतीत तथा अक्षर से भी उत्तम पुरुषोत्तम मैं ही हूँ- आदि बातों को उन्होंने 'गुह्यतम' कहा। प्रस्तुत श्लोक में व्यक्त अपनी 'शरणागति' को उन्होंने सर्वगुह्यतम' कहा। भगवान की दृष्टि में यह बात छिपाने लायक है, सामान्य जन प्रकाशक नहीं है, सबसे कहने लायक नहीं है। यहाँ तक कि उन्होंने अभक्त, अतपस्वी, भगवान् में दोष दृष्टि रखने वाले तथा गुणो के बारे में सुनने के अनिच्छुक व्यक्ति से कहने हेतु मना किया। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में वर्णित शरणागति

वस्तुतः इसके पूर्व भगवान् द्वारा, उन्हें प्राप्त करने हेतु कहे गये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञान योग आदि से श्रेष्ठ तथा अन्तिम सर्वोत्तम उपाय है।

सर्व धर्मान् परित्यज्य- जितने भी धर्म हैं सबका आश्रय छोड़कर। यहाँ कर्मो के अभाव का या उनमें अनासक्ति का प्रतिपादन करना है, अतः 'धर्म' शब्द से अधर्म का भी ग्रहण किया गया है। शास्त्रों में वर्णित धर्म के विरुद्ध अर्थात् निषिद्ध कर्मो को तो हर हाल में छोड़ ही देना है, क्योंकि इनसे अनिष्ट या नारकीय शरीरों की प्राप्ति होती है तथा अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते है। भगवान् धर्मों को छोड़ने की बात किस कारण करते हैं, उनका 'धर्मों' को छोड़ने से अभिप्राय क्या है?

धर्म से यह तय होता है कि हमें क्या करना चाहिए तथा क्या नही करना चाहिए है। धर्म भगवत प्राप्ति- का साधन है। इससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है जो ईश्वर प्राप्ति में हेतु है। गीता के अनुसार कर्मो का भगवान् को अर्पण करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। धर्म दो तरह का होता है। कार्यात्मक जिसे हम छोड़ने में समर्थ हों। कारणात्मक- जिसे हम छोड़ने में समर्थ ही नहीं है। जैसे अग्नि अपने उष्णत्व का, जल अपनी शीतलता का त्याग नहीं कर सकता। हम अपने शरीर के अन्दर बहने वाले खून को रोक नहीं सकते। अनात्म पदार्थो को छोड़ा जा सकता है, आत्मा का त्याग सम्भव नहीं। ऐसे धर्मो को धारण करने के अभियान से मुक्त होना अर्थात् कर्तृत्व की वासना से मुक्त होना ही उक्त दोनों प्रकार के धर्मो से मुक्ति है।

भगवान् ने कर्तव्य कर्मो को करने से मना नहीं किया। वे तो अर्जुन को युद्ध करने की आज्ञा देते हैं और अर्जुन उनकी बात मानकर युद्ध करके उनकी इच्छानुसार विजयी भी होते हैं। ऐसा विरोधाभास क्यों लगता है? यह सर्वमान्य है कि निषिद्ध कर्म नीच योनि में ले जाने वाले हैं। अतः उन्हें नहीं करना है। अपने लिए उपयुक्त नित्य तथा नैमित्तिक कर्मो का आचरण करना ही चाहिए। हाँ काम्य कर्म बन्धनकारी होते है। इसके लिए भगवान ने गीता में एक अनूठा रास्ता बताया है, वह है कर्मयोग का। यदि हम फल की आशा छोड़कर मात्र लोक संग्रह हेतु बिना अभिमान के कर्म करते हैं और उसे भगवान् को सौंप देते हैं, तो उनकी आज्ञा है कि ऐसे कर्म करने चाहिए। ऐसे कर्म बन्धनकारी नहीं होते। ऐसे कर्मो को जीवन पर्यन्त करने की आज्ञा वे देते हैं तो फिर धर्मो को छोड़ने से उनका क्या तात्पर्य है? वे कहते हैं कि धर्म के तत्त्व को समझने के पचड़े में तुम (अर्जुन) न पड़ो, क्योंकि इसके तत्त्व को समझना बड़ा कठिन है।

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'

धर्म का तत्त्व गुहा में छिपा रहता है अर्थात् इसका भेद पाना या तत्त्व समझना बड़ा दुष्कर कार्य है। अर्जुन ने स्वयं महाभारत के युद्ध में लड़ने के उद्देश्य से भगवान् को अपने रथ का सारथी बनाया, युद्ध के मध्य में रथ को स्थापित करने को कहा, परन्तु पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य तथा सगे सम्बन्धियों को देखकर 'धर्मसम्मूढचेताः' स्वयं को कहते हुए न लड़ने के लिए अनेक तर्क देकर सिद्ध करना चाहा कि न लड़ना ही धर्म है। वे 'स्वधर्म' को समझने में असमर्थ रहते हैं तथा भगवान् से पूरी गीता सुनने के पश्चात् 'करिष्ये वचनं तव' मैं आपकी बात मानूँगा- कहा। इसी तरह महादानवीर कर्ण के रथ का पहिया जब युद्ध भूमि

में धँस जाता है तब उतरकर सँभलते हुए वह कहता है कि निहत्थे पर बाण चलाना धर्म के विरुद्ध है अतः अर्जुन को बाण चलाने से मना करता है और अर्जुन रुक भी जाता है, परन्तु भगवान् अर्जुन को मारने की आज्ञा देते हैं और इसे ही धर्म मानते हैं। किसी पशु वध करने वाले से गाय को बचाने के लिए झूठ बोलना धर्म हो जाता है। इसलिए धर्म को समझना कठिन कार्य है। दूसरी बात- यह सोचना ठीक नहीं कि हम अधर्म को पूर्णरुपेण छोड़ देगें और धर्म-कार्य करते रहेंगे। धर्म-अधर्म द्वन्द्व है। जब यह ज्ञान हो जाता है कि हम परमात्मा से परिच्छिन्न नहीं है, हम कर्ता-भोक्ता नहीं है, तो धर्म-अधर्म दोनों से छुटकारा हो जाता है। इस ज्ञान के पहले दोनों ही रहते हैं। ये साथ-साथ पैदा होते, रहते तथा जाते हैं, वैसे ही जैसे अग्नि के साथ धुआँ रहता ही है।

इसके साथ यह भी विचारणीय है कि यद्यपि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा। चूँकि धर्म-अधर्म कहीं से प्रारम्भ होते हैं तथा कहीं समाप्त होते हैं अतः इनकी सीमा स्वर्ग-नरक तक है। ये हमें मुक्त नहीं कर सकते। जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकते क्योंकि इनके साथ हमारा कर्ता-भोक्ता का भाव जुड़ा हुआ है। जब तक हम कर्ता-भोक्ता हैं तबतक ईश्वर से परिच्छिन्न हैं और हम अपने किये धर्म-अधर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक भोग कर पुर्नजन्म लेने हेतु बाध्य रहेगें। 'सर्व धर्मान् परित्यज्यं' से सारी साधनाएँ सफल हो जाती हैं और हम भगवान् के भरोसे हो जाता है।

जिससे अपना भी पतन हो तथा दूसरों का भी पतन हो, जिसे दूसरा भोगने को तैयार न हो, जिसे भगवान् के अतिरिक्त भोगने से कोई बचा न सके, उसे पाप कहते हैं। ऐसी कोई भी क्रिया, जिससे दूसरे का अहित हो, दूसरे को पीड़ा पहुँचे तथा स्वयं भी पश्चाताप का अनुभव हो, पाप की श्रेणी में आती है। जहाँ दुःख है वहाँ पाप है। वासना की तीव्रता से पाप होते हैं। राग द्वेष के कारण पाप होते हैं। अहं की पूजा की भावना के कारण पाप होते हैं। मूल पाप ईश्वर से विमुखता है, जो अज्ञान के कारण होती है। परमात्मा से एक हुए बिना अर्थात् उनसे अपरिच्छिन्नता का अनुभव किये बिना पूर्ण निष्पाप होना सम्भव नहीं है।

'मामेकं शरणं व्रज' – शरण माने रहने का स्थान, कुटिया, अधिष्ठान, आश्रय। मुझ एक की शरण जानो। भगवान् मन-बुद्धि से शरण में जाने को नहीं कह रहे बल्कि 'स्वयं' को शरण में ले जाने की बात कर रहे हैं। शरणागति स्वीकार करने के पश्चात् स्वयं पर भरोसा करना शरण्य को कलंकित करने जैसा है।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व दुर्योधन के समक्ष, एक अक्षौहिणी सेना को न लेकर केवल भगवान् को वह भी निहत्थे को अपने पक्ष में स्वीकार करना अर्जुन की पहली शरणागति थी। युद्ध का प्रारम्भ होने के समय मोहग्रस्त तथा किंकर्तव्य विमूढ अर्जुन अस्त्र-शस्त्र फेंक कर भगवान् का पैर पकड़कर बैठ जाते हैं तथा अपने लिए कर्तव्य-कर्म बताने की प्रार्थना करते है। वहाँ उनकी प्रपन्नता है, शरणागति नहीं है, क्योंकि थोड़ी ही देर बाद वह युद्ध न करने की बात कहते हैं जो कि भगवान् की इच्छा के विरुद्ध था। उनकी शरणागति तो तब पूर्ण होती है जब वे कहते हैं कि 'करिष्ये वचनं तव' अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा मैं करूँगा।

'कार्पण्य दोष' को अर्जुन स्वीकार करता है-

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' कार्पण्य दोष से मैं घायल हो गया हूँ। कार्पण्यदोष शरणागति का अङ्ग है। बृहदारण्यक उपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- 'गार्गी ! दुनियाँ को जोर से पकड़कर रखने वाला 'कृपण' है, क्योंकि उसके पास अक्षर तत्त्व को, परमात्मा को जानने का समय नहीं होता है।' कृपण व्यक्ति माया के खेल संसार की तरफ ही दृष्टि लगाये रहता है। जिसके सान्निध्य में सम्पूर्ण खेल चल रहा है उसकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

धृतराष्ट्र की भरी सभा में जबतक द्रौपदी को सभा में बैठे श्रेष्ठजनों तथा अपने वीर पतियों पर भरोसा रहता है, तबतक भगवान् नहीं आते, परन्तु सबका भरोसा छोड़कर जब वह पूर्णरूपेण भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाती है, तो वह साड़ी में प्रवेश करते हैं जिसके फलस्वरुप दुःशासन के लाख प्रयास के बाद भी वह निर्वस्त्र नहीं हो पाती।

शरणागति तो बिल्ली के बच्चे की तरह होनी चाहिए। बिल्ली का बच्चा कोई प्रयास नहीं करता। उसकी माँ अपने दाँत से पकड़कर दूसरे स्थान को ले जाती है। बच्चे की तरफ से बचाव-हेतु कोई प्रयास नहीं होता। बन्दर के बच्चे के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता।

शरण में विशेष बात होती है कि इसमें सबके साथ-साथ अपना भी संहार हो जाता है। भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कुछ प्रतीत नहीं होता-उनके अतिरिक्त सब कुछ मर जाता है। जब एक मात्र वे ही बचते हैं तो उनकी शरण कहलाती है। यदि हम शरण किसी की ग्रहण करते हैं और चाहते कुछ और हैं तो यह शरणागति नहीं कहलाएगी। भगवत् प्राप्ति हेतु साधन छोड़ देते हैं। उपाय वे होते हैं जिन्हे पहले तो कार्य की सम्पन्नता के लिए स्वीकार किया जाता हैं तथा बाद में कार्य सम्पन्न हो जाने पर छोड दिया जाता हैं

'उपादायापि ये हेयास्तानुपायाम् प्रचक्षते।' (वाक्यपदीय)

भगवान् उपेय है। शरणागति में उपाय और उपेय एक ही होते है।

शरण सर्वदा अपने से श्रेष्ठ की ली जाती है, नहीं तो अनर्थ होता है। कैकेयी ने मन्थरा की शरण ली, तो स्वयं विधवा हो गई, समाज में कलंकित हुई, अपने पुत्र भरत से परित्यक्त हुई। राजा दशरथ ने राम तथा कौशिल्या की शरण न लेकर कैकेयी की शरण ली, तो पुत्र-वियोग में शरीर ही छोड़ देना पड़ा। यदि चेतन-आत्मा जड़देह, मन-बुद्धि अहङ्कार की शरण लेगा तो पतन ही होगा।

आत्मा सर्वव्यापक तत्त्व है अतः उसे सभी वस्तुओं को प्राप्त करने वाला, ग्रहण करने वाला, विषयों का उपभोग करने वाला और सर्वत्र सदैव उपलब्ध रहने वाला कहा गया हैं-

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।"

भगवान् की तरफ से शरण में लेने हेतु कोई शर्त नहीं होती। कमी केवल हमारी (जीव) की तरफ से होती है। विभीषण भगवान् श्रीराम की शरण ग्रहण करने हेतु जब राम दल में आने की प्रतीक्षा आकाश में ही कर रहा था, तो भगवान् के इशारे पर सुग्रीव ने, रावण का भाई होने के कारण, शरण में न लेने की सलाह दी। तब भगवान् ने हनुमान जी की तरफ देखा। हनुमान जी ने कहा कि वे देख आये हैं। अच्छा आदमी है इसलिए शरण में आये हुए

को बिना किसी शर्त के ही स्वीकार करना चाहिए। अतः अपने को निकृष्टतम समझने वाले प्राणी को भी भगवान् की शरण जाने में बाधा नहीं माननी चाहिए।

भगवान् कहते हैं कि एक की शरण जाओ। शरण सदा एक की ही लेनी चाहिए। पुनः कहते है कि वह एक मैं ही हूँ अतः मुझ एक की शरण ग्रहण करो। श्रीमद्भागवत में भगवान् उद्धव से कहते है–

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्य श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः।। भागवत 11/12/14-15

प्रिय उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुनने योग्य तथा सुने हुए विषय का परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप मुझ एक की ही शरण सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करो। मेरी शरण में आ जाने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे।

सम्पूर्ण धर्मो को छोड़कर एक मात्र भगवान् की शरण ग्रहण कर लेने का फल उद्धव के बहाने हम सबको बता रहे हैं–

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा,
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदा मृतत्वं प्रतिपद्यमानो,
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।। भागवत 11/29/34

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मो का परित्याग करके मुझे आत्म समर्पित कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसके जीवत्व से छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है।

हे अर्जुन! मेरे प्रिय सखा! चूँकि तुम मेरे प्रिय हो, इसलिए तुम्हें सबसे गूढ बात जो सर्वगुह्यतम् है, बताई कि तुम सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ। इसके बाद तुम्हें कुछ नहीं करना है। तुम्हें किसी प्रकार का शोक नहीं करना है। मैं सभी पापों से तुम्हें मुक्त कर मोक्ष प्रदान कर दूँगा। तुम समस्त पापों से अर्थात् जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाले शुभाशुभ कर्मो से अथवा समस्त पापों की हेतु भूता वासनात्मिका अविद्या से मुक्त होकर आत्मा के अकर्तृत्व, उभोक्तृत्व, निर्विकारत्व, असंगत्व, सर्वगतत्त्व एवं परिपूर्णत्व का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर लोगे और सर्वदा के लिए मुक्त हो जाओगे। अर्थात् परिच्छिन्न जीवभाव से मुक्त होकर अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव में स्थित हो जाओगे।

ॐ तत् सत्।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता–सार

गीता अनेक हैं। भगवान् राम ने हनुमान् जी तथा लक्ष्मण जी को जो उपदेश दिया है, उसे 'रामगीता' कहते हैं। भगवान् कृष्ण ने उद्धव को जो सन्देश दिया उसे 'उद्धव-गीता'; वेदों के द्वारा भगवान् कृष्ण की जो स्तुति की गयी है, उसे 'स्तुति-गीता', महाराज जनक को महान् ज्ञानी अष्टावक्र ने जो उपदेश दिया है उसे 'अष्टावक्र गीता'; महाभारत युद्ध के पश्चात् अर्जुन की प्रार्थना पर ज्ञान की कुछ बातें श्रीकृष्ण भगवान् ने उसे बताई थीं, जिसे 'अनुगीता' कहते हैं। ये सभी गीता किसी नाम से या किसी विशेष परिस्थिति से जुड़ी हैं। परन्तु धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के मैदान पर, मरने-मारने हेतु सन्नद्ध, आमने-सामने खड़े कौरव-पाण्डवों के बीच में, अपने प्रिय सखा अर्जुन को जो ज्ञान भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया उसे 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह ज्ञान भगवान् ने व्यक्ति के रूप में नहीं दिया है; बल्कि श्रीकृष्ण ने परम-तत्त्व, परम-आत्मा के रूप में दिया है। महाभारत-युद्ध के पश्चात् अर्जुन द्वारा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का ज्ञान पुनः देने की प्रार्थना पर, अनुगीता सुनाने के पूर्व उन्होंने कहा था कि उस ज्ञान को पुनः नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह ज्ञान सर्वव्यापक, आत्मतत्त्वसे एक होकर दिया गया था। अर्थात् यह ज्ञान अर्जुन को निमित्त बनाकर, भगवान् ने मानव-मात्र के कल्याण को ध्यान में रखकर दिया था।

गीता क्या है? श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में उपनिपदों की भाँति ब्रह्मविद्या का वर्णन होने के कारण यह ब्रह्मविद्या तो है ही, इसके अतिरिक्त गीता में भक्ति का जितना विस्तार से वर्णन है, उतना उपनिषदों में नहीं है। उपनिषदों में सांख्यपक्ष, जिससे वेदान्ती संन्यासियों का पन्थ उपजा है, का वर्णन प्रमुखता से है, परन्तु गीता में उपनिषदों के योगपक्ष, जिसमें वेदान्ती-कर्मयोगी आते हैं, मुख्यरूप से वर्णित है। इसके अतिरिक्त गीता शास्त्रों के मूल उद्‌देश्यों को पूरा करती है। यह किसी मनुष्य को शोक की अवस्था से, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति से, किसी समय, किसी स्थान पर, किसी भी मनुष्य को उसके शोक की स्थिति से उबारकर उसे कर्त्तव्य-पथ पर खड़ा कर देती है; उसके जीवन में उत्साह भर देती है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के सभी व्यक्तियों की किसी भी समस्या का समाधान गीता में उपलब्ध है, इसलिये यह 'कर्मयोगशास्त्र' है। गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोग' है; क्योंकि कर्ममार्ग के आचारों के मूल तत्त्वों का शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन इसमें संवाद के रूप में किया गया है।

गीता का बीज मन्त्र निम्न श्लोक है-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। (गीता 2/11)

श्रीभगवान् ने कहा कि- 'जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिये तुम शोक करते हो, और ज्ञानियों जैसी बात कहते हो। ज्ञानी पुरुष मृत और जीवित दोनों के लिये शोक नहीं करते।' किसी मन्त्र का पूरा सार उसके 'बीज' में होता है। जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही किसी ग्रन्थ में एक विषय होता है जिस आधार पर ग्रन्थ का विस्तार होता है। किसी मन्त्र का पूरा सार भी उसके बीज में होता है। पूरी गीता इस बीज मन्त्र पर वैसे ही लिपटी हुई है जैसे पौधे से बीज।

गीता का मुख्य विषय यही है कि अध्यात्म-दृष्टि से मनुष्य की परम श्रेष्ठ अवस्था को बतलाकर उसके आधार से यह निर्णय हो कि कर्म-अकर्म रूप नीति-धर्म का मूलतत्त्व क्या है? गीता के पारलौकिक धर्म तथा नीतिधर्म दोनों का प्रतिपादन जगत् के आधारभूत नित्य तथा अमृतत्व के आधार से ही किया गया है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का परिणाम 'अभय' होता है, जो गीताज्ञान से प्राप्त होता है।

भगवान् के अंशावतार तथा गीता के रचयिता भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने नारायण-क्षेत्र में गीता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।। (गीता माहात्म्य-5)

समस्त उपनिषद् गौएँ हैं तथा गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहने वाले ग्वाले हैं, अर्जुन उन गौओं के बछड़े हैं और यह महत्त्वपूर्ण गीतारूप अमृत ही उसका दूध है, तथा सुबुद्धिमान् विवेकी पुरुष ही इसका पान करने वाले हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता को पढ़ने, मनन करने तथा उसे जीवन में उतारने के पूर्व हमें उपनिषदों के महत्त्व, गोपालनन्दन कौन हैं, पृथापुत्र अर्जुन कौन हैं, गीता-ज्ञान के पात्र कौन हैं तथा गीता-ज्ञान को अमृत क्यों कहा गया है-आदि बातों पर विचार करना आवश्यक है, ताकि हम इस ज्ञान के महत्त्व को भली-भाँति जानकर, इसे अपने जीवन का अङ्ग बना सकें, तथा साधना करते-करते अपने आत्म-स्वरूप को जानकर ब्रह्म-साक्षात्कार कर सकें एवं संसार के आवागमन से मुक्त हो सकें।

उपनिषद् 'वेद' के अन्तिम भाग हैं, जिन्हें 'वेदान्त' कहते हैं। जिस ज्ञान को प्राप्त करने पर सृष्टि के अन्तर्गत समस्त पदार्थों को जाना जा सकता है और जानने के लिये कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, उस ज्ञान को 'वेद' कहते हैं। वेद अनादि हैं तथा ज्ञानरूप से ब्रह्म-परमात्मा के साथ उनकी श्वास के रूप में अनादि काल से अवस्थित हैं। वेदों में अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्ड के, सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्ड के तथा चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्ड के हैं। कुल एक लाख मन्त्र हैं। ज्ञानकाण्ड के मन्त्र उपनिषदों के अन्तर्गत आते हैं।

उपनिषदों में जगत् और जीव के रहस्यों का उद्घाटन तथा परमसत्ता के साथ इनका सम्बन्ध बताया गया है। इनके अनुसार यह सृष्टि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है, तथा सब कुछ उससे व्याप्त है। इसमें सर्वत्र सन्तुलन है तथा मानव आत्मसंस्थित होकर परमसत्ता के साथ एकत्व स्थापित कर सकता है। उपनिषदों में वर्णित तात्त्विक तथ्यों का सार ही गीता में वर्णित है। इसलिये गीता का नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्' है। श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषद् कहना इसलिये समीचीन है; क्योंकि जिस प्रकार उपनिषदों में आत्मा, ईश्वर, जीव तथा जगत् के सम्बन्ध में वर्णन है, उसी प्रकार गीता में भी है। गीता के प्रत्येक श्लोक उपनिषदों के मन्त्र की तरह हैं।

गोपालनन्दन श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है-

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं '। ।। श्रीमद्भागवत।।

जगत् के परे जो तत्त्व है, जो जगत् में भी सब कुछ है, वही वासुदेव भी हैं, वही प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी स्थित हैं। वे ही सभी अस्तित्व की आत्मा हैं। वे प्रत्येक चीज का मूल तथा उसके वास्तविक अर्थ हैं। वही अपनी विभूतियों में प्रकट हैं। वे समय की अन्तरात्मा हैं, तथा जगत् के सभी कार्यों के प्रेरक हैं। वे सभी ज्ञान के प्रकाशक तथा सभी कार्यों के मालिक हैं। इस अधिक गहरी, अधिक सत्य, अधिक गुह्य रहस्य के प्रति अन्तः झुकाव का परिणाम ही सम्पूर्णज्ञान, सम्पूर्णभक्ति, सम्पूर्णकर्म है, जो गीता का योग है। यह एक साथ ही आध्यात्मिक वैश्विकता तथा पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व का अनुभव है।

श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद, ईश्वर-जीव के संवाद के रूप में है। युद्ध की स्थिति उत्पन्न होने पर अर्जुन द्वारा आत्म-निरीक्षण, युद्ध के लिए तबतक तैयार न होना जबतक उसकी शङ्काओं का समाधान न हो जाय, परन्तु निर्णय की स्थिति पर न पहुँच पाने की असमर्थता के कारण श्रीकृष्ण से शिष्यत्व ग्रहणकर उचित मार्ग-निर्देशन करने की प्रार्थना की परिस्थितियों से यह शिक्षा मिलती है कि जीव को किसी कार्य को करने से पूर्व हानि-लाभ का निर्णय बुद्धि से करना चाहिये। उचित न लगने पर किसी कार्य को करने से दृढ़तापूर्वक इनकार कर देना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि कार्य को करने से धर्म का पालन होकर परलोक मिलेगा? क्या लोक में कीर्ति मिलेगी? अन्तःकरण की शुद्धि होगी? क्या यह कार्य मोक्ष की ओर ले जायेगा? क्या मेरा निर्णय मेरी दुर्बलता के कारण तो नहीं है? इस प्रकार का आत्म-निरीक्षण मानवधर्म है। यदि हम निर्णय नहीं कर पाते, तो हमें अपने अन्तर्यामी ईश्वर से, किसी सद्गुरु से उचित मार्ग-निर्देशन हेतु पूछना चाहिये। किसी अनुभवी से, किसी जानकार से पूछना तथा उससे लाभ उठाना मानवधर्म है। उपदेश चरितार्थ तभी होगा, जब पूछने वाले में अहंभाव न रहे, उसमें नम्रता रहे तथा नम्रता के भाव में शिक्षा देने हेतु वह प्रार्थना करे।

गीता में ईश्वर वह है जिससे सब जीवों की प्रवृत्ति हुई है। वे ही अन्तर्यामी रूप से सबके प्रेरक हैं। पूरी सृष्टि उन्हीं का प्रसार या प्रपञ्च है। वे सबके कारण भी है तथा कपड़े में सूत की तरह सबको व्याप्त भी किये हुए हैं। वे ही सबके निमित्त तथा उपादान कारण हैं। उनसे भिन्न कुछ नहीं है। वे कार्य तथा कारण दोनों हैं। वे दिक्-काल से परे हैं। वे सर्वत्र, सर्वरूप में हैं। वे ही हमारे उपास्य हैं। उन्हीं की हर प्रकार से पूजा हमें करनी है।

गीता में जीव को भगवान् ने रथी बनाया तथा स्वयं सारथी बने हैं। अर्जुन रथी तथा श्रीकृष्ण सारथी हैं। शरीररूपी रथ के घोड़े इन्द्रियाँ हैं, बुद्धि सारथी तथा जीव रथी है। अर्जुन ने अपने घोड़ों-इन्द्रियों की लगाम-मन श्रीकृष्ण को दे रखी है, जिनके एक हाथ में लगाम तथा दूसरे हाथ में नियन्त्रण-हेतु चाबुक है। जीव जब अपने रथ का सारथी ईश्वर को बना देता है, तो वह उसे सही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं तथा जीव को गलत रास्ते पर जाने से नियन्त्रित भी करते हैं। यदि जीव अपने रथ का सारथी ईश्वर को नहीं बनाता, तो उसका नियन्त्रण उसकी कामनाएं करती है जो उसे लक्ष्य से भटकाती रहती हैं और वह सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ जीवनयापन करता है।

भगवान् राम तथा भगवान् कृष्ण पूर्ण अवतार हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण के प्रियसखा, प्रियशिष्य, प्रियभक्त, व्यवहार में उनके बहिन के पति, सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी, महाबली, स्वभाव से ऋजु, द्वन्द्व युद्ध में भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त करने वाले,

भगवान् कृष्ण में अटूट विश्वास रखने वाले, स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से भी प्रभावित न होने वाले, दूसरे के दोषों को न देखने वाले, निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेने से 'गुडाकेश' कहे जाने वाले तथा अनेक अन्य गुणों को धारण करने वाले हैं। श्रीकृष्ण जहाँ साक्षात् नारायण हैं, वहाँ अर्जुन नर हैं।

महाभारत के युद्ध में कौरव–पाण्डव की सेनाओं के मध्य, युद्ध के मैदान में अपने सगे–सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन भी द्वन्द्व में पड़ गये। अर्जुन भावुकता के अधीन हो गये। उनके मस्तिष्क को उनके हृदय ने हर लिया। उन्हें मोह हो गया। मोह में तो व्यक्ति की सोच विपरीत हो जाती है। जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में तो महत्त्व विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश का है, भावुकता का या संवेदनाओं से सम्बन्ध रखने वाली किसी वस्तु का नहीं। उनकी बुद्धि धर्मयुद्ध तथा कर्त्तव्यपालन के पक्ष में तथा मन सम्बन्धियों से लगाव के कारण, मोह के कारण धर्म–युद्ध से हट जाने के पक्ष में हो गया– ऐसी परिस्थिति हम सबके जीवन में सदैव आती रहती है। हम सही निर्णय पर पहुँच नहीं पाते। यही हमारे सभी दुःखों का कारण है।

अर्जुन दृढ़ निश्चय के प्रतीक हैं। लक्ष्य के प्रति जागरूक हैं। संयम की मूर्ति हैं। भगवान् कृष्ण में उनका इतना दृढ़ विश्वास है कि इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त किये भीष्मपितामह, गुरुद्रोणाचार्य, जिन्हें हाथ में शस्त्र रहते हराना असम्भव था, चिरञ्जीवी अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अमोघशक्ति (जिसे स्मरण कर किसी के ऊपर प्रहार करने पर उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है) प्राप्त महावली कर्ण आदि के, दुर्योधन के पक्ष में होने पर तथा सैन्य वल में उससे अधिक होने पर भी, अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से एक अक्षौहिणी सेना न माँग कर केवल श्रीकृष्ण को, वह भी निहत्था लेकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। ऐसे अर्जुन को मोह पैदा हो, विश्वास नहीं होता। लगता है भगवान् ने मानवमात्र पर कृपा की तथा अर्जुन के रथ को उनके पितामह, गुरु द्रोणाचार्य तथा उसके सगे–सम्बन्धियों के सामने खड़ा किया ताकि उन्हें देखकर उन्हें मोह उत्पन्न हो तथा ऐसी प्रेरणा दी कि वह अपने मोहनिरसन तथा कर्त्तव्यपालन के सम्बन्ध में अनेक ऐसे प्रश्न पूछें जो उनके व्यक्तिगत प्रश्न होते हुए भी ऐसे प्रश्न हैं जो किसी सांसारिक मनुष्य के मन में उठते हैं। लगता है कि उनका प्रत्येक प्रश्न हमारा ही प्रश्न है तथा हमारे लिये ही पूछा गया है। जैसे मन बहुत चञ्चल है, इसे नियन्त्रित करना वायु को नियन्त्रित करने के समान अत्यन्त कठिन है, कैसे इसे नियन्त्रित किया जा सकता है? मनुष्य न चाहते हुए भी पाप–कर्म में क्यों और कैसे प्रवृत्त हो जाता है? संन्यास और त्याग में श्रेष्ठ कौन है? सगुण–निर्गुण भक्ति में किसे अच्छा माना जाय आदि। अतः युद्ध के मैदान में, सांसारिक जीवन में संघर्ष करते हुए मनुष्य कैसे कार्य करे? कैसे अपना जीवनयापन करे, ताकि उसकी एकमात्र मूलभूत इच्छा–सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति हो सके और वह अपने जीवन के लक्ष्य को पा सके। इस हेतु भगवान् ने मनुष्यमात्र के कल्याण को ध्यान में रखकर कृपा की तथा अर्जुन को निमित्त बनाकर अमृत–तत्त्व प्रदान किया। इसी अमृत–तत्त्व की प्राप्ति के लिये विदुषी गार्गी ने याज्ञवल्क्य ऋषि से अनेक प्रश्न किये थे।

गीता–ज्ञान के अधिकारी कौन है? जो प्रवृत्तिमार्ग के अनुभवों को प्राप्तकर निवृत्तिमार्ग की तरफ मुड़ चुके हैं, जिन्होंने प्रेय तथा श्रेय मार्गों में 'श्रेय' को चुन लिया है, जिनकी प्रवृत्ति स्वार्थपूर्ण कर्मों से ऊपर उठकर निष्काम, निःस्वार्थ कर्मों की तरफ झुकी है, जिनको दूसरों

की सेवा करने में आनन्द आने लगा है, जिनकी आत्म-अनात्म को जानने की विवेक-बुद्धि जागृत होने लगी है, राग-द्वेष से ऊपर उठने की भावना जिनमें पैदा हो गयी हैं, सांसारिक विषयों से वैराग्य तथा भगवान्-इष्टदेव में राग होने लगा है, दान द्वारा जिन्होंने लोभ को कम करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया हैं, जो सबके प्रति गहरी अनासक्ति का अनुभव कर रहे हैं; निष्काम कर्म, पूजा-पाठ, जप-ध्यान आदि से जिनका चित्त निर्मल हुआ है, जिनकी बुद्धि प्रखर है, मूर्ख नहीं हैं-ऐसे लोगों के लिये गीताज्ञान बहुत उपयोगी है। जो पापी हैं, धर्म-सन्त-साधु-संन्यासी-भगवान् की शिकायत-दोषान्वेषण करने वाले हैं, तमोगुणी व्यक्ति हैं, वे अधिकारी नहीं हैं।

गीता की शिक्षा उनके लिये नहीं है जो अपनी अहङ्कारपूर्ण, स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से ईश्वर को ही अपने स्तर पर लाने का प्रयास करते हैं तथा जो ईश्वर से अपने मन के अन्दर दवी हुई इच्छा की पूर्ति चाहते हैं। यदि हम गीता की शिक्षा को ग्रहण करना चाहते हैं तो हमें अपने को व्यक्तिगत स्तर से उठाकर उसी स्तर पर स्थापित करना होगा, जिस स्तर पर होकर भगवान् शिक्षा दे रहे हैं। तभी योग सम्भव है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन सम्बन्धों पर आधारित है और परमात्मा सब कुछ करते हुए भी सबसे निर्लिप्त हैं। अतः उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा सम्बन्ध रहित ही होनी चाहिये।

गीता का आरम्भ अर्जुन के विषाद से हुआ औरं इसकी समाप्ति भक्तियोग-शरणागति में हुई। लेकिन शरणागति, जो गीता का लक्ष्य है तथा जिसे भगवान् ने सर्व गुह्यतम बात कहकर व्यक्त किया है, के पूर्व किसी मुमुक्षु मनुष्य के मन में उठने वाले सम्भावित प्रश्नों को अर्जुन द्वारा पूछने पर भगवान् ने उनके समाधान हेतु तथा अपनी तरफ से भी तत्त्वज्ञान हेतु अनेक बातें बतायीं, जिनका सहारा लेकर तथा उनकी बातों का पालन कर, मनुष्य अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भगवान् ने अर्जुन को शरणागति के पूर्व क्या मुख्य बातें क्रमशः बतायीं, क्या शिक्षायें दीं, जिन्हें जानकर विषादमुक्त होकर अर्जुन शरणागत हो गये तथा बिना शर्त 'करिष्ये वचनं तव' कहने लगे?

मनुष्य-जन्म पाकर भी कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनका मस्तिष्क स्वार्थ तथा स्वजनों के स्नेह से इस तरह प्रभावित रहता है कि दूसरे के हित के बारे में सोचते ही नहीं। परिणाम यह होता है कि वे स्वयं अपने स्वजनों के साथ राष्ट्र का अहित करते हैं। गीता का आरम्भ करने वाले धृतराष्ट्र इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। दूसरी श्रेणी ऐसे लोगों की होती है जो अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, छल-कपट, अहङ्कार आदि के वश में रहते हैं, धन, मान, पद, शक्ति आदि की कामना के वशीभूत होकर स्वयं अपने सगे-सम्बन्धियों तथा राष्ट्र की क्षति करने से भी नहीं हिचकते और अन्त में इसका परिणाम होता है कि वे अन्य के साथ स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। दुर्योधन इसका एक उदाहरण है। उपर्युक्त प्रकार के लोगों हेतु गीता की शिक्षा का कोई असर नहीं होता। धृतराष्ट्र ने भी सञ्जय से पूरी गीता सुनी थी, परन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

गीता में इन प्रश्नों तथा जीवन से जुड़ी अन्य बातों का सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत है। इसकी शिक्षा का पालन कर मनुष्य अपने परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है तथा शरीर के रहते आनन्दपूर्ण जीवन बिता सकता है।

गीता हमें अच्छे अध्यापक की भाँति उच्चस्तरीय स्तरों पर ले जाती है ताकि हम पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो सकें, जो हमारा उद्देश्य है। मुक्ति तथा स्वतन्त्रता का एक ही अर्थ है, और स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु नियम-विधान को मान्यता देना तथा पालन करना आवश्यक है। हमारे दुःख का कारण वैश्विक विधान की अज्ञानता है। इस अज्ञानता का कारण हमारा व्यक्तिगत स्तर पर सोचना तथा इन्द्रियों पर निर्भर रहना है। उच्चस्तरीय नियम, अवैयक्तिक स्तर पर कार्यरत हैं। इन्हें अन्तर्दृष्टि, सम्यक् बुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता है। ऐसी सम्यक्बुद्धि-अन्तर्दृष्टि हमें गीता प्रदान करती है, और हमारे सभी कर्म योग वन जाते हैं। अर्जुन का विषाद भी योग वन गया।

उपनिषदीय ज्ञान को व्यवहार में लाना भगवद्गीता का उद्देश्य है। गीता-दर्शन, भावनाओं तथा कर्त्तव्यों के बीच, श्रेय तथा प्रेय के बीच, विपरीत परिस्थितियों में जीवात्मा का उचित मार्गदर्शन करता है। किसी व्यक्ति की गलत समझ को, अन्तर्द्वन्द्व तथा मोह की स्थिति को दूरकर गीता सम्यक्दृष्टि प्रदान करती है, जिससे वह व्यक्ति वास्तविक स्थिति का स्पष्ट दर्शन करने में सक्षम हो जाता है। उसकी दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि हो जाती है।

जवतक हमारी बुद्धि वासनाओं से निवृत्ति की नहीं होगी, अपने कल्याण की तीव्र इच्छा नहीं जागृत होगी, दुर्गुणों से मुक्त होने की बुद्धि नही होगी तबतक जीवन के लक्ष्य की तरफ बढ़ना सम्भव नहीं है। इसके लिये बुद्धियोग चाहिये। गीता हमारे ज्ञान, इच्छा तथा कर्म का शोधन करना चाहती है। इन तीनों की शुद्धि हेतु बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण करने की बात कही गयी है। कर्म की शुद्धि होती है निष्कामकर्म करने से, इच्छा की शुद्धि होती है, एकमात्र ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा से तथा ज्ञान की शुद्धि होती है, आत्मा-परमात्मा-जगत् के स्वरूप तथा यथार्थ तत्त्व के ज्ञान से। ये सभी बातें गीता के बुद्धियोग के अन्तर्गत आती हैं। बुद्धियोग का आश्रय लेकर ही हम अपने कर्म को इस प्रकार कुशलता से कर सकते हैं, जिससे पाप-पुण्य से बच सकें, कर्म के दोष से बच सकें। सिद्धि-असिद्धि, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र में समता का भाव रख सकें। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग किसी का पालन प्रतिष्ठित बुद्धि बिना सम्भव नहीं है।

अज्ञान से ढके हुए ज्ञान को प्रकाशित करने हेतु गीता की परा विद्या है। जवतक हम अज्ञान में रहते हैं, तवतक चार अस्थायी सुख-अभिमान का सुख, भोग का सुख, मन की कल्पनाओं से प्राप्त होने वाला सुख तथा अभ्यास का सुख-को ही वास्तविक सुख मानकर भोगते रहते हैं। भूत की याद, भविष्यत् की कल्पना में समय नष्ट होता रहता है तथा चाहते हैं कि वर्तमान, जो प्रतिक्षण बदल रहा है, हमारे साथ चले- इससे मोह होता है। इससे वास्तविक सुख, जो इन्द्रियों से नही मिलता, जो दिक्-काल की सीमा से परे है, जिसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं, जो ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित होने पर प्राप्त होता है, से वञ्चित रहते हैं। गीता की इस विद्या से हम ईश्वर तथा जीव के स्वरूप को, सृष्टि के रहस्य को, इनके आपसी सम्बन्ध को तथा आत्मा-परमात्मा के एकत्व को जान पाते हैं। गीता की इस ब्रह्मात्मैक्यविद्या को जानना, इसका आश्रय ग्रहण करना मानवधर्म है। इसी विद्या से हम समझ पाते हैं कि ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त तथा उपादान, दोनों कारण है। वह विभूति तथा योग दोनों है। वह सृष्टि का मूल तत्त्व भी है और अनेक रूपों में प्रकट होने वाला भी है।

कपड़े में सूत की तरह वह पूरी सृष्टि में व्याप्त है। जन्म-मृत्यु उसकी विभूति है तथा तत्त्व उसका योग है। ईश्वर से ही सम्पूर्ण जगत्, जैसे माला के सूत में मणियाँ गुँथी होती हैं, उसी से सम्बद्ध है। वही सत्-असत् दोनों है। जन्म-मृत्यु दोनों है। जीव उसी का अंश है। दोनों तत्त्वतः एक हैं। दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि हम ईश्वर से जुड़कर तथा उसे केन्द्र में रखकर व्यक्तिगत सम्बन्धों को निभाते हैं, तो हम सच्चे अर्थ में धार्मिक हैं।

अहङ्कार से पूर्णतया रहित होकर आत्म-स्वरूप की अनुभूति करना गीता का सन्देश है। गीता के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा एक है। दोनों के तादात्म्य की अनुभूति होने पर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान या ध्याता-ध्येय-ध्यान एक हो जाते हैं। इसे ही समाधि-सिद्धि या आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। गीता की शिक्षा इस उच्च स्थिति में हमें स्थापित करने की शिक्षा है। ज्ञानयोग की शिक्षा, संसार के स्वामी के विभिन्न अंशों, जिन्हें अपरा तथा परा प्रकृति कहते हैं तथा पुरुषोत्तम के बारे में है। गीता में ज्ञान को सम्यक् कर्म का आधार बताया गया है। ज्ञान होने पर सभी सांसारिक सम्बन्ध स्वतः शिथिल हो जाते हैं। हर तरह की आसक्ति स्वतः समाप्त होने लगती है। भगवद्गीता के अनुसार सर्वोच्च अनासक्ति व्यक्तिगत साधारण प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि कण-कण में व्याप्त परमतत्त्व की उपस्थिति की अनुभूति के सम्बन्ध में है।

गीता में बुद्धि को बहुत महत्त्व दिया गया है। ईश्वर के रूप में श्रीकृष्ण ने जीव के रूप में अर्जुन को बुद्धि की शरण ग्रहण करने को कहा है-

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' (गीता 2/49)

बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर अपने मन को निरन्तर ईश्वर में लगाने को कहा है-

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।' (गीता 18/57)

ऐसा करने पर इसका फल भी बताया कि ईश्वर बुद्धियोग दे देते हैं, जिससे उसकी प्राप्ति हो जाती है-

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (गीता 10/10)

आत्मा के रूप में आत्मा का साक्षात्कार धर्म है। दो सत्ताएँ हैं- प्रकृति तथा आत्मा। प्रकृति के अन्तर्गत बाह्य जगत् के अतिरिक्त हमारा शरीर, मन, इच्छा आदि भी आते हैं। आत्मा इन सबसे परे चेतन ज्योति है। असीम प्रकाश है। उसका प्रकाश सदा एक-सा रहता है। अपरिवर्तनीय है। जिस क्षण जीवात्मा शरीर त्याग देता है, सब बिखर जाता है। हमारे शरीर-मन-बुद्धि का आधार आत्मा ही है। जड पदार्थ की नानाविध क्रियायें उसी पर आधारित हैं। यद्यपि आत्मा हमारी शारीरिक गतिविधियों, विचारों आदि का कारण है, तथापि वह स्वयं प्रकृति के गुणों से अछूता है।

निवृत्तिमार्ग पर चलते हुए जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि सभी समस्याओं के मूल में अहङ्कार है और इससे मुक्त होने हेतु सद्गुरु तथा परमात्मा की शरण में जाते हैं तो हम आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ते हैं और मुक्ति हेतु हमारा प्रयास सार्थक होता है। जबतक जीवात्मा में अहङ्कार, जो अविद्या का मूल है, की प्रधानता रहती है, और यह हमें अपने आत्म-स्वरूप, अनन्त एकत्व, जीवात्मा तथा परमात्मा के तादात्म्य से दूर रखता है, हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं। हमारे तीनों तापों-दैहिक, दैविक तथा आध्यात्मिक-

का मूल कारण यही है। जबतक हम प्रकृति के अंश हैं, अर्थात् शरीरधारी हैं, तबतक कर्म करने से बच नहीं सकते। मनुष्य के लिये कर्म तो पूर्णता की ओर बढ़ने हेतु ईश्वरीय विधान है। व्यक्तिगत या सामूहिक उत्थान हेतु आन्तरिक शक्ति कर्म ही है और जब कर्म करेंगे तों कर्म का दोष-कर्मबन्धन भी लगेगा। कर्म करते हुए कर्मबन्धन से बचने का अनोखा मार्ग गीता में बताया गया है और वह है अहङ्कार तथा फलाशारहित होकर कर्म करना। इसी को गीता ने कर्मयोग कहा है। यदि हम सृष्टि-चक्र चलते रहने के उद्देश्य से, अपने स्वधर्म का पालन करते हुए फलाशा, आसक्ति और अहङ्कार से रहित होकर कर्म करते हैं, तो हमारे कर्म, अकर्म हो जाते हैं। हम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते है।

ज्ञान तथा कर्म साथ-साथ चलने चाहिये। हमारे सभी कार्य ज्ञान से पूर्ण होने चाहिये। प्रकृति में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति होती है। यदि ज्ञानरहित इच्छा, क्रिया की सम्प्रेरक होगी तो हमें दुःख का सामना करना पड़ेगा तथा अनेक प्रकार की विसंगतियाँ होंगी। हमारी क्रिया तभी मुक्तिकारक होगी, जब हम अपनी इच्छाओं को ज्ञान से शुद्ध कर लेंगे।

गीता का मुख्य विषय यही है कि अध्यात्मदृष्टि से मनुष्य की परमश्रेष्ठ अवस्था को बतलाकर, उसके आधार से यह निर्णय हो कि कर्म-अकर्म रूप नीतिधर्म का मूल तत्त्व क्या है। गीता के पारलौकिक धर्म तथा नीतिधर्म दोनों का प्रतिपादन जगत् के आधारभूत नित्य तथा अमृतत्व के आधार से ही किया गया है। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का परिणाम 'अभय' होता है, जो गीता-ज्ञान से प्राप्त होता है।

सब लोगों के लिये अर्जुन को निमित्त बनाकर गीता की शिक्षा यह है कि हमें परम्परा से प्राप्त या अपने स्वभाव के अनुसार चुने गये कर्तव्यों का पालन, लोकसंग्रह के लिये, निष्काम बुद्धि से, उत्साह तथा सबको आत्मस्वरूप समझकर जीवन पर्यन्त करते रहना चाहिये तथा अपने कर्मो से ही सबमें समानरूप से व्याप्त परमात्मा की पूजा करनी चाहिये। इसी में हमारा लौकिक-पारलौकिक कल्याण निहित है। इस प्रकार कर्म करने में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का सामञ्जस्य हो जाता है तथा इस ज्ञान में सम्पूर्ण वैदिक धर्म का सार निहित है।

ज्ञान से पूर्ण कर्म और कर्मोन्मुख ज्ञान गीता का सन्देश है। गीता की शिक्षा है कि हमें सांख्ययोग तथा कर्मयोग में समन्वय स्थापित करके चलना चाहिये। हमें यह ज्ञान होना चाहिये कि तीन गुण-सत्त्व, रज, तम-अपने धर्म का पालन कर रहे हैं और 'मैं' स्वयं आत्मा हूँ, त्रिगुणातीत हूँ, निष्क्रिय हूँ। 'मैं' स्वयं कुछ नहीं करता। 'मैं' तो सभी कर्मो का शान्त अप्रभावित साक्षीमात्र हूँ। 'मैं' ही सभी इन्द्रियों, मन, बुद्धि को प्रकाशित करता हूँ। मेरे ही प्रकाश में वे सब कार्य करते हैं, परन्तु मैं उनके कार्यो से निर्लिप्त हूँ।

गीता की शिक्षा ईश्वरानुभूति की तरफ बढ़ने वाले प्रत्येक मनुष्य के लिये है। ईश्वरानुभूति में ज्ञान-युक्त, शुद्ध इच्छाएं बाधक नहीं हैं। गीता का सन्देश, ज्ञान से अन्तःकरण को शुद्ध करके, ज्ञान से युक्त कर्म करने हेतु है। अपनी सभी इच्छाओं को धार्मिक, आध्यात्मिक, ईश्वराभिमुख करने हेतु है। पूरी तन्मयता से, ऐसी कुशलता से कर्म करने हेतु है, जिससे हम कर्मबन्धन में न पड़ें। अहङ्काररहित, आसक्तिरहित, फलाशारहित कर्म, ऐसे कर्म जिनसे सबका हित हो, करते हुए हम कर्म-बन्धन से बचे रहेंगे। अतः हमें प्रत्येक स्तर पर सभी समय, सभी परिस्थितियों में सजग, चैतन्य रहते हुए विवेकपूर्ण कर्म करते रहना चाहिये।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, गर्मी-सर्दी, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्व अवश्यम्भावी हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। परन्तु ये सब प्रकृति के कार्य हैं। गुणों के खेल हैं। ये हमें क्लेश नहीं दे सकते; क्योंकि हम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहङ्कार से परे हैं। हम तो परमात्म-शक्ति के स्फुलिङ्ग-चिनगारी हैं। हम नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त, शाश्वत, स्वतन्त्र, अजन्मा, अविनाशी आत्मतत्त्व हैं। भ्रमवश शरीर से तादात्म्य कर कर्त्ता, मन-बुद्धि से तादात्म्य कर सुख-दुःख के भोक्ता बन जाते हैं। शरीरस्थ आत्मा जीर्ण-अनुपयोगी शरीर को छोड़कर नये शरीर वैसे ही धारण करती रहती है, जैसे पुराने वस्त्र को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेते हैं। शरीर की मृत्यु मात्र संक्रमण काल है। मृत्यु में कुछ समय के लिये हम अपनी आँखें बन्द करते हैं तथा दूसरे शरीर में आँखे खोलते हैं।

ईश्वरानुभूति का उद्देश्य रखने वाले प्रत्येक साधक के लिये गीता का आदर्श है कि 'मैं' सदा स्वतन्त्र, अमर, अद्वितीय आत्मा हूँ। यद्यपि व्यवहार में परिस्थितियाँ सदा अनुकूल नहीं रहेंगी, उद्वेगकारक तथा अशान्ति उत्पन्न करने वाली बातें होंगी, परन्तु हमें अपने स्वरूप का, सबमें स्थित एक सर्वव्यापी परमात्मा का स्मरण कर शान्त, एक रस रहना है। इस शान्ति-हेतु सदा याद रखना होगा कि मैं, सभी कार्य अस्थायी, परिवर्तनशील स्थिति में करता रहूँगा, परन्तु मैं सदा ईश्वर में टिका रहूँगा जो सच्चिदानन्द स्वरूप है। यदि हम इस भाव को दृढ़ कर लेंगे कि ईश्वर अन्तर्यामी रूप से हमारे अन्दर स्थित है तथा मेरा अस्तित्व उसके कारण है, तो संसार का प्रभाव हमारे ऊपर नहीं पड़ेगा। इस प्रकार साधना में रत रहकर, अनासक्त कर्मी बनकर जीवन यात्रा में बढ़ते रहें। अपने अन्दर यह विचार दृढ़ता से स्थापित कर लें कि मेरे द्वारा कार्य हो रहा है, परन्तु इससे मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ। यदि हम स्वभाव तथा स्वधर्म के अनुसार कर्म करते चलें तो हम कमल की भाँति संसार के पापों से निर्लिप्त रहेंगे तथा कर्म-बन्धन से भी बच जायेंगे।

गीता के अनुसार कर्म हमारे दुःख का कारण नहीं है। दुःख का कारण हमारी किसी के प्रति आसक्ति है। अर्थोपार्जन, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का पालन करने में कोई बुराई नहीं है, परन्तु कहीं किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति के भाजन तो केवल परमात्मा हैं। उनके अतिरिक्त कहीं अन्य आसक्ति दुःखदायी हो जायेगी। गीता के अनुसार वही विद्वान् तथा सिद्ध है जो प्रबल कर्मशीलता में परम शान्ति का अनुभव करता है तथा प्रबलशान्ति में कर्मशीलता का दर्शन करता है। बाहर से पूर्ण मन से कर्म करता हुआ, परन्तु अन्दर से पूर्णशान्त तथा महानिस्तब्धता में अत्यन्त कर्मशील रहने को ही गीता ने अनासक्तियोग कहा है। यदि हम अपने सभी कर्म अनासक्तिपूर्वक करते हैं तो हम जीवन-जो परमात्मा का एक खेल है- को आनन्दपूर्वक जी सकते हैं अन्यथा दुःख-प्राप्ति निश्चित है। हम जगत् के रहस्य को- किस प्रकार जगत् एक साथ ही एक तरफ तीव्र क्रियाशीलता तथा स्पन्दन है और दूसरी तरफ गहनशान्ति तथा निश्चलता है- तभी समझने में समर्थ हो सकते हैं जब अनासक्ति हमारे जीवन में पूरी तरह उतर जाय। हमारे सभी कर्म अनासक्तिपूर्ण होने लगें।

सभी योगों का उद्देश्य ईश्वर-चेतना जागृत करना है। इस हेतु ध्यान, एक सशक्त माध्यम है। इससे एकत्वप्राप्ति हो जाती है। विषयों को सेवन न करने पर भी, उनके प्रति जो

लालसा शेष रहती है, वह भी समाप्त हो जाती है। सांसारिक विचारों से अनासक्त होकर, ईश्वर स्मरण रखकर जीवनयापन 'संन्यासी' करता है।

सभी कर्म गुणों द्वारा किये जाते हैं। भ्रमवश हम स्वयं का तादात्म्य शरीर, मन, बुद्धि से करके कर्त्ता-भोक्ता बनकर दुःखी होते हैं। अतः हमें गुणातीत होना है। भक्ति इसका प्रभावशाली उपाय है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर से व्याप्त है। ईश्वर प्राप्ति हमारा उद्देश्य है जिसे किसी साधन से पाने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर के प्रति श्रद्धायुक्त होकर, अपने सभी कार्यों को बुद्धियुक्त होकर, उसको ही लक्ष्य रखकर करते रहने से हम उसे प्राप्त कर लेंगे।

चौरासी लाख योनियों में मनुष्ययोनि सबसे महत्त्वपूर्ण है। लोभ, ईर्ष्या आदि छोड़कर हमें ईश्वर-स्मरण सतत बनाये रखना चाहिये ताकि मृत्यु के समय ईश्वर की याद बनी रहे। ध्यान का अभ्यास निरन्तर रहने पर ही यह सम्भव है। व्यक्त तथा अव्यक्त सृष्टि का कण-कण परमात्मा से व्याप्त है। परमात्मा के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है। हमें अपने सभी कर्म उसकी पूजा समझकर करना चाहिये। जो मनुष्य व्यक्त तथा अव्यक्त सबमें, परमात्मा का दर्शन करता है, वह उसे पा लेता है। जो कुछ भी अच्छा, विशिष्ट दिखाई देता है, वह परमात्मा की ही विभूति है। हमें ठोस से सूक्ष्म की तरफ बढ़ते हुए, सबके मूल स्रोत शुद्धचेतन-जो सबका सार है- पर ध्यान रखना चाहिये। वह सूक्ष्म तत्त्व अन्दर-बाहर सब जगह व्याप्त है। इस प्रकार ईश्वर-स्मरण में रहते हुए हमें जीवनयापन करना चाहिये।

अनन्यभक्ति से ईश्वर को हम जान सकते हैं, उसके रहस्य को समझ सकते हैं, उसे पा सकते है। इससे चित्तशुद्धि हो जाती है, अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। श्रद्धायुक्त भक्ति ईश्वर प्राप्ति का सरल साधन है।

हमें नैतिक धर्मों का पालन करना चाहिये। इससे जीवन में सामञ्जस्य बना रहता है तथा हम परम आनन्द में रहते हैं। धार्मिक शक्तियाँ अन्तः-बाह्य प्रसन्नता पैदा करती हैं। सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार की भक्ति परमात्म- प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु सगुण-साकार की भक्ति कष्टसाध्य नहीं है, करने में सरल है।

सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के रूप में हमें देखने का विवेक होना चाहिये। प्रकृति जड़ तथा पुरुष चेतन है। हम स्वयं चेतन हैं। हमें जड़ शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि से स्वयं का तादात्म्य नहीं करना चाहिये। प्रकृति के तीन गुणों-'सत्त्व-रज-तम' तथा उनकी बाँधने वाली शक्ति को भली-भाँति जानकर, निष्काम सेवा, जप, ध्यान, अनन्यभक्ति आदि द्वारा गुणातीत होकर, चैतन्य के साथ एकत्व स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये।

नाम-रूपात्मक जगत् की प्रत्येक वस्तु में एकमात्र परमात्मा ही स्थित हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र-सभी उसी की शक्ति से कार्यरत हैं। ऐसे पुरुषोत्तम को जानने वाला सब कुछ जान जाता है। उसे इस रूप में मानने वाला कृतकृत्य हो जाता है।

गीता की मुख्य चार विद्याओं-'अभयविद्या, साम्यविद्या, ईश्वरविद्या तथा ब्रह्मात्मैक्यविद्या'- में अभय विद्या हमारे भय की निवृत्ति हेतु है। सबसे बड़ा भय हमें मृत्यु का है। हमने शरीर को ही 'मैं' मान लिया है, अतः शरीर की मृत्यु का भय हमें सताता है। इसे अभिनिवेश का क्लेश मानते हैं। हमने शरीर में अपने को अच्छी तरह निवेश कर लिया है। इस क्लेश से निवृत्ति हेतु गीता हमें शिक्षा देती है कि शरीर नश्वर है। इसका आदि और अन्त है। आत्मा

अविनाशी, अजन्मा, अपरिवर्तनशील है। शरीर के रहने या न रहने से आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम शरीर नहीं चेतन हैं।

कर्म का दोष राग-द्वेष है। राग या द्वेष के कारण हमारी किसी से आसक्ति तथा किसी से विरक्ति हो जाती है। हम उचित निर्णय नहीं कर पाते। इस कारण हमें दुःख होता है। इसकी निवृत्ति हेतु गीता में 'साम्य-विद्या' का उपदेश किया गया है। इसके अन्तर्गत जातिगत समता, वस्तुगत समता, प्रिय-अप्रिय में, मित्र-शत्रु में, सुख-दुःख में, मान-अपमान में समता का भाव रखने से राग-द्वेष से निवृत्ति होती है। 'समत्व' को गीता में योग कहा गया है। समता में स्थित व्यक्ति के लिये गीता कहती है कि ऐसे व्यक्ति द्वारा यहीं पर सर्ग-जन्म को जीत लिया गया है।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' (गीता 5/19)

'अस्मिता दोष' के निवारण के लिये गीता की ईश्वरविद्या है। हमारे अन्दर जो अहंभाव होता है, उसके कारण हम 'मैं', 'मैं' बोलते हैं, हम दृश्य के साथ स्वयं तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। दृश्य के साथ तादात्म्यपने को ही अस्मिता कहते है। इसकी निवृत्ति के लिये ईश्वर की शरणागति ग्रहण करना है। जब हमारा ध्यान ईश्वर पर, सबके कारण के रूप में जाता है, जब उसके ऐश्वर्य, सामर्थ्य, वैराग्य, सर्वज्ञता पर जाता है, तो हमारा अहंभाव समाप्त होता है।

आत्मा की अमरता की बात बताते हुए कहा गया है कि- शरीर नश्वर है, यह वासनाओं, इच्छाओं की पूर्ति कर नष्ट हो जाता है। स्वधर्म का पालन करने तथा समत्त्व बुद्धि से कार्य करने से हम दुःख से छुटकारा पा सकते हैं। द्वन्दों से मुक्त होने हेतु- साक्षीभाव जाग्रत करना, गुणातीत हो जाना, अहंभाव से मुक्त होना, फलाशा-आसक्ति रहित होकर कार्य करना, चैतन्य से योग स्थापित कर कार्य करना उपाय हैं। इस हेतु स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है।

अन्त में भगवान् ने पूरी गीता के सार के रूप में तीन बातें बताई हैं, जिन्हें हम वेदों के चार महावाक्य- 'प्रज्ञानं ब्रह्म,' ऋग्-ऐतरेय उप0 3-1-3, 'अयं आत्मा ब्रह्म' अथर्व-माण्डू0 उ0,'तत्त्वमसि' साम-छा0 उ0 6.15 तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' यजु-वृह0 उप0 1-4-10 की तरह गीता के महावाक्य कह सकते हैं। ये वचन हैं-

'हे भारत! तुम सम्पूर्ण भाव से उसी (ईश्वर) की शरण में जाओ। उसके प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।'

'मेरा ज्ञान सम्पादन करो, मेरी भक्ति करो, यज्ञादि से मेरी पूजा करो तथा मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, यह मैं तुम्हें सत्य वचन कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।'

'सब धर्मों का परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत करो।'

इसमें वाक्य सबके हृदय में स्थित ईश्वर की शरण ग्रहण करने हेतु है, जिसके प्रसाद से परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान की प्राप्ति होती है। वास्तव में हमारा लक्ष्य अपनी सभी

कठिनाइयों से परे जाकर अन्तः-स्थित ईश्वर की शरण में जाना तथा अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सङ्कल्प से उसकी तरफ मुड़ना, केवल उसी पर निर्भर रहना है। यही अहङ्कार को समाप्त करने तथा माया से मुक्त होने का मार्ग है। यही महानतम योग है। इस चेतना में सदैव स्थित रहने पर वह दिव्यप्रकाश, दिव्यशक्ति हमें अपने अधिकार में ले लेती है तथा अपनी शक्ति से हमारी सभी कठिनाइयों से हमें परे ले जाकर आध्यात्मिक मुक्ति, परमशान्ति तथा शाश्वत स्थान की प्राप्ति करा देती है। इस रहस्य के प्रति अन्तःझुकाव का परिणाम ही सम्पूर्णज्ञान, सम्पूर्णभक्ति, सम्पूर्णकर्म को देने वाला है, जो गीता का योग है।

वाक्य में ईश्वरप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति के-चार मार्ग बताये गये हैं। बुद्धि से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना, हृदय से ईश्वर की भक्ति करना, यज्ञादि से सभी रूपों में स्थित इन्द्रादि की पूजा करना तथा शरणागति, ये चार मार्ग हैं। इतना प्रयास साधक, भक्त, ज्ञानी, कर्मयोगी द्वारा किया जाना है। इसके पश्चात् भगवान् आश्वासन देते हैं कि इसके बाद का कार्य उनके द्वारा सम्पन्न होगा तथा ऐसा साधक निश्चित ही उन्हें प्राप्त कर लेगा। आश्वासन देते समय वे यह भी कहते हैं कि ऐसा करने वाला उनका प्रिय हो जाता है, इसलिये वे उसकी पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं।

तीसरे वाक्य में सबसे गुह्यतम बात, अन्तिम बात, जिसके बाद भगवान् को कुछ नहीं कहना है-कि सब (वर्णाश्रम) धर्मों, सभी योगों (भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, आत्मसंयमयोग, ध्यानयोग) तथा अपनी इन्द्रियों-मन-बुद्धि, जीव के धर्मों तथा अपने सम्पूर्णप्रयत्नोंका भरोसा छोड़कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लो। आत्मा का परित्याग सम्भव नहीं है। इसलिये 'मैं', 'मेरे' भाव को छोड़ना है। कोई भी धर्म-अधर्म मेरा नहीं है और न मैं धर्म-अधर्म का हूँ। धर्म का अस्तित्व केवल व्यावहारिक होने से नहीं है, भ्रममात्र है। ऐसा करने पर हमें सभी पापों -अविद्या, वासनाओं आदि से मुक्त करने हेतु वे आश्वासन देते हैं, और तब हमें किसी प्रकार के शोक करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी महावाक्य में, भक्तियोग में, भगवान् की बात समाप्त होती है।

हमारे दुःख का कारण क्या है? हमारे दुःखों का कारण, दूसरा नहीं है, हम स्वयं हैं। अपने अहङ्कार (चित् आत्मतत्त्व का अन्तःकरण पर आभास) को केन्द्र में रखकर, अपनी कामनाओं की डोर से हम अपने को बाँध लेते हैं। किसी के प्रति आसक्ति हो जाती है। किसी से राग तथा किसी से द्वेष हो जाता है। मनुष्य को शान्ति तबतक नहीं मिल सकती, जबतक वह अपने आत्म-स्वरूप को न जान ले तथा ईश्वर की शरण में न हो जाय।

सम्पूर्ण विश्व कर्मक्षेत्र के रूप में नाटक के रङ्गमञ्च की तरह है। हम इस रङ्गमञ्च पर कार्य करने वाले एक अभिनेता के रूप में हैं। जीवन के खेल के इस नाटक का निर्देशक स्वयं परमात्मा है। इस खेल को सम्पूर्णता से न समझ-देख पाने के कारण हम दुःखी होते हैं।

यदि हम बाह्य वैश्विक विधान को दृष्टि में न रखकर उसकी अवहेलना करके अपनी कामना, अपनी भावनाओं के अनुसार कार्य करेंगे अर्थात् हमारी दृष्टि ईश्वर के विधान को छोड़कर सीमित दायरे में कार्य करने लगेगी तो हम दुःखी होंगे। अर्जुन के साथ यही हुआ।

वह वैश्विक विधान को भूल गया, सत्य-न्याय-धर्म को भूल गया। वह भावनाओं के वश में हो गया। उसकी दृष्टि सीमित हो गयी। उसे मोह हो गया-उलटा सोचने लगा। यही गलती हम सभी करते हैं जब जीवन के खेल को समग्र दृष्टि से नहीं देखते। हम सीमित दायरे में सोचते हैं तथा कार्य करते हैं। इसलिये दुःखी होते हैं। चूँकि हम दिक्-काल के अन्तर्गत संसार में घटती हुई प्रत्येक चीज़ को देखते हैं, हम इन्द्रियों तथा मन के प्रभाव में पूरी तरह रहते हैं, उनके दुष्प्रभावों को रोकने के लिये तर्क तथा सम्यक् बुद्धि का प्रयोग नहीं कर पाते, इसलिये हम दुःखी होते हैं।

व्यावहारिक जीवन में ऐसी समस्या प्रायः आती है कि आसक्ति तथा कामना के वशीभूत होकर, अपने उद्देश्य को भूलकर, हम अपने कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा हम दुःखी जीवन बिताते हैं। गीता हमें यह बताती है कि हमारे सभी दुःखों का कारण मन तथा बुद्धि में सामञ्जस्य का अभाव है। हमारी भावनाओं तथा विचार में तालमेल का न होना है। अर्जुन की बुद्धि उसे क्षत्रिय योद्धा के रूप में, अधर्म के पक्ष में खड़े कौरवों से संघर्ष की प्रेरणा दे रही थी तथा उसका मन, भावनाओं के प्रभाव में, अपने स्वजनों की रक्षा हेतु कह रहा था। अतः अर्जुन विषादग्रस्त थे। यदि अर्जुन की भाँति हम अपने विषाद को भगवान् के सामने निवेदन करें, अपनी कमियों को स्पष्ट बता दें, उनसे उचित मार्ग-निर्देशन हेतु प्रार्थना करें, उनमें पूर्ण विश्वास रखकर स्वयं को समर्पित कर दें तो हमारा विषाद, अर्जुन के विषाद की तरह, योग में बदल जायेगा और वह भगवान् से मिलने का कारण बन जायेगा।

गीताज्ञान अमृत तुल्य कैसे है? यद्यपि उपनिषदों में पूर्ण ज्ञान है, परन्तु वह ज्ञान ऋषियों, उनके शिष्यों तथा विद्वानों तक सीमित था। उसे व्यवहार में लाने की विधि विकसित नहीं थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने उस ज्ञान को सर्वप्रथम गीता के माध्यम से सबके लिये व्यवहार में लाने योग्य बनाया। गीताज्ञान उपनिषद्-रूपी फूलों में सर्वोत्तम फूलों को चुनकर एक गुलदस्ता में सजाये गये फूलों के गुच्छे के समान है। दूसरी बात उपनिषदों में ज्ञान तथा श्रद्धा की चर्चा बहुत है, परन्तु व्यवहार में सबके लिये सरल भक्ति की चर्चा कम है। गीता में भक्ति सम्बन्धी अन्तर्निहित भावना का विस्तार से वर्णन है। भक्ति के माध्यम से, अपने इष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण कर, भक्त भगवान् की कृपा से ज्ञान का भी अधिकारी हो जाता है। मनुष्य के मन में उठने वाली सभी शङ्काओं का, जीवन में आने वाली सभी समस्याओं का समाधान गीता में है। इसमें कर्मयोग, बुद्धियोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग का विस्तार से वर्णन करते हुए अन्त में शरणागति की बात अर्जुन के माध्यम से हम सबके लिये कही गयी है। इसके माध्यम से कोई भी, किसी परिस्थिति में रहता हुआ, अपना जीवन सार्थक कर सकता है। इसलिये गीता-ज्ञान अमृत-तुल्य है।

भगवान् ने गीता को सम्पूर्ण ज्ञान का उपदेश करने वाली, समस्त शास्त्रों की सारभूता, धर्मपन्थी एवं परम विशुद्ध होने के कारण सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा है-

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम्।।
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः।। (गीता माहात्म्य 44-45)

हे पार्थ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार-तत्त्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परम पद है, गीता मेरा परम गुह्य रहस्य है और मेरी यह गीता मुमुक्षुओं के लिये परम गुरु है।

सृष्टि की रचना ऐसी है कि जीव को कर्म तो करने ही पड़ेंगे। बिना कर्म किये हम एक पल भी नही रह सकते। गीताज्ञान के पूर्व उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त कर, लोगों ने कर्म में दोष देखकर, कर्म करने का रास्ता ही छोड़ देना समीचीन समझा। अतः संन्यास का मार्ग चुनकर, संसार की अपनी जिम्मेदारियों को छोड़कर पलायन कर गये। परन्तु मनुष्य का मन तो कार्य करता ही रहता है, श्वास तो लेता ही है। वह भी कर्म है। समाधान क्या हो? दूसरी बात जब कर्म किया जाता है तो कर्म का दोष कर्म-बन्धन-आ जाता है और मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। अतः क्या कोई ऐसा उपाय है कि कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से बच जायँ? क्या ऐसा उपाय सम्भव है कि हमारे कर्म अकर्म हो जायँ? जब हम कर्म करते हैं तो हमें फलप्राप्ति की इच्छा होती है। इच्छापूर्ति पर लोभ बढ़ता है और किसी स्तर पर इच्छापूर्ति न होने पर क्रोध तथा दुःख होता है। इच्छित वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति से आसक्ति हो जाती है, जो दुःख का कारण होती है। इससे बचने का उपाय क्या है? किसी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर हम द्वन्द्व में फँस जाते हैं, हमें मोह हो जाता है। द्वन्द्व मन-बुद्धि के बीच होता है। मन भावनाओं के वशीभूत होकर कुछ चाहता है तथा बुद्धि तर्क के आधार पर कुछ दूसरा कहती है। हम कर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर पाते। हमारा मोह कैसे समाप्त हो जाय? हम किसकी बात मानें, मन की या बुद्धि की और क्यों? हमारे पापपूर्ण कर्मों के करने का कारण क्या है? प्रकृति क्या है? पुरुष क्या है तथा ईश्वर से इनका सम्बन्ध क्या है? जीव, जगत् तथा परमात्मा का आपसी सम्बन्ध क्या है? आत्मा तथा शरीर का क्या सम्बन्ध है? कर्म का कर्त्ता कौन है? हमें कौन से कर्म करने चाहिये? हमारे मन में दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियों-दैवी गुण जैसे दया, परोपकार आदि तथा आसुरी दुर्गुण जैसे क्रोध, ईर्ष्या आदि-के बीच अनवरत संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष से छुटकारा कैसे मिले? हमारी दिनचर्या कैसी रहे कि हम स्वस्थ=स्व में स्थित-रह सकें? हम मृत्यु के भय से कैसे बचें? आदि। ये सभी प्रश्न ऐसे हैं, जिनका समुचित समाधान न होने पर हम दुःखी रहते हैं। इन सबका समाधान गीता में उपलब्ध है।

गीतामाहात्म्य में गीतापाठ का विशेषफल वर्णित है-

'गीताध्याय समायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्' (गीता माहात्म्य-61)

गीता का पाठ होते समय मरा हुआ जीव मरकर मनुष्य योनि में जन्म लेता है, यह दूसरे जन्म में मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है। अन्य किसी हीन योनि में उसका जन्म नहीं होता। इसका कारण यह है कि कुल चौरासी लाख योनियों में तिरासी लाख निन्यान्वे हजार नौ सौ निन्यान्वे योनियाँ भोग योनियाँ हैं, केवल मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसमें मनुष्य भोग के साथ कर्म करते हुए अपने जीवन के परमलक्ष्य संसार के आवागमन से मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

गीता की संरचना बौद्धिक समस्याओं के निराकरण हेतु हुई है। जब तर्क तथा मनोवेगों-भावनाओं-के बीच अर्थात् बुद्धि तथा मन के बीच संघर्ष चल रहा होता है और हम

किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते, तो ऐसी स्थिति में गीता समाधान प्रस्तुत करती है। ऐसी स्थिति कभी-कभी नहीं, बल्कि हमारे जीवन के प्रत्येक स्तर पर प्रायः रहती है। जब भावनाओं के प्रभाव में मन कुछ करने को कहता है परन्तु बुद्धि का निर्णय उसके विपरीत होता है, तो हम द्वन्द्व में फँस जाते हैं। आधिभौतिक तथा आधिदैविक ताप तो कभी-कभी आते हैं, परन्तु आध्यात्मिक ताप, स्वयं से अपने मन में सम्यक् सोच न होने के कारण, उत्पन्न होते हैं। वे तो किसी समय, किसी स्थान पर उत्पन्न हो जाते हैं और वे हमारी शान्ति, सुख, स्थायित्व, सन्तुलन को छिन्न-भिन्न कर देते है। हमारा व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। इसका कारण यह होता हैं कि हम मानसिक भावों को ही सत् मान लेते हैं। उनके साथ स्वयं का तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, और अन्तःकरण में घटित होने वाली घटनाओं के अनुभव कर्त्ता बन जाते हैं। ऐसी स्थिति तब होती है जब मन सम्यक् बुद्धि के अनुशासन में नहीं रहता। मन बुद्धि पर हावी हो जाता है; जबकि बुद्धि के निर्देश में मन को कार्य करना चाहिये; क्योंकि बुद्धि मन से श्रेष्ठ है।

गीता में कुल अठारह अध्याय हैं। छः-छः अध्यायों के तीन भागों में अलग-अलग विवेचन है। वेदों के चार महावाक्यों में एक 'तत्त्वमसि' की व्याख्या पूरी गीता है। 'त्वम्' पद की व्याख्या प्रथम छः अध्यायों में है। ये अध्याय शिक्षा के समूह के रूप में प्रस्तुत हैं, जो ज्ञान तथा कर्म के अभ्यास पर आधारित हैं। इनमें अपरिवर्तनशील, अव्यय, अविनाशी, अजन्मा आदि-अन्तरहित आत्मा तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

सातवें से बारहवें अध्याय तक 'तत्' पद की व्याख्या है। परा तथा अपरा प्रकृति का अन्तर स्पष्ट किया गया है। ऐसे ईश्वर पर ध्यान दिलाया गया है, जिससे सब कुछ उद्भूत हुआ है तथा जो समानरूप से सबमें वर्तमान है। यहाँ ज्ञान के साथ कर्म तथा भक्ति की एकता स्थापित होती है। जैसे प्रथम छह अध्यायों में कर्म तथा ज्ञान का समन्वय है, वैसे ही ईश्वरीय अस्तित्व के गूढ़ स्वभाव का वर्णन करते हुए यहाँ ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय है। दशवें अध्याय में 'सबमें एक परमात्मा को देखने की दृष्टि' है, तो ग्यारहवें अध्याय में 'एक परमात्मा में सबको देखने की दृष्टि' दी गयी है। बारहवें अध्यायमें भक्ति तथा भक्त के लक्षण दिये गये हैं।

अन्तिम छः अध्यायों में 'असि' पद की व्याख्या है। यहाँ जीव तथा प्रकृति, जिसे क्षर तथा अक्षर प्रकृति कहते हैं, के कार्यों तथा गुणों को स्पष्ट करने तथा इन दोनों को व्याप्त करने वाले पुरुषोत्तम, परम आत्मा के बारे में जानकारी देने के उद्देश्य से अन्तर्यामी भगवान् ने अर्जुन से अनेकों प्रश्न पूछने की प्रेरणा दी तथा अर्जुन ने प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ, ज्ञान तथा ज्ञेय आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न भगवान् से पूछे। भगवान् ने शाश्वत अस्तित्व के साथ जीवन की एकता स्थापित करने के उद्देश्य से सम्पूर्ण ज्ञान दिया तथा अनेक उपाय बताये, जिनका पूर्ण श्रद्धा, निष्ठा से पालन करते हुए जीव प्रकृति के गुणों से परे जा सके; निश्चयात्मिका शुद्धबुद्धि से युक्त निष्कामकर्म पराकाष्ठा पर पहुँच सके, जहाँ कर्म, ज्ञान तथा भक्ति एक हो सके। इसके बाद गीता समापन की तरफ बढ़ती है। अन्त में भगवान् परम गुह्यतम बात बताते हैं और वह है अस्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पण, शरणागति।

यह ध्यान तो रखना ही है कि यद्यपि अनन्यभक्ति, पूर्ण समर्पण आदि द्वारा सत्य को तत्त्वतः जानने में हम समर्थ हो सकते हैं, इसका साक्षात्कार भी कर सकते हैं, परन्तु इसका वर्णन सम्भव नहीं है; क्योंकि हम सीमित हैं, दिक्-काल से बँधे हैं, और परमात्मा अनादि-अनन्त हैं तथा दिक्-काल के परे हैं। सीमित, असीमित का वर्णन कैसे कर सकता है?

गीता में 'योग' शब्द का बहुत महत्त्व है। धर्म, स्वधर्म, परधर्म की चर्चा की गयी है। वैश्विकविधान क्या हैं जिनके अन्तर्गत सृष्टि चल रही है? आध्यात्मिक मार्ग क्या है जिसका हम अनुसरण करें?

भगवद्गीता सम्पूर्ण सृष्टि, उसके पीछे कार्यरत शक्ति तथा विधान को एक साथ देखने की दृष्टि देती है। सम्पूर्ण गीता की शिक्षा प्रत्येक अव्यवस्थित चीज़ को व्यवस्थित करने की अवस्था में सन्तुलन तथा समता स्थापित करने पर आधारित है। धर्म एक विधान है, जिसे हम न्याय भी कह सकते हैं। पूरी सृष्टि के सञ्चालन का एक विधान है। प्रत्येक चीज, अणु से लेकर बड़ी से बड़ी चीज़ भी, एक विधान, एक नियम का पालन करते हुए कार्यरत है। वही उसका धर्म है। वह अपने धर्म को नहीं छोड़ सकती। मौसम में परिवर्तन, गर्मी-सर्दी होना, निर्धारित समय पर मानसून का आना, वृक्षों में फूल-फल का आना आदि वैश्विक विधान-वैश्विकधर्म से सञ्चालित है। इन्हें समझकर वाह्य परिस्थितियों से सामञ्जस्य स्थापित करना ही योग है। इसी प्रकार शरीर का भी एक धर्म है। शरीर के सारे अङ्ग अपने लिये नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर के लिये कार्य करते हैं। इनमें आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखना हमारा दायित्व है। यह योग है। भगवद्गीता इस स्थिति को ठीक करने का उपाय बताती है ताकि हम वैश्विकविधान, ईश्वरीयशक्ति, धर्म के वास्तविक स्वरुप के प्रति अपनी समझ तथा तर्क को जागृत कर सकें।

ईश्वर में श्रद्धा-विश्वास रखकर उसकी तरफ अपनी रुचि रखना तथा उसके तरफ चलने का मार्ग ही आध्यात्मिक मार्ग है। मन में कम से कम इतना विश्वास, इतनी सन्तुष्टि होनी चाहिये कि हम जीवन के परम लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। हमारे आध्यात्मिक मार्ग पर होने का अर्थ है कि हमारे अन्दर भगवान् किसी रूप में अवश्य हैं। भोग के उद्देश्य से सांसारिक कामनाओं का अभाव तथा वैश्विक सत्ता में प्रवेश ही सच्चे अर्थ में धर्म है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है-

'दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष-संश्रय-इन तीन को एक साथ प्राप्त करना देव-अनुग्रह प्राप्त करने की तरह दुर्लभ है। इसमें मनुष्यत्व की प्राप्ति गीता-पाठ से हो जाती है।

वैश्विक उद्देश्य-ईश्वरेच्छा को ध्यान में रखकर अहङ्काररहित, फलाशारहित कर्म करना कर्मयोग है। हमें बुद्धियुक्त होकर अपने सभी कर्मों को ईश्वर की पूजा समझकर करना चाहिये।

आत्मा कर्म-अकर्म से परे है। अतः समष्टि तथा व्यष्टि स्तर पर त्याग स्वाभाविक है। सृष्टि त्याग पर टिकी है। ईश्वर सृष्टि से परे है। व्यष्टि स्तर पर भी शरीर के सभी अवयव

अपने लिये कुछ नहीं करते। सभी के लिए कार्यरत है। प्रत्येक स्तर पर त्याग दिखायी देता है। इस चेतना से कार्य करने वाला कर्मयोगी है। हमें सांख्य के द्वारा ईश्वर के बारे में जानना तथा कर्मयोग के अनुसार कार्य करना है।

शरीर, मन, बुद्धि प्रकृति से बँधे हैं। चेतन पुरुष स्वतन्त्र है। सभी योगों का मूल त्याग, तथा साक्षीभाव से कार्य करने में निहित है। जैसे सुषुप्ति में, मन-बुद्धि के कार्यरत न रहने पर हम आनन्द में रहते हैं, वैसे ही जागृतावस्था में भी अपने व्यक्तित्व को खोकर, मन-बुद्धि को निष्क्रिय कर हम आनन्द में रह सकते हैं।

मनुष्य में दैवी तथा आसुरी दोनों गुण हैं। लक्ष्यप्राप्ति-हेतु अच्छे गुणों की पहचान कर अपनाने तथा दुर्गुणों से मुक्त होने का प्रयास निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्म-निरीक्षण करते रहना, अवाञ्छित तत्त्वों की खोजकर उनसे छुटकारा पाने का प्रयास तथा अधिक से अधिक सत्त्वगुण में समय यापन करना उद्देश्य होना चाहिये।

भगवान् ने गीता में गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम तथा सर्वगुह्यतम बातें इस प्रकार बतायी हैं-

गीता के लिए गुह्य बात, जो अन्य शास्त्रों में वर्णित तथा अनुभव द्वारा सिद्ध है, यह है कि जीवन का रहस्य हमारे अन्दर छिपा है। मन तथा वाह्य प्रकृति उसके प्रकटीकरण हैं। यह आत्मा तथा प्रकृति, पुरुष तथा प्रकृति के बीच निरन्तर सम्बन्ध का रहस्य है। यह हमारे हृदय स्थित जो सभी अस्तित्व का स्वामी है- नाम-रूप के द्वारा ढका है, का रहस्य है।

गीता में वर्णित गुह्यतर बात, दिव्य पुरुषोत्तम के साथ गहरा सामञ्जस्य स्थापित करने वाला सत्य है। चाहे अज्ञान के कारण वह छिपा हो या ज्ञान से प्रकाशित हो, हमारा अस्तित्व उसके कारण है। इस ज्ञान तथा इस सत्य की चेतना में रहना, हमारे अहङ्कार को समाप्त करने तथा माया से मुक्त होने का मार्ग है। सभी बड़े धर्म, इसी धर्म की तैयारी मात्र है। सभी योग साधनमात्र हैं, जिनसे हम इसके करीब आ सकें और अन्त में ज्ञान-प्राप्ति पर पुरुषोत्तम-परमात्मा-अस्तित्व-से पूर्णतया मिल सकें। महानतम योग, अपनी सभी परिस्थितियों से हटकर इस अन्तःस्थित ईश्वर की शरण-उसके आश्रय में जाना है तथा अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय, सङ्कल्प तथा सम्पूर्ण ज्ञान से उसकी तरफ मुड़ना है। जब हम हर समय ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं तब उसका दिव्यप्रकाश, दिव्यप्रेम, दिव्यशक्ति हमें अपने अधिकार में ले लेती है। हमारी आत्मा तथा हमारे सभी साधनों को अपनी शक्ति से प्रभावित कर देती है तथा हमारी सभी कठिनाइयों-सन्देहों-खतरों, जो हमारी आत्मा तथा जीवन को घेरे रहते हैं, से परे ले जाकर परमशान्ति आध्यात्मिकमुक्ति तथा शाश्वतस्थिति प्रदान कर देती है।

ईश्वर स्वतन्त्र तथा अनन्त होते हुए भी संसार का नियन्त्रण नियमों-विधानों के अन्तर्गत करते हैं। मनुष्य का निर्देशन उसके ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य, सही-गलत, सुख-दुःख आदि तथा इन द्वन्द्वों के परे भी उसकी शारीरिक, प्राणिक, बौद्धिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक नियमों के द्वारा करते हैं, परन्तु वे स्वयं सबसे परे है। इसी भाँति यदि हम भी सभी धर्मों=योगों पर निर्भरता छोड़ दें तथा इस शाश्वत अस्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पण कर दें; उसके प्रति स्वयं को खुला छोड़ दें; उसके निर्देश का पालन करें; उसकी शक्ति पर भरोसा रखें; उस दिव्य अस्तित्व आह्लाद में रहें, निर्भय तथा दुःखरहित होकर केवल उसके निर्देश का पालन

करें तो हम भी पूर्णता में स्थापित होंगे और सबसे अच्छा, सबसे पूर्ण, वास्तविक उपाय यही है। परन्तु इस रास्ते पर वही चल पाता है, जिसे 'वह' चुनता है, जिसे 'वह' अपना प्रिय बना लेता है तथा जिसे वह एकत्व स्थापित करने योग्य समझ लेता है। हमारा परम पुरुषार्थ तो मात्र उसके प्रिय बनने की योग्यता पा लेना है। इसके बाद की जिम्मेदारी उसकी है। हमें तो उसमें पूर्ण श्रद्धा-विश्वास से उसके प्रति समर्पित हो जाना है। उसके हाथ का खिलौना-निमित्तमात्र बन जाना है। वह शक्ति हमसे अलग नही है, यह हमारी आत्मा ही है। वह सबकी आत्मा है तथा उसी समय वह परमात्मा से एक है। गीता का कहना है कि ऐसा होने के लिए हमारा समर्पण पूर्ण चाहिये, कोई शर्त नहीं चाहिये। हमारा योग, हमारा जीवन, हमारे अन्तःकरण की स्थिति पूर्णरूपेण उस अस्तित्व द्वारा निर्धारित होनी चाहिये, न कि हमारे किसी योग के भरोसे या किसी धर्म के भरोसे। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण हमारे योग को पूर्णतम स्थिति तक पहुँचा देंगे। यह पूर्णता अन्तः-बाह्य मानसिक स्तर की पूर्णता नहीं है, बल्कि ऐसी व्यापक पूर्णता है, जो अवर्णनीय है। सर्वज्ञ, चैतन्य, हमारे ज्ञान-अज्ञान, ठीक तथा गलत सबको हटाकर हमें अनन्त प्रकाश में रख देगा। सर्वसमर्थशक्ति, हमारे पाप-पुण्य, ताकत-कमजोरी, सभी हटाकर हमारे अन्दर अकथनीय शक्ति, अतीन्द्रीय पवित्रता, वैश्विक अच्छाई में स्थापित कर देगी। हम पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द में स्थित हो जायेंगे। उसके द्वारा सभी योगों से अधिक कर दिया जायेगा, जो किसी सद्गुरु के द्वारा दिये गये ज्ञान से अधिक होगा; क्योंकि यह अधिक बुद्धिमत्ता तथा सत्य द्वारा दिया जायेगा। इस दशा में अनन्त अस्तित्व, चेतना तथा ईश्वर का आह्लाद पूर्ण शान्ति में परन्तु असीम क्रिया में होगा। हम च्युत न होने वाले ईश्वर के साम्राज्य में स्थित होंगे तथा परमधाम हमारा आधार होगा। परिणामतः शाश्वत आनन्द, एकत्व तथा ईश्वर के साथ सामञ्जस्य प्राप्त होगा।

मनुष्य की विस्मयकारी समस्याएँ हमारे अलग व्यक्तित्व तथा अज्ञान के कारण उत्पन्न होती हैं। चूँकि गीता का योग मनुष्य की आत्मा को ईश्वर के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापित कर देता है तथा हमारे कर्म को ईश्वर का कर्म बना देता है, इसलिये सभी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

सर्वगुह्यतम- दिव्य सारथी ने कुरुक्षेत्र के शिक्षक के रूप में, जगत् के मालिक ने मानव-हेतु आत्मा, परमात्मा, रहस्यपूर्ण जगत् की रचना तथा मनुष्य के मन, जीवन, हृदय, इन्द्रियों से ईश्वर के सम्बन्ध के बारे में वास्तविकता को प्रकट किया है। उन सफल तरीकों-उपायों के बारे में भी बताया है, जिनका सहारा लेकर वह स्वयं के आध्यात्मिक प्रयत्न तथा संयम से मरणशीलता से अमरता तथा अपने सीमित मानसिक स्थिति से अनन्त अस्तित्व के स्तर तक उठ सकता है। इसके बाद सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में वे बताते हैं कि ये व्यक्तिगत प्रयत्न, आत्मसंयम, योग आदि की आवश्यकता अन्त में नहीं है। सभी योग-नियम-प्रयत्न को अन्त में बाधा समझकर त्याग देना है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि तुम अपने सामने खड़े मुझमें अपना समर्पण करने में असमर्थ हो तो अपने तथा सबके हृदय में स्थित ईश्वर के निर्देशों पर निर्भर हो जाओ। सर्वभाव से उसकी शरण ग्रहण करो। उसकी प्रसन्नता-कृपा-से तुम परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान प्राप्त करोगे।

अपने मन-बुद्धि को मुझमें लगा दो तथा इसे मेरे बारे में ही विचार से भर दो। सर्वत्र मेरी उपस्थिति का अनुभव करो। अपने हृदय के भावों को मुझे समर्पित करो। अपने सभी

कर्मों से मेरी पूजा करो, मेरे ही उद्‌देश्य से सभी कर्म करो। अहङ्कार त्यागकर मुझे प्रत्येक प्राणी में समझकर नमस्कार करो। इतना करने के पश्चात् तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है तथा तुम्हारे जीवन, तुम्हारी आत्मा, तुम्हारे कर्त्तव्यों के वारे में मुझे अपने सङ्कल्पों के अनुसार कार्य करने दो; मेरे द्वारा किये गये कार्यो से घवड़ाओ नही, दुःखी मत होओ- चाहे वे कार्य तुम्हारे शरीर के प्रति हों, मन के प्रति हों, जीवन के प्रति हों, तुम्हारी भावनाओं के प्रति हों या तुम्हारे कार्यो के प्रति हों। इसके साथ ही जो तुमने अपनी सीमित बुद्धि, सङ्कल्प, इच्छा से अपने ऊपर नियमों तथा धर्मों को थोप रखा है, उनके अनुसार मेरे द्वारा कार्य न होने पर दुःखी न हो। मेरे द्वारा किये गये कार्य पूर्णज्ञान, पूर्णशक्ति, पूर्णप्रेम से भरे होते हैं; मेरे द्वारा सभी स्थितियों से पूर्णतया अवगत होते हुए होते हैं; अन्तिम परिणाम को दृष्टि में रखकर किये जाते हैं तथा ये पूर्णत्व-हेतु आवश्यक अनेक उपायों को मिलाकर किये जाते हैं। अन्त में भगवान् हम सवको आश्वस्त करते है कि यदि कोई उनकी विना शर्त पूर्ण शरणागति ग्रहण करता है तो वे वचन देते हैं कि वे उसे दुःखों से पार ले जायेंगे तथा उसका मार्गनिर्देशन करेंगे।

'शरणागति' की वात भगवान् ने श्रीमद्‌भागवत् में उद्धव से इस प्रकार कही है-

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः।। (श्रीमद्‌भागवत 11/12/14-15)

इसलिये उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति और निवृत्ति को छोड़ दो। जो अव तक सुना है, वह छोड़ दो और जो सुनना वाकी है, उसे छोड़ दो। एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ। सवकी आत्मा मैं हूँ और मेरे साथ एक होकर निर्भय हो जाओ।

धर्म का उपदेश करते हुए उद्धव से भगवान् ने कहा है-

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।। (श्रीमद्‌भागवत् 11/29/34)

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्म-समर्पण कर देता है- शरणागति ग्रहण कर लेता है-उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है, और मैं उसे उसके जीवत्व से छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है।

शरणागति क्या है? शरणागति को भगवान् ने इतना महत्त्व क्यों दिया है? क्यों तथा कैसे शरणागति अन्य सभी योगों, मोक्षप्राप्ति के अन्य सभी उपायों से श्रेष्ठ है?

प्रपत्ति या शरणागति ऐसी प्रवृत्ति को कहते हैं जिसमें किसी प्रकार की भगवान्-विरोधी प्रवृत्ति का अभाव हो तथा भगवान् को ही सर्वभावेन, सर्वरक्षक समझा जाय। इस स्थिति में अकिञ्चन, आर्त तथा अगति होने का भाव शरणागत में होता है। अकिञ्चनत्व में 'मैं स्वयं

प्रभु का हूँ तथा मेरा सब कुछ उनका है, मेरा नहीं' का भाव बना रहता है। 'आर्त' होने के भाव में शरीर से साष्टाङ्ग दण्डवत्, वाणी से 'श्रीकृष्णः (श्रीरामः) शरणं मम' तथा मन से अत्यन्त आर्त-दीन होने का भाव बना रहता है। जब भगवान् की कृपा से जीव के सभी सहारों-सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है, वह अपने को निरालम्ब, निराश्रय, निरुपाय समझता है तो वह बार-बार केवल यह पुकारता है कि 'भगवन्! मेरी गति केवल आप हैं, अन्यथा मेरी गति नहीं है।

"अन्यथा हि गतिर्नास्ति भवन्तावेव मे गतिः" (नारद पञ्चरात्र)

त्रितापों=आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक- से व्याकुल होकर जीव जब प्रभु के चरणों में अश्रुपात करता है; उनसे शरण में लेने की प्रार्थना करता है; उनसे कहता है कि मेरा अन्य कोई नहीं है, आप ही मेरे सर्वस्व हैं, तब इस प्रक्रिया को भी शरणागति कहते हैं।

शरणागति की विशेषता यह है कि इसे कोई भी स्त्री-पुरुष, ज्ञानी-अज्ञानी, आस्तिक-नास्तिक, पशु-पक्षी किसी काल में, किसी स्थान पर ग्रहण कर सकता है। द्रौपदी, वृत्रासुर, सुग्रीव, कालियनाग, गजेन्द्र, जटायु तथा विभीषण ने शरणागति ग्रहण की थी। शरणागति मोक्ष-प्राप्ति के अन्य किसी साधन से श्रेष्ठ है; क्योंकि शरणागति स्वयंसिद्ध साधन है, जबकि अन्य कोई साधन फल देने में स्वयं समर्थ नहीं है, उसे फल देने हेतु भगवान् की कृपा की अपेक्षा होती है।

जहाँ अन्य किसी मार्ग-भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, आत्मसंयमयोग-पर अपनी रुचि, सामर्थ्य के अनुसार साधक को चलना पड़ता है, वहाँ प्रपत्तिमार्ग पर शरणार्थी शरण ग्रहण करके निश्चिन्त हो जाता है। उनके सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है-

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।' (गीता 12/7)

जन्ममृत्युरूपी संसार-सागर से उनका उद्धारकर्त्ता मैं हो जाता हूँ। जहाँ ज्ञानी के सम्बन्ध में भगवान् की उक्ति है-

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' (गीता 7/19)

'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त होता है' तथा अन्य मार्गानुगामी हेतु उन्होंने कहा है-

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'

वहाँ शरणागत भक्त वर्तमान शरीर शान्त होने पर परमपद प्राप्त कर लेता है।

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

शरणागति की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि अन्य किसी मार्गावलम्बी के लिये शरीर छोड़ते समय, परमात्मा के किसी रूप का ध्यान, नामस्मरण, लीला-धाम स्मरण, 'ॐ' के उच्चारण आदि बातों का उल्लेख होता है, परन्तु शरणागत यदि ऐसा करने में किसी कारण असमर्थ हो जाय तो भी चिन्ता की बात नहीं; क्योंकि शरणागत का स्मरण भगवान् स्वयं रखते हैं। वे स्वयं कहते है-

'अहं मद्भक्तं स्मरामि नयामि परमं पदम्।'

'मैं अपने भक्त (शरणागत) का स्वयं स्मरण करता हूँ तथा अपने धाम को ले जाता हूँ।' जब सम्पूर्ण धर्मो का त्याग करके भगवान् ने अपनी शरण में आने की बात कही तो यह बात सबके लिये नहीं है; क्योंकि इसे सर्वगुह्यतम बात कहकर इसके वाद कहते हैं कि इस सर्वगुह्यतम बात को, जो इन्द्रिय विजयी, तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता हो और मुझमें दोष लगाता हो, उससे न कहना। सर्वधर्मत्यागरूप स्वधर्म का आचरण, साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँचा साधक ही कर सकता है। शरणागति का फल अनन्य प्रेम है। यह ऐसा प्रेम है जिसमें प्रेमी, प्रेमास्पद का स्मरण अखण्डरूप से बिना किसी कारण तथा प्रेमास्पद से बिना कुछ आशा लगाये, उसके प्रेम में छटपटाता रहता है। गोपियाँ साधना के इसी उच्च स्तर में परम आदर्श थीं। उन्होंने पति-पुत्र, लोक-परलोक देह-गेह, कर्तव्य-धर्म-सबको छोड़कर, सबसे ऊपर उठकर सबका उल्लङ्घन कर, एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को ही पाने के लिये अभिसार किया था। उनका पति-पुत्रों का त्याग, सर्वधर्म का त्याग ही उनके स्तर के अनुरूप उनका स्वधर्म है। इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्म का आचरण गोपियों जैसे उच्च स्तर के साधकों में ही सम्भव है। सब धर्मो का यथाविधि पालन करने के पश्चात् इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य भगवत्प्रेम प्राप्त करने वाले का सर्वधर्मत्याग स्वतः हो जाता है। भगवत्प्रेम की ऊँची स्थिति का यही स्वरुप है। इस सम्बन्ध में देवर्षि नारद का एक सूत्र है-

'वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

जो वेदों का, वेदमूलक समस्त धर्म मर्यादाओं का भी भली-भाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड, असीम भगत्प्रेम को प्राप्त कर लेता है।

गीता के अनुसार अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर एकत्व स्थापित करना 'योग' है। संसार की कोई चीज अच्छी या खराब नहीं है; क्योंकि प्रत्येक चीज़ का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ईश्वर ही है। अपने स्थान पर प्रत्येक का अपना मूल्य है। यह हमारे पर भी लागू है। इसलिये ईश्वर ने हमें जैसा बनाया है, जिस परिस्थिति में हम हैं, उसे स्वीकार कर सभी स्थितियों से हमें सामञ्जस्य बनाकर रखना है। यह सामञ्जस्य स्वयं के साथ, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, प्रकृति तथा ईश्वर के साथ होना है। यह योग है। योग का अभ्यास जीवन के सभी संघर्षो को समाप्त करने के उद्देश्य से उन संघर्षो के कारणों से परे जाने तथा विभिन्न शक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु एक प्रक्रिया है। हमारी शारीरिक या मानसिक बीमारी का कारण आन्तरिक सामञ्जस्य का अभाव है। स्वस्थ रहने हेतु हमें उसके साथ ही पाँच महाभूतों, मौसम की विभिन्न दशाओं अर्थात् वाह्य परिस्थितियों से भी सामञ्जस्य बनाये रखना आवश्यक है।

गीता की शिक्षा को जीवन में उतारने हेतु साधक को सर्वप्रथम समता का भाव रखकर इच्छा के त्याग-हेतु प्रयासरत होना चाहिये। सभी कर्मो को यज्ञ के रूप में करना चाहिये तथा उसका फल ईश्वर को समर्पित करते जाना चाहिये। यह पहला कदम है।

दूसरा कदम यह समझना है कि सभी कार्य वैश्विकशक्ति=प्रकृति जो क्रियाशील है, के द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं। सभी परिवर्तन का कारण वही है। आत्मा अपरिवर्तनीय तथा

कर्तृत्वरहित है। चूँकि हम आत्म-स्वरूप हैं, इसलिये हम भी कर्तृत्त्वरहित हैं। अतः हमें कर्त्ताभाव का त्याग करना चाहिये। कर्त्ताभाव छूटने पर फल की कामना अपने आप ही छूट जायेगी।

तीसरा कदम यह समझना है कि प्रकृति द्वारा सभी कार्य परमात्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न होते हैं। शासक परमात्मा है। उसे परमपुरुष=पुरुषोत्तम, के रूप में देखा जाना है। आत्मा उसका एक अंश है। पुरुषोत्तम, जीवात्मा तथा जगत् सबको समेटे हुए, सबको व्याप्त किये हुए है। यज्ञ के रूप में सम्पन्न होने वाले हमारे सभी कर्म उसी को पूर्ण प्रेम तथा श्रद्धा से समर्पित होने हैं। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसी को समर्पित होना है। हमें अपनी चेतना का स्तर उन्नत करते जाना है तथा अपने को ईश्वरीय चेतना में स्थापित करना है।

इस प्रकार हमारी आध्यात्मिक साधना का पहला स्तर कर्मयोग का है। यहाँ गीता का जोर निष्कामकर्म पर है। दूसरा स्तर ज्ञानयोग का है। यहाँ आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर आत्मानुभूति की ओर अग्रसर होना है परन्तु यज्ञ के रूप में कर्म चलते रहने हैं। ज्ञान में कर्म खो नहीं जाने देना चाहिये।

अन्तिम पद भक्तियोग का है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा-प्रेम से युक्त होकर निरन्तर बढ़ते जाना है। सब कार्य करते हुए, उसका स्मरण बना रहना चाहिये। यह विश्वास रखकर कि सब कुछ ईश्वर द्वारा सम्पन्न हो रहा है, हमें अपने को पूर्णतया समर्पित करते जाना है। यहाँ भक्ति पर जोर है, परन्तु ज्ञान की उपेक्षा नहीं होने देना है; बल्कि शनैः-शनैः ज्ञान के स्तर का उच्चीकरण करते जाना है। ज्ञानपूर्ण भक्ति के साथ कर्म-यज्ञ चलते रहना चाहिये। गीता की साधना एकाङ्गी नहीं है; बल्कि समन्वित साधना है। ज्ञान के साथ कर्म का, जो दोहरा रास्ता था, उसे कर्म-ज्ञान-भक्ति का तिहरा रास्ता हो जाना है। इस प्रकार की पूर्ण साधना से साधक अपने परम लक्ष्य को पाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार वह ईश्वरीय-भाव से एक हो जाता है और उसका पुरुषोत्तम के साथ योग हो जाता है। तब साधक कृतकृत्य हो जाता है। उसे प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है।

निश्चित रूप से किये जाने वाले तीन कार्यों- 'यज्ञ, दान, तप' के पालन में हुई त्रुटि के निवारण तथा ईश्वरानुभूतिहेतु कार्य के आरम्भ में 'ओम्-तत्-सत्' का उच्चारण, अर्थ समझते हुए करना चाहिये। 'ओम्' परमात्मा का प्रतीक, वेदों का सार है। 'तत्' सब कुछ वह, 'मैं-मेरे' के भाव से मुक्त करने वाला तथा 'सत्' सारतत्त्व है जो स्वार्थ-भाव को हटाने वाला है। अपने सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक कर्म हमें पूर्ण श्रद्धा से करने चाहिये। उक्त कार्य हमें परमात्ममिलन की सामर्थ्य देते हैं। जैसे नदियाँ निरन्तर प्रवाहित होकर समुद्र में मिलती रहती हैं, वैसे ही हमें आत्म निरीक्षण तथा विवेक का सहारा लेकर, समन्वित साधना से अपने पूर्ण व्यक्तित्त्व को ईश्वर की तरफ ले जाना चाहिये।

गीता में पूजा का अर्थ क्या है? वेदों के कर्मकाण्ड में यज्ञों की प्रधानता है। यज्ञों के माध्यम से देवताओं-ईश्वर की पूजा की जाती है। अग्नि में हविष्य की आहुति देने, विधिपूर्वक दान देने आदि में धर्म की प्रधानता होती है। मन्दिर में या मन में भगवान् को स्नान कराना, प्रसाद अर्पण करना, मन्त्र का जप करना, उपासना के अन्तर्गत आते हैं। योगाभ्यास में समाधि की प्रधानता है। वेदान्त में तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की प्रधानता है। इसके लिए श्रवण,

मनन, ध्यान का तरीका अपनाते हैं। परन्तु गीता में ईश्वर की पूजा इन सबसे अलग है। इसके लिये किसी पदार्थ की, किसी दान-दक्षिणा की, किसी मन्त्र-शास्त्रीय ज्ञान की, किसी विशेष चीज की आवश्यकता नहीं है। उसकी पूजा तो अपने कर्म से करनी है। कोई कर्म अच्छा-बुरा नहीं है। हम जो भी कर्म करें उसमें यह भाव रखें कि हमारे कर्म ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए हो रहे हैं। जब हम अपना कर्म इस ढङ्ग से करेंगे कि जिसके लिए कर रहे हैं वह प्रसन्न हो जाय, इसे करके अपने स्वयं को प्रसन्नता मिले, हमारा कर्म अपने सुख के लिए अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर न हो, हमारे कर्म में सबके हित का भाव छुपा हो, तो हमारे कर्म भगवान् की पूजा कहलाएँगे। जब हम आसक्ति रहित होकर, फलाशा छोड़कर लोक-कल्याण के भाव से, ईश्वर को केन्द्र में रखकर कर्म करते हैं तो हमारा कर्म यज्ञ हो जाता है। हमारे कर्म बन्धनकारी नहीं रह जाते। हमारे कर्म ईश्वर की पूजा हो जाते हैं। इसे ही कर्मयोग कहते हैं। ऐसे कर्म करते समय केवल दूसरे का हित-चिन्तन रहता है।

जिसकी पूजा की जानी चाहिए या जिसके लिए त्याग किया जाना चाहिए-वह पूज्य होता है। पूज्य वह होता है जो किसी अर्थ में श्रेष्ठ हो। किसी व्यक्ति की पूजा हम उसके विशिष्ट ज्ञान, धन, सम्मान, शक्ति, त्याग, तपस्या आदि के कारण करते हैं। सबसे पूज्य ईश्वर है; क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पत्ति, गुणों का स्रोत है। हमारा अस्तित्व उसी पर टिका है। हमारे पास जो कुछ भी है, उन सबका कारण ईश्वर ही है। अतः हम उसके प्रति किस प्रकार कृतज्ञ हो सकते है, उसे किस प्रकार प्रसन्न कर सकते हैं, उसके द्वारा प्रदत्त सामग्री से हम उसकी पूजा किस प्रकार कर सकते हैं, उसकी पूजा करते हुए हमारा लक्ष्य क्या रहे-इन बातों के प्रति हमें सचेत रहना है। पूजा या त्याग करने के कारण हम पूजक हैं तथा भगवान् ने हमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि तथा कुछ विशेष गुण दिये हैं, जिनका उपयोग करके अपने कर्मों से उसकी पूजा हम कर सकते हैं। पूजा करते समय अर्थात् कर्म करते समय हमें ध्यान रखना है कि हमारे कर्म राग, द्वेष, आसक्ति, फलाशा से रहित हों; ताकि हमारे कर्म बन्धनकारी न हों।

अहङ्कार तथा व्यक्तित्त्व को तोड़ना तथा प्रत्येक चीज को आत्मा की व्यापकता में देखना, ईश्वर को जानना तथा उसके सभी पक्षों में उसी सम्पूर्ण सत्य के रूप में उसकी पूजा करना, अस्तित्व तथा अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, दिव्यचेतना को धारण करना तथा उस चेतना द्वारा प्रेरित रहना, प्रेम, आह्लाद, सङ्कल्प तथा ज्ञान की वैश्विक शक्ति के साथ एकत्व स्थापित करना, सभी जीवों के साथ एकता का भाव रखना, सब कुछ ईश्वर है- के भाव में अपने सभी कर्मों को पूजा समझकर करना है। यह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा वास्तविक सत्य की तरफ पारगमन है और इसे कोई अलगाववादी चेतना, मन की अज्ञानता तथा अशान्ति के प्रति लगाव की सीमाओं को पारकर ही इसमें प्रवेश करती है।

ॐ की साधना

शास्त्र कहते हैं कि प्रारम्भ में वेदों का अस्तित्व नहीं था। सत्य युग (कृत युग), जिसे स्वर्ण युग कहा जाता है, में वेद नहीं थे, केवल ओम् का अस्तित्व था। श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णन है–

'एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः'

ओम् के अन्तर्गत सभी वेद समाहित थे। शास्त्रों के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने ओम् से ब्रह्माण्ड का सृजन किया। तीन व्याहृतियाँ– 'भूः, भुवः, स्वः', ओम् के तीन अक्षर अ, उ, म् से आईं। इन तीन व्याहृतियों से ब्रह्मगायत्री मन्त्र के तीन पाद आये, जिनसे सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए। वेद के रहस्य ज्ञान से ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड का निर्माण किया।

मुक्तिकोपनिषद् में हनुमान् जी द्वारा मुक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर श्रीराम ने मुमुक्षुओं को मुक्ति के लिए एक माण्डूक्य उपनिषद् को ही पर्याप्त कहा है–

'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' (मुक्तिको प0 1.27)

अर्थात् जीव की मुक्ति हेतु एक उपनिषद् पर्याप्त है। इस उपनिषद् की प्रथम उद्घोषणा निम्न मन्त्र से होती है।

"हरिः ॐ। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव"। (1)

अर्थात्– ओम! सम्पूर्ण दृष्ट सृष्टि (ब्रह्माण्ड) का बोधक यह अविनाशी शब्द है। जो कुछ हुआ है, जो हो रहा है, जो कुछ होगा–यह सब कुछ 'ओम्' है और सामयिक विश्व की तीन दशाओं (सृष्टि, अस्तित्व तथा विनाश) के बाहर जो कुछ है, वह भी वस्तुतः 'ओम्' ही है।

जो कुछ भी भूत, वर्तमान या भविष्य है–वह इस महान् सत्य का मात्र स्पष्टीकरण है। 'सर्वम् ओङ्कार एव'। वास्तव में प्रत्येक चीज़ ओम् है। ओम् सभी मन्त्रों–वैदिक, तान्त्रिक या पौराणिक का बीज मन्त्र है। सभी प्रकार के मन्त्रों के प्रारम्भ में इसे लगाया जाता है।

"ओमभ्यादाने" (पा0अष्टाध्यायी 8/2/87)

वेदान्तियों के ब्रह्म, भक्तों के भगवान् तथा सभी आत्माओं की आत्मा, परमात्मा का यदि कोई परम्परागत नाम सम्भव है, तो वह 'ओम्' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता।

जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सार तत्त्व ब्रह्म-भगवान्–परमात्मा है, ब्रह्म ही सब कुछ है, बिना ब्रह्मके किसी का अस्तित्व संभव नहीं। जैसे बिना मिट्टी के किसी बर्तन या बिना सोने के किसी गहने का अस्तित्व संभव नहीं, ठीक उसी प्रकार, सभी प्रकार की ध्वनियों का सार-तत्त्व ओम् है। सभी प्रकार का वाचिक प्रकटीकरण तथा विषयपरक सन्दर्भ इसमें समाहित है। आत्मा वाच्य है तथा प्रणव वाचक है। "तस्य वाचकः प्रणवः"।

ओम् कोई ध्वनि नहीं है, जिसका उच्चारण-गान करें। इसका हम सृजन नहीं करते, बल्कि ओम् में स्वयं अपने कारण जो कम्पन (Vibration) है, उसके अनुकूल परिस्थिति होती है। हम न इसे पैदा करते हैं, न बनाते हैं और न इसे प्रवर्तित करते हैं।

ओम् के गान-आलापन (Chant) से, हमारे अन्तःकरण में, पूर्व जन्मों की वासनाओं के कारण जमा हुआ मल नष्ट हो जाता है। इसे आलापने का उद्देश्य, अपने स्वयं तथा उसके जिसका अस्तित्व किसी के सन्दर्भ से नहीं, बल्कि स्वतः ही है तथा जिसका प्रकटीकरण ओम् के कम्पन के रूप में व्यक्त होता है-के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। यह कम्पन वैश्विक कम्पन (Cosmic Vibration) है।

कुछ लोग 'ओम्' को सृष्टि के प्रारम्भ की प्रथम कम्पायमान ध्वनि मानते हैं। आधुनिक विज्ञान भी यह मानने लगा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में बड़ा धमाका हुआ था। ऋषि कहते है कि ओम् एक वैश्विक कम्पन (Universal Vibration) है, जिससे सृष्टि प्रारम्भ हुई। यह ध्वनि मात्र नहीं है।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च सृष्ट्यादौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।।

संसार को बहुत से लोग दुःखालय कहते हैं। प्रायः प्राणी सुख की प्राप्ति की आशा में प्रयत्नशील हैं, परन्तु अधिकतर दुःख भोगते हैं। हमारे सुख-दुःख का कारण अपनी चेतना में संसार के विभिन्न रूपों का आवाहन है। हम संसार से मोक्ष-छुटकारा चाहते है। मोक्ष वह दशा है, जिसमें हम जीवत्व से नहीं, बल्कि ईश्वर से, जिसका अस्तित्व किसी के सापेक्ष नहीं, बल्कि स्वयं के कारण है- से सम्बन्ध रखना है। उसकी दशा में रहना है। अर्थात् हम अपने जीव भाव को छोड़कर ईश्वर-भाव में स्थापित होना चाहते हैं। हम कैवल्य चाहते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं।

माण्डूक्य-उपनिषद् मनुष्य के व्यक्तित्व-जीवभाव को ईश्वरभाव में स्थापित करने हेतु बहुत सरल मार्ग बताता है। यह मार्ग ईश्वर को अपने अन्दर आह्वान करने का-अपनी चेतना में ईश्वर को स्थापित करने का- सीधा-सरल मार्ग है।

ईश्वर का रूप वैश्विक है, अतः किसी विशेष नाम से हम उसे नहीं पुकार सकते। चूँकि वह कोई विशेष वस्तु नहीं, अतः हम जिसके माध्यम से उसे प्रकट कर सकते हैं, वह ऋषियों द्वारा बतायी गयी एक मात्र भाषा 'ओम्'-प्रणव है। ओम् का उच्चारण वैश्विक भाषा का बोलना है, जिसके अन्तर्गत अन्य सभी भाषाएँ समाहित हैं। इसका उच्चारण करते समय एक विशिष्ट प्रकार का कम्पन होता है। सम्पूर्ण ध्वनि-कक्ष कम्पायमान होता है।

यह कम्पन (Vibration) ऐसा है, जिसमें अन्य सभी कम्पन समाप्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में सभी इच्छाएँ समाप्त हो जाती है। सभी तरसना (Cravings) समाप्त हो जाता है तथा जो वैश्विक ईश्वर है, उसके लिए इच्छा जागृत हो जाती है। जैसे अग्नि सभी तिनकों को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही वैश्विक इच्छा-ईश्वर की इच्छा- अन्य सभी इच्छाओं को समाप्त कर देती है।

जब हम ओम् का गान-आलापन करते हैं, तो हमारी पूरी कोशिश तदनुरूप कम्पन पैदा करने की होती है। उस समय हम वैश्विक कम्पन (Universal Vibration) के तदनुरूप होते है। ब्रह्माण्ड की तरङ्गो के साथ हम एक होते है। उस समय हम अपने शरीर तथा अन्तःकरण में तदनुरूप कम्पन पैदा करते हैं। हमारी सोच, उस अवस्था में, किसी वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति के सापेक्ष न होकर, ईश्वर की सोच की भाँति होती है। जीव का विचार किसी के सापेक्ष होता

है। ईश्वर का विचार तो तब है, जब विचार स्वयं विचार ही रह जाय, अन्य कुछ नहीं। वास्तव में उस समय हम नहीं रह जाते- व्यक्तिगत रूप से हमारा अस्तित्व नहीं होता। हम उस समय ईश्वर के रूप में-जो अपने स्वभाव में स्थित है-होते हैं। हमारी महिमा, मस्तिष्क, स्थिति सब ओम् के कम्पन द्वारा, ईश्वर के वैश्विक रूप में प्रवेश कर जाते हैं।

ओम् का गान-आलापन जप तथा ध्यान-दोनों एक साथ हैं। इसमें जप तथा ध्यान एक हो जाते है। इसमें दोनों- नाम तथा रूप एक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों सर्वव्यापक हैं और दो सर्व-व्यापक एक साथ सम्भव नहीं हैं। अतः इस सन्दर्भ में जप तथा ध्यान का अर्थ एक ही है। अर्थात् जप ध्यान है और इसका ध्यान जप है।

यहाँ नाम-रूप में 'नाम' का प्रयोग उस अर्थ में नहीं है, जिस अर्थ में हम सामान्यतया नाम का प्रयोग करते हैं। शरीर की आन्तरिक बनावट भौतिक नहीं है। यह तन्मात्रा, मन-बुद्धि आदि से निर्मित है। 'तन्मात्राएँ' भौतिक शरीरों तथा भौतिक चीजों के अन्तर्गत सूक्ष्म कम्पन हैं। यही कम्पन भौतिक रूपों में मूर्त रूप धारण कर लेते हैं जिन्हें हम 'नाम' से जानते हैं तथा जो आकृति ग्रहण करते हैं, उन्हें 'रूप' कहते हैं। प्रचलित नाम तो उस नामित वस्तु-व्यक्ति के गुणों को बताने वाला होता है- जैसे जो सबको सहजभाव से आकर्षित कर ले, वह कृष्ण है। जिसमें योगी लोग रमण करें वह 'राम' है।

चूँकि सभी दृश्य जगत् काल-भूत, भविष्यत्, वर्तमान- से बँधा है, अतः इसका नष्ट होना भी तय है। 'ओम्' काल से नहीं बँधा है-यह उससे परे है तथा काल के अन्तर्गत जो कुछ है, वह भी इसमें समाहित है, अतः यह कभी नष्ट नहीं होता। यह अस्तित्व मात्र है- सच्चिदानन्दस्वरूप है। ओम् की प्रकाशकता लौकिक भी है और शाश्वत भी है। नदियों का नाम व्यष्टि तथा समुद्र का समष्टि है। शाश्वत रूप में यह निराकार, अवधिरहित तथा दूरीरहित है। यह कम्पन भी है, चेतन भी है। सृष्टि भी है, सच्चिदानन्द भी है। यह सब ओम् है।

आलापन के समय हमारा विचार क्या होगा? हमारी मान्यता होगी कि हम समुद्र हैं तथा सभी पदार्थ नदी के रूप में हमारे अन्दर प्रवेश कर रहे हैं और हम इनसे अप्रभावित हैं। जैसा कि गीता में भगवान कहते हैं-

'आपूर्णमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्' (गीता 2/70)

अर्थात् जैसे अचल प्रतिष्ठ वाले समुद्र में नदियाँ समुद्र को बिना प्रभावित किये बड़े वेग से उसमें समा जाती हैं। वैसे ही पूरा संसार तुम्हारे अन्दर विलीन हो रहा है। इसी भावना से यदि थोड़ी देर तक हम ध्यान-जप कर हम चैतन्य के अन्तरङ्ग में प्रवेश पाने में समर्थ हो जायँ, तो संसार के सभी उत्पीड़न बन्द हो जायेंगे और हम शान्ति के समुद्र में डूब जायेंगे। ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग खुल जायेगा। जीवन का बुलबुला ईश्वरत्व के समुद्र में फूट जायेगा। शरीर में कम्पन होने लगेगा। अश्रुपात होने लगेगा। अभी तक हम सीमित थे, अब असीमित में प्रवेश पा जायेंगे। हम असीम हो जायेंगे। यदि ईश्वर कृपा से हमारा प्रारब्ध समाप्ति पर है, तो हमारे अन्दर एक अलौकिक शक्ति का प्रवेश हो जायेगा और हम ईश्वर का अनुभव प्राप्त कर लेंगे- ईश्वर से अभिन्न हो जायेंगे।

इसके लिए हमको करना क्या है? हम अपने को भगवान् के हाथों का उपकरण मान लें। यदि हम सही-सम्पूर्ण अर्थ में वैश्विक शक्ति के हाथों का मात्र खिलौना बन जायँ, तो हम दिव्यता प्राप्त कर लेंगे। ईश्वरानुभूति हो जायेगी। यही संसार से मोक्ष है। बन्धन से मुक्ति है।

इस प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् बताता है कि मात्र प्रणव-ओम् के आलापन द्वारा तथा इसके वैश्विक रूप पर ध्यान देते हुए, एक निर्धारित प्रक्रिया का पालन करते हुए, हम मुक्त हो सकते हैं।

प्रणव के रूप में आत्मा, आत्मा तथा प्रणव के विभिन्न प्रकारों-अवयवों की तुलना करते हुए उनके एकीकरण पर ध्यान-

जिस तरह व्यक्त ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण की तीन सापेक्षिक दशाएँ जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति हैं, उसी तरह ओम् के तीन अक्षर अ, उ तथा म् हैं। अर्थात् आत्मा के तीन पाद ओम् के तीन अक्षर हैं और ओम् के तीन अक्षर आत्मा के तीन पाद हैं।

जिस प्रकार चेतना के चार स्तर हैं, उसी प्रकार ओम् की भी चार दशाएँ हैं, जिनकी तुलना हम क्रमवार कर सकते हैं। जागृत अवस्था में चेतन, आहार को उन्नीस मुँह (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वक् (चमड़ी), पाँच कर्मेन्द्रियाँ- हाथ, पैर, वाणी तथा मल-मूत्र विसर्जित करने वाली इन्द्रियाँ- पाँच प्राण-प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान तथा अन्तःकरण चतुष्टय- मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार) से लेता है।

ब्रह्माण्डीय चैतन्य को हम वैश्विक जागृतावस्था में कार्यरत समझ सकते हैं। इस दशा में सम्पूर्ण विश्व चैतन्य की चेतना का विषय रहता है, जिस प्रकार व्यक्तिगत चैतन्य, व्यक्ति के जागृतावस्था में कार्यरत रहता है।

व्यक्तिगत तथा वैश्विक चैतन्य को क्रमशः विश्व तथा विराट या वैश्वानर कहते हैं।

जागरित स्थान-आत्मा की जागृतावस्था जिसे व्यक्तिगत स्तर पर विश्व तथा वैश्विक स्तर पर वैश्वानर कहते हैं, ओम् का प्रथम अक्षर 'अकार' है। चेतना की सभी अवस्थाएँ जागृत अवस्था से प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में स्वप्नावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था सम्मिलित है। जीव के स्तर पर-ईश्वर के स्तर पर नहीं-जागृतावस्था को कारण तथा स्वप्न एवं सुषुप्ति को कार्य कह सकते हैं। जहाँ स्वप्नावस्था, जागृतावस्था के प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रभाव है, वहाँ सुषुप्त्यवस्था में सभी अपूर्ण प्रभाव-वासनाएँ अव्यक्त स्थिति में परिसमाप्त होती हैं। इस अर्थ में कह सकते हैं कि जागृतावस्था अन्य अवस्थाओं का प्रारम्भ है। दूसरी तरफ अक्षरों के क्रम में 'अ' सभी अक्षरों का प्रारम्भ है। इस अकार में सभी शब्द-रचना समाहित है। हम 'अ' का उच्चारण करने हेतु ज्योंही मुँह खोलते हैं, तो देखते हैं कि 'अ' का उच्चारण एक उत्तेजना पैदा करने की ओर उन्मुख है। इस प्रकार उपनिषदों में इस शाब्दिक रचना के प्रारम्भ की तुलना ओङ्कार के प्रथम अक्षर से की जाती है। उपनिषद् कहता है कि ओम् के अकार तथा जागृतावस्था के समन्वय पर ध्यान करके हम सभी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं।

'आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्'

इस प्रकार से ध्यान करने वाला व्यक्ति अन्य सभी लोगों में अग्रवर्ती हो जाता है। उसके पास बिना माँगे प्रत्येक चीज आ जाती है। ओम् के अकार तथा आत्मा की जागृतावस्था के समन्वय की प्रक्रिया पर ध्यान के रहस्य को जो जान जाता है और जो प्रथम दशा में निर्देशित वैश्वानर-आत्मा तथा ओङ्कार के प्रथम अक्षर 'अ' के समन्वय पर ध्यान करता है, वह पूर्ण सिद्ध हो जाता है। योग में दक्ष हो जाता है।

वैश्वानर पर ध्यान की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन छन्दोग्य उपनिषद् में आया है।

आत्मा की दूसरी सापेक्षिक दशा स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में जागृतावस्था गीता की तरह उन्नीस मुँह से हम आहार ग्रहण करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सभी आहार सूक्ष्म होते हैं। स्वप्नावस्था में प्राण तथा मन सभी सक्रिय रहते हैं, परन्तु इनकी प्रगाढ़ता कम होती है।

उपनिषद् आत्मा के द्वितीय पाद व्यक्तिगत स्तर पर तैजस तथा ब्रह्माण्डीय स्तर पर हिरण्यगर्भ की तुलना 'ओङ्कार' के द्वितीय पाद- अक्षर 'उ' से करता है। स्वरों के क्रम में अकार के पश्चात् मध्य में 'उ' उत्कर्ष के रूप में आता है। जहाँ 'अ' का उच्चारण मुँह के अग्र भाग से होता है, वहाँ 'उ' के उच्चारण में गले का मध्य भाग कार्य करता है। 'अ' के उच्चारण में जहाँ मुँह खुल जाता है, वहाँ 'उ' के उच्चारण में आधा मुँह खुलता है। इसी प्रकार तैजस जागृतावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था के मध्य आता है। जैसे 'उकार' अकार तथा मकार के मध्य स्थित है, उसी प्रकार तैजस, जागृत तथा सुषुप्ति के मध्य स्थित है।

अतः हम तैजस तथा उकार की तुलना करते हैं तथा इनके समन्वय पर ध्यान करते हैं। इस प्रकार का ध्यानी समाज तथा पूरी सृष्टि में सन्तुलन कर्ता हो जाता है। ऐसे ध्यान-कर्ता के मन में न कोई विरोध रहता है और न उसके कारण समाज में कोई विरोध रह जाता है। वह स्वयं शान्त रहता है तथा उसके कारण समाज में शान्ति रहती है। उसकी उपस्थिति में उत्पीडन, विरोध, तनाव आहद समाप्त हो जाते हैं उसका अस्तित्व ही शान्तिदायक होता है।

उपनिषद् कहता है कि इस प्रकार का ध्यान इतना पवित्र करने वाला है कि उसके परिवार में ब्रह्मज्ञान से रहित कोई पैदा नहीं होगा। चूँकि 'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि'। अर्थात् पुत्र के रूप में पिता की आत्मा रहती है। अतः तुम्हारे वंशज तुमसे केवल शरीर से ही जुड़े नहीं रह जायेंगे, बल्कि वे सभी ज्ञान के उत्तराधिकारी होंगे।

'अमृतस्य पुत्राः' ऐसा कहा है-

अव आत्मा के तृतीय पाद सुषुप्त्यावस्था, जिसे व्यक्तिगत स्तर पर प्राज्ञ तथा ब्रह्माण्डीय स्तर पर ईश्वर कहते हैं, की तुलना ओङ्कार के तृतीय पाद अक्षर म् से करें।

'सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीयमात्रा'।

'मकार' ओम् की तृतीय मात्रा है और यह आत्मा की कारणात्मक अवस्था प्राज्ञ से तुलनीय है। यह सभी चीजों की सीमा है तथा इसमें सभी चीजें विलीन हो जाती हैं।

1- सुषुप्त्यवस्था में (वीते हुए) कल तथा आज के अनुभव में सोने के पूर्व तथा सोकर उठने के वाद के अनुभव में हम एक सातत्य-अविच्छिन्नता पाते हैं। उस अवस्था में हमको

श्वास का भी ज्ञान नहीं रहता, इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उस अवस्था में हम शुद्ध चैतन्य के रूप में थे।

2– सुषुप्तावस्था में हमारा वास्तविक स्वभाव सत्-चित्-आनन्द है। उस अवस्था में हम शुद्ध चैतन्य हैं। मात्र शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व है। जैसा कि सर्वविदित है कि चैतन्य सर्वव्यापक है। अतः इसे एक व्यक्ति तक सीमित नहीं किया जा सकता। इस कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सुषुप्तावस्था में ब्रह्माण्डीय चैतन्य ही हमारा स्वभाव था।

सुषुप्तावस्था जहाँ एक तरफ जागृतावस्था का कारण कही जा सकती है। एक अर्थ में सुषुप्तावस्था हमारे जाग्रत तथा स्वप्न का कारण प्रतीत होती है, क्योंकि हम अपनी अपूर्त इच्छओं के कारण ही नींद से जगते हैं। हमारा प्रारब्ध कर्म हमको कार्य करने हेतु उत्तेजित करता है तथा हमको जगा देता है। दूसरे अर्थ में हम प्राज्ञ को कार्य-प्रभाव मान सकते हैं, क्योंकि प्राज्ञ चेतन की मात्र वह अवस्था है, जहाँ सभी अपूर्त, अव्यक्त इच्छाएँ सोई हुई है और ये वासनाएँ-प्रभाव जागृतावस्था के प्रत्यक्ष ज्ञान/बोध तथा अनुभव हीं है।

संचित कर्म अपूर्त वासनाओं, संस्कारों का समूह है, जो सुषुप्तवस्था-प्राज्ञ में खड़े रहते हैं, तथा जागृतावस्था एवं स्वप्नावस्था में उग आते हैं। जिस प्रकार पात्र अन्तर्विष्ट पदार्थ को थाम रखता है, सम्भाँलता है, उसी प्रकार 'अकार' तथा 'उकार' दोनों का उच्चारण मकार में समा जाते हैं, जिस 'म्' के उच्चारण के साथ हम 'ओम्' का उच्चारण बन्द करते हैं।

जिस प्रकार जीवन के सभी अनुभव, सभी प्रयास गहरी नींद के प्रारम्भ में समाप्त होने लगते हैं तथा गहरी नींद में हम डूब जाते हैं, उसी प्रकार 'म्' के उच्चारण के समय 'ओम्' का उच्चारण बन्द होने लगता है तथा उसी की समाप्ति के साथ 'ओम' का उच्चारण भी समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार जाग्रतावस्था तथा स्वप्नावस्था दोनों सुषुप्त्यावस्था में मिल जाती है, उसी प्रकार 'अ' तथा 'उ' 'म्' में मिल जाते हैं।

'मिनोति ह व इदं सर्वम्'

इस दशा का अनुभव हम-व्यक्तिगत तथा ब्रह्माण्डीय दोनों स्तर पर-चेतना की कारणात्मक दशा तथा मकार की कारणात्मक दशा का समन्वय करते हुए ध्यान द्वारा कर सकते हैं।

इस प्रकार से ध्यान करने वाला सर्वज्ञ हो जाता है, वह सृष्टि के सभी अनुभवों का केन्द्र हो जाता है।

गीता के कथनानुसार जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में समा जाती है, वैसे ही प्रत्येक चीज़ उसमें समा जाती है। सभी सृष्टि जैसे ईश्वर में मिलती है, वैसे वह ऐसे ध्यानी-हममें मिल जाती है, क्योंकि हम स्वयं ईश्वर हो जाते हैं।

इस प्रकार हमने आत्मा की चेतनावस्था की तीन दशाओं-जाग्रत, स्वप्न, सुषप्ति की तुलना ओङ्कार के तीन पाद=अक्षरों 'अकार' 'उकार' तथा 'मकार' से की तथा क्रमवार उनके समन्वय पर ध्यान के विभिन्न पहलुओं को देखा।

जिस प्रकार आत्मा की एक अतीन्द्रिय (transcendent) दशा है, जिसका वर्णन उपनिषद ने 'नान्तः प्राज्ञं न वहिः प्राज्ञं नोभयतः प्राज्ञम्' इस प्रकार किया है उसी प्रकार प्रणव-ओङ्कार

की भी एक अलग दशा है, जो यात्राओं या अक्षरों से नहीं बनी है बल्कि अपात्र है और यह अपार है। अमात्र ध्वनि की कोई दशा नहीं है, यह अस्तित्व (being) का कम्पन है। इस कम्पन में कोई भौतिक अंश नहीं है। जिस कम्पन के द्वारा सृष्टि पनपी उस कारणात्मक कम्पन से भी सूक्ष्म है। उपनिषद् के अनुसार जिस प्रकार आत्मा अग्राह्य, अवर्णनीय है उसी प्रकार ओङ्कार की यह अमात्र दशा हर प्रकार से असीम है।

ओम् की यह चौथी अमात्र दशा, स्वयं आत्मा ही है। प्रणव-ओम् की ध्वनिरहित अवस्था स्वयं (आत्मा का) अस्तित्व ही है। सभी प्रकार का कम्पन तथा ध्वनियाँ अस्तित्व में विलीन हो जाती है और अस्तित्व तो एक ही होता है दो सम्भव नहीं, क्योंकि यह अनन्त है और अनन्त एक ही है। इस स्थिति को हम अमात्र की दशा में प्रणव या ओम् कह सकते हैं और अवर्णनीय अस्तित्व की दशा में आत्मा कह सकते है। प्रणव तथा आत्मा का मिलन एक हो जाना शुद्ध अस्तित्व है।

'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः'

प्रणव की यह चौथी दशा ऐसी है कि इसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है। प्रणव की ध्वनिरहित इस दशा में सभी ध्वनियाँ समाहित हो जाती है। यह ओङ्कार आत्मा की तरह पवित्र, अद्वैत तथा अभिमन्त्रित-धन्य है, क्योंकि यह आत्मा ही है।

'ओङ्कार आत्मैव'

यह आत्मा का दूसरा नाम है। यहाँ सृष्टि और सृष्टिकर्ता एक हो जाते है। आत्मा में ओम् का समाहित हो जाना सृष्टि का सृष्टिकर्ता सम्पूर्ण परमसत्ता में समाहित हो जाना है। तब न कोई सर्जन है न सर्जक है। सभी कुछ सम्बन्ध-रहित हो जाता है। गहन ध्यान के द्वारा जो इस रहस्य को जान जाता है, वह आत्मा के द्वारा आत्मा में प्रवेश पा जाता है। ऐसी स्थिति में हम आत्मा में प्रवेश नहीं करते बल्कि आत्मा ही स्वयं आत्मा में प्रवेश करती है। हमारा अस्तित्व समाप्त हो जाता है। हम आत्मा में वाष्पित हो जाते है। सभी ध्वनियाँ प्रणव में विलीन हो जाती है और यह आत्मा हो जाता है। केवल शुद्ध आत्मा ही रहती है।

माण्डूक्य-उपनिषद् हमारे मूल स्वभाव का विश्लेषण करता है और यह कहा जाता है कि इस ज्ञान को प्राप्त करके कोई मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उपनिषद् कहता है कि इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे ध्यान में जागृतावस्था से चेतना को स्वप्नावस्था में अर्थात् शरीर के स्तर की चेतना को मानसिक स्तर की चेतना में विलीन करो। पुनः स्वप्नावस्था की चेतना को अर्थात् मानसिक चेतना को धीरे-धीरे सुषुप्त्यवस्था में विलीन करो तथा इस चेतना को सर्वव्यापी आत्म चेतना में विलीन करो। साथ-साथ क्रमशः अकार को उकार में, उकार को मकार में तथा मकार को अमात्र में विलीन तक तक करते जाओ जब कि ध्वनि रहित अमात्र आत्मा के अस्तित्व में न मिल जाय अर्थात् केवल अस्तित्व ही रहे बाकी कुछ नहीं।

इसका अभ्यास निम्न प्रकार से किया जा सकता है। ओम्-'अ,उ,म्' का उच्चारण इस प्रकार करें- अ अ अ अ उ उ उ उ म म म म म म म म .... । गहरी श्वास बार-बार लेकर इसी क्रम को दुहराते जाय। यदि हम पाँच मिनट भी प्रातः-सायं करते हैं तो इसके प्रभाव का पता चलेगा और ऐसा अनुभव होता जायेगा कि जैसे हमारा शरीर विलीन होता जा रहा है। शारीरिक चेतना को जैसे ही हम वापस खींचना प्रारम्भ करेंगे। शरीर का मन में

विलीनीकरण प्रारम्भ हो जायेगा। मन तथा व्यक्तित्व की चेतना भी विलीन होती जायेगी। इस प्रकार 'ओम्' के उच्चारणमात्र से हम परमानन्द प्राप्त कर लेगें। इसमें सभी योग मिले हुए हैं।

यह माण्डूक्य-उपनिषद् में बताये गये अभ्यास द्वारा योग है। ऐसी स्थिति में इस आत्मा में प्रवेश नहीं करते, बल्कि आत्मा ही स्वयं आत्मा में प्रवेश करती है। हमारा अस्तित्व समाप्त हो जाता है। हम आत्मा में वाष्पित हो जाते हैं। सभी ध्वनियाँ प्रणव में विलीन हो जाती है और यह आत्मा हो जाता है। केवल शुद्ध आत्मा ही रहती है।

जब आत्मा स्वयं अपने (आत्मा) के द्वारा आत्मा हो जाती है तो इसे आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। व्यक्तिगत दशाओं को जब आत्मा अनुप्राणित सजीव करती है तो इस उपलब्धि को हम आत्म-साक्षात्कार कहते हैं और वही आत्मा जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अनुप्राणित करती है तो हम इसे ब्रह्म साक्षात्कार कहते हैं। एक ही समय में यह आत्मानुभूति भी है और ईश्वरानुभूति भी है।

यह अस्तित्व है, यह चैतन्य-ज्ञान है, यह शक्ति है, यह आनन्द है, यह पूर्णता है, यह अमरत्व है, यह मोक्ष है, यह कैवल्य है। यहीं हमारे जीवन का परम ध्येय-इष्ट है, जिसका वर्णन बड़ी सुन्दरता-मनोहरता से माण्डूक्य-उपनिषद् ने किया है।

श्रीमद्भागवत पुराण

श्रीमद्भागवत महापुराण की महत्ता, उसकी कथाओं का लक्ष्यार्थ तथा उसके कारण उसमें प्रेम मुझे सर्वप्रथम 1196 में वृन्दावन के एक सप्ताह के प्रवास के अवसर पर ज्ञान गुदड़ी मुहल्ले, जहाँ विदुर जी तथा उद्धव जी की ज्ञान-पूर्ण बाते हुई थीं, में श्री अतुल गोस्वामी, भगवत कथाकार की कथा से हुआ था। दि० 04-09-1996 को प्रथम दिन उनकी कथा, उनकी वाक्-तटुता, एक कथा के कई भाव व्यक्त करने आदि ने मुझे पूरी कथा सुनने, समझने हेतु बाध्य कर दिया था।

व्यास जी द्वारा रचित अन्तिम पुराण 'श्रीमद्भागवत महापुराण' की कहानियों को सुनने में मेरा मन प्रारम्भ से ही लगता था। जब कभी मौका मिलता, अवसर का लाभ उठाने का प्रयत्न करता। आध्यात्मिक कैसेट लाइब्रेरी से बहुत पहले प्रसिद्ध भागवत कथाकार पूज्य डोंगरे जी के सभी कैसेट घर लाकर सुना, परन्तु कहानियों का आध्यात्मिक भाव समझ में नहीं आता था। संगीतमय कथाओं में मन अवश्य रम जाता था। एक बार सम्भवतः सन् 1991-92 में वृन्दावन के ज्ञान गुदड़ी मुहल्ले (जहाँ उद्धव जी की मुलाकात विदुर जी से हुई थी) में भागवत कथा श्री गोस्वामी जी से सुनी। उन्होंने एक-एक कथा के कई भाव बताये। यद्यपि उनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता थी, समझने में भी मुझे कठिनाई होती थी, परन्तु उनकी कथा ने यह मानने को बाध्य किया कि यह साधारण ग्रन्थ नहीं है। तभी यह निश्चय किया था कि कथाओं का भाव, श्रीकृष्ण भगवान् की लीलाओं का अर्थ समझने का प्रयत्न करता रहूँगा। परन्तु कथाओं के मर्म को समझने वाले विद्वान-भक्त के मिलने, उन भावों को मुझे अलग से स्पष्ट करने के भाव तथा अपनी जिज्ञासा प्रकट करने की भगवान् द्वारा प्रदत्त प्रेरणा का संयोग नहीं बना।

मई 2012 में भगवान् की कृपा से श्रीमद्भागवत की कथा घर पर सुनने की प्रबल इच्छा हुई। इस हेतु अयोध्या निवासी राम-भक्त, भागवत तथा राम कथाकार श्री नरेन्द्ररामदास जी से अपनी इच्छा प्रकट कर, पाँच जून से ग्यारह जून 2012 तक, कथा कहने हेतु निवेदन किया। उन्होंने बिना किसी तरह की लम्बी वार्ता किये प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा चार जून को प्रातः तीन बजे मध्यप्रदेश से कथा समाप्त कर आ गये। उनकी स्वीकृति मिलने के बाद मैंने उस समय दनवार, बिहार में रह रहे, स्वामी धर्मनिधि जी तथा पूर्व भागवत कथाकार तथा वेदांती स्वामी सुरेशानन्द जी, नई दिल्ली से आग्रह किया कि इस भागवत सप्ताह में मुझे आशीर्वाद दें। मेरी प्रार्थना पर उक्त दोनों लोग निर्धारित तिथि पर आ गये। नरेन्द्ररामदास जी के कुछ शिष्य भी पूरे समय कथा में भाग लिये।

मैंने सुरेशानन्द जी से प्रार्थना की कि प्रतिदिन जो कथा होगी उससे सम्बन्धित कथाओं, लीलाओं का आध्यात्मिक भाव बताकर मेरी जिज्ञासाओं को शान्त करने की कृपा कीजियेगा। कथा के अन्त में कभी-कभी भागवत कथाओं का आध्यात्मिक भाव बताकर अपना भी आशीर्वचन श्रोतागण को दीजियेगा। सीमित स्थान के कारण तीस-पैंतीस श्रद्धालु श्रोता प्रतिदिन रहते थे। स्वामी जी के रहने की व्यवस्था मेरे साथ घर पर ही की गयी थी। कथा का समय सायं तीन से सात बजे तक था।

श्रीमद्भागवत की अनेक कथाओं में भाग लेने, कुछ टीकाओं के पढ़ने, स्वामी सुरेशानन्द से भागवत कथाओं के मर्म जानने तथा स्वामी अखण्डानन्द जी (वृन्दावन) के प्रवचनों के आधार पर अपनी चित्त-शुद्धि के उद्देश्य से श्रीमद्भागवत के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत हैं-

पुराण ऐसे वेद प्रतिष्ठित सत्य का उद्घाटन करते हैं जो प्राचीन होते हुए भी हर समय= भूत-वर्तमान-भविष्य में, समान रूप से उपयोगी हों। जहाँ पुराण में मुख्यतः पाँच विषयों-सर्ग, प्रति-सर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित का वर्णन होता है वहाँ श्रीमद्भागवत में क्रमबद्ध तरीके से सम्पूर्ण ज्ञान देने के उद्देश्य से दस लक्षणों का वर्णन किया गया है। इसलिये इसे महापुराण की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत को कृष्ण का प्रत्यक्ष वाङ्मयी मूर्ति रूप ही कहा गया है-

'श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्ष कृष्ण एव हि।'

श्रीमद्भागवत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन पराशर नन्दन व्यास जी है। इनके अतिरिक्त किसी भागवत कथावाचक को भी व्यास कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि व्यास का अर्थ होता है विस्तार करना। अतः कथा का विस्तार करने के कारण किसी कथावाचक को भी व्यास कहते हैं। श्रीमद्भागवत के रचयिता ने 'चतुःश्लोकी भागवत' का विस्तार बारह स्कन्ध तीन सौ पैंतीस अध्याय तथा अठारह हजार श्लोकों में किया था, इसलिये उन्हें व्यास कहते हैं। उनका जन्म द्वीप पर हुआ था, वे काले थे अतः उन्हें कृष्ण द्वैपायन कहते हैं। माता सत्यवती का एक नाम द्वीपा भी माना जाता है, अतः उनके पुत्र होने के कारण भी वे द्वैपायन कहे जाते हैं। (कातन्त्रवृत्तिटीका 2/6/3) वेदों का विस्तार करने के कारण उन्हें वेदव्यास भी कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् नारायण ने चार श्लोकों में ब्रह्मा को उपदेश दिया था उसे 'चतुःश्लोकी भागवत' कहते हैं। इसके चार श्लोक निम्न हैं-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।

(श्रीमद्भागवत 2.9.32-35)

इन श्लाको में दिये गये ज्ञान को ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को दिया और व्यास ने इन चार श्लोकों का विस्तार श्रीमद्भागवत में किया। इन चार श्लोकों में चार तत्त्वों का वर्णन है। एक में परमात्मतत्त्व-ब्रह्मतत्त्व का वर्णन है। दूसरे में मायातत्त्व का, तीसरे में जगत्तत्त्व का तथा चौथे में आत्मतत्त्व का वर्णन है।

परमात्म-तत्त्व का अर्थ है- सृष्टि के पूर्व स्थूल-सूक्ष्म तथा दोनों का कारण अज्ञान कुछ नहीं रहता, केवल परमात्मा ही रहता है। सृष्टि की स्थिति काल में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी परमात्मा ही है और सृष्टि के बाद जो कुछ शेष बचेगा, वह भी परमात्मा ही है।

माया-तत्त्व का अर्थ है- वास्तव में न होते हुए भी दृष्टि-दोष के कारण, आकाश में दिखाई पड़ने वाले दो चन्द्रमाओं की तरह या आकाश मण्डल के ग्रहों-नक्षत्रों में राहु के रहते परन्तु न दिखाई पड़ने की तरह परमात्मा में जो मिथ्या प्रतीत होती है- वह माया-तत्त्व है।

जैसे- सोने से निर्मित सभी गहनों में सोना व्याप्त रहता है तथा उनसे बाहर भी रहता है वैसे परमात्मा भी पञ्च महाभूतों-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश-तथा इनसे बने सभी पदार्थों में प्रविष्ट रहता है और उनसे अतिरिक्त भी रहता है। ऐसी परमात्मा की सत्ता है। यह जगत्तत्त्व का वर्णन है।

तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः, तदभावे तदभावोव्यतिरेकः।

'जिसके रहने पर जो रहे' वह अन्वय। जैसे 'वह्निसत्त्वे धूमसत्त्वम्' अर्थात् अग्नि के रहने पर धूम होता है। 'जिसके न रहने पर जो न रहे ' वह व्यतिरेक : जैसे 'वह्न्यभावे धूमाभावः'। अर्थात् अग्नि के न रहने पर धूम नहीं होता। इसी प्रकार 'ब्रह्मसत्त्वे आत्मसत्त्वम्' तथा 'ब्रह्मभावे आत्माभावः' यह अन्वय-व्यतिरेक जानना चाहिये।

इससे सिद्ध होता है कि सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। वही वास्तविक तत्त्व हैं। वही आत्मा हैं- वही परमात्मा हैं। जो आत्मा या परमात्मा का तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है। यह आत्म-तत्त्व का वर्णन है।

श्रीमद्भागवत में क्रमबद्ध तरीके से दस विषयों का वर्णन किया गया है। उन दस विषयों को पुराण के लक्षण कहते हैं। ये हैं-सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय। वेदान्त में जिस तत्त्व को'अधिष्ठान' कहते हैं, उसे भागवत में 'आश्रय' कहते हैं।

प्रारम्भिक सृष्टि को 'सर्ग' कहते हैं। इन्द्रियों, तत्त्वों, पञ्चतन्मात्राओं तथा मन का पैदा होना इसी के अन्तर्गत है।

प्राणियों की सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। इसमें अनुकूल स्थिति पाकर, बीज के अङ्कुर फूटने की भाँति, सुप्त वासनाओं के अनुसार, सर्ग में वर्णित श्रेणियों के योग से, सजीव या निर्जीव मूर्त रूप में- सत्ता के रूप में- व्यक्त करने की ब्रह्मा की सर्जनात्मक शक्ति द्वारा किया गया सर्जन 'विसर्ग' के अन्तर्गत आता है।

वासनाओं की निवृत्ति के उद्देश्य से, भगवान् सृष्टि को किस प्रकार धारण किये हुए है तथा भूगोल-खगोल किस प्रकार स्थित हैं- इन सबका वर्णन 'स्थान' के अन्तर्गत किया जाता है।

सृष्टि के सभी जीवों-पदार्थों के विकास, पोषण, कल्याण को करने वाली अव्यक्त शक्ति के बारे में किया गया वर्णन 'पोषण' के अन्तर्गत आता है। जब प्राणी अपने पाप-ताप से या सांसारिक दुःख-कष्ट से बहुत पीड़ित हो जाते हैं, तो भगवान् अनुग्रह करके अवतार धारण करते हैं। इसे पोषण कहते हैं।

जीवों में रहने वाली कर्म-वासना को ऊति कहते हैं। ऊति की शक्ति तथा इसके परिणाम को भक्त प्रह्लाद तथा उसके पिता हिरण्यकशिपु का वर्णन कर दिखाया गया है।

एक मनु के कार्यकाल को 'मन्वन्तर' कहते हैं। विभिन्न मनु के कार्यकाल में घटी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन इसमें किया गया है। इकहत्तर महायुगों (चारों युगों) का एक मन्वन्तर होता है- 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः।'

भगवान् तथा भगवान् के भक्तों का वर्णन ईशानुकथा के अन्तर्गत आता है। इसमें पृथ्वी पर शासन करने वाले ऐसे राजाओं का वर्णन है, जिन्होंने ईश्वर-भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। भगवान् राम के बारे में वर्णन इसी के अन्तर्गत है।

ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में कठिनाईयाँ क्या हैं तथा इन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। इनका वर्णन निरोध के अन्तर्गत किया जाता है। भगवान् कृष्ण के अवतार, उनकी लीलाओं का वर्णन इसी में है।

बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान-निवृत्ति से ही 'मुक्ति' की अनुभूति होती है। इस हेतु भगवान् कृष्ण ने अपने सखा उद्धव को ज्ञान दिया है। इन सबका वर्णन मुक्ति के अन्तर्गत आता है। देह, परिवार आदि में अहंभाव रहित होकर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरुप में स्थित हो जाना ही मुक्ति है।

जिस तत्त्व से चराचर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-विनाश प्रकाशित होते हैं, जो सबका आधार है उसे 'आश्रय' कहते हैं। भागवत के अनुसार उपर्युक्त वर्णित नौ विषयों का वर्णन इस 'आश्रय' तत्त्व को समझने तथा इसकी अनुभूति करने के उद्देश्य से किया गया है। इसकी अनुभूति करना, इससे एकत्व स्थापित करना तथा इसका कृपा पात्र बनना ही जीवन का परमलक्ष्य है।

स्कन्ध एक तथा दो -

पवित्र तीर्थ नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों ने महान् ज्ञानी सूतजी से जन-कल्याण के उद्देश्य से निम्न छह प्रश्न किये-

प्राणियों का परम कल्याण क्या है? शास्त्रों का सार क्या है? भगवान् के अवतार का प्रयोजन क्या है? भगवान् का कर्म क्या है? भगवान् के अवतार कितने हैं? भगवान् के धराधाम छोड़ने पर धर्म किसकी शरण में गया?

यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर विस्तार से सम्पूर्ण भागवत में है, परन्तु संक्षेप में प्रथम सर्ग में इनका उत्तर दिया गया है। भगवान् की भक्ति तथा कृष्ण सम्बन्धी प्रश्नों से लोगों का कल्याण होता है।

चूँकि भगवान् श्रीकृष्ण धराधाम छोड़ चुके थे तथा कलियुग का प्रारम्भ हो चुका था अतः शौनक जी ने परमज्ञानी सूत जी से पूछा कि मनुष्य उपर्युक्त परिस्थिति में किस प्रकार अपने आध्यात्मिक जीवन का निर्वाह कर सकेगा? इसके उत्तर में सूत जी ने भागवतधर्म-ईश्वर के प्रति समर्पित भक्तिपूर्ण जीवन- का वर्णन किया तथा बताया कि श्रीमद्भागवत, जिसमें श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का वर्णन है, की शिक्षाओं के अध्ययन तथा अभ्यास से भागवत

धर्म का पालन किया जा सकता है। इस धर्म की जानकारी उन्हें महान ज्ञानी वेदव्यास के पुत्र परमहंस शुकदेव जी द्वारा राजा परीक्षित को दिये गये ज्ञान-उपदेश से हुई है।

शौनक जी ने चार प्रश्न- व्यास जी के द्वारा भागवत पुराण की रचना क्यों की गयी, शुकदेव जी ने क्यों पढ़ा, राजा परीक्षित ने मृत्यु पर्यन्त व्रत रखने का निर्णय क्यों किया तथा किस प्रकार शुकदेव जी से राजा परीक्षित की भेंट हुई-पूछे, जिनका उत्तर उन्होंने दिया।

वेदों का विभाजन, महाभारत, अनेक पुराणों की रचना करने के बाद भी वेदव्यास जी सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें नारद जी से चतुःश्लोकी भागवत सुनकर सन्तुष्टि मिली। उन्हीं के निर्देश पर उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की।

भगवान् की लीलाएँ किसी को भी आकर्षित कर लेती हैं। उन्होंने शुकदेव जी को भी आकर्षित कर लिया। अतः उन्होंने इसे पढ़ा। राजा परीक्षित् अधार्मिक कृत्य के फलस्वरूप, सातवें दिन तक्षक नाग के काटने से उनकी मृत्यु होने का शाप मिला। इसलिये उन्होंने मृत्युपर्यन्त व्रत रखकर तत्कालीन बुद्धिमान लोगों से प्रश्न किया कि सात दिन में मरने वाले का क्या कर्त्तव्य है? अन्य कोई इस प्रश्न का उत्तर न दे सका। उसी समय प्रारब्धवश शुकदेव जी वहाँ पहुँचे। सभी उपस्थित लोगों द्वारा स्वागत के पश्चात् राजा ने उस प्रश्न का समाधान शुकदेव जी से जानने की उत्सुकता प्रकट की। तब शुकदेव जी ने उस प्रश्न की प्रशंसा यह कहकर किया कि इस प्रश्न से सभी का कल्याण होगा, अतः इसका उत्तर सभी को जानना चाहिये।

राजा परीक्षित् द्वारा पूछे गये प्रश्नों के समाधान में शुकदेव जी के द्वारा किया गया वर्णन ही श्रीमद्भागवत है। इसमें ईश्वर, उनकी सृष्टि, संसार तथा संसार की सभी समस्याओं तथा दुःखों से मुक्ति का एकमात्र साधन भगवान् की अनन्य भक्ति का विस्तार से वर्णन हैं। चूँकि मनुष्य जन्म से मृत्यु के भय से पीड़ित रहता है। अतः शान्ति से शरीर त्यागने हेतु प्रत्येक को इसकी शिक्षाओं के अनुसार जीवनयापन करना चाहिये।

राजा परीक्षित की कथा का लाक्षणिक भाव- राजा परीक्षित की गलती यह थी कि उन्होंने अपने स्वरूप में स्थित व्यक्ति के गले में मरे हुए साँप को डाल दिया था। साँप अहङ्कार का प्रतीक है। ध्यान व्यक्ति को अहङ्कार के पार ले जाता है। मूल रूप से हम शरीर नहीं आत्मा हैं। शरीर-मन-बुद्धि से संयुक्त आत्मा ही जीवन है। जीव द्वारा संसार के दुःखों के भोगने का कारण अज्ञानावस्था में अहङ्कार को मूल स्वरूप पर थोपना है। संसार के दुःखों से मुक्त होने का एक मात्र उपाय सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारण भगवान् की महिमा के बारे में महात्माओं विद्वानों के सान्निध्य में रहकर जानना, मनन करना तथा उनकी शिक्षा के अनुसार आचरण करना कहा जा सकता है।

पुराण के दश लक्षण

स्कन्ध तीन एवं चार : सर्ग तथा विसर्ग

सर्ग

प्रारम्भिक या क्रमिक विकास के पूर्व की सृष्टि के पूर्व केवल परमात्मा का अस्तित्व था। दिक्-काल, स्थूल-सूक्ष्म, मृत्यु-बन्धन-मुक्ति कुछ भी नहीं था। स्वप्रकाश, अद्वितीय परमात्मा में उसकी सृजनात्मक शक्ति माया छिपी हुई थी।

सृष्टि निर्माण का सङ्कल्प करके परमात्मा ने अपनी सृजनात्मक शक्ति को माया-प्रकृति पर प्रक्षेपित किया और अपनी ही दूसरी शक्ति काल द्वारा उसे सक्रिय किया। इससे सब कुछ जानने वाला महत्तत्त्व, जिसे बुद्धितत्त्व भी कहते हैं, उत्पन्न हुआ। इसी तत्त्व ने अपने अन्दर स्थित चेतना की शक्ति से विश्व को प्रकाशित किया। परमात्मा की सङ्कल्प शक्ति से महत्तत्त्व द्वारा सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों से युक्त अहंतत्त्व, जिसे अहङ्कार भी कहते हैं, उत्पन्न हुआ। 'मैं'-'मैं' का भाव इसी तत्त्व के कारण होता है। इस अहंतत्त्व तथा तीन गुणों के संयोग से सृष्टि हुई। सात्त्विक अहङ्कार से मन तथा इन्द्रियों को सञ्चालित करने वाले देवताओं की उत्पत्ति हुई। इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंतत्त्व के राजसिक भाग तथा मूलतत्त्वों की उत्पत्ति अहं तत्त्व के तामसिक भाग से हुई। मूलतत्त्व स्थूल रूप में पाँच-आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा सूक्ष्म रूप में, जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं, पाँच-शब्द, स्पर्श,रूप,रस,गन्ध हैं।

दश मूलतत्त्वों, उनके देवताओं सहित ग्यारह इन्द्रियों (मनसहित), अहंतत्त्व तथा महत्तत्त्व-इन तेइस पदार्थों के उत्पन्न हो जाने पर सृष्टि के लिये आवश्यक तत्त्व तो अस्तित्व में आ गये, परन्तु ये सब एक दूसरे से अलग रहने के कारण, विश्व की सृष्टि करने में असमर्थ थे। अतः परमात्मा ने अपने सङ्कल्प शक्ति तथा कालशक्ति का प्रयोग कर, सबको व्याप्त कर एक रूप में-ब्रह्माण्ड के रूप में-प्रकट किया तथा स्वयं इसे जीवन भी प्रदान किया। इस ब्रह्माण्ड की स्थिति के लिये परमात्मा ने विशुद्ध जल का निर्माण किया। परमात्मा का उस पक्ष, जो इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुआ, को हिरण्यगर्भ कहते हैं। जल में स्थिति के कारण इन्हें नारायण (नार (जल) + अयन), जो कारणात्मक जल में स्थित हैं, कहते हैं। अपनी उपस्थिति से उन्होंने सृष्टि के मूल तत्त्वों को सजीव बनाये रक्खा। इस प्रकार अनुप्राणित होकर इन मूल तत्त्वों ने स्वयं से उन परमात्मा के लिये एक विराट शरीर की रचना की। इस प्रकार परमात्मा को विराट पुरुष के रूप में जाना गया।

परमात्मा ने अधिदैव, अध्यात्म, अधिभूत तथा प्राण आदि के रूप में भी अपने को अभिव्यक्त किया। चूँकि ये सभी चीजें वैश्विक मन से जुड़ी थीं, इसलिये विराट पुरुष, अपने को अनेक रूपों में विभक्त करने के बाद भी एक ही थे। अपने अन्दर समष्टि (Macrocosm) तथा व्यष्टि (Microcosm) दोनों को परमात्मा धारण करते हैं। विराट पुरुष तथा जीव में मूलभूत अन्तर यह है कि विराट पुरुष अपने सङ्कल्प से ब्रह्माण्ड में रूपान्तरण कर सकता है, परन्तु जीव में यह सामर्थ्य नहीं है। इसका कारण यह है कि विराट पुरुष अपने कर्म के बन्धन में नहीं आता, जबकि अहङ्कार के वशीभूत जीव के कर्म उसके बन्धनकारी होते हैं।

विराट पुरुष विभिन्न जीवों के रहने तथा उनकी वासनाओं की पूर्ति हेतु अलग-अलग चौदह भुवनों को भी धारण करता है। सात भुवन नीचे, छह भुवन ऊपर तथा एक मध्य में स्थित है।

विराट पुरुष-आदि पुरुष-आदि नारायण- के वर्णन के साथ ही परमात्मा की सर्ग-सम्बन्धी लीला समाप्त होती है। यह वर्णन अति संक्षेप में मैत्रेय ऋषि द्वारा विदुर के प्रति किया गया है परन्तु सत्य तो यह है कि परमात्मा के ऐश्वर्य तथा उनकी लीलाओं का वर्णन करना असंभव है।

विसर्ग

परमात्मा द्वारा प्रेरित, ब्रह्मा द्वारा की गयी सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। परमात्मा की सृजनात्मक शक्ति से उत्पन्न काल द्वारा नियन्त्रित एक निश्चित अवधि हेतु परमात्मा के ही एक मूर्तरूप ब्रह्मा हैं। परमात्मा द्वारा सृष्टि हेतु आदेश पाकर ब्रह्मा ने विभिन्न लोकों तथा उनके अनुसार जीवों के शरीर-निर्माण के सम्बन्ध में अनुसन्धान किया। इसके बाद जीवों का निर्माण किया। जीव परमात्मा के ही अंश हैं परन्तु अपने गुणों से प्रभावित होकर शरीर-मन-बुद्धि के द्वारा सुख पाने की खोज में परमात्मा से अलग हो गये हैं। परमात्मा का आध्यात्मिक अंश होने के कारण जीव अविनाशी है। ब्रह्मा की सृजनात्मक शक्ति ने जीवों के गुणों के अनुसार, वासनाओं की पूर्ति हेतु, तदनुसार शरीर का निर्माण किया। यह निर्माण स्थावर-जङ्गम दो रूपों में हुआ, जिन्हें अचर तथा चर कहते हैं। इसके बाद ब्रह्मा द्वारा अज्ञान-अविद्या का सृजन हुआ जो पाँच रूपों तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध तामिस्र में व्यक्त होता है। हमारे स्वरूप को छिपा देने वाला तत्त्व अज्ञान है। शरीर का अन्तःकरण से तादात्म्य स्थापित करना, शरीर को 'मैं' मानना 'मोह' है। ऐन्द्रियिक सुख प्राप्त करने की प्रबल इच्छा महामोह है। सुख-प्राप्ति में बाधा पहुँचने पर उत्पन्न क्रोध को तामिस्र कहते हैं। सुख प्राप्ति के या कामनापूर्ति के न होने पर घोर निराशा में डूब जाना अन्ध तामिस्र है। देवों, असुरों तथा मनुष्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अङ्गों, मन तथा उन्हीं से उत्पन्न स्वयम्भू मनु तथा शतरूपा से हुई। ब्रह्मा द्वारा की गयी पूरी सृष्टि को ही विसर्ग कहते हैं।

तीसरे तथा चौथे स्कन्ध में मैत्रेय जी ने विदुर जी से सर्ग-विसर्ग के वर्णन के अतिरिक्त भगवान् के बराह अवतार, भगवान् कपिल द्वारा अपनी माँ देवहूति को दिये गये उपदेश, दक्ष प्रजापति, ध्रुव,राजा पृथु तथा पुरञ्जन के भी कुछ पाख्यान का वर्णन किया है।

संसार में मनुष्य को कर्म करने के लिये भगवान् ने शरीर, मन तथा बुद्धि प्रदान की है। भावनाएँ तथा विचार मन में उठते हैं, ज्ञान का स्थान बुद्धि है तथा शरीर द्वारा कर्म होते हैं। विचार के रूप में कामनाएँ मन में उठती हैं, भावनाओं तथा अन्तः प्रेरणा के रूप में व्यक्त होती हैं और तदनुसार शरीर द्वारा उनका कार्यान्वयन होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य का स्तर उसकी सोच, उसकी भावनाओं, उसकी कामनाओं पर निर्भर करता है इसलिये सुसंस्कृत, संयमित, अच्छे व्यक्ति के कर्म अच्छे होते हैं तथा स्वच्छन्द आचरण वाले, असभ्य व्यक्ति के कर्म अच्छे नहीं होते है। सृष्टि की रचना का उद्देश्य मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करने का है। अर्थात् उसे दिक्-काल से परे ले जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मनुष्य को अपने मन तथा बुद्धि को परिष्कृत करना चाहिए और परिष्कृत

मन-बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर शरीर के स्तर पर काम करना चाहिए। शास्त्रों ने इन बातों को ध्यान में रखकर, शरीर के स्तर पर कर्मयोग, मन के स्तर पर भक्तियोग तथा बुद्धि के स्तर पर ज्ञानयोग बताया है। इन स्कन्धों में वर्णित कहानियों का आध्यात्मिक भाव संक्षेप में इस प्रकार है-

वराह अवतार द्वारा कर्म के महत्त्व को वताया गया है। आसुरी भावों से मुक्ति हेतु, धर्म के विरुद्ध कार्यों को रोकने के लिये तथा समाज के उन्नयन हेतु अच्छे विचार रखकर त्यागमय जीवन बिताते हुए कर्म करना चाहिए। वराह के रूप में अवतार लेकर भगवान् ने अधर्म के समुद्र से पृथ्वी अर्थात् इसके निवासियों को बाहर निकाला। इसलिये देवताओं, ऋषियों द्वारा यज्ञ-मूर्ति के रूप में भगवान् की महत्ता का गुणगान किया गया। इस हेतु यज्ञ-भावना से सामूहिक कर्म की महत्ता है।

शरीर, मन तथा बुद्धि को परिष्कृत करने के उद्देश्य से भगवान् कपिल द्वारा माता देवहूति को उपदेश दिया गया है।

दक्ष प्रजापति की कथा के माध्यम से बताया गया है कि अधूरे ज्ञान के कारण बुद्धि शुद्ध नहीं रह जाती तथा अपने अधूरे ज्ञान के आधार पर भेद-दृष्टि हो जाती तथा वह अपनी जिद्द पर अड़ा भी रहता है जिसका परिणाम अच्छा नहीं होता।

ध्रुव के चरित में राजा उत्तानपाद (उल्टे पैर पैदा होने के कारण कोई मनुष्य) की दो पत्नियाँ (दो तरह की सोच) सुनीति-विद्या या विवेक तथा सुरुचि-अविद्या या अविवेक द्वारा पुत्र-परिणाम, ध्रुव-श्रेय तथा उत्तम-प्रेय की प्राप्ति होती है। श्रेय की प्राप्ति के उद्देश्य से ध्रुव परमात्मा की भक्ति द्वारा स्थिर लोक की प्राप्ति करते हैं। कठिनाईयों के होने पर भी ईश्वर भक्ति द्वारा उपासक का शरीर मन, बुद्धि सभी शुद्ध हो जाते हैं।

पृथु का चरित हमें यह वताता है कि मनुष्य अपनी सोच, भावना, कर्म द्वारा उच्चतम पद प्राप्त कर अच्छे कर्मों द्वारा स्वयं के लिये तथा समाज राष्ट्र के लिये बहुत उपयोगी हो सकता है।

पुरञ्जनोपाख्यान एक प्रतीक कथा-रूपक कथा है। इसके माध्यम से यह चेतावनी दी गयी है कि यदि मनुष्य उपर्युक्त कथाओं में वर्णित कथाओं के भावों को आत्मसात् करके कर्म नहीं करता और वह केवल सांसारिक भोग्य पदार्थों के भोगने में ही अपना जीवन बिताता है तो वह संसार के भँवर में फँसकर अज्ञान के कारण दुःखी जीवन बिताने हेतु बाध्य होता है। इसी बात को पुरञ्जन (नौ द्वारो में रहने वाले जीव) के माध्यम से बताया गया है।

स्कन्ध पाँच तथा छह

स्थान तथा पोषण -

पाँचवे स्कन्ध में प्रियव्रतके वंश के वर्णन में ऋषभदेव जी तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत (जिनके नाम पर इस देश का भारतवर्ष नाम पड़ा) के चरित का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। छठें स्कन्ध में अजामिल की कथा तथा देवों के राजा इन्द्र, वृत्तासुर एवं नहुष की कथा कही गयी है। इन कथाओं की हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है।

भगवान् के चिन्तन में सतत लगे रहने वाले को प्रियव्रत कहते हैं। ऐसे प्रियव्रत के वंश में भगवान् के अंशावतार के रूप में ऋषभदेव जी का संसार में आगमन भक्ति की महिमा के विस्तार के उद्देश्य से हुआ था। भगवान् के इस अवतार का प्रयोजन दिगम्बर संन्यासी तथा मुनियों के धर्म को भी प्रकट करना था। उनकी मुख्य शिक्षा यह थी कि मनुष्य शरीर पाकर, मनुष्य को तप करके अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिये, जो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का हेतु बनता है। जीव जब मोहवश देह में अहं बुद्धि तथा परिवार में ममता (जो बन्धन का मुख्य कारण है) का त्याग कर देता है, तो हृदय-ग्रन्थि के शिथिल होने पर संसार के हेतुभूत अहङ्कार को त्याग कर परमपद की प्राप्ति करता है।

निरन्तर भगवत् सेवा में तल्लीन रहने वाले परम तपस्वी चक्रवर्ती राजा भरत को मृत्यु के समय मृग के बारे में ध्यान करते हुए शरीर छोड़ने के कारण मृग का जन्म लेना पड़ा। इससे यह शिक्षा मिलती है कि यद्यपि दया, करुणा करना मनुष्य का गुण है, परन्तु सावधान न रहने के कारण ऐसे गुणों को धारण करने वाले मनुष्य को भी मनुष्येतर योनि में जन्म लेकर भोगना पड़ता है, परन्तु उसकी साधना व्यर्थ नहीं जाती। पूर्व जन्म में साधना का ही फल रहा कि जडभरत के रूप में जन्म लेने पर वे बहुत सतर्क रहते थे तथा अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाये रहकर उन्होंने पालकी के कँहार के रूप में, सिन्धु-सौवीर देश के राजा रहूगण को उपदेश किया। अन्तकाल के समय संस्कार की महत्ता इससे प्रकट होती है कि पूर्वजन्म में ज्ञानी भरत ने हरिण के सङ्ग में रहने के कारण हरिण के रूप में जन्म लिया और वाद में वे जडभरत हुए तथा रहूगण की सत्सङ्ग की इच्छा पूर्ति हेतु रहूगण को उपदेश दिया।

यद्यपि यह संसार स्वप्न में देखे गये दृश्य के समान मिथ्या है, फिर भी प्राणी की उसमें हेय बुद्धि नहीं होती-इसका कारण उसका मन है। अपनी वासनाओं एवं गुणों से प्रेरित होकर यह मन ही उसे अनेक योनियों में भ्रमण कराता है और जीव सुख-दुःख भोगता रहता है। विषयों में आसक्त होना जीव का वन्धन और उनसे मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। अतः हमें ज्ञान का सहारा लेकर, अज्ञान को नष्ट करना तथा मन को नियन्त्रित करना चाहिये।

पाँचवें स्कन्ध के अन्त में भयावह नरकों = कष्टप्रद स्थानों का वर्णन किया गया जिसकी भयावह स्थिति से मनुष्य को निराशा से बचाने हेतु छठवें स्कन्ध के प्रारम्भ में अजामिल की कथा कही गयी तथा इसके माध्यम से यह आश्वासन दिया गया कि भगवान् का अनुग्रह सबके लिये, पापी-दुरात्मा के लिये भी उपलब्ध हैं। प्रायः संसार के बाह्य आकर्षण से प्रभावित होकर मनुष्य-पुरुष कामवासना के वशीभूत होकर अपने उद्देश्य से भटक जाता है तथा उसका जीवन पतनोन्मुख हो जाता है। लेकिन किसी भी समय में उसके द्वारा किये गये अच्छे कर्म उसे भगवान् की ओर मोड़ देते हैं और उसके फलस्वरूप भगवान् का अनुग्रह उस पर हो जाता है। इस प्रकार उसकी रक्षा हो जाती है। इस अनुग्रह को ही पोषण कहते हैं जो इस स्कन्ध के अन्तर्गत भागवत-लक्षण के रूप में कहा गया है।

कामवासना के अतिरिक्त दूसरी प्रवल वासना अभिमान की है। उच्च पद तथा शक्ति के अभिमान को इन्द्र के माध्यम से, ज्ञान तथा तपस्या के अभिमान को वृत्तासुर के माध्यम से तथा पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति के अभिमान को नहुष के माध्यम से दिखाया गया है। अभिमान

के कारण इन्द्र, अपने गुरु का अपमान करने के कारण, देवेन्द्र पद से वञ्चित हुए। महान तपस्वी गन्धर्व-राज कोउमा के शाप के कारण असुर योनि में जन्म लेना पड़ा तथा नहुष को पद प्राप्ति के बाद भी हटना पड़ा। परन्तु इनके द्वारा किसी समय में किये गये अच्छे कार्यों के कारण इनकी नकारात्मक वासनाओं के पीछे कार्य कर रहे भगवान् के अनुग्रह ने इन सबको बचा लिया। इनकी नकारात्मक वासनाएँ शुद्ध हुईं तथा वे सभी अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त कर सके।

सातवाँ स्कन्ध : ऊति

कर्म-वासनाओं तथा जीवन में उनके प्रभाव का वर्णन यहाँ किया गया है। किसी जीव को उसके कर्म तथा उसके परिपाक स्वरूप प्राप्त फल के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के अनुसार, कर्म-वासनाएँ ही उसे कर्म करने हेतु प्रेरित करती हैं। इन अव्यक्त वासनाओं को 'ऊति' कहते हैं। इन वासनाओं के अनुरुप जीव कार्य करने को बाध्य है। इसी तथ्य को हिरण्यकशिपु तथा प्रह्लाद की कथा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

परमतत्त्व सत्य के निरन्तर चिन्तन से सत्यलोक, जो ब्रह्मा का लोक कहा जाता है, में रहने की, मन तथा बुद्धि पर विजय प्राप्त करने पर वैकुण्ठ= दिक्-काल-वासनाओं से मुक्त परमशक्ति का स्थान, जिसे भगवान् का धाम कहा जाता है- के द्वारपाल बनने की क्षमता आती है। वहाँ के द्वारपाल जय-विजय ने अपनी सुप्त क्रोध की वासना के कारण, उद्दण्डता की तथा ब्रह्मा के मानस पुत्र सनकादि के शाप के कारण अपनी उस वासना की समाप्ति हेतु उन्हें तीन जन्म राक्षस के रूप में लेने पड़े। उनके इस क्रोध मूलक वासना की समाप्ति, भगवान् के प्रति शत्रुता रखकर तथा क्रोधयुक्त होकर, ईश्वर तथा अच्छे कार्यों के विरोध में तल्लीन होकर ईश्वर का निरन्तर स्मरण करने से तीन जन्मों में हुई।

यद्यपि प्रह्लाद हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, परन्तु उनके गर्भवास-काल में नारद (जो ज्ञान दे उसे नारद कहते हैं) द्वारा उनकी माँ कयाधू को भगवद्-भक्ति के उपदेश के कारण, उनमें भक्ति के संस्कार दृढ़ हुए। फल यह हुआ कि पिता द्वारा अनेक यातनाएँ दिये जाने पर भी उनकी भक्ति शिथिल नहीं हुई। भगवान् के प्रति श्रद्धा तथा उनमें विश्वास ज्यों-का-त्यों बना रहा। प्रह्लाद के विश्वास की सत्यता सिद्ध करने के उद्देश्य से भगवान् ने नरसिंहावतार धारण किया तथा हिरण्यकशिपु का उद्धार कर प्रह्लाद की रक्षा की। प्रह्लाद ने, भगवद्भक्ति से शुद्ध वासना के कारण ही, अपने पिता के द्वारा उनके प्रति किये गये विरोधी कार्यों हेतु, पिता को क्षमा करने की प्रार्थना की।

क्रोध की एक वासना के कारण भगवद्धाम के करीब पहुँचने वाले द्वारपालों को राक्षस के रूप में तीन जन्म लेने को बाध्य होना पड़ा। इस सोच से उत्पन्न निराशा के निराकरण तथा वासनाओं से मुक्ति के उपाय के रूप में स्कन्ध के अन्त में वर्णाश्रम-धर्म विभिन्न वर्ण आश्रमों में रहते हुए कर्त्तव्य पालन का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार कर्त्तव्यों का पालन कर पुरुष वासनाओं से मुक्त हो सकता है।

आठवाँ स्कन्ध : मन्वन्तर

इस स्कन्ध का विषय मन्वन्तर = एक कल्प, ब्रह्मा के एक दिन का चौदहवाँ भाग या एक मनु का कार्यकालहै, जिसमें ईश्वर की व्यक्त शक्ति-काल का वर्णन किया गया है। इसमें तीन कथाओं (गजेन्द्र मोक्ष, समुद्र मन्थन तथा वामनावतार) का वर्णन है। काल-शक्ति से प्रेरित होकर क्षुद्रतम जीव से लेकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा तक कार्य करते हैं। वासनाओं के प्रभाव में जीवों द्वारा विभिन्न प्रकार के जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें गजेन्द्र मोक्ष की कथा द्वारा व्यक्त किया गया है। कर्म-वासनाओं से मुक्त होकर तथा अमृततत्त्व प्राप्त करने के उपाय हेतु समुद्र मन्थन की कथा कही गयी है तथा सम्पत्ति एवं पद-प्राप्ति की वासना से मुक्ति हेतु भगवान् की शरण ग्रहण करने का एकमात्र मार्ग वामनावतार की कथा द्वारा बताया गया है।

अज्ञान के कारण वासनाओं के जाल में फँसकर जीव, भले ही वह हाथी के समान वलवान हो, अपने सम्बन्धियों से कुछ सीमा तक मदद पाता हुआ अज्ञान रूपी मगर से संघर्ष करता रहता है। एक स्थिति ऐसी आती है जव उसे अनुभव होता है कि उसकी सम्पत्ति, सम्वन्धी, पद कुछ भी उसे वचा नहीं सकते। सव ओर से निराश होकर वह भगवान् को आर्तभाव से पुकारता है। ईश्वर पर दृढ विश्वास रखकर तथा अपने को उसमें समर्पित कर जब जीव, एकमात्र उनके सहारे होकर उनका स्मरण करता है, तो भगवान् उसके अज्ञान को नष्ट कर देते हैं तथा उसे अपना लेते हैं। जीव जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

समुद्र-मन्थन के रूपक में मन-बुद्धि-अहङ्कार की सत्ता ही चित्त है, जो समुद्र के रूप में है। मन में स्थित दैवी तथा आसुरी शक्तियाँ निरन्तर संघर्षरत हैं। कर्म वासनाएँ- महामेरु, मन्थन करने वाले मन्थदण्ड- ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव, मन्थन की रस्सी-वासुकी नाग तथा स्वरुप-ज्ञान ही अमृत तत्त्व है। अपने जीवन की लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य से अपने अन्दर छिपे हुए गुणों को प्रकट करने के लिये जव दो विरोधी शक्तियों- दैवी तथा आसुरी के सहयोग से चिन्तन किया जाता है तो कर्म वासनाओं के कारण इस प्रक्रिया में शिथिलता आने पर भगवान् का अनुग्रह कार्य करता है और उसके कारण अच्छी वासनाएँ पुनः सक्रिय हो जाती हैं और चिन्तन प्रक्रिया पुनः चलने लगती है। भगवान् द्वारा प्रदत्त इस प्रकार की मदद ही हृदय में कूर्म-अवतार है।

मन्थन प्रारम्भ होने पर सबसे पहले भूतकाल के दुःख, भविष्य की चिन्ताएँ तथा वर्तमान की उलझनें विष के रूप में प्रकट होती हैं। इन्हें भगवान् शिव को समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। इसके वाद चिन्तन चलते रहने पर कुछ उपलब्धियाँ होती है जिन्हें पाकर चिन्तन की प्रक्रिया वन्द नहीं करनी चाहिये। चिन्तन तथा साधना तव तक चलती रहनी चाहिये। इसके वाद चिन्तन चलते रहने पर कुछ उपलब्धियाँ होती हैं, जिन्हें पाकर चिन्तन की प्रक्रिया वन्द नहीं करना चाहिये। चिन्तन तथा साधना की प्रक्रिया चलती रहनी चाहिये जव तक स्वरूप का ज्ञान न हो जाय। यह ज्ञान ही मन्थन से प्राप्त अमृत है। ऐसे समय में काम, लोभ, मोह आदि आसुरी शक्तियाँ बाधा खड़ी करेंगी, परन्तु मोहिनी-स्वरुप भगवान् का अनुग्रह हमारी मदद करेगा और हम स्वरुप का ज्ञान कर उसकी अनुभूति कर सकेंगे।

वामन अवतार की कथा का भाव इस प्रकार है-

जीवन के चौदह स्तरों में किसी स्तर पर रहने वाले जीव की चेतना, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की तीन दशाओं में किसी एक दशा में रहती है। जब मनुष्य का जीवन आसुरी शक्तियों के प्रभाव में रहता है तो मनुष्य जीवन के आदर्शों, अच्छाइयों, जीवन को समुन्नत बनाने के उपायों पर कोई ध्यान नहीं देता। इन शक्तियों के प्रभाव में मनुष्य में सत्य, अहिंसा, सहनशीलता आदि के गुण नहीं रह जाते। यदि किसी स्तर पर मनुष्य अपना जीवन बदलने का निश्चय करता है, ईश्वर उपासना करने लगता है तो उसके अहङ्कार से उत्पन्न सभी भ्रम मिटने लगते हैं, द्वैत समाप्त होने लगता है। उसे यह अनुभूति होती है कि उसका कुछ नहीं है-सब कुछ ईश्वर का है, उसके पास तो उसका केवल अहङ्कार है। तब वह अपने अहङ्कार को महाबलि की भाँति वामन रूपी भगवान् के चरणों में समर्पित कर देता है। इससे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं तथा उसे सब कुछ दे देते हैं।

जब ब्रह्मतेज से सम्पन्न ब्राह्मण का मन दूषित हो जाता है और उसमें काम उत्पन्न हो जाता है, तो रावण-राक्षस का जन्म होता है, जो सभी मानवीय गुणों, आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवन का विरोधी होता है। ऐसा व्यक्ति बिना किसी की परवाह किये या जीवन के उच्च मूल्यों-आदर्शों की चिन्ता किये शासन करने लगता है।

इस स्थिति का समाधान हमें रामायण में वर्णित भगवान् राम की कहानी में मिलता है। (दश इन्द्रियों के माध्यम से कार्यरत अपने शरीर-मन-बुद्धि में स्थित काम को) भगवान राम अपनी आध्यात्मिक शक्ति सीता को प्राप्त करने के लिये नष्ट करते हैं। इस हेतु सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। अन्त में रावण का नाश ब्रह्मा द्वारा रचित तथा उनसे इन्द्र को, इन्द्र से अगस्त्य मुनि को तथा अगस्त्य मुनि से राम को दिये गये बाण से ही सम्भव होता है।

सन्दर्भ (वा०रा०- युद्ध.108/1-20)

नवाँ स्कन्ध-ईशानुकथा

इस स्कन्ध में वैवस्वत मनु से प्रारम्भ कर यादव वंश, जिसमें श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ था, तक का वर्णन है। इसके पूर्व श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन किया जा चुका है कि किस प्रकार अनेक जन्मों से विभिन्न जीव अपनी वासनाओं की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के कार्य करते हुए या तो वासनाओं के कारण अपनी जन्म श्रृङ्खला को बढ़ा दे रहे हैं या अहङ्कार रहित होकर अहङ्कारपूर्ण कामनाओं को न करते हुए, जन्म श्रृङ्खला को कम या समाप्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत स्कन्ध में सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं के शक्तिशाली तथा अच्छे गुणों के साथ उनकी मानसिक स्थिति तथा दुर्गुणों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। चूँकि मनुष्य का स्वभाव दिन में या रात में कार्य करने का होता है-दो ही प्रकार की मनुष्य की प्रकृति होती है, इसलिये सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं, महात्माओं के वर्णन में सम्पूर्ण मानव जाति का वर्णन आ जाता है। इन्हीं दोनों वंशों में भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के अवतरण हुए। चन्द्रवंश में ब्रह्म तथा क्षत्रिय तेज से सम्पन्न भार्गव राम-परशुराम का जन्म हुआ। इस स्कन्ध में महान् सन्त दुर्वासा के अहङ्कार को नष्ट करने के माध्यम बनें- महान भक्त अम्बरीश। अपनी

कठिन तपस्या से गङ्गा को पृथ्वी पर लाने वाले भगीरथ, राक्षसों को नष्ट करने वाले भगवान् राम, क्षत्रियों का नाश करने वाले भगवान् परशुराम, विलासितापूर्ण जीवन बिताने के वाद इसे सारहीन समझकर त्याग देने वाले महान् राजा ययाति, राजा दुष्यन्त एवं शकुन्तला तथा सद्गुणों से सम्पन्न तथा महान् त्यागी राजा रन्तिदेव की कथाएं हैं।

आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा रजोगुण से उत्पन्न 'काम' है, जिससे क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा आदि उत्पन्न होते हैं। उपयुक्त समय पर नियन्त्रित न होने पर काम का एक अंश भी मनुष्य के मन को दूषित करने तथा परिणामतः उसे नष्ट करने में सक्षम होता है। क्षत्रिय राजाओं में इस दुर्गुण के कारण चरमसीमा की स्थिति होने पर परशुराम ने उनका नाश किया था।

दशवाँ स्कन्ध : निरोध

भार्गव परशुराम द्वारा स्थूल रूप से तथा भगवान् श्रीराम द्वारा सूक्ष्म रूप से नष्ट किये जाने पर भी काम अपना रूप बदलकर चोरी छुपे प्रकट हो जाता है। इस स्थित में इसके विनाश के लिये श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता है, जो इसे समूल नष्ट करते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् राम द्वारा बहुत राक्षसों के मारे जाने पर, अपने आसुरी स्वभाव के साथ पुनः बहुत राक्षस पैदा हो गये तथा लोगों को कष्ट देने लगे। मथुरा का राजा कंस, उसके श्वसुर जरासन्ध तथा इन दोनों के मित्र शिशुपाल, उनमें से कुछ थे, जिनके साथ अलग-अलग युक्ति अपनाकर श्रीकृष्ण ने इनका नाश किया।

सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं का नवें स्कन्ध में वर्णन करने के पश्चात् भगवान् के पूर्ण अवतार श्रीकृष्ण की लीलाओं, इनके द्वारा संसार को अधर्म से मुक्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों तथा तत्कालीन लोगों को परमानन्द की स्थिति में स्थापित किये जाने वाली लीलाओं का वर्णन दशवें स्कन्ध में किया गया है।

सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं, शासकों के प्रभुत्व, सामर्थ्य, वल-प्रभाव, ऐश्वर्य, सुख को देखकर हमारे मन में उनके रास्ते पर चलकर सुख भोगने की इच्छा हो सकती है। सुख प्राप्ति की आशा में कामना पैदा हो सकती है। पूर्ति करने पर लोभ बढ़ता जाता है तथा पूर्ति न होने पर क्रोध बढ़ता है। कामना अनेक रूपों में प्रकट होती है। यद्यपि उक्त राजा तथा शक्तिशाली असुर तथा विद्वान् विजयी हुए परन्तु वे सभी इतिहास के विषय रह गये। इन कथाओं के वर्णन का उद्देश्य विवेक और वैराग्य का भाव पैदा करना है ताकि हम अपने मन को भगवान् की तरफ मोड़ सकें।

दशवें स्कन्ध का विषय 'निरोध' है। इन्द्रियों तथा मन का स्वभाव संसार की ओर लगे रहने का है। धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन को जव इस प्रकार प्रशिक्षित कर दिया जाता है कि उन्हें कृष्ण के नाम रूप, लीला, धाम के चिन्तन में रस आने लगता है, अर्थात् वाह्य संसार का निरोध हो जाता है तव पुरुष कृष्ण की शिक्षाओं-जीव-जगत्-परमात्मा के सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न करता है।

'निरोध' का अर्थ भगवान् की लीला-कथाओं के सुनने, उनके सम्बन्ध में चिन्तन करने तथा उनमें रस लेते हुए मन को डुबा देने से है। अपने मन को निरन्तर भगवान् में लगाने

के दो आत्यन्तिक तरीके हैं। एक तरीका यह है कि सांसारिक आकर्षण से मन को वापस कर अपना पूर्ण प्रेम, पूर्ण समर्पण, केवल भगवान् के प्रति रक्खा जाय। अपना मन उनके नाम-रूप-लीला-धाम के चिन्तन में ही रहे। यह भाव कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम द्वारा दिखाया गया है। दूसरा चरम तरीका तामसी शरीर वाले ऐसे लोगों का है जो पूर्व वासनाओं के कारण ईश्वर का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करते। ऐसे लोग जानबूझ कर ईश्वर के प्रति दुश्मनी, घृणा का भाव रखकर निरन्तर उनका चिन्तन करते हैं। मृत्यु के भय से कंस निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है तथा उन्हें नष्ट करने का उपाय करता रहता है। इन दोनों चरम अवस्थाओं के बीच अनेक लोग अपने तरीके से भक्ति करते हैं। कोई अपना मित्र, भाई, पुत्र, पिता, मालिक मानकर ईश्वर से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग अपने अहङ्कार के प्रभाव से बाहर नहीं निकल पाने के कारण जानते हुए भी भगवान् की तरफ नहीं मुड़ पाते। कुछ ऐसे भी हैं जो भगवान् को या समाज को कुछ दे ही नहीं सकते, जैसा कालिया नाग ने श्रीकृष्ण द्वारा मान-मर्दन करने के समय अपनी प्रार्थना में कहा कि भगवन्! मेरे पास विष के अतिरिक्त देने को कुछ है नहीं।

शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को श्रीमद्‌भागवत कथा सुनाते हुए कहा था कि श्री कृष्ण कथा सुनने वाले, इसका वर्णन करने वाले तथा इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछने वाले का चित्त इस कथा से शुद्ध होता है। इस प्रकार मन का निरोध होता है।

ग्यारहवाँ स्कन्ध : मुक्ति

इस स्कन्ध का विषय प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की चीजों, घटनाओं के मोह तथा विषयों में तल्लीनता से मुक्त करना है। अर्थात् इसका विषय 'मुक्ति' है। पुरुष मुक्त तो है ही, परन्तु अज्ञान के कारण अपने को बन्धन में मानता है। इसलिये मुक्ति की अवस्था की अनुभूति के लिये इस स्कन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान कुछ कथाओं के माध्यम से, अवधूतोपाख्यान तथा अन्त में स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा अपने प्रिय सखा उद्धव को अन्तिम उपदेश के रूप में दिया गया है।

भगवान् की चित्‌शक्ति दो बार स्पष्टतः प्रकट हुई है। एक बार जब कृष्ण ने युद्ध प्रारम्भ होने पर, लाखों लोगों के मरने के अवसर पर अर्जुन को श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के रूप में दिया तथा दूसरी बार ऐश्वर्य की पराकाष्ठ पर पहुँची द्वारका नगरी तथा उसके निवासियों के आसन्न विनाश की वेला में उद्धव को अन्तिम उपदेश-अन्तिम ज्ञान के रूप में। दोनों बार उपदेश के ऐसे अवसर चुनना, संसार की नश्वरता को बताने के उद्‌देश्य से है।

यहाँ संक्षेप में 'भागवत धर्म' का वर्णन किया जा रहा है। सीधे-सादे, भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी भगवत् प्राप्ति के जो उपाय स्वयं भगवान् द्वारा बताये गये हैं, उनको ही भागवत धर्म कहते हैं। सीधा सा भागवत धर्म यह है कि मनुष्य अपने शरीर, मन, वाणी, बुद्धि, अहङ्कार, स्वभाव से जो भी कर्म करे उसे भगवान् के ही निमित्त-उनकी प्रसन्नता के लिये करे तथा कर्म करने के बाद उन्हें ही समर्पित कर दे।

भगवान् कहते हैं कि मनुष्य कर्म करते हुए हृदय से मेरा स्मरण करता रहे। अपना अन्तः-बाह्यकरण मुझे समर्पित कर दें। सम्पूर्ण प्राणियों तथा पदार्थों में मेरा दर्शन करे। कुछ

दिन तक सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी ही भावना करने पर साधक के चित्त से सभी दुर्गुण-ईर्ष्या, अहङ्कार, स्पर्द्धा, तिरस्कार आदि दूर हो जाते हैं।

यह साधना तब तक चलते रहनी चाहिये जब तक सबमें भगवान् को देखने की अनुभूति न हो जाय। ऐसी अनुभूति हो जाने पर तो सबकुछ ब्रह्ममय हो जाता है। यही ज्ञान की उच्चतम स्थिति है।

भगवान् की शरण ग्रहण करने वाले तथा उपर्युक्त भागवत धर्म का पालन करने वाले मनुष्य को अलग-अलग कर्मयोग, ज्ञानयोग का सहारा लेकर साधना करना आवश्यक नहीं रह जाता। भागवत धर्म के पालनकर्ता को सबकी प्राप्ति एक साथ ही हो जाती है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः
अन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ {भा0 11/2/42}

जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ तुष्टि-तृप्ति, पुष्टि-जीवनशक्ति का सञ्चार और क्षुधा-निवृत्ति एक साथ होती जाती है वैसे ही भगवान् के शरणागत भक्त को भगवान् के प्रति, प्रेम स्वरूप का अनुभव तथा अन्य से वैराग्य एक साथ होता जाता है।

इस स्कन्ध में वर्णित ज्ञान तथा भागवत धर्म का पालन कर मनुष्य में सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति तथा अपने शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार के साथ माने हुए तादात्म्य से मुक्त होने की सामर्थ्य आ जाती है और वह सभी बन्धनों से मुक्ति का अनुभव करता है।

बारहवाँ स्कन्ध : आश्रय

जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा द्वारा सर्जन की पूरी प्रक्रिया उनके एक दिन की समाप्ति पर निलम्बित हो जाती है, तो इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इस स्थिति में प्रकृति के सात सूक्ष्म तत्त्वों-महत्तत्त्व, अहंतत्त्व तथा पाँच तन्मात्राएँ के सहित विश्व का अस्तित्व उनमें रहता है। जब उपर्युक्त सात तत्त्व विघटित होकर भगवान् में मिल जाते हैं तथा ब्रह्मा-भगवान् की सर्जनात्मक शक्ति- भी उनमें तिरोहित हो जाती है, तो इस स्थिति को प्राकृत प्रलय कहते हैं। भगवान् द्वाय एक से बहुत हो जाने की इच्छा के समय उनसे उत्पन्न कालशक्ति और मायाशक्ति भी जब भगवान् में समाहित हो जाती है, तो इस स्थिति को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। उत्पन्न तथा नाश होने की निरन्तर प्रक्रिया को नित्य प्रलय कहते हैं।

व्यष्टि स्तर पर भी ये सभी प्रलय होते रहते हैं। भागवत में आत्यन्तिक प्रलय का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रतिदिन सुषुप्ति की अवस्था में जाने के समय जब मन का विलय हो जाता है, तो हमारी वह अवस्था नैमित्तिक प्रलय की होती है। इस अवस्था में मन अव्यक्त रहता है। जागृतावस्था में आते ही पुनः मन सक्रिय हो जाता है। नैमित्तिक प्रलय, समष्टि तथा व्यष्टि दोनों स्तर पर होती है। अन्तर केवल यह होता है कि ईश्वर के द्वारा सृजित विश्व की सृष्टि तथा प्रलय का नियन्त्रण तथा पूरा अधिकार ईश्वर के हाथ में होता है जबकि जीव

की वासनाओं द्वारा निर्मित संसार पर जीव का नियन्त्रण तथा अधिकार नहीं होता, इसलिये जीव स्वयं द्वारा निर्मित संसार का दास हो जाता है।

जब जीव इस दासता के कष्ट तथा उसके कारण बन्धन का हृदय से अनुभव करता है और आवागमन के चक्कर से मुक्त होने हेतु गहन ध्यान द्वारा प्राकृत प्रलय में प्रवेश करता है तब प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों–महत्तत्त्व, अहंतत्त्व तथा पाँच तन्मात्राएँ, जिनके कारण वह परमात्मा से अलग हो गया है, के पार चला जाता है। पुरुष का परमात्मा से अलग होकर संसार से सम्बन्ध तभी तक है जब तक हमने= चेतन तत्त्व ने अपना तादात्म्य शरीर, मन, कर्मों तथा गुणों से रक्खा है। शरीर कर्मों, गुणों तथा आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला तो मन ही है।

साधक, ध्यान की गहनतम स्थिति- समाधि में काल तथा माया का बोध करने वाले अहंभाव से मुक्त होने पर परमात्मा में मिल जाता है। अर्थात् परमात्मा के साथ उसकी एकता स्थापित हो जाती है। व्यष्टि स्तर पर यही आत्यन्तिक प्रलय है। इसी स्थिति को सचेतन व्यक्ति की आश्रय दशा कहते हैं। इस दशा में पहुँचा हुआ मनुष्य शरीर रहते हुए भी कभी अज्ञानावस्था को प्राप्त नहीं करेगा।

शुकदेव जी का अन्तिम उपदेश तथा राजा परीक्षित के अन्तिम विचार

राजन्! इस पशु-बुद्धि को छोड़ दो कि तुम मरने वाले हो। बीज-वृक्ष की भाँति तुम किसी के पिता तथा किसी के जनक नहीं हो, जैसे काष्ठ में स्थित अग्नि उससे अलग है वैसे ही तुम सबसे अलग आत्मा हो। केवल शरीर की मृत्यु होती है, तुम्हारी नहीं। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नहीं मरती। घटाकाश जिस प्रकार घड़े के टूटने पर महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही तुम्हारे शरीर से सम्बन्धित आत्मा शरीर के अन्त होने पर सर्वव्यापक आत्मा के साथ एक हो जाती है।

मन एक तरफ शरीर, कर्मों-गुणों से तथा दूसरी तरफ आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। मन के प्रलोभन में आत्मा शरीर आदि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिससे संसार खड़ा हो जाता हैं, जब कि मन स्वयं माया से उद्भूत एक चमत्कार-सा है। संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक आत्मा का तादात्म्य देह आदि के साथ है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश तभी तक रहता है, अर्थात् बत्ती के अन्तिम भाग में अग्नि तभी तक प्रकट रहती हैं जब तक दीपक में तेल, बत्ती आदि रहती है, उसी प्रकार आत्मा जीव के रूप में तब तक अस्तित्व में रहता और संसार का अनुभव करता है, जब तक उसका सम्बन्ध कर्म, देह तथा गुणों से है।

मन, वासनाओं का भण्डार है। वासनाओं से सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती हैं और उसमें 'मैं' बुद्धि हो जाने से आत्मा फँस जाता है। विवेक बुद्धि जागृत कर परमात्मा का चिन्तन करो और अपने अन्तःकरण में स्थित आत्मस्वरूप परमात्मा का साक्षत्कार करो। इतना कहकर शुकदेव जी चुप हो गये।

जीव का मूल स्वभाव आत्मा का है। जैसे दीपक में कम या ज्यादा प्रकाश का होना बत्ती-तेल आदि के कारण है, जबकि अग्नि छोटी-बड़ी नहीं है, वैसे ही आत्मा सबसे अप्रभावित, सर्वव्यापक, स्वप्रकाशक, स्थिर, अनन्त, अतुलनीय तथा सनातन है। संसार के

रङ्गमञ्च पर घटने वाली सभी घटनाओं का आधार आत्मा है, परन्तु वह इनसे अप्रभावित है।

तुम आत्मतत्त्व हो– इस भाव को दृढ़ करो। मूल स्वभाव से तादात्म्य स्थापित करो। यदि तुम विवेक बुद्धि जागृत कर तथा परमात्मा पर ध्यान केन्द्रित कर इस विचार को दृढ़ कर लेते हो, तो तुम तक्षक को स्वयं से अलग नहीं देखोगे। तक्षक आत्मा का कुछ नहीं कर सकता।

जब तुम इस प्रकार अपने को स्थापित कर लोगे तथा इस भाव में अपने को दृढ़ कर लोगे कि तुम शरीर आदि से भिन्न, ब्रह्म जो सबका अन्तिम लक्ष्य सर्वाधार है, से अभिन्न हो, तब तुम अपने शरीर, तक्षक या किसी चीज को अपने से अलग अनुभव नहीं करोगे।

शुकदेव जी ने कहा–

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि।। (भा० 12/5/2)

राजन् तुम पशु-बुद्धि ऐसी बुद्धि जो किसी कार्य के प्रारम्भ से अन्त तक अर्थात पूरे परिणाम को न देख सके– को छोड़ दो। मनुष्य का यह मानना-सोचना कि वह पैदा हुआ है तथा वह मरेगा– ही पशुबुद्धि है। तुम न तो किसी से उत्पन्न हुए हो और न आगे पुत्र-पौत्रादिकों के शरीर के रूप में उत्पन्न होगे।

जैसे दीपक के बुझ जाने पर तत्त्वरूप तेज का विनाश नहीं होता वैसे ही संसार का नाश होने पर स्वयंप्रकाश आत्मा का नाश नहीं होता, क्योंकि; आत्मा कार्य-कारण, व्यक्त-अव्यक्त सबसे परे है। आत्मा की तुलना केवल आत्मा से ही की जा सकती है। अपने को निम्न भाव में स्थित करो–

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले।।

"मैं ही सर्वाधिष्ठान पर ब्रह्म हूँ, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ"। इस प्रकार तुम अपने आप को अपने वास्तविक एकरस-अनन्त-अखण्ड स्वरूप में स्थित कर लो। आत्मस्वरूप में स्थित होकर सारे विश्व को अपने से पृथक नहीं देखोगे।

इसके बाद राजा परिक्षित् ने निम्न निवेदन किया– आप की कृपा से मैं सर्वाधिष्ठान ईश्वर के प्रति जाग गया हूँ। मेरा सभी अज्ञान समाप्त हो गया हैं। मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। हे! ब्रह्मस्वरूप! मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं सभी इन्द्रियों के साथ शरीर से छलांग लगाऊँ और परमात्मा के साथ एक हो जाऊँ।

श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत का बीज-वृक्ष के रूप में वर्णन

श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान अर्जुन जैसे किसी मोहग्रस्त, 'किंकर्त्तव्यविमूढ' अवस्था में निराश, मन से टूट चुके, अवसादग्रस्त मनुष्य को सत्य का दिग्दर्शन कराकर उसे कर्त्तव्यपथ पर आरूढ कर देने तथा अन्त में जीवन के एक मात्र लक्ष्य परमतत्त्व से एकात्म स्थापित करने के बारे में हैं। हम सबके प्रतिनिधि के रूप में अर्जुन का मूल प्रश्न था कि 'किंकर्त्तव्यविमूढ' अवस्था में पड़े हुए, मुझ जैसे व्यक्ति को क्या करना चाहिये?

श्रीमद्भागवत में राजा परीक्षित का श्री परमहंस शुकदेव जी से मूल प्रश्न था कि जिसकी मृत्यु सात दिन में- सबकी मृत्यु सात दिनों में ही होती हैं- होनी हो, उसे क्या करना चाहिये? यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि भागवत मृत्यु के दुख से छुटकारा पाने के उपाय के बारे में ही बताने वाला ग्रन्थ है, क्योंकि जब नारायण ने इसका ज्ञान चतुःश्लोकी भागवत के माध्यम से ब्रह्मा को दिया, नारद ने जब यह ज्ञान ब्रह्मा जी से प्राप्त किया, व्यास जी ने नारद जी से प्राप्त किया तथा व्यास जी ने इस ज्ञान को शुकदेव जी को दिया तो परीक्षित की भाँति किसी की मृत्यु नहीं होने वाली थी।

श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को जो ज्ञान दिया, वह व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि परमतत्त्व-परमात्मा से एकात्म स्थापित करके दिया। वे गीता में कहते हैं-

सब भूतों में स्थित आत्मा मैं ही हूँ, मैं ही सबका आदि, मध्य तथा अन्त हूँ। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय मैं ही हूँ। प्रभव जिससे सब उत्पन्न होते हैं- से निमित्त कारण तथा प्रलय- जिसमें सब समा जाते हैं- से उपादान कारण व्यक्त होता है। इस प्रकार वे सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं।

पुनः वे कहते हैं कि मुझसे भिन्न किञ्चिन्मात्र दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे माला के सूत में मणियाँ गुथी होती हैं, वैसे सम्पूर्ण जगत मेरे में गुथा हुआ है। वे कहते है कि वासुदेव ही सर्व है- ऐसा दृढ़ता से मानने वाले महात्मा सुदुर्लभ हैं। जो सब में रहे और सब जिसमें रहें उसे वासु कहते है। देव- कहते हैं स्वप्रकाशक को। अर्थात् महात्मा वह है जिसके अनुभव में ऐसा आता हैं कि सर्वतया प्रतीयमान केवल अखण्ड प्रकाश स्वरूप वासुदेव ही हैं।

श्रीकृष्ण ने पूरी गीता का गायन- इसलिये कि यह हृदय से निकली है- करने के बाद अर्जुन से कहा कि जो सर्वान्तर्यामी है- सबके हृदय में स्थित है- उसकी शरण में जाओ। परन्तु थोडी देर बाद ही वे कहते हैं कि सब धर्मों को छोडकर मेरी शरण में आओ। इसका अर्थ तो यही है न कि जो अन्तर्यामी रूप से सबके अन्दर स्थित है, उसमें और श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नही है। अर्जुन को सन्देह हुआ कि कृष्ण तो मेरे सामने उपस्थित हैं, तो इन्होंने इस ज्ञान को पूर्व में विवस्वान् को कैसे दिया? तब वे कहते हैं कि मेरे तथा तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, मैं जानता हूँ। मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य हैं। पूर्व जन्मों के कर्मों पर आधारित न होने के कारण उनका जन्म दिव्य है तथा कर्मों के करने का कोई फल उन्हें नही प्राप्त होता, इसलिये कर्म दिव्य हैं। हमारी तरह उनका जन्म तथा कर्म नहीं है।

कृष्ण कहते है- मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना

प्रकृति तो मूर्ति है। चेतन ने ही मूर्छित अवस्था में मूर्ति का रूप धारण कर लिया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार परमेश्वर ही प्रकृति के रूप में हैं। सम्पूर्ण प्रकृति, सम्पूर्ण चलायमान जगत् में अद्वैत तत्त्व एक ही है, जो कभी नहीं बदलता। जगत् का सम्पूर्ण ताना-बाना वही अद्वैत तत्त्व है। अतः कृष्ण कहते है कि मैं ही प्रकृति के रूप में मूर्त होकर सारी सृष्टि में हूँ। मैंने ही जगत् को फैलाया है। सबका मूलतत्त्व मैं ही हूँ। जीव की दृष्टि से सृष्टि भिन्न दिखाई देती है, ईश्वर की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। जीव की दृष्टि से भिन्नता के दिखाई देने का कारण अविद्या है। जैसे आकाश नीला दिखाई देता है, परन्तु है नहीं। वे यह भी कहते

है कि पूरी दुनिया मेरे में स्थित है, परन्तु मैं उसमें स्थित नहीं हूँ। जैसे भ्रम की अवस्था में साँप रस्सी में स्थित दिखाई देता है, परन्तु रस्सी साँप में नहीं होती है। अर्जुन की प्रार्थना पर उन्होंने अपना विराट रूप, जिसमें सभी ब्रह्माण्ड स्थित हैं- को दिखाया। यह विश्वरूप दर्शन था। इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि कृष्ण ने गीता का ज्ञान परमात्मस्वरूप होकर दिया।

विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन का अनुभव है तथा वे कहते हैं – अनन्त स्वरूप! आप से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

श्रीमद्भागवत की दृष्टि से देखें-

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि हम सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं, जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के हेतु हैं।

प्रथम स्कन्ध के मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि हम ऐसे परम सत्यस्वरूप परमात्मा का ध्यान करते हैं, जिनसे इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उल्लेख है-

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भा० 1/3/28)

स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण परमेश्वर हैं; वे अवतार नहीं, अवतारी हैं।

चतुःश्लोकी भागवत के प्रथम श्लोक में वर्णन है-

देश-काल के अग्रभाग में अर्थात् नाम रूपात्मक सृष्टि के पूर्व में केवल मैं ही था। अर्थात् मेरे अतिरिक्त दूसरा नहीं था और था-ही-था, अर्थात् निष्क्रिय था और दुनिया के नहीं, रहने पर मैं ही रहूँगा। अर्थात् सबके दिखाई न पड़ने पर जो शेष रहता है, वही परमात्मा मैं हूँ।

यह ऐसे ही है जैसे सोने के जेवर के पूर्व सोना ही रहता है, जेवर की प्रतीति होने पर भी सोना ही रहता तथा जेवर के नहीं रहने पर सोना ही रहता है।

अनुभव, प्रेमाभक्ति और साधनों से युक्त अपने स्वरूप का ज्ञान ब्रह्मा जी को देते हुए भगवान् ने कहा-

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा। (भा 2/9/35)

यह अग्नि है, यह अग्नि है- इस अन्वय की पद्धति से तथा यह अग्नि नहीं है, यह अग्नि नहीं है- इस निषेध की पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत और सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं। वही वास्तविक तत्व हैं।

श्रीकृष्ण ही भगवान् के रूप में सब कुछ हैं। यह तथ्य स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा अपने सखा उद्धव जी से कहे गये निम्न कथन से स्पष्ट है-

सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं, उपासनाकाण्ड में उपास्यदेवों के रूप में मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में अन्य वस्तुओं का मुझमें ही आरोप करके उनका निषेध करती हैं। अधिष्ठानरूप में मैं ही शेष रह जाता हूँ। (भा० 11/21/33)

श्रीकृष्ण ही परमतत्व-भगवान्-परमात्मा हैं। उनके द्वारा उद्धव से कही गयी निम्न बात से भी यह स्पष्ट है-

उद्धव मेरे शिष्य सनकादि ने योग का यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मन को सब ओर से खींचकर साक्षात् मुझमें पूर्ण रूप से लगा दे।

श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवत का बीज है। बीज ही विशाल वृक्ष का रूप लेता है। गीता में जो कुछ भगवान् ने कहा है, उसका चरितार्थ किया जाना भागवत में दिखायी पड़ता है। अर्जुन की प्रार्थना पर उसे दिव्य-दृष्टि देकर भगवान् ने अपने विराट-स्वरूप का दर्शन कराया। परन्तु श्रीमद्भागवत में उनके अनेक लीलाओं से स्पष्ट होता रहता है कि कृष्ण के रूप में भगवान् ही हैं। मिट्टी खाने की शिकायत होने पर माँ यशोदा को उन्होंने अपने मुँह में ही पूरे ब्रह्माण्ड का दर्शन करा दिया। बहुत छोटी उम्र में पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर आदि का संहार कर देना, कालियनाग के मान-मर्दन आदि की लीला इस विश्वास को पुष्ट करती है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, साधारण मनुष्य नहीं।

गोकुल-वासियों को इन्द्र के कोप से बचाने के लिये जब श्रीकृष्ण ने सात कोस के गिरिराज पर्वत को सात दिनों तक बायें हाथ के कनिष्ठ उँगली पर धारण किया, तो सभी को विश्वास हो गया कि ऐसा कार्य भगवान् ही कर सकते हैं। ग्वालबालों की प्रार्थना पर वैकुण्ठ लोक का दर्शन भी उन्होंने उन्हें कराया।

ब्रह्माजी द्वारा भ्रम होने पर, गायों-ग्वालबालों को छुपा लेने पर श्रीकृष्ण ने ठीक वैसे ही सृष्टि की रचना कर दी। वही तथा वैसी ही गायें, ग्वालबाल, बछड़े तथा ग्वालबालों की लाठी कपड़े आदि जड पदार्थ भी वे स्वयं ही बन गये तथा एक वर्ष तक यह लीला चलती रही। यहाँ गीता के वचन- मुझसे भिन्न अणु मात्र नहीं है, की पुष्टि होती है।

जब मथुरा के तत्कालीन राजा तथा कृष्ण के मामा कंस के बुलावे पर जब वे बलराम के साथ मथुरा गये, तो कुवलयापीड हाथी को मारना, चाणूर-मुष्टिक को द्वन्दयुद्ध में मारना, तथा अन्त में कंस को घसीट कर मारना, क्या ग्यारह वर्ष के बच्चे के लिये सम्भव हो सकता हैं, कदापि नहीं। यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि वे कंस के रङ्गमंच पर मथुरा के नर-नारियों, नन्द, शूर-वीरों को अलग-अलग दिखाई दे रहे हैं- किसी को साक्षात् मौत के रूप में, किसी को पुत्र के रूप में, किसी को सुन्दरतम बालक के रूप में, किसी को पति के रूप में आदि।

गोपियों के साथ रासलीला के समय प्रत्येक गोपी के साथ अलग-अलग रूप में कृष्ण का लय-ताल-सुर के साथ नर्तन करना, अनेक रूपों में स्वयं को व्यक्त करना या नारद जी द्वारा द्वारका में अलग-अलग रानियों के महलों में उन्हें अलग-अलग देखना- यह सब दर्शाता है कि कृष्ण परमतत्त्व-परमात्मा हैं।

गीता तथा भागवत का लक्ष्य एक

गीता के उपदेश की समाप्ति शरणागति में होती है। इसके पूर्व प्रकृति-पुरुष, (जड़-चेतन), जीव-ईश्वर, माया, अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, वासनाओं को क्षीण करने का उपाय, कर्मयोग, बुद्धियोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, गुणों की कार्यप्रणाली, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का सम्पूर्ण ज्ञान, पुरुषोत्तमयोग, लक्ष्यप्राप्ति में सहायक दैवी शक्तियाँ तथा बाधक आसुरी शक्तियाँ, संन्यास योग आदि अनेक बातों का ज्ञान या तो अर्जुन के प्रश्न पूछने पर या स्वयं ही भगवान् ने दिया। सबका ज्ञान देने के उपरान्त वे कहते है कि 'हे मानव!' तुम मेरे परायण हो जाओ अपना मन मुझे दे दो। मेरे भक्त हो जाओ। मेरे उद्देश्य से अपने सभी कर्म करो।

अर्थात् अपने कर्म यह सोच करोकि यह कर्म सबके कल्याण का हो, किसी को कष्ट न हो तथा इस कर्म से भगवान् प्रसन्न हों। यह भी कहते हैं कि सब में मेरी उपस्थिति का अनुभव करके मुझे नमस्कार करो। इसके बाद सबके हृदय में अन्तर्यामी के रूप में स्थित ईश्वर की शरण में जाने को कहते हैं तथा अन्त में वे कहते है कि सभी धर्मों को छोडकर मेरी शरण ग्रहण कर लो तथा निश्चिन्त हो जाओ। पूर्ण शरणागति-पूर्णभक्ति-पूर्णप्रेम हो जाने पर उनके अतिरिक्त दूसरा कुछ शेष रहता ही नहीं।

श्रीमद्‌भागवत का भी लक्ष्य आश्रय से एक हो जाना है। परमतत्त्व को ही यहाँ आश्रय कहा गया है।

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।। (भा0 2/10/07)

इस चराचर जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय जिस तत्व से प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही आश्रय है। शास्त्रों में उसी को परमात्मा कहा गया है। आश्रय का ही ठीक-ठीक निश्चय करने के लिये महात्माओं ने श्रुति, तात्पर्य तथा अनुभव का सहारा लिया है और इनके आधार पर अन्य विषयों का वर्णन किया है। आश्रय-सहित इन्हीं दस विषयों का वर्णन भागवत में किया गया है। जैसे सीढ़ी के सहारे हम किसी मकान की छत पर पहुँच जाते हैं, वैसे भागवत हमें एक-एक पद आगे बढ़ाते हुए, अवरोधों को दूर करते हुए आश्रय तत्त्व तक पहुँचा देती है।

सर्ग के सूक्ष्म अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सृष्टि के पूर्व स्वप्रकाश अद्वितीय परमात्मा का अस्तित्व था। दिक्-काल, स्थूल-सूक्ष्म, बन्धन-मुक्ति आदि का कोई विचार नहीं था। सृष्टि का प्रारम्भ परमात्मा की प्रेरणा से, उन्हीं के अन्दर एक छिपी हुई एक शक्ति-माया के गुणों में क्षोभ होने पर हुई। अर्थात् सृष्टि का मूल कारण केवल परमात्मा हैं और कुछ नहीं।

परमात्मा की सृजनात्मक शक्ति से उत्पन्न, काल द्वारा नियन्त्रित परमात्मा के ही एक मूर्तिरूप- ब्रह्मा की सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। अर्थात ब्रह्मा द्वारा सृजित सृष्टि की प्रेरणा तथा करने की शक्ति परमात्मा द्वारा ही प्रदत्त है।

सृष्टि की रचना का उद्‌देश्य मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्त करना है। इसी के लिये
शरीर के स्तर पर कर्मयोग, मन के स्तर पर भक्तियोग तथा बुद्धि के स्तर पर ज्ञानयोग
बताया गया है। इन सर्गों में कर्म के महत्त्व को बताने के लिये वराहावतार, शरीर-मन-बुद्धि
को परिष्कृत करने के उद्‌देश्य से कपिल-देवहूति संवाद, बुद्धि की अशुद्धि के कारण भेद-दृष्टि
को बताने के लिये दक्ष प्रजापति की कथा, श्रेय की प्राप्ति के उद्‌देश्य से दृढ़ निश्चय- तपस्या
द्वारा स्थिर लोक की प्राप्ति को ध्रुव की कथा के माध्यम से, पृथु की कथा के माध्यम से
उत्तम-भाव-विचार तथा कर्म द्वारा स्वयं तथा राष्ट्र के लिये उपयोगी होने की बात तथा एक
रूपक कथा- पुरञ्जनोपाख्यान के माध्यम से यह बताया गया है कि सांसारिक भोग-पदार्थों
को ही भोगने में जीवन-यापन करने वाला दुःखी जीवन विताने को बाध्य होता है ।

स्थान तथा पोषण विषयान्तर्गत राजा प्रियव्रत-भगवान् के चिन्तन में सतत लगे रहने
वाले को कहते हैं- के वंश में ऋषभदेव, भरत, अजामिल, इन्द्र, वृत्रासुर, नहुप की कथा कही

गयी है। तप द्वारा अन्तःकरणशुद्धि, अहंबुद्धि तथा ममता से प्यार से हृदय ग्रन्थि के शिथिल होने तथा अहङ्कार के त्याग से परम पद की प्राप्ति होती है। भरत चरित के माध्यम से बताया गया है कि सतर्क न रहने पर दया, करुणा जैसे गुण के होने पर भी मनुष्येतर योनि में जन्म लेना पड़ सकता है। वासनाओं से प्रेरित होकर अनेक योनियों में जीव के भ्रमण करने का कारण उसका मन है। यह इसलिये होता है कि मन संसार के प्रति हेय बुद्धि नहीं रख पाता। राक्षस होते हुए भी वृत्रासुर की भगवान् के प्रति स्तुति ज्ञानप्रद तथा मन को पवित्र कर देने वाली है। अजामिल की कथा द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् का अनुग्रह किसी पापी-दुरात्मा के लिये भी उपलब्ध है। काम वासना का प्रबल होना किसी अच्छे व्यक्ति को भी दुरात्मा बनाने के लिए पर्याप्त है। यह भाव भी अजामिल की कथा द्वारा स्पष्ट होता है। भगवान् के इस अनुग्रह को ही पोषण कहते हैं।

अभिमान की वासना दूसरी प्रबल वासना है, जिसे इन्द्र, वृत्रासुर तथा नहुष के माध्यम से दिखाया गया है। इन कथाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि किसी समय किये गये अच्छे कार्य के कारण भगवान् का अनुग्रह हो जाता है और उससे पूर्व की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

अव्यक्त वासनायें, जो जीव को कर्म करने को बाध्य करती हैं, ऊति कहलाती हैं। क्रोध की वासना के कारण भगवान् के द्वारपाल बनने की योग्यता प्राप्त करने पर भी जय-विजय को वासना से मुक्ति पाने हेतु, तीन जन्म राक्षस-मनुष्य के रूप मे लेने पड़े। पिता-पुत्र होते हुए भी हिरण्यकशिपु- प्रह्लाद अपनी पूर्व वासनाओं के कारण अलग-अलग व्यवहार करते है। हिरण्यकशिपु भगवान् द्वारा मारा जाता है और प्रह्लाद की स्तुति पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। उन्हें मुँह-माँगा वरदान देते हैं। वासना से मुक्ति-हेतु ही यहाँ वर्णाश्रम धर्म- कर्त्तव्यपालन की बात कही गयी है।

काल का वर्णन मन्वन्तर के अन्तर्गत किया गया है। यह काल ब्रह्मा के एक दिन के चौदहवें भाग, एक मनु के कार्यकाल का है। वासना के प्रभाव से जीवों द्वारा कर्म किये जाते हैं। कर्म करते हुए जीव जब थक जाता है और उसे किसी का सहारा नहीं रह जाता, तब वह भगवान् की शरण में जाता है। इस बात को गजेन्द्रमोक्ष की कथा द्वारा व्यक्त किया गया है। अमृत-प्राप्तिहेतु समुद्र-मन्थन की कथा है। जब दैवी और आसुरी सम्पत्तियाँ मिलकर हमारे समुद्र रूपी चित्त का मन्थन करती हैं तो सबसे पहले भूतकाल के दुःख, भविष्य की चिन्ताएँ तथा वर्तमान की उलझनों केरूपमें विष निकलता है। चिन्तन चलते रहने पर कूर्म-अवतार के रूप में भगवान् की मदद प्रकट होती है। काम आदि इस मंथन में बाधक अवश्य होते रहते हैं, परन्तु धैर्य रखकर, चिन्तन करते रहने पर स्वरूप-ज्ञान हो जाता है- यही समुद्र मंथन का फलस्वरूप ज्ञानामृततत्त्व है। सम्पत्ति-पद आदि से मुक्ति-हेतु वामनावतार हुआ है। राजा बलि अपने शिर पर भगवान् के चरणों को रखने की प्रार्थना करते है, अर्थात् अपने अहङ्कार को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देते हैं, तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं और वलि की दासता तक स्वीकार कर लेते हैं।

मथुरा में कंस को मारकर, उसके पिता उग्रसेन को राजा बनाना, मथुरा का साम्राज्य छोड़कर द्वारका नामक नई नगरी बसाना तथा अन्त में द्वारका के वैभव को अपने रहते नष्ट

होता देखते हैं। स्वयं अपने रथ के सारथी दारुक से कहते हैं कि द्वारका वासियों को कहो कि वे शीघ्र द्वारका छोड़ दें, नगरी समुद्र में डूबने वाली है।

जड़भरत के चरित द्वारा भागवत में दिखाया गया है कि आसक्ति का परिणाम क्या होता है। राजा रहूगण से जड़भरत कहते हैं कि पूर्व जन्म में मैं भरत नामक राजा था। त्याग, तपस्या, ज्ञान आदि से युक्त था, परन्तु अन्त में एक मृगशावक में आसक्ति हो गई, जिसके परिणाम स्वरूप मुझे एक जन्म मृग का लेना पड़ा। पूर्व की कृष्ण-भक्ति के परिणामस्वरूप मृगयोनि में भी मुझे ज्ञान बना रहा, इसलिये इस जन्म में मैं प्रारम्भ से ही सबसे अनासक्त होकर जीवनयापन करता हूँ।

गीता में श्रीकृष्ण ने काम-क्रोध-लोभ को नरक का द्वार बताया है। दैत्य-कुल में हिरण्यकशिपु के पुत्र के रूप में पैदा हुए प्रह्लाद के माध्यम से कामना पर विजय की बात बतायी गयी है। नरसिंहावतार में भगवान् ने प्रह्लाद से कोई वर माँगने की बात कही, जिस पर उनका उत्तर था-

यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि हमारे हृदय में किसी कामना का बीज अङ्कुरित न हो। कामना के उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति, सत्य- नष्ट हो जाते है। (भा0 07-08/10/08)

प्रह्लाद ने भगवान् से कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् एक मात्र आप ही है। आदि में कारण रूप से, अन्त में आप ही रहेंगे तथा बीच में प्रतीति के रूप में भी केवल आप ही हैं। आप अपनी माया से गुणों को, परिणाम के स्वरूप इस जगत की सृष्टि करके इसमें पहले से विद्यमान रहने पर भी प्रवेश की लीला करते हैं और उन गुणों से युक्त होकर अनेक रूपों में मालूम पड़ रहे हैं। (भा0 07/09/30)

दुर्वासा ऋषि ने भगवान् के महान् भक्त अम्बरीश के जल ग्रहण करने के कारण क्रोध के प्रभाव में उनके ऊपर कृत्या को छोड़ दिया। अम्बरीश ने तो कुछ नहीं किया, परन्तु भगवान् को यह वर्दास्त नही हो पाया और कृत्या का प्रहार उन्ही के ऊपर होने लगा। वे भागे-भागे फिरने लगे। वे भगवान् के पास भी गये, परन्तु उन्होंने कहा कि इसे लौटाने की शक्ति मेरे में भी नहीं है। आप अम्बरीश के पास ही जाइये। वे हार कर अम्बरीश के पास गये, तब वे इस कष्ट से मुक्ति पा सके। क्रोध के कारण दुर्वासा जैसे ऋषि को भी इतना कष्ट उठाने की बात तथा भगवान् की भक्ति की महत्ता बताने के उद्देश्य से यह कथा कही गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा कि तुम शरीर-मन-बुद्धि नहीं हो, आत्मा हो। शरीर आदि जड तथा आत्मा चेतन तथा अविनाशी है और सब में सूक्ष्म रूप से व्याप्त है। अविद्या के कारण पुरुष अपने को स्त्री-पुरुष, सुन्दर-कुरूप-धनी-निर्धन आदि मान लेता है। स्त्री-पुरुष में भेद मानकर ही तदनुसार वस्त्र धारण करता है। नाम-रूप के कारण भेद करता है, जबकि सब में मूल तत्व आत्मा एक ही है। इस पशु-बुद्धि को नष्ट करने के उद्देश्य से भागवत में श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ चीर-हरण लीला की है। स्त्री-पुरुष के भेद को मिटाने के उद्देश्य से ही जल में नग्नावस्था में स्नान कर रही थीं, उनके छिपाये

गये वस्त्रों को अपने गुप्ताङ्गो को बिना छिपाये सामने आकर वस्त्र लेने को कहा। अज्ञान-भेद मिट जाने पर गोपियों ने अपने वस्त्र आकर लिये, तब वे भगवान् के रासलीला में प्रवेश की अधिकारिणी हुईं।

इसी ज्ञान को राजा परीक्षित को पूरी भागवत सुनाने के बाद शुकदेव जी ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा कि तुम इस पशु-बुद्धि को छोड़ दो कि तुम शरीर हो और तुम्हें तक्षक नाग काटेगा। इस सम्बन्ध में भगवान् ने जो गीता में ज्ञान दिया था, उसे परीक्षित के माध्यम से चरितार्थ होते हुए भागवत में दिखाया गया है; क्योंकि अन्त में परीक्षित शुकदेव जी से कहते हैं कि मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आत्मतत्व के साथ एक हो जाने को तत्पर हूँ। जब सब एक ही तत्त्व है, तो तक्षक मुझसे अलग कहाँ है।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा कि 'सर्वेषुकालेषुमामनुस्मर युद्धय च।'

सब समय मेरा स्मरण करते रहो तथा संसार में संघर्ष करते रहो। अनन्य भक्ति से वे जाने जा सकते हैं, तत्वतः उन्हें देखा जा सकता है तथा उनसे एक होना संभव है। श्रीमद्भागवत में इस उपदेश का अक्षरशः पालन गोपियों द्वारा किया गया है। वे हर समय हर परिस्थिति में श्रीकृष्ण के ही रूप-लीला आदि का स्मरण करती हैं तथा आपस में चर्चा करती हैं। भक्ति में स्मरणभक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहते हैं कि-

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्।। (भा0 10/35/1)

भगवान् श्रीकृष्ण के गौवों को चराने के लिये प्रतिदिन वन में चले जाने पर उनके साथ गोपियों का चित्त भी चला जाता था। उनका मन श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता था और वे वाणी से उनकी लीलाओं का गान करती रहतीं थी। इस प्रकार वे बड़ी कठिनाई से अपना दिन बितातीं।

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।। (भा0 0/31/15)

प्यारे! दिन के समय जब तुम वन मे विहार करने के लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युग के समान हो जाता है और जब तुम संध्या के समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकों से युक्त तुम्हारे परम सुन्दर मुखारविन्द को हम देखती हैं, उस समय पलकों का गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रों की पलकों का बनाने वाला विधाता मूर्ख है।

भगवान् ने किसी कार्य की सफलता-हेतु व्यवसायात्मिका=निश्चयात्मिका बुद्धि का महत्व बताया है। असंख्य इच्छाओं के होने पर, जिनमें सम्भवतः कुछ परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं- मन की शक्ति का ह्रास होता है और कार्य की सिद्धि नहीं होती। दृढ़ निश्चय और एकाग्रचित्त से कर्मयोग द्वारा आत्मसाक्षात्कार की सर्वोच्च उपलब्धि भी सम्भव होती है।

भगवान् ने कहा 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'- निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है।

संसार के किसी कार्य की भी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति का सङ्कल्प कितना दृढ़ है। उसकी इच्छाएँ अनेक तो नहीं हैं। संकल्प-विकल्प की स्थिति में तो वह नहीं है। जब निश्चय एक होता है, सङ्कल्प दृढ़ होता है तथा उसी के अनुसार प्रयत्न होता है, तो सफलता अवश्य मिलती है। पारमार्थिक मार्ग में भी यह परम आवश्यक है कि हमारा निश्चय केवल परमात्म-प्राप्ति का हो- संसारिक दूसरी कोई इच्छा न हो तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु किये गये प्रयास में कोई कमी न हो।

गीता में कही गयी भगवान् की इस वाणी को चरितार्थ होते हम भागवत में ध्रुवचरित में देखते हैं। राजा उत्तानपाद (कोई व्यक्ति उल्टे पाँव ही पैदा होता है, इसलिये हम सभी उत्तानपाद हैं) की दो पत्नियाँ सुनीति- श्रेय के मार्ग पर चलने वाली तथा सुरुचि- प्रेय मार्ग पर चलने वाली- थीं। सुनीति के पुत्र ध्रुव को राजा की गोद में देखकर सुरुचि ने ताना मारा तथा ध्रुव का तिरस्कार किया। क्षत्रिय स्वभाव वाले ध्रुव को वर्दाश्त नहीं हुआ। परन्तु माता सुनीति ने उन्हें भगवान् की शरण में जाने की आज्ञा दी। जब परमात्म-प्राप्ति के उद्देश्य से ध्रुव तपस्या-हेतु जा रहे थे, तो मार्ग में नारद जी मिले तथा उन्हें अनेक प्रकार से समझाये कि यह मार्ग अति कठिन है। अभी बाल्यावस्था- जो खेलने की उम्र है- में वह इस मार्ग पे न जायँ। परन्तु ध्रुव ने कहा कि मैं क्षत्रिय स्वभाव का हूँ, मुझे आपकी बात समझ में नहीं आती है। इसके बाद उन्होंने कहा -

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टंजिगीषोः साधु वर्त्म मे।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम्।। (भा० 4/8/37)

ध्रुव ने नारद से कहा- ब्रह्मन्! मैं उस पद पर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकी में सबसे श्रेष्ट है तथा जिस पर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरुढ़ नही हो सके हैं। आप मुझे उसी की प्राप्ति के लिये कोई अच्छा सा मार्ग बतलाइये।

गीता में भगवान् ने कहा है कि-

'अंहकारविमूढात्मा कर्ताहमितिमन्यते'

अंहकार के कारण विमूढ मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। अहङ्कार की शून्यता श्रीमद्भागवत में वामनावतार के समय राजा बलि के चरित द्वारा दिखाई गयी है। वामनावतार में भगवान् ने राजा वलि से अपने पग से तीन पग ही जमीन माँगी। उनके हाँ करने पर भगवान् ने एक पैर से भू-लोक, आकाश, दिशाएँ, आदि तथा दूसरे पैर से स्वर्ग लोक नाप दिया। इसके बाद उन्होंने बलि से कहा कि तुमको घमण्ड था कि मैं बड़ा दानी हूँ, तुमने कहा 'दूँगा'-झूट। अब बताओ मैं तीसरा पद कहाँ रक्खूँ? उस समय आकाश में उनके पूर्वज प्रह्लाद भी उपस्थित हो गये। जब प्रहलाद जी की उपस्थिति में ब्रह्मा जी वामन भगवान् से कुछ कहना चाहे तो बलि की पत्नी विध्यावली ने कहा- आपने सम्पूर्ण जगत् की रचना अपनी क्रीड़ा के लिये की है। कुबुद्धि वाले अपने को इसका स्वामी मान लेते है। जब आप ही कर्ता-धर्ता-संहर्ता हैं, तो आपकी माया से मोहित होकर अपने को झुठ कर्ता मानने वाले आप को समर्पण क्या करेंगे?

बलि ने वामन भगवान् से कहा कि देने वाला दान से बड़ा होता है अतः आप कृपया अपना तीसरा पद मेरे सिर पर (अहङ्कार पर) रख दीजिये।

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्। (भा० 8/22/02)

ब्रह्मा ने कहा कि इसने बड़े धैर्य, प्रसन्नता स्थिरता पूर्वक त्रिलोकी का दान आप को दिया है, इसे दुःख का मार्ग कैसे मिल सकता है। भगवान् ने कहा कि मैं जिस पर कृपा करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ; क्योंकि जब मनुष्य धन के मद से मतवाला हो जाता है, तो वह मेरा तथा लोगों का तिरस्कार करता है।

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते।। (भागवत 8/22/24)

मैने बलि का धन छीना, आक्षेप किये, इसे भाई बन्धुओं ने छोड़ दिया, गुरुदेव ने भी इसे डाँटा, मैने छलपूर्ण बातें की, परन्तु इसने अपना धर्म न छोड़ा, प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। अतः मैं इस पर बहुत प्रसन्न हूँ और इसे रसातल का राज्य देता हूँ।

भगवान् के नाम की महत्ता को भागवत में अजामिल की कथा द्वारा व्यक्त किया गया है। राक्षसो के गुरु शुक्राचार्य ने भगवान् से कहा है- मन्त्र, अनुष्ठानपद्धति-देश-काल-पात्र-मन्त्र की सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तन से सुधर जाती हैं तथा नाम सारी विकृतियों को दूर कर देता है।

उच्च कोटि के ब्राह्मण अजामिल का संग-दोष से पतन हो गया, वे काम-वश एक वेश्या के संसर्ग में आकर अपने पथ से भटक गये। परन्तु किसी अच्छे कार्य के फलस्वरूप उन्होंने एक दिन सन्तों की सेवा की, जिन्होंने उसके होने वाले पुत्र का नाम नारायण रखने की सलाह दी। जब अजामिल की मृत्यु निकट आयी और यमदूत उन्हें लेने के लिए उपस्थित हुये तो वह डर कर अपने पुत्र नारायण को पुकारने लगा। नारायण नाम सुनकर भगवान् के पार्षद उपस्थित हो गये और उन्होंने कहा- यमदूतो! इसने कोटि जन्मों की पाप राशि का प्रायश्चित कर लिया है। विवश होकर ही सही, इसने भगवान् के परम कल्याणमय नाम-नारायण का उच्चारण किया है। सबसे बड़ा प्रायश्चित नाम का उच्चारण है। इससे बुद्धि भगवान् के गुण-लीला स्वरूप में रम जाती है। फलस्वरूप भगवान् की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है। जैसे अग्नि जाने-अजाने छू जाने पर जला ही देती है; क्योंकि वस्तु की स्वाभाविक शक्ति इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि वह मुझ पर श्रद्धा करता है कि नहीं। किसी प्रकार से लिया गया भगवान् का नाम सभी पापों का नाश कर देता है।

'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मरतः'

श्रीमद्भगवत के अन्त में, अन्तिम श्लोक के रूप में नाम की मह ा का वर्णन करते हुये परम ज्ञानी सूत जी शौनक जी से कहते हैं-

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्।। (भागवत12/13/23)

जिन भगवान् के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान् के चरणों में आत्मसर्मपण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिये सब प्रकार के दुःखों को शान्त कर देती है, उन्हीं परम-तत्व स्वरुप श्रीहरि को नमस्कार है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् द्वारा वर्णित पारमार्थिक दृष्टि

व्यवहार में द्रष्टा-दृश्य का भेद प्रतीत होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से सबका अधिष्ठान एक ही है, इसलिए अद्वैतदृष्टि रखनी चाहिये। आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई परोक्ष या प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। प्रतीत होने वाली, मन से सोचे जाने वाली तथा वाणी से व्यक्त करने योग्य सृष्टि का निमित्तोपादान-कारण सर्वशक्तिमान् आत्मा ही है। कहीं द्वैत है ही नहीं। अर्थात् सर्वात्मा भगवान् ही विश्व बनाते है तथा वही बनते हैं, वही रक्षक-रक्षित हैं। संहार होने वाली वस्तु भी वे ही हैं।

दृष्टा-दृश्य-दर्शन का जो भेद प्रतीत होता है वह सब त्रिगुणात्मिका माया के कारण है। किसी चीज को सिद्ध करने के चार प्रमाणों- प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र, आत्मानुभूति द्वारा उत्पत्ति=विनाशशील जगत् की अनित्यता सिद्ध होती है। अतः बिना किसी की स्तुति- निन्दा द्वारा भेद स्थापित किये पुरुष को असङ्ग भावसे जीवन बिताना चाहिये।

विवेक के जागृत न होने के कारण पुरुष में संसार के सत्य का स्मरण होता है और देह-इन्द्रिय-प्राणों के साथ आत्मा की सम्बन्ध-भ्रान्ति हो जाती है, वास्तव में संसार का अस्तित्व नही है। यह वैसे ही है, जैसे स्वप्न की विपत्तियों का अस्तित्व जाग जाने पर नहीं रहता है। हमारे भय, शोक, मोह, जन्म, मृत्यु का कारण हमारा काम है। काम से आत्मा का कोई लेना देना नहीं है। आत्मा-देह-इन्द्रिय-प्राण-मन से तादात्म्य कर अभिमान कर लेता है तो वही जीव कहलाता है। गुण और कर्मों का बना हुआ लिङ्ग शरीर- उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा की मूर्ति है। यह लिङ्ग शरीर ही काल रूप परमात्मा के अधीन होकर जन्म मृत्यु रूप संसार में भटकता रहता है। चूँकि शरीर-मन-वाणी-प्राण, अहङ्कार के कार्य हैं। अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि उपासना के सहारे ज्ञान की तलवार से देहाभिमान- अहङ्कार को जड़ से नाश कर दे तथा किसी पदार्थ की आशा-तृष्णा से मुक्त होकर, निर्द्वन्द्व होकर जीवन यापन करे। जब तक विवेके जागृत नही होता तब तक द्वैत मालूम पड़ता है। आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को ठीक से समझ लेना ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त करने हेतु हमें तपस्या आदि से चित्त शुद्धि करके वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, महापुरुषों के उपदेश तथा स्वानुभूति का सहारा लेना चाहिये।

जैसे सोने के आभूषण बनने के पूर्व तथा इसके टूट जाने पर तथा वर्तमान अवस्था में भी केवल सोना ही रहता है, सोने के अतिरिक्त कुछ नही। वैसे ही संसार के आदि, मध्य तथा बीच में केवल परमात्मा ही रहता है। सबका कारण तथा प्रकाशक वही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, यही ज्ञान है।

तीन गुणों- सत्व, रज, तम के कारण मन की तीन अवस्थायें- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- होती हैं और जगत् के भी तीन भेद, अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथ्वी आदि) तथा अधिदैव (कर्ता) है। ये सभी विविधतायें जिसकी सत्ता से सत्य के समान प्रतीत होती हैं और समाधि में भी जिसकी सत्ता बनी रहती है- वह तुरीय तत्त्व- इन तीनों से परे और इनमें

अनुगत चौथा ब्रह्म तत्त्व ही सत्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति में आत्मज्ञानी गुरुदेव सहायक होते हैं।

जीव के सुखी-दुःखी होने का कारण उसका संस्कार से प्रेरित होकर जन्म से मृत्यु पर्यन्त कर्म में लगे रहना तथा उसमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि रखना है। तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर जीव को संस्कारानुसार कर्म करते रहने पर भी तथा प्रकृति में स्थित रहने पर भी आशा-तृष्णा के क्षीण होने के कारण उसे सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है।

भगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान केवल बुद्धिगत अज्ञान के आवरण को नष्ट करता है। इससे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। अज्ञान का परदा हट जाने से उसका साक्षात्कार हो जाता है, जैसे सूर्य हमारे नेत्रों के सामने से अंधकार को हटा देते हैं, किसी वस्तु का निर्माण नहीं करते।

चूँकि अधिष्ठान सत्ता में अध्यस्त की सत्ता नहीं होती- रस्सी में साँप की सत्ता नही होती, केवल प्रतीति होती है- इसलिये आत्मतत्व में नाम, रूप की विविधता मान लेना सबसे बड़ा मोह-भ्रम है। इस भ्रम का भी अधिष्ठान आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जब मन-वाणी आत्मा को अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं तब सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से रहित एक अद्वितीय तत्त्व रह जाता है। व्यवहार में उसके स्वरूप का निरूपण हम वाणी-प्राण आदि के प्रवर्तक के रूप में करते हैं।

वृक्ष में लगे फल के समान शरीर का नाश अवश्यम्भावी है। साधक को अपने रोगों को आसनों-ओषधि द्वारा, ग्रहादि विघ्नों को तपस्या द्वारा, काम-क्रोध आदि को भगवान् के नाम संकीर्तन- स्मरण द्वारा तथा दम्भ-मद को महापुरुषों की सेवा द्वारा दूर करना चाहिये। इस प्रकार जीवनयापन करने वाले साधक की कामनायें नष्ट हो जाती है और आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है।

भागवत धर्म का उपदेश

वेदों को प्रकाशित करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्तों को संसार से मुक्त करने के लिये ज्ञान-विज्ञान का सार भागवत धर्म के रूप में, अपने भक्त उद्धव के माध्यम से दिया है। इस धर्म का आचरण करके संसार-सागर से कोई पार हो सकता है।

अपने सभी कर्म भगवान् के लिये करने तथा करते समय भगवान् का स्मरण बढ़ाते जाने से कुछ दिनों में मन भगवान् में समर्पित हो जाता है। भगवान् के भक्तों के आचरण का अनुसरण करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। साधक को चाहिये कि समस्त प्राणियों में तथा अपने हृदय में आकाश के समान बाहर-भीतर परिपूर्ण आवरण-शून्य परमात्मा को ही देखे। इससे ईर्ष्या, तिरस्कार, अहङ्कार आदि दोष दूर होते है। सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि-आत्मबुद्धि का अभ्यास करने से, मन-वाणी-कर्म द्वारा सब में ब्रह्म-भावना रखने से कुछ दिनों में ज्ञान हो जाता है और सबकुछ ब्रह्म स्वरूप दीखने लगता है। इस ईश्वर साक्षात्कार से संसार से उपरामता आ जाती है और सारे सन्देह मिट जाते हैं। भगवान् की प्राप्ति के सभी साधनों में यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। अतः समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में मन-वाणी-शरीर की वृत्तियों

से भगवत्-भावना करते हुए जीवनयापन करना सर्वोत्त्म है। यही भागवतधर्म है। इस धर्म में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। इस स्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञान के मर्म को समझने वाले की संशय ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है। अपना उपदेश समाप्त करते हुए भगवान् कहते है कि -

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।। (भागवत 11/29/34)

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मो का परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे जीवत्व से छुड़ाकर अमृत-स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है।

अन्त में भगवान् ने उद्धव को वदरी वन में जाने, गङ्गा जल में स्नान करने, तपस्वी जीवन विताने, कन्दमूल फल खाने, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख को सम भावसे सहने, इन्द्रियों को वश में रखने, चित्त को शान्त, स्वभाव को सौम्य रखने, बुद्धि को समाहित रखने, भगवान् के स्वरुप के ज्ञान तथा उसके अनुभव में डूवे रहने की आज्ञा दी। भगवान् ने कहा कि यदि तुम भागवत धर्म के प्रेम में इस प्रकार रहोगे, अपनी वाणी तथा चित्त मुझमें लगाये रहोगे, तो त्रिगुण तथा उससे सम्बन्धित गतिविधियों को पारकर हमारे परमार्थ स्वरूप में मिल जाओगे। यह ज्ञान उद्धव के माध्यम से भगवान् ने किसी साधक, भक्त शुद्धान्तःकरण वाले पुरुष के लिये दिया है।

भगवान् की बाल लीलाओं का रहस्य

पूतना उद्धार -

वाल कृष्ण को मारने के उद्देश्य से कंस द्वारा भेजी गयी पूतना अपना बाह्यरूप आकर्षक वनाकर कुचों में विष लगाकर गोकुल में कृष्ण को दूध पिलाने गयी। कृष्ण ने दूध के साथ उसके प्राणों को हर लिया तथा उसे माता के समान गति प्रदान की। उसके विशाल शरीर को टुकड़े-टुकड़े काटकर जलाने पर सुगन्ध निकली।

कंस हमारा अहङ्कार है। हमारे अन्दर अहङ्कार आते ही हमें पूर्णता से अलग कर देता है। हमारी आत्मबुद्धि परिच्छिन्न हो जाती है। हमारा 'मैं' वहुत सीमित हो जाता है। ईश्वर की अनुभूति में यह सवसे बड़ा बाधक है। पूतना कंस द्वारा भेजी हुई उल्टी बुद्धि है। उल्टी बुद्धि ईश्वर का खण्डन करने लगती है। इसलिये वह दूध पिलाने के वहाने कृष्ण को मार डालने के उद्देश्य से, उन्हें गोद में लेकर दूध पिलाने लगी। लेकिन जव उसकी गोद में कृष्ण आ गये तो उन्होंने उसे माता को मिलने वाली गति प्रदान की। इसका भाव यह है कि किसी वहाने-भय, द्वेष, काम आदि- यदि ईश्वर के पास कोई पहुँचता है तो उसे भी ईश्वर-प्राप्ति हो जाती है। यदि कृष्ण के प्रति प्रेम से भरकर हम उनके पास जाते हैं, उनकी भक्ति करते

हैं तब तो उनके अतिशय प्रिय हो ही जाते हैं। अतः हमें किसी भी भाव से हो, ईश्वर के पास जाना चाहिये, उन्हीं का चिन्तन करना चाहिये, पिता-मालिक-मित्र-पुत्र या पति के रूप में उनसे अपना एक सम्बन्ध बनाना चाहिये। इससे हमें परम रस की प्राप्ति हो जायेगी; क्योंकि वे रसस्वरूप ही हैं- रसो वै सः।

शकटासुर-विध्वंस लीला -

नन्द-यशोदा के घर एक बार मेला के अवसर पर गाड़ियों-छकड़ों पर खाद्य सामग्री रखकर तथा उसके नीचे कृष्ण को झूले में सुलाकर, नन्द-यशोदा अपना ध्यान उनसे हटाकर, भीड़ के स्वागत-प्रबन्ध में लग गये, तब कृष्ण रोने लगे तथा लात मारकर छकड़े को उलट दिया। तब यशोदा ने कृष्ण को गोद में लिया।

यह लीला बताती है कि हमें चेतन से अधिक जड़ को महत्त्व नहीं देना चाहिये। परमात्मा को छोड़कर भीड़-संसार में नहीं फँसना चाहिये। निर्गुण-निराकार ब्रह्म एक छोटा सा बालक बनकर यशोदा की गोद में आया है। ऐसे ही ब्रह्म को हम प्यार कर सकते हैं, उसे चूम सकते हैं, वह हमारा अज्ञान दूर कर सकता है, वह हमारा दुःख दूर कर हमें आनन्द दे सकता है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप, आनन्द स्वरूप है। वह स्वयं प्रकाश है। जब हम ब्रह्म को अपनी वृत्ति में आरूढ़ करते हैं, जब उसे मित्र, पिता, पति, पुत्र रूप में वृत्यारूढ़ करते हैं तब हम आनन्द ले पाते हैं। अतः भागवत का ईश्वर चाहता है कि हम सदा उसकी ओर अपनी दृष्टि रखें, उसकी भक्ति करें, उससे प्रेम करें, उसकी सेवा करें, उसी को सबसे अधिक महत्त्व दें।

तृणावर्त-बध-लीला का रहस्य -

जैसे यशोदा मैया कृष्ण को गोद में उछलकर ऊपर-नीचे कर रही थीं, वैसे ही भक्त भगवान् को उनका चिन्तन करते हुए अपने मन में रखता है, कभी हृदय में धारण करता है, कभी गोद में लेकर चूमता है, प्यार करता है। कंस का भेजा हुआ तृणावर्त- तिनके को उड़ाने वाली वायु-बवण्डर के रूप में आकर कृष्ण को ऊपर ले गयी। यह यशोदा द्वारा कृष्ण को गोद से उतार देने-अलग कर देने के कारण हुआ। यदि भगवान् को छोड़कर हम योग का सहारा लेते हैं तो हमारे गो-कुल में जड़ता आ जायेगी। जड़ता आ जाने पर हम भोग-विलास में फँस जायेंगे। परन्तु जब भगवान् के लिये भक्त में तड़पन होने लगेगी, तो भगवान् तृणावर्त-योग का गला घोंटकर नन्द के- भक्त के आँगन में पटक देंगे तथा भक्त पुनः भगवान् को प्राप्त कर लेगा। एक बार भगवान् की भक्ति का रस मिल जाने पर भक्त उसे छोड़ नही सकता, क्योंकि उसमें रस का उदय हो जाता है और उस रस को प्राप्त करने के बाद उसके बिना भक्त रह नही सकता।

विश्वदर्शन लीला -

पिता, भाई, पति-पत्नी- किसी में यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह अपना स्नेह बाहर ठोस द्रव्य के रूप में प्रदर्शित कर सके। केवल माँ का स्नेह, अपने बालक के प्रति उमड़ने पर, दूध के रूप में प्रकट होता है। माँ यशोदा के मन में, एक बार कृष्ण को दूध पिलाते समय, यह विचार आया कि मेरी गोद में छोटे बालक के रूप जो कृष्ण हैं, वे ईश्वर कैसे हो सकते हैं? हमारे मन में भी यह शङ्का आ सकती है कि ईश्वर को अपने पुत्र रूप में या उनसे कोई अन्य सम्बन्ध जोड़कर उन्हें वृत्यारूढ़ कर आनन्द ले रहे हैं- क्या वे ईश्वर हो सकते

हैं? अपने पुत्ररूप में उन्हे दूध पिलाते समय भी हम ऐसा कर सकते है कि अधिक दूध बाल-रूप कृष्ण को कहीं नुकसान न कर दे। इन शङ्काओं की निवृत्ति हेतु भगवान् ने यशोदा को अपने मुँह में विश्वरूप दर्शन कराया। ऋषि दुर्वासा द्वारा युधिष्ठिर को सताने पर भी भगवान् ने द्रौपदी से अक्षय पात्र माँगकर, उसमें से एक पत्ता मुँह में डालकर कहा कि 'अनेन विश्वात्मा प्रीयताम्' और दुर्वासा के सभी शिष्यों की भूख मिट गयी। अर्जुन के कहने पर कृष्ण ने अपने शरीर में ही विश्व को दिखा दिया था। अतः कृष्ण एक व्यक्ति नहीं, बल्कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं।

चीर-हरण लीला -

गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम विशुद्ध तथा पराकाष्ठा में था। परन्तु उन्हें पति के रूप में प्राप्त करने में देह-बुद्धि बाधक थी तथा इस कारण उत्पन्न सभी बाधाओं को उनके लिये पार करना आवश्यक था। देह-बुद्धि के कारण ही हमारे अन्दर स्त्री-पुरुष का भाव रहता है तथा उनके कपड़ों द्वारा हम उनमें अन्तर करते हैं। कृष्ण ने गोपियों के वस्त्र चुराने के बहाने उनके अज्ञान का हरण किया। इस प्रकार का कार्य भक्तों को उन्हे देह-बुद्धि से मुक्त कर उन्हें उनके स्वरूप का ज्ञान कराने के उद्देश्य से किया गया ताकि वे अपने स्वरूप में स्थित हो सकें। कपड़े जिन्हें कृष्ण वापस करते हैं, वासनाओं के प्रतीक है। स्वरूप-ज्ञान होने पर भक्तों की वासना केवल कृष्ण-वासना रह जाती है। तब भक्त को रास-लीला में भाग लेने की योग्यता आती है।

रास लीला -

भगवान् रस स्वरूप हैं-'रसो वै सः'। रास शब्द का मूल रस है। जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में व्यक्त होता है- उसे रास करते हैं। रासलीला में भगवान् श्रीकृष्ण की परम अन्तरङ्ग लीला, उनकी ह्लादिनी शक्ति राधा जी तथा निजस्वरूपभूता गोपिकाओं के अति दिव्य क्रीड़ा का वर्णन है। 'गोपी' शब्द का प्रयोग व्रजभूमि के ग्वालों की पत्नियों-बहनों-बेटियों के लिये होता है। गोपवंशमें जन्म लेकर गोपवंश में विवाहित स्त्री को गोपी कहते है अन्य वंश में जन्मी स्त्री का गोपवंश में विवाह होने पर उसे गोपा कहते है। हमारे चित्त में भिन्न-भिन्न वृत्तियों के लिये भी इसका प्रयोग होता है। नाड़ियों को भी गोपी कहते हैं।

कृष्ण की बाँसुरी की आवाज, उनका प्रत्येक गोपी के साथ नर्तन, आनन्द जगाने के लिये है। रासलीला का सन्देश यह है कि अपने कानों से भगवान् के रूप-गुण-लीला-धाम के बारे में सुनें, आँखों से उनकी रूप माधुरी का, उनकी मुस्कान का, उनके पीताम्बर का, बाँसुरी बजाते हुए त्रिभङ्गी आकृति का दर्शन करें तथा उन्हें हृदय में बसा लें, उनसे प्रेम करें, उनका निरन्तर चिन्तन करें, मिलने के लिये व्याकुल हों, यहीं रास है। जीव का चैतन्य कृष्ण से मिलन ही रास है।

कालिय मान-मर्दन लीला -

सूर्यपुत्री कालिन्दी के एक कुण्ड में रहने वाले कालिय नाग के सौ फणों पर नर्तन करते हुए कृष्ण भगवान् ने उसका मान-मर्दन कर उसे रमणक नामक द्वीप में रहने हेतु भेज दिया था। इस कथा में कालिन्दी हृदय स्थित चेतना है, जो सूर्य-स्व प्रकाश आत्मतत्त्व से उत्पन्न

हुई है। कालियअहंभाव, मैं भाव में अनेक फणों पर, दूसरों से मेरे पन के भाव से युक्त होकर रहता है। मैं तथा मेरेपन के भाव से हमारी चेतना बार-बार बाधित होती रहती है। मैं तथा मेरेपन के भाव से रहित होने पर हमारे लिये जल-संसार, आनन्द का स्थान हो जाता है। मैं तथा मेरेपन का भाव तब तक नहीं जाता जब तक हमारे हृदय में ईश्वर का प्रवेश न हो जाय और वे हमारे इस भाव को नष्ट न कर दें। जब हम अपनी आँखों से कृष्ण की मनोहारी छवि को देखते हैं, कानों से उनकी लीला सुनते हैं, जिह्वा पर उनका नाम बिठा देते हैं, तो प्रकाश की बेटी- कालिन्दी जो हमारी वृत्तियाँ हैं, उनमें जो विष भरा है वह निकल जाता है; क्योंकि कृष्ण के क्रीड़ा करने के स्थान पर विषय-विष नहीं रह सकता। विषय-विष को तो रमणक-द्वीप, जो भोगी-विलासी लोगों के रहने का स्थान है, में ही जाना पड़ता है।

धेनुकासुर-बध लीला -

देहाध्यास ही धेनुकासुर है। शरीर को ही अपना स्वरूप मानने वाले को देहाध्यासी कहते हैं। देहाध्यास से छुटकारा भगवान् या उनके अंश द्वारा ही सम्भव है। धेनुकासुर को बलराम जी ने मारा था। तत्त्वज्ञान हो जाने पर पाप-पुण्य का भाव समाप्त हो जाता है। पाप-पुण्य का भाव समाप्त हो जाने पर सब परमात्मा ही है, परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं-यह भाव दृढ़ हो जाता है। इतने पर भी जीव मुक्ति का विलक्षण सुख मिलना शेष रहता है। जीवन्मुक्ति का विलक्षण सुख योगाभ्यास द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति के स्थायी हो जाने पर मिलता है। इस हेतु यह आवश्यक है कि ब्रह्माकार वृत्ति पर देहाकार-वृत्ति हावी न हो। इसलिये देहाकार वृत्ति का नाश होना आवश्यक है। बलराम जी ने धेनुकासुर के बहाने देहाध्यास को नष्ट किया।

वत्सासुर, बकासुर तथा अघासुर के बध की लीलाओं का रहस्य -

जब मनुष्य ईश्वराभिमुख होता है तो वत्स,बक तथा अघ के रूप में तीन विघ्न उपस्थित होते हैं। वत्स माने वात्सल्य। उसके मन में यह भाव आता है कि यदि परमार्थ के रास्ते पर मैं चला जाऊँगा, तो मेरे माता-पिता की सेवा नहीं हो पायेगी। पति या पत्नी, छोटे भाई, मेरे आश्रित प्रियजनों का क्या होगा? ममतास्पद जो लोग हैं उनकी समष्टि वत्सासुर के रूप में आती है। ममता का भाव रहने पर हम संसार में ही रहेंगे, ब्रह्मानन्द नहीं पा सकेंगे। इसलिये इस वात्सल्य, स्नेह भाव को नष्ट करना पड़ेगा। वत्सासुर को मारने का अर्थ है कि अपना मानकर अपने स्वजनों के प्रति हमारे अन्दर जो भाव बना है, उसे मन से निकाल दें।

हमारे अन्दर तपस्या का, जप का, सत्कर्मों का, दान का जो दम्भ है-वही बकासुर है। बगुला जल में एक पैर पर शान्त खड़ा रहता है परन्तु उसका ध्यान मछली पर लगा रहता है। मौका पाते ही वह उसे निगल जाता है। अन्तर्भाव तथा बाह्य-प्रदर्शन एकदम विपरीत हों-यह है बकासुर। निःस्पृहता की अभिव्यक्ति सबसे बड़ा दम्भ है। अतः हमें लोगों के बीच में अपना बड़प्पन दिखाने की जो प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति को नष्ट करना बकासुर को मारना है। बिना इसे नष्ट किये भगवान् की तरफ नहीं जा सकते; क्योंकि प्रेम-भक्ति के मार्ग में कपट नहीं है, दम्भ नहीं है, बनावट नहीं है।

दम्भ में से पाप निकलता है, क्योंकि दूसरे को ठगने के लिये ही दम्भ होता है। यह पाप ही अघासुर है। ईमानदारी से अपनी बनावट या दम्भ को स्वीकार कर छोड़ देने से दम्भ

मिट जाता है परन्तु पाप प्रकट करने पर भी नष्ट नहीं होता। इसे तो अवश्य ही भोगना पड़ता है। इसी जीवन में अपने द्वारा की हुए बुराई का फल अवश्य मिलता है, समय भले ही तीन दिन, तीन माह या तीन वर्ष लगे। पापी का लक्षण है कि उसे दूसरे का सुख बर्दाश्त नहीं होता। वह भक्तों के प्रति अनादर का भाव रखता है। ईश्वर के प्रति भी उसका नास्तिकता का भाव रहता है। भारतीय संस्कृति, जिसे वैदिकी संस्कृति भी कहते हैं तथा जिसके तीन प्रमुख लक्षण- ब्रह्मात्म भाव, सर्वात्म भाव तथा कर्त्तव्यनिष्ठा हैं- के प्रति पापी उदासीन भाव रखता है।

परमात्मा सब जगह विद्यमान है इसलिये वह हमारे अन्दर भी विद्यमान है, परन्तु विद्यमान परमात्मा= निर्गुण-निराकार ब्रह्म कुछ करता नहीं। वह हमारे दुःखों को दूर नहीं कर सकता। शुद्ध वृत्ति में ब्रह्म का आना ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान से अज्ञान मिट जाता है परन्तु हमारा दुःख तो भगवान् तब मिटाते हैं जब प्रीतिपूर्वक उन्हें हम वृत्त्यारूढ़ करते हैं उनके साथ एक सम्बन्ध बनाते हैं।

यह पाप अजगर के रूप में है। अजगर के मुँह में बड़ा बकरा भी सीधा चला जाता है। कृष्ण ने दिखाया कि अघासुर वह पापी है, जो दूसरों को सुखी नहीं देखना चाहता। यह बछड़ों, ग्वालवालों को खा जाने वाला है। अर्थात् यह ऐसा है जिसका पेट कभी भरता ही नहीं। जब हम देहाध्यास छोड़कर साक्षीभाव में स्थित होते हैं, जब हमें ब्रह्म ज्ञान हो जाता है, तब अघासुर-बकासुर आदि हम पर प्रभाव नहीं डाल सकते।

ब्रह्मा जी द्वारा बछड़ों और ग्वालवालों का अपहरण एवं कृष्ण की लीला -

तृण के लोभ से गाय-बछडों के कृष्ण से दूर चले जाने तथा ग्वाल बालों का मन कृष्ण से हटकर बछड़ों पर जाने के कारण, ब्रह्मा जी उनका अपहरण करने में समर्थ हुए। इसका भाव है कि संसारी मनुष्य जब भगवान् का चिन्तन-स्मरण छोड़कर संसारी विषयों में उलझ जाता है, तभी वह विपत्ति में पड़ता है।

ब्रह्मा जी द्वारा गाय-बछड़ों-ग्वालों को अन्यत्र रखकर उन्हें माया से सुला देने पर भगवान् ने बछड़ों-ग्वालवालों के रूप में स्वयं को प्रकट कर दिया। इतना ही नहीं भगवान् ने रङ्ग, रूप, दूध देने की क्षमता, ग्वाल वालों के वस्त्र, उनके शील, स्वभाव, अवस्थाएँ जैसे थे ठीक वैसे ही, उतने रूपों में स्वयं को प्रकट किया। अनेक रूपों में एक ही भगवान् एक वर्ष तक निरन्तर क्रीड़ा करते रहे। अद्वैत, वेदान्त का सिद्धान्त पूरी तरह चरितार्थ हो रहा था। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'- का सिद्धान्त सिद्ध हो रहा था।

जब ब्रह्मा जी ने देखा कि एक ही स्वप्रकाश-परब्रह्म-परमात्मा-श्रीकृष्ण ही सब रूपों में हैं तो उन्होंने अपनी गलती मानकर भगवान् से क्षमा माँगी तथा उनकी स्तुति की। भगवान् ने उन्हें क्षमा कर दिया।

प्रायः यह गलती सबसे हो जाती है, वह यह भूल जाता है कि उसके अन्दर जो कुछ विशेष गुण, कोई क्षमता, योग्यता है वह भगवान् द्वारा प्रदत्त है, भगवान् की विभूति है तथा उसे उसका अहङ्कार हो जाता है। ब्रह्मा जी ने जो सृष्टि करते हैं उसमें पाँचो महाभूत पहले से रहते हैं, जीवों की वासनाएँ भी पहले से रहती हैं, उन वासनाओं के अनुसार वे शरीर दे

देते हैं। भगवान् अपने सङ्कल्पमात्रसे सब रूपों में प्रकट हो जाते हैं। ब्रह्मा के अन्दर सृष्टि रचना के सम्बन्ध में जो अहङ्कार था, उसे नष्ट करने के उद्देश्य से यह लीला भगवान् ने की थी।

इन्द्र-मान भङ्ग लीला का रहस्य -

श्रीकृष्ण के कहने पर इन्द्र की पूजा न कर गोवर्धन-पर्वत की पूजा व्रजवासियों द्वारा करवाने पर इन्द्र ने सोचा कि चूँकि कृष्ण ने मानव शरीर धारण किया है, अतः मनुष्यों द्वारा देव-पूजा आदि में बाधा नहीं डालनी चाहिये। दूसरी गलती उनसे यह हुई कि सर्वरूप में परमात्मा ही हैं, इसलिये गोवर्धन भी परमात्मा का ही स्वरूप है। अघासुर-पाप मर चुका था, धेनुकासुर-देहाध्यास मर चुका था। पाप तथा देहाध्यास के नष्ट होने पर सारी सृष्टि ब्रह्ममयी दीखती है। 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्' । परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पृथ्वी-जल-अग्नि आदि सब परमात्मस्वरूप है। तत्त्वतः परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है।

अन्ततो गत्वा इन्द्र ने अपनी गलती मानकर भगवान् से क्षमा माँगी। भगवान् ने क्षमाकर कहा कि यह लीला केवल अहङ्कार को समाप्त करने तथा भगवान् की सत्ता के प्रति चेतना जगाने के उद्देश्य से की गयी थी।

ऊखल-बन्धन लीला -

माता यशोदा द्वारा जगन्नियन्ता परमात्मा को दाम-रस्सी से ऊखल में बाँध दिया गया। यह कथा वात्सल्य रस की पराकाष्ठा दिखाने के लिये है। कृष्ण का प्रेम की रस्सी से बाँधने का, कृष्ण को सख्य-रस से बाँधने का, उन्हें छोटे से शिशु रूप में पुत्र मानकर माखन खिलाने, दूध पिलाने, चूमने का अवसर तो भक्तों को पूर्वजन्मों के कृत शुभ कर्मों तथा उनके सौभाग्य से मिल जाता है, परन्तु रस्सी से कृष्ण को बाँधने का, जिससे उनका एक नाम दामोदर पड़ गया, मौका वात्सल्य की पराकाष्ठा होने पर माँ यशोदा को ही मिला है, दूसरे किसी को नहीं।

यशोदा का कृष्ण के लिये मथानी चलाना, मक्खन निकालना, मक्खन निकालते समय मन में कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करना तथा वाणी से उनके गीत गाना यह ऐसी भक्ति है जो समग्र जीवन को भगवान् का बना देती है। प्रेम के साथ धर्म तो मर्यादा में रखता है, परन्तु जब प्रेम पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तो मर्यादा नहीं रह जाती।

भक्ति भक्त के हृदय में आती तो स्वयं है, परन्तु भक्त द्वारा सभी सम्भव प्रयास करने के बाद। भगवान् को भी अपने प्रयास से यशोदा नहीं बाँध सकीं, परन्तु जब वे प्रयास करके थक गयीं, तो कृष्ण बँधने को तैयार हो गये। ईश्वर-दर्शन की योग्यता तो हमें अपने प्रयास से ही होगी, चित्तशुद्धि हेतु सभी उपाय हमें स्वयं करने पड़ेंगे, परन्तु हमारे प्रयास के बाद भगवान् का अनुग्रह बरस जायेगा और वे हमें मिल जायेंगे। जब हम अपने अहं को मिटाकर, चित्त शुद्ध कर, केवल उनकी प्रीति का उद्देश्य रखकर कर्म करेंगे, वाणी से उनका गुणानुवाद करेंगे, कानों तथा आँखों के माध्यम से उन्हें अपने अन्दर बिठायेंगे, हृदय में केवल उनको

बसायेंगे तो निर्गुण भगवान् सगुण बनकर हमारे भाव के अनुसार रूप धारण कर लेगा, उनका अनुग्रह बिना हुएरह नहीं सकता। परिणाम स्वरूप हमारे सभी दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी, हमारा जीवन आनन्द से भर जायेगा।

भक्ति-रस के पात्रों के उपाख्यान : सुदामा उद्धव तथा गोपी-प्रेम

जब कथा-श्रवण आदि से, प्रेमास्पद से मिलन की व्याकुलता के आने से, हमारा हृदय द्रवित होता है और भगवान् को अपना विषय बनाता है, तो इसे भक्ति कहते हैं।

चतुःश्लोकी भागवत का 18000 श्लोको में प्रसार कर, श्रीमद्भागवत के रचियता व्यास जी के अनुसार भगवान की पूजा आदि में अनुराग भक्ति है।

श्रीकृष्ण-बलराम का नामकरण करने वाले गर्गाचार्य के अनुसार कथा में अनुराग होना भक्ति है।

शाण्डिल्य ऋषि के अनुसार आत्मरति (अविच्छिन्न रूप से शुद्ध आत्मस्वरूप में रत रहना आत्मरति है) के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति हैं।

भक्त शिरोमणी नारद के अनुसार भक्ति प्रेमस्वरूपा है। भगवान् में अनन्य प्रेम ही भक्ति हैं।

जब चित्त संसार के सभी पदार्थों से, परलोक की सुविधाओं तथा मोक्ष के भावों से रहित होकर एक मात्र परम प्रेमास्पद भगवान् में लगा रहता है, सम्पूर्ण ममता तथा आसक्ति भगवान् के अतिरिक्त कहीं नहीं होती, तो ऐसी स्थिति को अनन्य प्रेम कहते हैं। प्रेम के प्रकट होने की स्थित के सम्बन्ध में भगवान् अपने प्यारे सखा उद्धव से कहते हैं-

वाग्गद्‌गदा द्रवते यस्यचित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।। (भा0 11/14/24)

प्रेम के प्रकट हो जाने पर जिसकी वाणी गद्‌गद और चित्त पिघलकर द्रवी भूत हो जाता है, जो प्रेमावेश में बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है- ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधियते।।

हमारा हृदय द्रवित होकर भगवान् को विषय करने लगे सो भी इसे भक्ति कहते हैं।

वैष्णवाचार्यो ने भक्ति का लक्षण यह माना है-

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेम सङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धव नारदैः।।

भगवान् में अनन्य ममता, प्रेम पूर्वक ऐसी ममता जैसी सृष्टि में और किसी दूसरे के साथ न हो, को भक्ति कहते हैं, जैसी भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव तथा नारद की थी।

द्वारका में श्रीकृष्ण से मिल कर उनके परम भक्त सुदामा उनके द्वारा कुछ भी न प्राप्त होने पर कहते हैं-

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्।। (भागवत10/81/20)

परमदयालु श्रीकृष्ण ने यह सोच कर मुझे थोडा- सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिल्कुल मतवाला न हो जाय और मुझे भूल न बैठे।

इसके बाद अपनी प्रेम भक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से वे विषयों का सेवन अनासक्त भाव से भगवत् प्रसाद स्वरूप समझ कर करने लगे।

उच्च कोटि के भक्त की एकमात्र इच्छा क्या होती है- यह परम भक्त सुदामा द्वारा भगवान् के प्रति कहे गये, अपनी भक्ति के निम्न भाव से स्पष्ट है-

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः।। (भागवत10/81/36)

मुझे जन्म-जन्म उन्हीं का प्रेम, उन्हीं की हितैषिता, उन्हीं की मित्रता और उन्हीं की सेवा प्राप्त हो। मुझे सम्पत्ति की आवश्यक्ता नहीं, सदा-सर्वदा उन्हीं गुणों के एक मात्र निवासस्थान भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में मेरा अनुराग बढ़ता जाय और उन्हींके प्रेमी भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त हों।

उद्धव जी श्रीकृष्ण के परम सखा तथा मन्त्री थे। प्रेमास्पद भगवान् के निरन्तर साथ-स्मरण में रहने वाले भक्त के लिये प्रेमास्पद का वियोग असहनीय होता है। अपनी लीला का संवरण कर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा धराधाम छोड़ने के निश्चय के पश्चात तथा यदुवंश के विनाश के पूर्व अपने प्रिय सखा उद्धव को उन्होंने भागवत् धर्म का उपदेश दिया था तथा उन्हें बदरिकाश्रम जाकर तपस्या करने का आदेश दिया था। इस वियोग के अवसर का वर्णन करते हुए परमहंस शुखदेव जी राजा परिक्षीत से कहते हैं-

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः। (भा011/29/46)

भगवान् के वियोग की कल्पना से उद्धव जी कातर हो गये। उनका त्याग करने में समर्थ न हुए। बार-बार विह्वल होकर मूर्छित होने लगे।

प्रेमास्पद से वियोग-विरह दशा में प्रेमी की दशा कैसी होती है- इसकी एक झलक हमें गोपियों के निस्छल प्रेम में मिलती है। अपनी विरह-दशा का वर्णन करते हुए वे कहती हैं-

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।। (भा0 10/31/15)

प्यारे! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने के लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युग के समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्या के समय लौटते हो तथा घुँघराली अलको से युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकों का गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रों की पलकों का बनाने वाला विधाता मूर्ख हैं।

भक्ति-प्रेम में प्रेमी तैल धारावत् प्रेमास्पद के किसी रूप-लीला के स्मरण के आनन्द में डूबता-उतराता है वस्तुस्थिति का वर्णन करना ही उसके लिए असम्भव होता है। कृष्ण प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँची गोपियों की मनः दशा दर्शनिय है-

तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप।।
बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।। (श्रीमद्भागवत10/21/4-5)

व्रज की गोपियों ने वंशी ध्वनि का माधुर्य आपस में वर्णन करना चाहा तो अवश्य; परन्तु वंशी का स्मरण होते ही उन्हें श्रीकृष्ण की मधुर चेष्टाओं, प्रेमपूर्ण चितवन, भौहोंके इशारे और मधुर मुस्कान आदि की याद हो आयी। उनसे भगवान् से मिलने की आकांक्षा और भी बढ गयी। वे मन-ही-मन वहाँ पहुच गयीं, जहाँ श्रीकृष्ण थे। वे उसके वर्णन में असमर्थ हो गयीं।

वे (मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिर पर मयूर-पिच्छ है और कानों पर कनेर के पीले- पीले पुष्प; शरीर पर सुनहला पीताम्बर और गले में पाँच प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की बनी वैजयन्ती माला है। रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नट-का-सा क्या ही सुन्दर वेष हैं। बाँसुरी के सुन्दर छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे- पीछे ग्वालबाल उनके लोकपावन कीर्ति का गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठ से भी श्रेष्ट यह वृन्दावन धाम उनके चरण चिह्नों से और भी रमणीय बन गया है।

सेवा क्या है? भक्ति। पैर दबाना, पंखा चलाना आदि सेवा है। सेवा में मानसी सेवा सर्वोत्कृष्ट है। चित्त की कृष्णोन्मुखता या कृष्ण में तन्मयता ही सेवा है। संसार से विमुख होकर, मन भगवान् के सम्मुख होकर उन्हीं में रम जाय- यह मानसी सेवा है। समुद्र में गङ्गा की भाँति भगवन्मुखी मानसी वृत्तियों का प्रवाह चलना ही मानसी सेवा है। श्री वल्लभाचार्य ने कहा है-

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत् सिद्ध्यै तनुवित्तजा।।

श्री कृष्ण को पुत्र मानकर स्नेह, प्रेम आदि के फलस्वरूप मानसिक स्थिति

तरणिजापुलिने नववल्लवी-परिषदा सह केलिकुतूहलात्।
द्रुतविलम्बितचारुविहारिणं हरिमहं हृदयेन सदा वहे।।

यमुना के तट पर नवीन गोपीमण्डल के साथ आनन्द-क्रीडा करते हुए जो कभी शीघ्रता से, कभी मन्दगति से चल रहे हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण को अपने हृदय में दीर्घकाल से बसाये हुए हूँ। उस मनोरम वेष की चाल बहुत अच्छी लगती है, कभी-कभी उसे देखने में खो जाता हूँ। मन चाहता है कि उस सुन्दरता, सरसता, सुकुमारता का अनिमेष दृष्टि से दर्शन करता रहूँ।

श्रीकृष्ण को पुत्र मानकर स्नेह, प्रेम आदि के फलस्वरूप मेरी मानसिक स्थिति

मेरे आनन्द के क्षणवे होते हैं, जब मैं प्रातः जागृतावस्था में आते ही अपने पुत्र-रूप में प्राप्त लाला-कृष्ण को छाती से चिपकाकर स्मरण करता हूँ।

मेरे आनन्द के क्षण वे होते हैं, जब उसे सोकर आँख मलकर आते हुए उठाकर, गोद में लेकर, उसे मक्खन निकालते हुए माँ यशोदा के पास दुग्धपान कराने पहुँचाता हूँ।

आनन्द की स्थिति में लाला को स्नान कराने हेतु अनेक प्रकार से चूमता हूँ। उससे नहलाने हेतु पूछता हूँ और तब पहले गोद में तथा बाद में रत्न जटित स्वर्ण के आसन पर बैठाकर, दूध-दही-घी-मधु तथा सुगन्धित गङ्गा जल से स्नान कराता हूँ। जब उसे पृथ्वी आदि महाभूतों के पीले-सफेद-लाल-बैगनी तथा नीले रङ्गों के वस्त्रों से सजाता हूँ। जब पाँच फूलों से बनी माला धारण कराकर, माथे पर टीका लगाकर, घुँघराले केशों में मोर-पिच्छस जाता हूँ।

मेरे आनन्द के क्षण वे होते हैं, जब गोद में बैठाकर स्नेह-पूर्वक माखन-मिश्री खिलाता हूँ। जब शरीर को दीप, स्नेह का तेल, बुद्धि की बत्ती बनाकर, आत्मा के प्रकाश से लाला के चारों ओर उसके इशारे पर नाचकर आरती उतारता और अन्त में उसे अपना सर्वस्व मानकर रोते हुए उसकी शरण में नतमस्तक हो जाता हूँ।

मेरे आनन्द के क्षण वे होते हैं, जब संसार में रहते हुए, सृष्टि के प्रत्येक कृति को आश्चर्य पूर्वक देखते हुए, उसमें राधा-कृष्ण की लीला का दर्शन करता हूँ। साक्षी-भाव में रहता हूँ। व्यावहारिक जगत् में शेष समय तो उसकी कृपा से सुख पूर्वक बीत रहा है।

मेरे आनन्द के क्षण वे होते हैं जब सुपुप्त्यावस्था में जाने के पूर्व उसे पुचकार कर सोने के लिये बुलाता हूँ, छाती पर चिपका कर, थके हुए लाला के पैर दबाकर, दिन भर के किये गये कार्यों को (मेरा लाला ही नारायण-ईश्वर है, इसे दृढ़ता से मानकर) उसे निम्न श्लोक द्वारा -

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्धियात्मना वानुसृतस्वभावात्।
यद् यत् करोमीह कृतं च तस्मै
नारायणायेति समर्प्यते तत्।।

(मैं अपने शरीर-वाणी-मन-इन्द्रिय-बुद्धि-आत्मा तथा स्वभाव से जो भी यहाँ कर रहा हूँ, या मैंने जो भी किया है, वह सभी अनिर्वचनीय अपरिमेय शक्तिवाले भगवान् नारायण को समर्पित है।)

समर्पित कर सोने के लिए कहता हूँ। **ॐ तत् सत्**

विवरणिका

क्र0	पुस्तक	लेखक/रचयिता	प्रकाशन
1	अष्टावक्र गीता	डॉ0 चमन लाल गौतम	संस्कृति संस्थान वेदनगर बरेली, सन् 1997
2	अवधूत गीता गुरुदत्तात्रेय कृति	व्याख्या नन्दलाल दशोरा	रणधीर बुक सेल्स, हरिद्वार सन् 1993
3	अर्न्ततृप्ति	युगपुरुष स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर, हरिद्वार, सन् 2001
4	अद्वैत मकरन्द	व्याख्याकार स्वामी तेजोमयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई सन् 2004
5	अवतार रहस्य	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 1994
6	अध्यात्म वार्ता	स्वामी पुरुषोत्तमानन्द	पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट, वशिष्ठ गुफा आश्रम गूलरदोगी टिहरी, गढ़वाल सन् 1965
7	अपरोक्षानुभूति (शंकराचार्य कृति)	व्याख्याकार स्वामी चिन्यमयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई, सन् 2004
8	आप की चर्या	सुदर्शन सिंह चक्र	श्री कृष्ण-जन्म स्थान सेवा संस्थान मथुरा, सं 2043
9	आत्मज्ञान और विज्ञान	विनोवा	सर्व सेवा संघ राजघाट, वाराणसी सन् 2003 आठवाँ संस्करण
10	आत्मानुसन्धान	भगवान् श्री रमन महर्षि	श्री रमणाश्रम तिरुवण्णामलै सन् 1997
11	आत्मसाक्षात्कार की कसौटी (छान्दोग्योपनिषद् पर आधारित)	वावा नगीना सिंह	स्वामी रामतीर्थ प्रतिष्ठान, चर्चरोड अलीगंज लखनऊ सन् 2006
12	आत्मवोध आद्यगुरु शंकराचार्यकृत	व्याख्याकार स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार, सं 2070
13	आत्म साक्षात्कार	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार, सन् 1998
14	आनन्दानुभव	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 2000
15	आत्मानुसन्धान	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार, सन् 1998
16	ईशानुभूति	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, सन् 2004
17	ईश्वर दर्शन	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, सन् 1987
18	उपनिषद्-दिग्दर्शन	शिवानन्द	सर्वसेवा संघ, राजघाट वाराणसी, सन् 2003
19	कर्म-रहस्य	सुदर्शन सिंह चक्र	श्री कृष्ण-जन्म स्थान सेवा संस्थान मथुरा, सन् 1976

20	गीता सार	श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद	भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, हरे कृष्ण धाम जुहू, मुम्बई सन् 1984
21	गीता तत्त्व	स्वामी सारदानन्द	रामकृष्ण मठ, नागपुर 10वाँ सं0 सन् 1995
22	गीता की झलक	स्वामी पुरुषोत्तमानन्द	वशिष्ठ गुहा आश्रम गूलर दोगी-249303
23	गोपी प्रेम	व्याख्याकार हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस, गोरखपुर
24	चिदाकाश की चिन्मयी लीला	स्वामी रामहर्षणदास	श्री रामहर्षण सेवा संस्थान परिक्रमा मार्ग अयोध्या (1994)
25	जीवन चरितः तैलंग स्वामी	श्री गोविन्दभट पोखरकर	श्री तैलंग स्वामी मठ,पंचगंगाघाट, वाराणसी, सं 2046
26	तत्त्वदर्शिनी	स्वामी स्वतन्त्रानन्द	द्वितीय सं0 1964
27	दो दिशाओं की यात्रा एक साथ	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम, रानीगली सप्त सरोवर, हरिद्वार सन् 1995 (तृतीय संस्करण)
28	दैनिक जीवन में गीता	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बी0जी0मार्ग मालावर हिल, मुम्बई - सन् 1991
29	दृग्दृश्य विवेक	स्वामी तेजोमयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई - सन् 2005
30	नग्न सत्य	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम, रानीगली सप्त सरोवर, हरिद्वार - सन् 2002
31	प्रपत्ति दर्शन	स्वामी राम हर्षणदास	श्री रामहर्षण सेवा संस्थान, परिक्रमा मार्ग, अयोध्या, (1993)
32	प्रेमदर्शन देवर्षि नारद विरचित भक्तिसूत्र	व्याख्याकार हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2060 छब्बीसवाँ सं.
33	प्रार्थना षट्पदी (आद्यशंकराचार्यकृत)	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 2003
34	प्यासा सागर	युगपुरुष स्वामी परमानन्द	दिलसाद गार्डन, दिल्ली
35	भक्ति का चमत्कार	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बी0जी0 मार्ग मालावर हिल, मुम्बई
36	भक्ति का चमत्कार	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 2011
37	भक्ति योग लीला	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, सन् 2004
38	भगवद्गीता	सी0 राजगोपालाचारी	भारतीय विद्याभवन मण्डल प्रकाशन, मुम्बई
39	भगवान् श्रीकृष्ण और भगवद्गीता	स्वामी विवेकानन्द	रामकृष्ण मठ, नागपुर 12वाँ सं0 सन् 2001
40	भ्रम भञ्जक औपनिषद् ज्ञान	स्वामी अच्युतानन्द	अखण्ड परमधाम मुक्तनगर कानपुर, सं. 2053

41	भतृहरि शतक	व्याख्याकार प्रेम कुमार शर्मा	धीरज पाकेट बुक्स गाँधीमार्ग मेरठ
42	भागवत विमर्श	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, सन् 2002
43	भागवत धर्म–सार	विनोवा	सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, सन् 2004, तीसरा सं.
44	मामेकं शरणं व्रज	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बी0जी0मार्ग, मालावर हिल, मुम्बई – सन् 2011
45	मोक्ष कैसे ?	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार, सन् 1995 द्वितीय संस्करण
46	मैं और परमात्मा	युगपुरुष स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम, रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार – सन् 1998
47	मुण्डकोपनिषद्	व्याख्याकार स्वामी चिन्मयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 2005
48	मुण्डकोपनिषद्	व्याख्याकार स्वामी चिन्मयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 2005
49	यथार्थ गीता (मानव धर्मशास्त्र)	स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी	स्वामी अड़गड़ानन्द आश्रम ट्रस्ट, चौपाटी, मुम्बई सन् 1994
50	योगी कथामृत	श्री श्री परमहंस योगानन्द	जैको पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई सन् 1997 नौवाँ संस्करण
51	वासुदेवः सर्वम्	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट बी0जी0मार्ग मालावर हिल, मुम्बई सन् 2012
52	वासुदेवः सर्वम्	स्वामी रामसुखदास	गीता प्रेस सं. 2068, इक्तीसवाँ सं.
53	विभीषण गीता	स्वामी तेजोमयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 1998
54	विशुद्ध ब्रह्मबोध	श्रीरामहर्षणदास जी	श्री हर्षण साहित्य प्रकाशन नयाघाट, अयोध्या
55	साक्षी ही मेरा स्वरूप	स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम दिलशाद गार्डेन दिल्ली, सन् 2005
56	सनातन धर्म	स्वामी रामतीर्थ	स्वामी रामतीर्थ प्रतिष्ठान चर्चरोड अलीगंज, लखनऊ, सन् 1991
57	संकर्षण गीता और श्रीकृष्ण वाणी	चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी	श्री जगदम्बा संस्कृत उच्च विद्यालय रोहतास विहार, संवत् 2044
58	सत्य की ओर	स्वामी मुक्तानन्द	चितशक्ति पब्लिकेशन्स चेन्नई, सन् 1997
59	सद्दर्शनम्	अनुवादक स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती	श्री रमणाश्रम तिरुवण्णामलै सन् – 1955
60	स्वप्न से सत्य में	युगपुरुष स्वामी परमानन्द	अखण्ड परमधाम रानीगली सप्त सरोवर हरिद्वार

61	हमारा योग और उसके उद्देश्य	श्री अरविन्द	श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट प्रकाशन, पुडुचेरी सन् 1936
62	श्री ईशोपनिषद्	स्वामी प्रभुपाद	भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट मुम्बई-400049 सन् 1975
63	श्री एकनाथ चरित्र	पं0 लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर	गीताप्रेस गोरखपुर, सं 2061 चौदवाँ संस्करण
64	श्रीकृष्ण लीला रहस्य	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 1998
65	श्रीगीता-रस-रत्नाकर	स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती	सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई, सन् 1996
66	श्री श्री चैतन्य-चरितावली	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	गीता प्रेस गोरखपुर, सं 2051 नौवाँ संस्करण
67	श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य कर्मयोगशास्त्र	बालगंगाधर तिलक	लो0 तिलक-मन्दिर पूना-411030, सन् 2006
68	श्रीमद्भगवद्गीताशांकर भाष्य	भाष्यकार भगवान् शङ्कर	गीता प्रेस, गोरखपुर
69	श्रीमद्भागवतगीता (साधक संजीवनी)	स्वामी रामसुखदास	गीताप्रेस गोरखपुर
70	श्रीमद्भागवद्गीता	व्याख्याकार स्वामी चिन्मयानन्द	सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई छठाँ सं0 मई 2005
71	श्रीमद्भगवद्गीता (सामर्पण भाष्य)	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	आर्य समाज, मेरठ- सन् 1981
72	श्रीमद्भागवत हृदय	व्याख्याकार डॉ0 रमाशङ्कर त्रिपाठी	चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, सन् 2009
73	श्रीमद्भागवत-महापुराण प्रथम तथा द्वितीय खण्ड	महर्षि वेदव्यास प्रणीत	गीता प्रेस, गोरखपुर
74	श्रीमद्भागवत रहस्य	व्याख्याकार सन्त श्री रामचन्द्र डोंगरेजी	आनन्द प्रकाशन कुन्चाकेलान खारी बावली, दिल्ली. सन् 2003
75	श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसंग	स्वामी भूतेशानन्द	रामकृष्ण मठ धन्तोली नागपुर, सन् 1990
76	श्रीराम और श्रीकृष्ण	श्रीराम किंकर जी	रामायणम् ट्रस्ट जानकी घाट अयोध्या, सन् 2008
77	श्री रमण वाणी	भगवान् श्री रमन महर्षि	श्री रमणाश्रम तिरुवण्णामलै, सन् 1992
78	श्री राम श्रीकृष्ण	डॉ0 श्री रामकिंकर जी	रामायणम् ट्रस्ट जानकीघाट अयोध्या, सन् 2010
79	ज्ञानेश्वरी	सन्त ज्ञानेश्वर	सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली सन् 1996
80	An Introduction to Yoga	Annie Besant	The Theosophical Publishing House Adyar, Chennai. 11th. reprint 2002 A.D.
81	Adwaita Both Deepika	Collection by swami Karpatra	Sri Ramanshramam Tiruvannamalai, TamilNadu, 1960 A.D.

82	Bhagavad Gita	Radhakrishnan	Harper Collins Publishers India 1993A.D.
83	Conscious Living	Swami Ishwaranand	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 2003 A.D.
84	Common Sense about Yoga	Swami Pavitranand	Advaita Ashram, Delhi Entally Rd, Kolkata. 1944 A.D.
85	Commentaries on Elements of Yoga	The Mother	Sri Aurobindo Ashram Turst, Puducherry. 1991 A.D.
86	Discourses on the Gita	M.K. Gandhi, Prof. N.R.	Navjivan Publishing house, Ahmadabad- 1960 A.D.
87	Direct Teaching of Bhagawan Raman	V. Ganesan	Sri Ramanshramam Tiruvannamalai, Tamilnadu
88	Ego	Brni Sujata Chaitanya	Central Chinmay Mission Trust Mumbai 2002 A.D.
89	Glory of Krishna	Swami Chinmayanand	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 1983 A.D.
90	Gita's words of guidance	Compiled by Swami Chidanand	Central Chinmaya Mission Trust Mumbai, 2001 A.D.
91	GEMS FROM BHAGAWAN	selected by A. Devaraja Mudaliar	Sri Ramanshramam Tiruvannamalai, Tamilnadu
92	Hamsa Geeta	Swami Tejomayanand	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 2002 A.D.
93	Hints on the study of the Bhagavad Gita	Annie Besant	The theosophical Publishing House, adyar, Chennai, 1906
94	Hinduism Doctrine and way of life	C. Rajgopalacharya	Bhartiya Vidya Bhawan Mumbai. 1998 A.D.
95	Jnanasaraah (The essence of Khowledge)	Swami Tejomayanand	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai 1997 A.D.
96	Jayendra Vani Vol II	Sri Jayendra Saraswati Swamigal	K.K. Swami Jayendra Sarswati P.S.J. Mahotsav Trust, 2003 A.D.
97	Living Biographies of great Religious leaders	Henry thomas Dana Liee thomas	Bhartiya Vidya Bhawan Mumbai, 1988 A.D.
98	Meditate (Happiness lies within you)	Swami Muktanand	Chitshakti Publication, Chennai 1980 A.D.
99	Meditations the Raman way	A.R. Tatarajan	Sri Ramanshramam, Tiruva-nnamalai Tamilnadu, 1989 A.D.
100	PANCADASI	Sri Vidyaranya Swami tranas. and notes by Swahanand	Sri Ramakrishna Math, Chennai 1967 A.D.
101	Panchikaranam	Sri Shankracharya	Advait Ashram, Delhi Entally Rd, Kolkata, 2009 A.D. 10th Ed.
102	Renunciation	Swami Chidanand	Divine Life Society, Rishikesh-2002 A.D.
103	Ramakrishana his life and sayings	Prof. F. Max- Muller	Advaita Ashram Calcutta, 1998 A.D. 6th Ed.

104	Raman Gita	B.V. Narasimha Swami	Sri Ramanshramam, Tiruvannamalai, Tamilnadu, 2010 A.D.
105	Sure Ways for success in life and God realisation	Swami Sivananda	Divine Life Society Publication Sivanand Nagar, Rishikesh 1994 A.D. 7th Ed.
106	Self Discovery	Illustrations by maria Ebadias	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 2004 A.D.
107	Sacred Journey (living purposefully and dying gracefully)	Swami Ram	Himalayan International Instt. Of Yoga, Malviya Nagar N. Delhi 1996 A.D.
108	Sri Maharshis way upadesa Saram	Commentary by D.M. Shastri	Sri Ramanshramam Tiruvannamalai Tamilnadu, 1989 A.D.
109	Tattva Bodh	Swami Tejomayanand	Central chinmaya Mission Trust, Mumbai
110	The Wisdom of the Upanishads	Annie Besant	The Theosophical Publishing House, Adyar Chennai. 8th Pub. 2003 A.D.
111	The Message of the Gita	M.K. Gandhi	Navjivan Publishing House, Ahmadabad- 1959 A.D.
112	The Essence of 'Ribhu Gita'	Krishnamoorthi Aiyer	Sri Ramanasramam 1940 A.D.
113	The Art of man making (Based on Gita)	Swami Chinmayanand	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 2002 A.D.
114	The Heart and soul of spiritual Baclice	Swami Krishnanand	The Diveni life Society, Tehri Garhwal, 2007 A.D.
115	The Art of living	Paramhansa Yoganand	Yoga Satsang Society, Dakshineswar, Kolkata. 1972 A.D.
116	The essential Gita	Commentary by Shri Aurobindo	Sri Aurobindo divine life Puplication, Jaipur 2002 A.D.
117	The song Celestial Verses from Sri Bhagavad Gita	Selected and Reset by Raman Maharshi	Sri ramanasramam, Tiruvannamalai – 1940 A.D.
118	The Gita (for the youth)	Sri Aurobindo	Sri Aurobindo soeiety, Pondichery- 1989 A.D.
119	The philosophy of the Bhagavad Gita	Swami Krishnanand	Divine life society, Sivanand Nagar Rishikesh 1980 A.D.
120	The Truth that liberates	Swami Chidanand	Divine Life Society Publication Rishikesh- 2003 A.D.
121	The laws of the Higher life	Annie Besant	The Theosophical Society Chennai, 1997 A.D. 7th Ed.
122	Truth Revealed SADVIDYA (trans. from Tamil)	Bhagwan Sri Raman Maharshi	Sri Ramanshramam Tamilnadu. 1998 A.D.
123	Uddhava Gita	Swami Madhavanand	Advaita Ashram, Dehi Entally Rd 11th Ed 2009 A.D.
124	Upadesa Sara	Raman Mahrshi Comamented by Swami Tejomayanand	Central chinmaya Mission Trust, Mumbai. 1987 A.D.

125	Vedantic Truth Revealed	Ramanuj Prasad	Pustak Mahal Delhi, 2000 A.D.
126	Vision of Bhagavad Gita	Swami Tejomayanand	Central Chinmaya Mission Trust, Mumbai 2003 A.D.
127	Wanderings in the Himalayas	Swami Tapovanam	Central Chinmay Mission Trust, Mumbai, 1990 A.D.
128	Who am I ?	President Ramanshramam	Sri Ramanshramam, Tamilnadu, 1982 A.D. 26th Ed.
129	Yogic Sadhan	Edited by Uttaryogi	Ashir Prakashan 50 Rue Suffren Puducherry, 2011 A.D.
130	Yoga Vashistha Sar Sarigrah	Cemmented by Swami Tejomayanand	Central chinmaya Mission Trust, Mumbai
131	Yoga Vasishta Sara	President Ramanshramam	Sri Ramanshramam, Tamilnadu, 1982 A.D. 26th Ed.
132	Yoga meditation and Japa Sadhana	Swami Krishanand	The Divine life Society, Rishikesh, 2008 A.D.



डॉ० वशिष्ठ सिंह

जन्मतिथि : 28 जनवरी, सन् 1940 (माघ कृष्ण चतुर्थी, संवत् 1996)

जन्मस्थान : ग्राम – पलिया, जनपद – मऊ (उ०प्र०)

माता–पिता : श्रीमती सनकेसरा देवी व श्री वासुदेव सिंह

शिक्षा : एम०ए० (गणित), इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1963

शोध उपाधि : पी–एच०डी०, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1980

प्रकाशन : B.Sc. कक्षाओं हेतु Elements of Algebra आदि चार पुस्तकें
'श्रीविष्णुदासजी एवं उनकी शिष्य परम्परा'

कर्म क्षेत्र : अध्यापन – प्रवक्ता, रीडर, विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी (उ०प्र०)

अन्य कार्य : – पेप्सी–कोक के विरोध में 350 कि०मी० की मानव शृङ्खला
(मथुरा से बागपत जिले के बीच) का आयोजन
– 'जाग्रत विद्यार्थी समाज' की स्थापना
– 'शिवमन्दिर ट्रस्ट' की स्थापना
– 'कृष्ण–वाटिका' तथा 'राम–वाटिका' की स्थापना

सम्पर्कसूत्र : एस 8/114 बी, 1–ए प्रशान्तपुरी, वाराणसी

मोबाइल नं० : 09451271241

Email : bashistha14@gmail.com

